गीता-दर्शन

अध्याय: १५-१६

भगवान श्री रजनीश

28 April '93

गीता-दर्शन

भगवान् श्री रजनीश के कुछ हिन्दी प्रवचन संकलन

गीता-दर्शन गीता के अध्याय १ से १८ तक २२० प्रवचन / १२ खण्डों में
ताओ-उपनिषद् लाओत्से की ताओ-तेह-किंग पर १२७ प्रवचन / ६ खण्डों में
महावीर-वाणी कुल ५४ प्रवचन / ३ खण्डों में
जिन-सूत्र महावीर-वाणी पर ६२ प्रवचन / ४ खण्डों में
एस धम्मो सनन्तनो धम्मपद पर १२३ प्रवचन / ६ खण्डों में
महागीता अष्टावक्र-गीता पर ९१ प्रवचन / ९ खण्डों में
भक्ति-सूत्र नारद-भक्ति-सूत्र पर २० प्रवचन / २ खण्डों में
एक ओंकार सतनाम नानक-वाणी (जपुजी) पर २१ प्रवचन
महावीर : मेरी दृष्टि में २६ प्रवचन
कृष्ण : मेरी दृष्टि में २० प्रवचन
दिया तले अँधेरा झेन और सूफी बोधकथाओं पर २१ प्रवचन
सहज समाधि भली कबीर-वाणी, झेन, सूफी व उपनिषद् की कथाओं पर २१ प्रवचन
साधना-सूत्र मेबॅल कॉलिन्स की 'लाइट ऑन द पाथ' पर १७ प्रवचन
शिव-सूत्र १० प्रवचन
सुनो भाई साधो / गूंगे केरी सरकरा
कस्तूरी कुण्डल बसै / मेरा मुझमें कुछ नहीं
कहै कबीर दिवाना
} कबीर के पदों पर दस-दस प्रवचन
पिव पिव लागी प्यास दादू-वाणी पर १० प्रवचन
सबै सयाने एक मत दादू-वाणी पर १० प्रवचन
अकथ कहानी प्रेम की फरीद-वाणी पर १० प्रवचन
बिन घन परत फुहार सहजोबाई के पदों पर १० प्रवचन
भज गोविन्दम् शंकराचार्य के पदों पर १० प्रवचन
तत्त्वमसि ५२० अमृत-पत्रों का संकलन
अध्यात्म उपनिषद् आबू-शिबिर में १६ प्रवचन
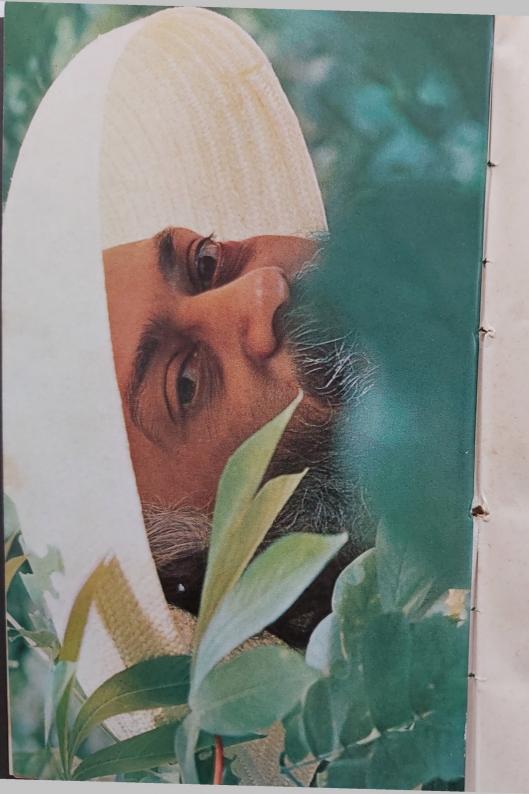
भगवान् श्री रजनीश के
पन्द्रह प्रवचन

गीता-दर्शन

दसवाँ खण्ड

अध्याय १५ और १६

रजनीश फाउन्डेशन प्रकाशन, पूना

१९७६

प्रकाशक

मां योग लक्ष्मी
सचिव, रजनीश फाउन्डेशन
श्री रजनीश आश्रम, १७, कोरेगाँव पार्क, पूना-१, महाराष्ट्र

प्रथम संस्करण : ११ दिसम्बर, १९७६
प्रतियाँ : कुल पाँच हजार

मूल्य

राज संस्करण : ६०.०० रुपये
सामान्य संस्करण : ४०.०० रुपये

मुद्रक

प्र. पु. भागवत
मौज प्रिंटिंग ब्यूरो
खटाववाडी, गिरगाँव, बम्बई ४०० ००४

श्रीमद्भगवद्गीता

पुरुषोत्तम योग : अध्याय १५

(पृष्ठ १ से २१०)

दैव असुर सम्पद विभाग योग : अध्याय १६

(पृष्ठ २११ से ४५८)

संकलन

मा योग प्रज्ञा
स्वामी आनन्द बोधिधर्म

सम्पादन

स्वामी योग चिन्मय

सज्जा

स्वामी आनन्द अर्हत

पूर्व-शब्द

कृष्ण ने जो कहा है—गीता में—उसमें मत उलझ जाना।
न मालूम कितने उस अरण्य में उलझे हैं—और भटक गये हैं।
कितनी टीकाएँ हैं—कृष्ण की गीता पर!
मैं कोई टीका नहीं कर रहा हूँ।

एक अरण्य खड़ा हो गया है—कृष्ण के शब्दों के आसपास।
न मालूम कितने लोग जीवन उसी में बिता डालते हैं। वे गीता के पण्डित हो जाते हैं; कृष्ण से वंचित रह जाते हैं।
गीता थोड़े ही सार है; वह तो झील में बना प्रतिबिम्ब है—'चाँद' का।
समझ लेना—इशारा—और झील को छोड़ देना।
यात्रा बिलकुल अलग-अलग है।
अगर झील में छलाँग लगा ली और चाँद को खोजने के लिए डुबकियाँ मारने लगे, तो तुम टीकाएँ ही पढ़ते रहोगे। तब तुम कृष्ण के शब्दों में ही उलझ जाओगे।
शब्दों में तो कुछ सार नहीं है।
झील में तो उतरना ही मत।
झील ने इशारा दे दिया है—ठीक अपने से विपरीत।
दिखाई तो पड़ता है—प्रतिबिम्ब—झील के भीतर; चाँद होता है—झील के ऊपर—ठीक उलटा।

तो शब्द को सुन कर निःशब्द की यात्रा पर निकल जाना।
ठीक उलटी यात्रा है।
कृष्ण को सुन कर गीता में मत फँसना; 'कृष्ण' की खोज में निकल जाना।
जहाँ से उठती है गीता, उस चैतन्य का नाम कृष्ण है।

गीता तो शब्द ही है; बड़ा बहुमूल्य शब्द है—पर शब्द ही है।
हीरा बड़ा बहुमूल्य पत्थर है, पर पत्थर ही है।
और इसीलिए गीता का अंत आ जाता है; कृष्ण का तो कोई अंत नहीं है।
जो है—उसका कभी कोई अंत नहीं है। सपने ही बनते और मिटते हैं।
बड़ा प्यारा सपना है—गीता।

कृष्ण ने यह गीता कही—इसलिए नहीं कि कह के सत्य को कहा जा सकता है।
कृष्ण से बेहतर कौन जानेगा कि सत्य को कहकर नहीं कहा जा सकता!
फिर भी कहा—करुणा से कहा है।
सभी बुद्ध पुरुषों ने इसलिए नहीं बोला है कि बोलकर तुम्हें समझाया जा सकता है।
बल्कि इसलिए बोला है कि बोलकर ही तुम्हें प्रतिबिम्ब दिखाया जा सकता है।
प्रतिबिम्ब ही सही—'चाँद' की थोड़ी खबर तो ले आयेगा।
शायद प्रतिबिम्ब से प्रेम पैदा हो जाय और तुम असली 'चाँद' की तलाश करने लगो; असली की खोज करने लगो, असली की पूछताछ शुरू कर दो!

दूसरी बात :
गीता तो ऐसे ही है—जैसे केमिस्ट की दूकान होती है।
उसमें लाखों दवाइयाँ हैं; वे सभी काम की हैं—इसीलिए हैं।
तुम कोई भी दवाई उठाकर मत ले आना। तुम अपने प्रिस्क्रिप्शन (निदान-पत्र) को ले जाना—जो 'डॉक्टर' ने लिख कर दिया है।
तुम्हारे योग्य कोई दवा होगी; सभी दवाएँ तुम्हारे योग्य न होंगी।

गीता भारत की खोजी गई समस्त औषधियों का संग्रह है।
उसमें से तुम चुन लेना; उसमें जो तुम्हें मौजू लगे; उसमें जो तुम्हें सत्यरूप लगे...।
सभी सत्यरूप है, पर तुम्हें जो सत्यरूप लगे, तुम उसे आत्मसात् कर लेना।
तुम उससे 'यात्रा' पर निकल जाना।
और सभी मार्ग 'वहीं' पहुँचा देते हैं।

•

श्रीमद्भगवद्गीता

पन्द्रहवाँ अध्याय

पुरुषोत्तम योग

(सात प्रवचन)

विषय अनुक्रम

पुरुषोत्तम के तल से / स्वानुभव के पहले समझना असंभव / रहस्यमय एवं गोपनीय—पुरुषोत्तम का अनुभव / ज्ञान की कुंजियों के खतरे / सुन कर पुरुषोत्तम की खोज प्रारंभ करना।

मूल-स्रोत की ओर वापसी

पहला प्रवचन

बम्बई, रात्रि, दिनांक ५ मार्च, १९७४

अथ पञ्चदशोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच

ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित् ॥ १ ॥

अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा
गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः।
अधश्च मूलान्यनुसंततानि
कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके ॥ २ ॥

गुणत्रय विभाग योग को समझाने के बाद श्री कृष्ण भगवान् बोले, हे अर्जुन, जिसका मूल ऊपर की ओर तथा शाखाएँ नीचे की ओर हैं, ऐसे संसार रूप पीपल के वृक्ष को अविनाशी कहते हैं तथा जिसके वेद पत्ते कहे गये हैं उस संसाररूप वृक्ष को जो पुरुष मूल सहित तत्त्व से जानता है, वह वेद के तात्पर्य को जाननेवाला है।

उस संसार वृक्ष की तीनों गुणरूप जल के द्वारा बढ़ी हुई एवं विषय भोगरूप कोंपलोंवाली—देव, मनुष्य और तिर्यक् आदि योगरूप—शाखाएँ नीचे और ऊपर सर्वत्र फैली हुई हैं तथा मनुष्ययोनि में कर्मों के अनुसार बाँधनेवाली अहंता, ममता और वासनारूप जड़ें भी नीचे और ऊपर सभी लोकों में व्याप्त हो रही हैं।

इस सूत्र में प्रवेश के पहले कुछ बातें समझ लेनी जरूरी है।

पहली बात : आधुनिक समय के बहुत से विचारक—अधिकतम—मानते हैं कि जगत् का विकास निम्न से श्रेष्ठ की ओर हो रहा है। डार्विन या मार्क्स या बर्गसन, और भी अन्य। जैसे-जैसे हम पीछे जाते हैं, वैसे-वैसे विकास कम; और जैसे-जैसे हम आगे आते हैं, वैसे-वैसे विकास ज्यादा। अतीत पिछड़ा हुआ है। वर्तमान विकासमान है। भविष्य और भी आगे जाएगा।

इस पूरी विचार-सरणी का मूल-स्रोत : उद्गम को छोटा मानना और विकास के अंतिम शिखर को श्रेष्ठ मानना है। लेकिन भारत की मनीषा बिलकुल विपरीत है; और इस सूत्र को समझने के लिये उसे जानना जरूरी होगा।

हम मानते रहे हैं कि मूल श्रेष्ठ है। वह जो स्रोत है, श्रेष्ठ है। बिलकुल ही उलटी तर्क-सरणी है।

बूढ़ा आदमी श्रेष्ठ नहीं है, वरन् गर्भ में जो छिपा हुआ बीज है, वह श्रेष्ठ है। और जिसे पश्चिम में विकास कहते हैं, उसे हम पतन कहते रहे हैं।

अगर विकास की बात सच हो, तो परमात्मा अंत होगा; प्रथम नहीं हो सकता। तब तो जब सारा जगत् विकसित हो कर उस जगह पहुँच जाएगा—श्रेष्ठता के अंतिम शिखर पर, तब परमात्मा प्रगट होगा। लेकिन भारतीय दृष्टि कहती है कि परमात्मा प्रथम है; तो जिसे हम संसार कह रहे हैं, वह विकास नहीं बल्कि पतन है। और अगर अंतिम को पाना हो, तो प्रथम को पाना होगा। और हम उससे ऊँचे कभी नहीं उठ सकते, जहाँ से हम आये हैं।

मूल-स्रोत से ऊपर जाने का कोई भी उपाय नहीं। इसलिए जब कोई व्यक्ति अपनी जीवन की श्रेष्ठतम समाधिस्थ अवस्था को उपलब्ध होता है, तो एक छोटे बच्चे की

भाँति हो जाता है। जो परम उपलब्धि है—शांति की, निर्वाण की, मोक्ष की—वह वही है—जैसा बच्चा माँ के गर्भ में शांत है, निर्वाण को उपलब्ध है—मुक्त।

प्रथम से ऊपर जाने का कोई भी उपाय नहीं है। या ठीक होगा हम इसे ऐसा भी कह सकते हैं, कि जितने हम आगे जाते हैं, उतने ही हम पीछे जा रहे हैं। और जो हमारी आखिरी मंजिल होगी, वह हमारा पहला पड़ाव था। या और तरह से कह सकते हैं कि जगत् का जो विकास है, वह वर्तुलाकार है, सर्कुलर है। एक वर्तुल हम खींचते हैं; तो वह जिस बिंदु से शुरू होता है, उसी बिंदु पर पूरा होता है।

जगत् का विकास रेखाबद्ध नहीं है—लीनियर नहीं है। जगत् एक रेखा की तरह नहीं जाता; एक वर्तुल की भाँति है। तो प्रथम अंतिम हो जाता है और जो अंतिम को पाना चाहते हैं, उन्हें प्रथम जैसी अवस्था पानी होगी।

जगत् परमात्मा का पतन है। और जगत् में विकास का एक ही उपाय है कि यह पतन खो जाय और हम वापस मूल-स्रोत को उपलब्ध हो जायँ; पहली बात। इसे समझेंगे तो ही उलटे वृक्ष का रूपक समझ में आयेगा।

कोई उलटा वृक्ष जगत् में होता नहीं। यहाँ बीज बोना पड़ता है, तब वृक्ष ऊपर की तरफ उठता है और विकासमान होता है। और वृक्ष बीज का विकास है अभिव्यक्ति है, उसकी परम प्रसन्नता है। लेकिन गीता में और उपनिषदों में जगत् को उलटा वृक्ष कहा है। वह परमात्मा का पतन है—विकास नहीं। ऊँचाई का खो जाना है, नीचे उतरना है; ऊँचाई का पाना नहीं है।

जैसे वृक्ष ऊपर की तरफ बढ़ता है, ऐसे हम संसार में ऊपर की तरफ नहीं बढ़ रहे हैं। हम संसार में जितने बढ़ते हैं उतने नीचे की तरफ बढ़ते हैं।

जैसा हम देखते हैं, ठीक उससे उलटी अवस्था है। जिसे हम विकास कहते हैं, वह पतन है। इसी कारण पूरब का समग्र चिंतन त्यागवादी हो गया। हो जाने के पीछे यही कारण था।

त्याग का अर्थ है: संसार जिसे विकास कहता है, उसे हम छोड़ देंगे। संसार जिसे उपलब्धि कहता है, उसे हम तुच्छ समझेंगे। संसार जिसे भोग कहता है, वह त्याग के योग्य है।

एक आदमी धन इकट्ठा करता चला जाता है। वह विकास कर रहा है। पश्चिम में उसे विकासमान कहा जाएगा। पूरब में हमने उन लोगों को विकासमान कहा...बुद्ध ने धन छोड़ दिया, महावीर ने साम्राज्य छोड़ दिया, तो हमने उन्हें विकासमान कहा।

पश्चिम में इकट्ठा करना विकास है। पूरब में छोड़ना विकास है। पश्चिम में कितना आपके पास है, उससे आपकी ऊँचाई का पता चलता है। पूरब में कितना आप छोड़

सके, कितना कम आप के पास बचा...जिस दिन आप अकेले ही बच रहते हैं और कुछ भी पास नहीं होता, उस दिन पूरब विकास मानता है।

उलटे वृक्ष की धारणा में ये सारी बातें समायी हुई हैं।

कुछ और बातें, फिर हम सूत्र में प्रवेश करें।

यह वृक्ष कितना ही उलटा हो, लेकिन परमात्मा से जुड़ा है। यह कितनी ही दूर निकल गया हो, लेकिन इस वृक्ष की शाखा-प्रशाखाओं में उसी का ही प्राण प्रवाहित होता है। शाखा कितनी ही दूर हो, जड़ से जुड़ी होगी। जड़ से टूट जाने का कोई उपाय नहीं है।

संसार विपरीत हो सकता है, लेकिन परमात्मा का अभिन्न हिस्सा है। और हम संसार में कितने ही दूर निकल जायँ, हम उससे जुड़े ही रहते हैं। क्षण भर को भी उससे अलग होने का कोई उपाय नहीं। उसका ही प्राणरस संसार में भी प्रवाहित है। इसलिए एक दूसरी अनूठी धारणा पूरब में पैदा हुई। वह यह कि पूरब त्यागवादी है, लेकिन संसार को परमात्मा का शत्रु नहीं मानता।

संसार परमात्मा का ही अभिन्न भाग है। नीचे की तरफ बहती हुई धारा है, लेकिन धारा उसी की है। धारा का रुख बदलना है। धारा को उसके मूल उद्गम की तरफ ले जाना है, लेकिन धारा से कोई शत्रुता और घृणा नहीं है।

परमात्मा अगर उलटा खड़ा हो जाय तो संसार है। संसार अगर सीधा खड़ा हो जाय तो परमात्मा है। पर जैसा हम संसार को देखते हैं, उसे हम मानते हैं कि वह सीधा है। इसलिए समस्त धार्मिक साधनाएँ सांसारिक आदमी की दृष्टि में उलटी मालूम पड़ती हैं। सांसारिक मन जो करता है, उसे सीधा मानता है। इसलिए संन्यासी को सांसारिक मन उलटा मानता है। लेकिन जो परमात्मा की दृष्टि को—इस उलटी बहती धारा को ठीक से समझ ले, उसके लिये संसार में उलटे होकर जीना ही एकमात्र सीधे होने का उपाय है।

संसार का गणित जिसको सीधा कहता है, उसे आप थोड़ा सोच-समझकर स्वीकार करना। संसार में जिन्हें लोग बुद्धिमान समझते हैं, उनकी बुद्धिमानी पर थोड़ा शक करना। संसार जिसको सफलता कहता है, उसे आँख बंद करके आलिंगन मत कर लेना। क्योंकि सभी कहते हैं, इसलिए कोई बात सत्य नहीं हो जाती।

अल्बर्ट आइन्स्टीन को जर्मनी से निकल जाना पड़ा था—हिटलर, उसके नाजी प्रचार और यहूदियों के विरोध के कारण। और जब आइन्स्टीन अमेरिका पहुँचा तो उसे खबर मिली कि हिटलर ने सौ वैज्ञानिक तैनात किये हैं, यह सिद्ध करने को कि आइन्स्टीन की सारी खोज गलत है। सौ वैज्ञानिकों ने बड़ी मेहनत भी की। आइन्स्टीन को जब खबर मिली तो उसने हँस कर कहा कि 'अगर मैं गलत हूँ तो एक वैज्ञानिक

उसे सिद्ध करने को काफी है। सौ की कोई जरूरत ही नहीं। और अगर मैं गलत नहीं हूँ, तो सारी दुनिया के वैज्ञानिकों को भी हिटलर इकट्ठा करे तो भी—तो भी मैं गलत हो जाने वाला नहीं हूँ। और हिटलर को सौ की जरूरत पड़ रही है, वह इसीलिए...।'

सत्य तो अकेला भी काफी है। असत्य के भीड़ चाहिए। असत्य की शक्ति भीड़ से पैदा होती है। असत्य के पास अपनी कोई शक्ति नहीं है।

संसार जिसे ठीक कहता है, आप भी उसे ठीक मान लेते हैं। क्योंकि भीड़ की एक शक्ति है, लेकिन उससे वह ठीक नहीं हो जाता। ठीक होने के प्रमाण भी नहीं मिलते। समझें।

एक राजनीतिज्ञ सफल है, क्योंकि बड़े पद पर है। संसार उसे सफलता कहता है। और उस सफलता के भीतर खुशी की एक किरण भी नहीं है। उस सफलता के भीतर आनंद का एक फूल भी कभी नहीं खिलता। और खुद राजनीतिज्ञ से पूछें कि क्या उसकी सफलता बिलकुल रेगिस्तान जैसी सूखी नहीं है! उसे कुछ भी मिला नहीं है।

दूसरे महायुद्ध में जनरल मेकार्थर का बड़ा नाम था। मेकार्थर जिस टुकड़ी का मुआयना करने जापान में गया था, वहाँ सैनिकों को प्रसन्न करने के लिए, कुछ हँसी-मजाक करने के लिए, एक हँसोड़ फिल्म अभिनेता आया हुआ था। जब वह अभिनेता विदा होने लगा तो मेकार्थर ने कहा कि 'आओ, मेरे साथ खड़े हो जाओ—एक चित्र निकलवाने के लिए।' अभिनेता बहुत ही प्रसन्न हुआ। और उसने मेकार्थर से कहा कि 'मेरा अहोभाग्य, कि आप जैसे महान जनरल, ख्यातिलब्ध, इतिहास में जिसका नाम रहेगा, ऐसे व्यक्ति के साथ मुझे चित्र उतरवाने का मौका मिल रहा है।' मेकार्थर ने कहा 'छोड़ो; मेरे छोटे बच्चे ने पत्र लिखा है, कि जब मैं वापस लौटूँ, तो तुम्हारे साथ एक चित्र उतरवाऊँ; क्योंकि मेरा छोटा बच्चा तुम्हें एक बहुत ख्यातिलब्ध अभिनेता, एक जगत् प्रसिद्ध अभिनेता मानता है। मैं तो कुछ भी नहीं हूँ उसके लिए।'

जिन्हें हम जगत् में सफल कहते हैं, उनकी अवस्था करीब-करीब ऐसी है। उनकी सफलता मान्यता पर निर्भर है। उन्हें आप सफल मानते हैं, तो वे सफल हैं। आप उन्हें असफल मानते हैं, तो वे असफल हैं। और खुद उनसे पूछें तो आप से भी ज्यादा अनिर्णय की उनकी अवस्था है।

एक आदमी बहुत धन इकट्ठा कर लेता है, तो सफल है। और जिसने धन इकट्ठा किया है—अपने को बेच-बेच कर—उससे पूछें, तो उसे जीवन व्यर्थ खो गया मालूम होता है।

यह संसार का वृक्ष बिलकुल उलटा है। यहाँ जो सफल दिखाई पड़ते हैं, वे अपनी विफलता को छिपाये बैठे हैं। यहाँ जो धनी दिखाई पड़ते हैं, वे बिलकुल निर्धन हैं।

यहाँ जो बाहर से मुसकुराते हुए आनंदित मालूम पड़ते हैं, वे भीतर दुःख से भरे हैं।

यहाँ सभी कुछ उलटा है, लेकिन थोड़ी गहरी आँख हो तो यह दिखाई पड़ना शुरू हो जाता है। और जिस दिन आपको यह दिखाई पड़ना शुरू होता है कि संसार का वृक्ष उलटा है, उस दिन आपके जीवन में क्रांति का क्षण आ गया। अब आप बदल सकते हैं।

अब हम इस सूत्र में प्रवेश करें।

'गुणत्रय-विभाग-योग को समझाने के बाद श्रीकृष्ण बोले : हे अर्जुन, जिसका मूल ऊपर की ओर है तथा शाखाएँ नीचे की ओर हैं, ऐसे संसाररूप पीपल वृक्ष को अविनाशी कहते हैं; तथा जिसके वेद पत्ते कहे गये हैं, उस संसाररूप वृक्ष को जो पुरुष मूल सहित तत्त्व से जानता है, वह वेद के तात्पर्य को जानने वाला है।'

यह बड़ा क्रांतिकारी वचन है। लेकिन इस गूढ़ ढंग से कहा गया है कि बहुत मुश्किल है—उसके पूरे अर्थ में प्रवेश कर जाना।

पहली तो बात : 'जिसका मूल ऊपर की ओर है...।' मूल सदा नीचे की ओर होता है। इस संसार में मूल सदा नीचे की ओर होता है। जरूर कहीं हम भूल कर रहे हैं।

पूरब सदा ही माँ को, पिता को आदर देता रहा है। पश्चिम में वैसा आदर नहीं है; क्योंकि मूल को हम ऊपर मानते हैं। बेटा कितना ही बड़ा हो जाय, वह बुद्ध हो जाय, तो भी वह माँ के चरण छुएगा, क्योंकि मूल से ऊपर जाने का कोई उपाय नहीं है। पश्चिम में वैसा आदरभाव नहीं है। क्योंकि पश्चिम में मूल को ऊपर मानने की वृत्ति नहीं है।

देखने में भी यही आता है कि मूल तो नीचे होता है। वृक्ष का मूल तो जमीन में छिपा होता है, शाखाएँ ऊपर होती हैं। इसलिए कृष्ण कहते हैं : यह संसार उलटा वृक्ष है। मूल ऊपर है।

और ध्यान रहे : अगर माता-पिता ऊपर नहीं हैं, तो परमात्मा भी ऊपर नहीं हो सकता; क्योंकि वह जगत् का मूल है।

गुरजिएफ ने अपने आश्रम में एक पंक्ति लिख छोड़ा था। और पंक्ति यह थी कि 'जो व्यक्ति अपने माँ और पिता को आदर देने में समर्थ हो जाता है, उसे ही मैं मनुष्य मानता हूँ।' इससे आश्रम का कोई सीधा संबंध नहीं दिखाई पड़ता। अनेक लोग गुरजिएफ से पूछते भी थे, कि 'ऐसी छोटी-सी बात यहाँ किस लिए लिख रखी है।' गुरजिएफ कहता, 'बात छोटी नहीं है।' और अगर हम मनोविज्ञान की आधुनिक खोजों को समझें—फ्रायड और उसके अनुयायियों को—तो वे सभी कहते हैं कि हर बेटा अपने माँ-बाप को घृणा करता है।

मूल को लोग घृणा करते हैं। मूल से लोग बचना चाहते हैं, छिपाना चाहते हैं। शायद काम-वासना के प्रति हमारी निंदा का कारण यही होगा, कि वह मूल है। उसे हम छिपाना चाहते हैं।

आप कभी सोचते भी नहीं कि आप कैसे पैदा हुए हैं, कहाँ से पैदा हुए हैं; कहाँ आपका मूल है? आप कभी सोचते भी नहीं कि आपका जन्म, आपका यह जीवन दो व्यक्तियों की गहरी वासना से शुरू होता है।

मूल को हम छिपाते हैं। मूल छोटा मालूम पड़ता है—ओछा मालूम पड़ता है; हम बड़े हैं। लेकिन ध्यान रहे : जहाँ से आप आये हैं, उससे बड़े होने का कोई उपाय नहीं है। और अगर आप बड़े हैं तो एक ही बात सिद्ध होती है कि मूल बड़ा है।

अगर बुद्ध पैदा हो सकते हैं—काम-वासना के स्रोत से, तो काम-वासना में बुद्ध को पैदा करने की क्षमता है—यही सिद्ध होता है। इसके अतिरिक्त कुछ और सिद्ध होने का उपाय नहीं है। और अगर आप बुद्ध नहीं हो पा रहे हैं। तो कसूर काम-वासना का नहीं है; क्षमता तो उतनी ही है—उस वासना में, जिससे बुद्ध पैदा हो सके।

आप भी बुद्ध हो सकते हैं, लेकिन शायद मूल का ठीक उपयोग नहीं हो पा रहा है। मूल ने जो ऊर्जा दी है, उसको ठीक गति और दिशा नहीं मिल पा रही है। लेकिन सभी लोग अपने मूल को छिपाते हैं। क्योंकि धारणा है कि मूल कुछ नीची चीज है।

यह सूत्र कहता है : मूल है ऊपर; 'हे अर्जुन, जिसका मूल ऊपर की ओर है...।' अगर अंत में आना है श्रेष्ठ, तो मृत्यु श्रेष्ठ होगी। अगर प्रथम आता है श्रेष्ठ, तो जन्म श्रेष्ठ होगा।

पश्चिम मृत्यु का विश्वासी है—पूरब जन्म का। ऊपर की ओर है मूल।

और सारी धाराएँ नीचे की तरफ बहती हैं। यह बात उचित भी मालूम पड़ती है, क्योंकि बहाव सिर्फ नीचे की तरफ ही हो सकता है।

हमें दिखाई पड़ता है : हम बीज बोते हैं; वृक्ष ऊपर की तरफ उठता है। पर हमारी दृष्टि तो बहुत सीमित है। सच में क्या वृक्ष ऊपर की तरफ उठता है? कहना जरा मुश्किल है। क्योंकि इस विराट ब्रह्माण्ड की दृष्टि से ऊपर और नीचे कुछ भी नहीं है। और फिर बहुत बातें समझने जैसी हैं।

वैज्ञानिकों ने एक नियम खोजा है, उसे वे कहते हैं : ग्रेविटेशन—गुरुत्वाकर्षण। पत्थर को हम फेंकते हैं; पत्थर नीचे गिर जाता है। अगर पृथ्वी सभी चीजों को नीचे की तरफ खींचती है, तो वृक्ष ऊपर की तरफ उठता कैसे है! गुरुत्वाकर्षण के विपरीत कोई नियम होना चाहिए, जो ऊपर की तरफ खींचता हो। एक। या फिर वृक्ष

का ऊपर की तरफ उठना हमारी भ्रांति है; वृक्ष भी नीचे की तरफ ही जा रहा है। लेकिन हमारी सीमित दृष्टि में हमें ऊपर की तरफ दिखाई पड़ता है।

मैंने सुना है कि न्यूयॉर्क के एक सौ मंजिल के भवन के ऊपर, आखिरी मंजिल की सीलिंग पर कुछ चींटियाँ भ्रमण कर रही थीं। और उनमें से एक दार्शनिक चींटी ने अन्य चींटियों को कहा कि 'आदमी भी बड़ा अजीब जानवर है। इतने-इतने बड़े मकान बनाता है, फिर भी चलता हमेशा नीचे है। जब ऊपर चलना ही नहीं है—सीलिंग पर जब चलना ही नहीं है, हमेशा फ़्लोर पर ही चलना है, तो फिर इतना ऊँचा मकान बनाने की जरूरत भी क्या? ऊँचाई पर चलते हम हैं।'

चींटियाँ निश्चित ही सोचती होंगी। उनका अपना एक सापेक्ष जगत् है।

वृक्ष वस्तुतः क्या ऊपर की ओर उठ रहे हैं? ऐसा हमें दिखाई पड़ता है। अगर हम दूर चाँद पर खड़े हो कर देखें, तो सभी वृक्ष नीचे की तरफ लटके हुए दिखाई पड़ेंगे।

गीता यह कह रही है कि सारा विकास—जिसे हम विकास कहते हैं, एव्होल्यूशन कहते हैं, वह सभी कुछ नीचे की ओर है। इस अर्थ में सभी धर्मों की पुराण-कथाएँ बड़ी मूल्यवान हैं, क्योंकि वे सभी कहती हैं : जगत् पतन है। चाहे ईसाइयों की मूल-कथाएँ हों, चाहे हिंदुओं की हों, चाहे इसलाम की—सभी धर्मों की मूल-कथाएँ यह कहती हैं कि जगत् एक पतन है। पतन का इतना ही अर्थ होता है...। पतन में कोई पाप नहीं है। पतन का इतना ही अर्थ होता है कि बहाव नीचे की तरफ है। इसलिए अगर ऊँचाई पानी है, तो उद्गम की ओर वापस लौट चलना पड़ेगा।

झेन फकीर जापान में कहते हैं कि 'अगर तुम्हें जानना है : परमात्मा क्या है, तो तुम खुद को जान लो—उस क्षण में, जब तुम्हारा जन्म नहीं हुआ था। लौट जाओ पीछे।'

अभी अमेरिका में एक नयी चिकित्सा—मनो-चिकित्सा का बड़ा प्रभाव है—'प्राइमल थैरेपी' का। इस सदी में खोजी गयी कीमती से कीमती चिकित्साओं में यह एक है। और उसका प्रभाव रोज बढ़ता जाएगा, क्योंकि उसमें एक मौलिक सत्य है। प्राइमल थैरेपी का ऐसा दृष्टिकोण है, अगर व्यक्ति को पूर्ण स्वस्थ होना हो, तो उसकी चेतना में पीछे की तरफ लौटने की गति शुरू होनी चाहिए। और जिस दिन व्यक्ति अपने बचपन की अवस्थाओं को उपलब्ध करना शुरू कर देता है पुनः, उसी दिन स्वस्थ होना शुरू होता है। और जिस दिन कोई व्यक्ति ठीक अपनी गर्भ की चेतना-दशा को उपलब्ध हो जाता है, उस दिन वह परम शांत और परम स्वस्थ हो जाता है। और अनेक मानसिक बीमारियाँ अचानक विलीन हो जाती हैं। इसमें सत्य है और सैकड़ों लोगों पर इसके परिणाम प्रभावकारी हुए हैं।

प्राइमल थैरेपी जिस व्यक्ति ने खोजी है—जेनोव ने—वह अपने मरीजों को एक ही काम करवाता था। उन्हें लिटा देता, आँख बंद करवा देता; कमरे में अँधेरा कर देता। और उनसे कहता कि तुम पीछे लौटने की कोशिश करो, सिर्फ स्मृति में नहीं, पीछे लौटो और पीछे को जियो। आखिरी—पकड़ो स्मृति में खयाल, जो तुम्हें आता है; पाँच वर्ष के थे तुम, तो उस घड़ी को जीने की कोशिश करो फिर।

एक बहुत अनूठा अनुभव हुआ। जेनोव एक बूढ़ी महिला की चिकित्सा कर रहा था; उसकी उम्र थी अस्सी वर्ष। उसकी आँखें खराब हुए बीस साल हो गये थे। उसे कुछ भी दिखाई नहीं पड़ता था। और जब जेनोव ने उसे याद दिलाया और वह वापस लौटने लगी और उसने याद किया कि जब मैं छह वर्ष की थी, तब की मुझे एक घटना याद आती है। जैसे ही उस घटना को उसने स्मरण करना शुरू किया, उसकी आँख की शक्ति वापस लौट आयी। वह खुद हैरान हो गयी, क्योंकि उसे दिखाई पड़ने लगा। उसका चित्त ही छह वर्ष का नहीं हुआ, उस क्षण में उसका पूरा शरीर भूल गया कि वह अस्सी साल की बूढ़ी है। लेकिन चिकित्सा के बाद उसकी आँख फिर अस्सी साल की हो गयी। सिर्फ धारणा...।

जेनोव कहता है कि जैसे-जैसे व्यक्ति पीछे लौटता है, उसका चेहरा बदलने लगता है। शांत हो जाता है, निर्दोष हो जाता है, जैसे बीच की सारी धूल हट गयी। बीच का सारा कचरा कट गया और जब कोई व्यक्ति उस क्षण में पहुँचता है—जिसको वह प्राइमल स्क्रीम कहता है, पहली जो रुदन की आवाज बच्चे को जन्म के समय हुई थी—जब बच्चा पैदा होता है, वह जो चीख की पहली आवाज थी, जो पहली स्क्रीम थी, उसको जब कोई व्यक्ति फिर से याद कर लेता है और याद ही नहीं कर लेता, उसको पुनः जीता है, और ठीक उसी तरह की चीख फिर से निकलती है...। इस चीख को लाने में महीनों लग जाते हैं कोई तीन महीने, छह महीने निरंतर प्रयोग करने पर वह चीख निकलती है। और जिस दिन वह चीख निकलती है, उस चीख के साथ ही व्यक्ति के सारे दोष विलीन हो जाते हैं। उस चीख के बाद वह व्यक्ति दूसरा ही हो जाता है—सरल, भोला, निर्दोष—जैसा वह पैदा हुआ था। जैसे उस चीख के साथ सारा जीवन विलीन हो गया। सारा पतन खो गया, मूल को फिर उपलब्ध हो गया।

इधर मैं ध्यान के प्रयोगों में निरंतर अनुभव कर रहा हूँ कि जो लोग भी उस गहरी चीख को ध्यान की अवस्था में उपलब्ध हो जाते हैं, उनके जीवन में पहली किरण समाधि की उतर जाती है।

मुझसे लोग पूछते हैं, कि 'इतना चीखना, चिल्लाना ध्यान में क्यों है?' क्योंकि उन्हें खयाल है एक ही ध्यान का—कि लोग चुप बैठे हैं। आप चुप भी बैठ जायँ, कुछ भी न होगा, क्योंकि आपका पागल आदमी भीतर दौड़ रहा है; आपके चुप

बैठने से कुछ होनेवाला नहीं। आप जीवन भर चुप बैठे रहें, आप बिलकुल पत्थर की मूर्ति हो जायँ तो भी बुद्धत्व फलित नहीं होगा। श्रेष्ठ उपलब्ध होगा—प्रथम को उपलब्ध होने से।

मेरी यह पूरी चेष्टा है कि ध्यान में पहली चीख—प्राइमल स्क्रीम—पैदा हो जाय और आपका रोआँ-रोआँ चीख उठे, और उस चीख में सारा उपद्रव विलीन हो जाय, तो फिर तूफान के बाद जैसे सब शांत हो जाता है, ऐसे फिर पीछे सब शांत हो जाता है। तो आपको मूल का पहली दफा दर्शन होगा; और वह मूल परमात्मा है।

आगे दौड़ते जाने में नहीं, पीछे प्रथम, जो आप थे, उसे फिर से पा लेने में उपलब्धि है। यह विरोधाभासी लगेगा। जो आप सदा से रहे हैं, उसी को पा लेना गंतव्य है। और कुछ भी पाने की दौड़ व्यर्थ है और कुछ भी पाने की दौड़ सिवाय संताप और चिंता के कुछ भी न लायेगी। व्यक्ति—जो पैदा हुआ है, उसी को पा ले। जो सदा से था, उसको पुनः अनुभव कर ले—जो उसके होने के भीतर छिपा ही है, जिसे पाने को रत्ती भर भी कुछ करने की जरूरत नहीं है। जो वह है ही, उसके पुनः दर्शन, उसकी पुनः उपलब्धि करनी है।

'हे अर्जुन, जिसका मूल ऊपर की ओर, तथा शाखाएँ नीचे की ओर हैं, ऐसे संसाररूप पीपल के वृक्ष को अविनाशी कहते हैं।' और यह संसार कभी नष्ट नहीं होता। लेकिन एक बड़े मजे की बात है कि, यह प्रतिपल विनष्ट भी होता है—यह विनष्ट होता है और बनता है। मिटता है और बनता है।

परमात्मा सदा है, वह भी अविनाशी है। लेकिन उसका अविनाशी होना और ही अर्थ रखता है। वह कभी बनता नहीं, वह सदा है; वह कभी मिटता नहीं। संसार भी अविनाशी है, लेकिन बिलकुल दूसरे अर्थों में। संसार सदा बनता और मिटता रहता है। इस बनने और मिटने की प्रक्रिया का कभी अंत नहीं होता है। यह संसार वर्तुलाकार घूमता ही रहता है। गंगोत्री से गंगा बहती है, सागर में गिरती है। लम्बी यात्रा है, हजारों मील का फासला है। सागर में गिर के फिर सूरज की किरणें, उसे आकाश में उठा लेती हैं। फिर भाप बनती है। फिर बादल का उमड़-घुमड़ कर हिमालय की तरफ जाना शुरू हो जाता है। फिर हिमालय पर वर्षा हो जाती है। फिर गंगोत्री में पानी आ जाता है। फिर गंगा बहने लगती है। फिर सागर; फिर बादल; फिर गंगोत्री; फिर गंगा; फिर सागर।

वर्तुलाकार संसार घूमता ही रहता है। इसलिए हमने इसे गाड़ी के चाक की भाँति कहा है। संसार शब्द का अर्थ ही होता है : चाक—दि व्हील—जो घूमता ही रहता है। यह भी अविनाशी है। यह भी कभी मिटेगा नहीं। यह मिटेगा और बनेगा। बनेगा और मिटेगा। लेकिन प्रक्रिया जारी रहेगी।

संसार की प्रक्रिया अविनाशी है। और परमात्मा का सत्त्व अविनाशी है। परमात्मा का होना अविनाशी है और संसार की गति अविनाशी है। परमात्मा की स्थिति अविनाशी है और संसार की गति अविनाशी है।

संसार घूमता ही रहता है। इस घूमते संसार को बदलने की कोशिश व्यर्थ है। इस घूमते संसार को ठहराने की कोशिश व्यर्थ है। वह उसका स्वभाव नहीं है। इसे थोड़ा समझ लें।

सारा आधुनिक चिंतन इस बात पर जोर देता है कि यह संसार रोका जा सकता है, बदला जा सकता है। मार्क्स, ऐंजिल्स, लेनिन—उन सबका खयाल है कि आज नहीं कल समाज में समता आ जाएगी। मार्क्स से लोगों ने पूछा कि 'समता के बाद फिर क्या होगा?' मार्क्स ने कहा, 'फिर कुछ नहीं होगा; समता ठहरेगी। फिर समता के बाद कोई परिवर्तन नहीं होगा।' यहाँ मार्क्स बिलकुल भ्रांत है। यहाँ कृष्ण की बात बहुत गहरी है। यहाँ कुछ भी चीज ठहरती नहीं। यहाँ कोई भी स्थिति स्थिर नहीं हो सकती; कभी नहीं हुई, कभी होगी भी नहीं। यहाँ हर चीज बनेगी और मिटेगी। घूमना इसका स्वभाव है।

मार्क्स जैसा प्रगाढ चिंतक भी कमजोर हो जाता है—अपने सिद्धान्त के मामले में। मार्क्स कहता है, 'हर चीज बदलेगी। पूँजीवाद टिक नहीं सकता—जाएगा। क्रांति होगी।' सामंतवाद टिका नहीं; क्रांति हुई; सामंतवाद गया। संसार बदलता रहा है।

मार्क्स खुद कहता है : डायनैमिक—डायलेक्टिकल संसार है—गत्यात्मक है और द्वंद्वात्मक है। यहाँ हर चीज बदल रही है। पूँजीवाद भी बदलेगा। लेकिन तब अपने ही सिद्धान्त से मार्क्स को बड़ा मोह है। फिर जब साम्यवाद आ जाएगा, तब कोई गति नहीं होगी!

गति संसार का स्वभाव है। यहाँ कोई भी चीज ठहरेगी नहीं। यहाँ जो आज ऊपर आयेगा, कल नीचे जाएगा। जाना ही पड़ेगा अन्यथा औरों के ऊपर आने का कोई उपाय नहीं होगा। और यह ऊपर आ सका, इसीलिए, क्योंकि कोई नीचे चला गया। जो सत्ता में आयेगा, वह सत्ता से नीचे जाएगा। जो अमीर होगा, वह गरीब होगा। जो आज सफल है, कल असफल होगा। जो आज जिन्दा है, कल मरेगा। लेकिन यह प्रक्रिया जारी रहेगी। और अगर कोई इस प्रक्रिया को ठहराने की कोशिश में लग जाय, तो उसको हम अज्ञानी कहते हैं। जो इस प्रक्रिया की फिक्र ही छोड़ देता है, जो समझ लेता है कि चलती ही रहेगी दुनिया; मेरे ठहराने से ठहरने वाली नहीं; जो अपने को ठहरा लेता है और उस प्रक्रिया की चिंता छोड़ देता है, उसे हम ज्ञानी कहते हैं।

हम सब की कोशिश यही है कि प्रक्रिया ठहर जाय। आप सुख में हैं, तो आप

सोचते हैं : सुख ठहर जाय, रुक जाय। आप बिलकुल छाती से लगाकर बैठ जाते हैं कि सुख कहीं छूट न जाय; जो मिला है कहीं खो न जाय। लेकिन यहाँ कोई चीज टिकती नहीं है। इसमें कोई आपकी कमजोरी नहीं है, यहाँ वस्तुओं का स्वभाव ऐसा है कि यहाँ कोई चीज टिकती नहीं। जैसे आग गरम है, इसमें आग का कोई कसूर नहीं है। आग को पकड़ेंगे, तो जलेंगे। इसमें आग का कोई कसूर नहीं है; पकड़ने के मोह में भूल है। संसार का स्वभाव है कि वह बदलेगा। इसलिए यहाँ जो भी आप पा लेते हैं, उसको ठहराना चाहते हैं।

मेरे पास निरंतर लोग आते हैं, थोड़ा ध्यान करते हैं; मन थोड़ा शांत होता है; कहते हैं कि शांति ठहर जाय। इस संसार में कुछ ठहरेगा नहीं। यह शांति भी नहीं ठहरेगी। यह भी संसार का ही हिस्सा है, यह भी कुछ करने से मिली है। यह खो जाएगी। एक और शांति है, जो ठहरेगी; लेकिन वह संसार का हिस्सा नहीं है। वह शांति इस समझ से पैदा होती है, कि जहाँ सब बदलता है, वहाँ ठहराने का पागलपन मैं न करूँगा। बदलता जाय। सुख आये, दुःख आये; अशांति हो, शांति हो; मैं दूर खड़ा देखता ही रहूँगा; मैं इनमें से किसी को भी पकड़ूँगा नहीं और किसी को धकाऊँगा नहीं। मैं सिर्फ द्रष्टा रह जाऊँगा। ऐसा जो सुख-दुःख को देखने में लग जाता है, वह इस संसार के चक्र से बाहर छलाँग ले लेता है। संसार तो चलता ही रहता है। पर वह इसके बाहर हो जाता है।

तो दो बातें हैं। या तो आप संसार को बदलने में लगें; इसको हम मूढ़ता कहें। और या आप अपने को बदल डालें—इसे हम ज्ञान कहें।

आधुनिक चिंतन पूरी तरह संसार को बदलने पर जोर देता है। और चीजों को ठहरा लेने पर जोर देता है। इसलिए इतना दुःख है और दुःख रोज बढ़ता जाता है। आज का मन सुखी हो ही नहीं सकता, क्योंकि उसकी सारी दृष्टि संसार पर है।

जैसे कोई आदमी नदी के किनारे खड़ा है और सोचता है कि नदी ठहर जाय। और नहीं ठहरती इसलिए परेशान है। और जब तक न ठहरेगी, तब तक वह दुःखी होगा। क्योंकि उसकी धारणा है कि नदी ठहरे, तो ही मैं सुखी हो सकता हूँ।

कृष्ण कहते हैं : नदी का स्वभाव बहना है; नदी को तुम बहने दो; रोकने में न शक्ति व्यय करो और न समय खोओ। तुम नदी नहीं हो, इतना जान लेना काफी है। और नदी बहती रहे, इससे तुम्हें कुछ लेना-देना नहीं है। तुम नदी को भूल जा सकते हो, नदी विस्मृत की जा सकती है। तुम अपना स्मरण कर सकते हो।

और आदमी पर दोनों का मिलन है : वह जो अविनाशी है परमात्मा—वह; और वह जो अविनाशी संसार है—वह; दोनों आदमी की रेखा पर मिलते हैं। वहाँ सीमा दोनों की मिलती है। आपके भीतर दोनों अविनाशी हैं। वह जिसकी स्थिति कभी

नाश नहीं होती है—वह; और जिसकी प्रक्रिया कभी नाश नहीं होती है—वह; दोनों की बाउंड्री आप हैं। दोनों की सीमा, दोनों का मिलन आप हैं।

सीमा से संसार शुरू होता है—नीचे की तरफ; ऊपर की तरफ परमात्मा शुरू होता है। मूल की तरफ परमात्मा है, शाखाओं की तरफ संसार है।

'मूल ऊपर की ओर शाखाएँ नीचे की ओर हैं, ऐसे संसाररूप पीपल के वृक्ष को अविनाशी कहते हैं। तथा जिसके वेद पत्ते कहे हैं, उस संसाररूप वृक्ष को जो पुरुष मूल सहित तत्त्व से जानता है, वह वेद के तात्पर्य को जाननेवाला है।' यह बहुत ही अद्भुत वचन है।

इस संसार के पत्तों को कृष्ण कह रहे हैं वेद। परमात्मा है मूल, ये शाखाएँ हैं संसार, और इन शाखाओं पर लगे हुए पत्ते हैं—ज्ञान। ज्ञान बहुत दूर है परमात्मा से। यह जरा जटिल लगेगा।

वासना भी परमात्मा के ज्यादा निकट है, ज्ञान उससे ज्यादा दूर है, क्योंकि वासना शाखाएँ हैं। ज्ञान तो बहुत ही दूर है; पत्ता तो आखिरी बात है। पत्ते के बाद फिर कुछ भी नहीं है। पत्ता अंत है।

जिसको हम वेद कहते हैं, ज्ञान कहते हैं, जिसको हम बड़ी उपलब्धि मानते हैं, उसको कृष्ण कह रहे हैं, कि वह पत्तों की भाँति है।

जैसे कोई आदमी पत्तों को गिनता रहे और सोचे कि मूल को उपलब्ध हो गया। ऐसे कोई वेद को कंठस्थ कर ले; उसने पत्ते इकट्ठे कर लिये; मूल से उसका कोई संबंध नहीं। और अगर वासनाओं का दुश्मन हो, तो पत्ते काट ले, तो मुरदा पत्ते इकट्ठे हुए। वे पत्ते जिन्दा भी नहीं हैं।

पुराने शास्त्र, वृक्षों के पत्तों पर लिखे गये थे; बड़ी अच्छी बात थी। मुरदा पत्ते—सूखे पत्ते—उन पर शास्त्र लिखे गये थे। सभी शास्त्र मरे और सूखे पत्ते हैं। उनसे तो वासना भी कहीं ज्यादा जीवंत है। इसलिए अकसर यह होता है कि वासनाओं में डूबा हुआ साधारण मनुष्य भी परमात्मा के ज्यादा निकट होता है—बजाय उन लोगों के, जो केवल वेद के पत्तों में ही डूबे रहते हैं। उनका मूल से संबंध बिलकुल ही टूट जाता है।

वासना के पार जाना है, लेकिन वासना के पार जाने के दो उपाय हैं। अगर आप वृक्ष की शाखा पर बैठे हों, तो शाखा से पार जाना है, लेकिन पार जाने के दो उपाय हैं या तो शाखा के पीछे जायँ, जहाँ मूल है। और या शाखा की तरफ आगे जायँ, जहाँ पत्ते हैं। दोनों हालत में आप शाखा से हट जाएँगे।

इसलिए ज्ञान को पकड़ लेने वाले लोग भी, संसार से एक अर्थ में दूर हो जाते हैं। लेकिन परमात्मा के निकट नहीं हो पाते। परमात्मा के निकट होने के लिए शाखा

का छूटना जरूरी है, लेकिन पत्तों की दिशा में नहीं, मूल की दिशा में।

'और इस संसाररूप वृक्ष को जो पुरुष मूल सहित तत्त्व से जानता है, वही वेद के तात्पर्य को जानने वाला है।' तो वेद का तात्पर्य वेद में नहीं छिपा है—इस संसार की पूरी अभिव्यक्ति में छिपा है। और जो व्यक्ति इस वृक्ष को मूल सहित तत्त्व से जानता है, जो इस वृक्ष के मूल को, शाखा को, पत्तों को, फूलों को, बीजों को—सबको—पूरी तरह जान लेता है—तत्त्व से, वही व्यक्ति वेद के तात्पर्य को जाननेवाला है। आप ऋग्वेद कंठस्थ कर सकते हैं। और कंठस्थ करने में यह हो सकता है कि आपको संसार जानने का न समय मिले, न उपाय रहे...।

मैंने सुना है : एक यहूदी फकीर बालसेम के संबंध में। उसका बड़ा आश्रम था और दूर-दूर से खोजी उसके आश्रम में वर्षों आ कर रुकते थे। एक युवक वर्षों पहले आया था और अब तो बूढ़ा हो गया था। उसने सारे यहूदी शास्त्र कंठस्थ कर लिये थे। तालमुद उसकी जबान पर बैठा था। उसकी ख्याति काफी फैल गई थी। यहाँ तक कि लोग आश्रम में आते तो बालसेम से न मिल कर, उस युवक से—उस बूढ़े—जो कभी युवक था, और शास्त्रों को कंठस्थ करते-करते बूढ़ा हो गया था—उससे जा कर मिलते।

एक दिन एक आदमी ने आ कर बालसेम को कहा कि 'यह व्यक्ति इतना जानता है शास्त्रों को, यह व्यक्ति अनूठा है; आप इसके संबंध में कभी कुछ भी नहीं कहते।' बालसेम ने कहा, 'किसी को कहना मत; वह शास्त्रों के संबंध में इतना जानता है, कि मैं सदा चिंतित रहता हूँ कि वह संसार को कब जानेगा? और जो संसार को ही नहीं जान सकेगा, परमात्मा से कैसे उसका कोई संबंध होगा।'

मूल सहित इस पूरे संसार को जो जान लेता है, वह वेद के तात्पर्य को जानता है। यह हो भी सकता है, उसे वेद पता हो न हों, लेकिन तात्पर्य पता होगा। यह हो सकता है, उसे वेदों से कोई परिचय न हो। वह संस्कृत का ज्ञाता न हो, वह व्याकरण का अधिकारी न हो, लेकिन तात्पर्य उसके पास होगा।

तात्पर्य बड़ी अलग बात है। तात्पर्य वैसे है, जैसे फूल में सुगंध होती है। फूल से चाहे मिलना न भी हुआ हो, हवा में तैरती हुई सुगंध से मिलना हो जाता है। और वही सार है।

वेद फूल की तरह होंगे। उनकी सुगंध सब तरफ विस्तीर्ण है। संसार के कण-कण से वेद का जन्म हो रहा है—प्रतिपल।

वेद शब्द हिंदुओं का बड़ा अनूठा है। उसका मतलब होता है : ज्ञान, जानना। यहाँ प्रतिपाल ज्ञान की संभावना है, लेकिन खुली आँख चाहिए। अकसर शास्त्र आँखों को बंद कर देते हैं।

इस संसार को जो मूल सहित तत्त्व से जानता है, वह वेद के तात्पर्य को जानने वाला है।

'उस संसार-वृक्ष की तीनों गुणरूप जल के द्वारा बढ़ी हुई, एवं विषय भोगरूप कोंपलोंवाली देव, मनुष्य और तिर्यक आदि योनिरूप शाखाएँ नीचे और ऊपर सर्वत्र फैली हुई हैं। तथा मनुष्ययोनि में कर्मों के अनुसार बाँधने वाली अहंता, ममता और वासनारूप जड़ें भी नीचे और ऊपर सभी लोकों में व्याप्त हो रही हैं।'

कुछ और बातें, फिर यह, सूत्र का दूसरा हिस्सा, खयाल में आ सकेगा।

यह जो वृक्ष है, यह जो संसार है, इसमें वासनाएँ नीचे की तरफ ले जाती हैं; लेकिन इससे आप इस भ्रांति में मत पड़ जाना कि अगर आप ऊपर की तरफ जाना शुरू कर दें, तो वासनाओं से छुटकारा हो जाएगा। क्योंकि यह भी हो सकता है, एक शाखा पहले नीचे की तरफ यात्रा करे...। अकसर हो जाता है; और अगर माली कुशल हो तो हर शाखा के साथ हो सकता है। शाखा पहले नीचे की तरफ यात्रा करे, फिर मोड़ दी जाय, और ऊपर की तरफ उठने लगे। शाखा वही रहे, उसका प्राण वही रहे, उसकी दिशा बदल जाय, लेकिन उसका सत्त्व न बदले।

तो यह हो सकता है कि एक आदमी धन के साथ अपने अहंकार को जोड़ रहा हो; फिर धन छोड़ दे और त्याग के साथ अहंकार को बाँध ले। कल उसका अहंकार बड़ा होता था—धन के साथ; अब बड़ा होने लगे त्याग के साथ। दिशा बदल गई, आयाम बदल गया, ढंग-ढाँचा बदल गया, लेकिन माली कुशल है और शाखा की मूल धारा नहीं बदली; शाखा अब भी वही है।

आसान है दिशा बदल लेना। स्वयं को बदल देना कठिन है। और यह भी हो सकता है कि आप स्वयं को बदल लें तो दिशा को बदलने की चिंता करनी भी आवश्यक नहीं है। स्मरण आ जाय मूल का, तो शाखा नीचे की तरफ बढ़ती रहे, इससे कोई फर्क नहीं पड़ता। लेकिन अब आप मूल की तरफ सरकने शुरू हो गये।

तो त्याग अपरिहार्य नहीं है। भोग में भी कोई रह सकता है। लेकिन मूल का स्मरण आना शुरू हो जाय।

कृष्ण खुद भी वैसे ही व्यक्ति हैं, जिन्होंने शाखाओं की दिशा नहीं बदली है। शाखाएँ जिस तरफ बढ़ रही हैं, बढ़ रही हैं। लेकिन शाखाओं के भीतर जो प्राण की धारा बह रही है, उसका रुख बदल गया है। वह अब मूल की तरफ बह रही है। उसका स्मरण अब उद्गम का है, स्रोत का है, प्रथम का है। अंतिम की तरफ यात्रा नहीं हो रही है। शाखाएँ बढ़ती रहें, संसार चलता रहे, लेकिन चेतना अब प्रथम की ओर जा रही है।

इससे उलटा अकसर हो जाता है। लोग शाखाएँ भी काट डालते हैं, इस डर से

कि कहीं नीचे पतन न हो जाय। इंद्रियाँ काट डालते हैं, आँख फोड़ लेते हैं, कान फोड़ डालते हैं—इस डर से कि कहीं कोई इंद्रिय भटका न दे। लेकिन चेतना की धारा आँखें फोड़ने से नहीं बदलती। नहीं तो सभी अंधे परमज्ञान को उपलब्ध हो जाते।

सारी दुनिया में इस तरह के वर्ग रहे हैं, जिन्होंने शाखाओं को काटने की कोशिश की, इस आशा में कि न होंगी शाखाएँ, न होंगी शाखाओं की तरफ गति। यह आशा भ्रांत है, यह तर्क भूल भरा है। शाखा न हो, तो भी गति हो सकती है। क्योंकि गति भीतर की धारणा है। शाखा हो तो गति न हो—यह भी हो सकता है।

आप बिलकुल घर में रहकर संन्यस्थ हो सकते हैं। और पूरी तरह संन्यासी हो कर गृहस्थ हो सकते हैं। इसमें दूसरी बात के प्रतीक आपको जगह-जगह मिल जाएँगे। संन्यासिओं को जा कर गौर से देखें तो आप पायेंगे कि वे नये ढंग के गृहस्थ हैं। दूसरी बात जरा कठिन है। उस गृहस्थ को खोजना जरा कठिन है, जो संन्यस्थ हो। लेकिन वह भी मिल जाएगा। अगर आँखें आपके पास खुली हों और आप तीक्ष्णता से जाँच-परख कर रहे हों, धारणा पहले से न बना रखी हो, निर्णय पहले से न ले लिया हो, तो आपको ऐसे गृहस्थ भी मिल जाएँगे जो बिलकुल संन्यस्थ हैं। चेतना के प्रवाह की बात है।

'उस संसार-वृक्ष की तीनों गुणरूप जल के द्वारा बढ़ी हुई, विषय भोगरूप कोंपलोंवाली देव, मनुष्य और तिर्यक आदि योनिरूप शाखाएँ नीचे और ऊपर सर्वत्र फैली हुई हैं। तथा मनुष्ययोनि में कर्मों के अनुसार बाँधनेवाली अहंता, ममता और वासनारूप जड़ें भी नीचे और ऊपर सभी लोकों में व्याप्त हो रही हैं।'

वासना नीचे की तरफ भी बह रही है, ऊपर की तरफ भी बह रही है; सभी दिशाओं में बह रही है। इसलिए ज्यादा इस बात का विचार करना जरूरी नहीं है कि वासना कहाँ बह रही है, ज्यादा विचार करना इस बात का कि वासना उद्गम से संबंधित है ?

आप अपने संबंध में सोचें, शायद ही आपको कभी खयाल आता हो उद्गम का। शायद ही आप कभी बैठ कर सोचते हो कि गर्भ की अवस्था में मैं कैसा था। सोचें आप, तो जो भी सुनेगा, वह आपको पागल कहेगा। आप खुद भी सोचेंगे कि क्या व्यर्थ की बात है। शायद कभी-कभार आपको मृत्यु का खयाल आ भी जाता हो, लेकिन जन्म का कभी नहीं आता।

मृत्यु आगे है; वह शाखाओं का अंतिम हिस्सा है। जन्म पीछे है; वह आपके गहन में छिपा है। इस तरफ थोड़ा प्रयोग करें।

बड़े प्राचीन समय में एक विशेष ध्यान की पद्धति सिर्फ इसके लिए ही खोजी गई थी, वह मैं आपको कहूँगा। उसे प्रयोग करें आप और चकित होंगे।

ऐसी जगह बैठ जायँ जहाँ बहुत प्रकाश न हो, धुंधलका हो या अँधेरा हो। जगह शांत हो, कोई शोरगुल न हो, क्योंकि गर्भ बिलकुल शांत जगह है। वहाँ कोई शोरगुल प्रवेश नहीं कर सकता। कोई आवाज वहाँ प्रवेश नहीं कर सकती। सुख से बैठ जायँ और बैठें इस भाँति कि धीरे-धीरे आपका सिर झुकता जाय, और जमीन छूने लगे। दोनों पैर मोड़ कर बैठ जायँ, जैसा सूफी फकीर बैठते हैं, या मुसलमान नमाज पढ़ते वक्त बैठते हैं; उनके बैठने का आसन गर्भासन है। दोनों घुटने मोड़ लें और जैसा मुसलमान नमाज पढ़ते हैं, वैसे बैठ जायँ। फिर आँख बंद कर लें और सिर को आहिस्ता आहिस्ता झुकाते जायँ। इतने धीमे-धीमे झुकायें कि आप झुकाव का अनुभव कर सकें। क्योंकि झुकना बड़ी कीमती बात है। एकदम से झुक जाएँगे, तो आपको पता भी नहीं चलेगा कि आप झुके। बहुत धीमे—जितने धीमे कर सकें, उतने धीमे-धीमे सिर को झुकाते जायँ, और झुकने का अनुभव करें कि आप झुक रहे हैं। फिर आपका सिर जमीन को छूने लगे। तो आप ठीक उस अवस्था में आयेंगे जिस अवस्था में बच्चा गर्भ में होता है। ऐसा ही बच्चा सिकुड़ा हुआ गर्भ में होता है। घुटने उसके छाती से लगे होते हैं, सिर नीचे झुका होता है, पैर उसके पीछे मुड़े होते हैं। इसलिए मुसलमानों का नमाज पढ़ने का ढंग बड़ा वैज्ञानिक है। वह पद्मासन और सिद्धासन से भी ज्यादा कीमती है। क्योंकि कोई बच्चा गर्भ में पद्मासन और सिद्धासन लगाकर नहीं बैठता। इसलिए पद्मासन और सिद्धासन में वह सरलता नहीं है, वह स्वाभाविकता नहीं है, वह सहजता नहीं है, जो नमाज की क्रिया में है।

फिर नमाज पढ़ने वाला नमाजी बार-बार झुकता है, और झुकने का अभ्यास करता है। फिर-फिर नीचे झुकता है। फिर उठता है। फिर झुकता है। वह झुकने की कला है। इसलिए मसजिद से निकलते हुए मुसलमान में जैसी विनम्रता दिखाई पड़ेगी, किसी हिंदू में किसी मंदिर से निकलते वक्त दिखाई नहीं पड़ती। उसकी सारी नमाज़ ही झुकने की कला है।

कठिन था मोहम्मद को अरब के रेगिस्तान के खूंखार लोगों को धार्मिक बनाना। नमाज की प्रक्रिया ने साथ दिया।

हिंदुओं को सहिष्णु बनाना, उदार बनाना बहुत कठिन नहीं है। प्रकृति बड़ी उदार है यहाँ। सब चीजें उपलब्ध हैं। आज नहीं है तो कल थीं। जिन्दगी बहुत बड़ा संघर्ष नहीं है। लेकिन जहाँ मोहम्मद ने लोगों को झुकना सिखाया, वहाँ जीवन बड़ा संघर्ष था, बड़ा भयंकर संघर्ष था। जीने का मतलब ही दूसरे को मारना, दूसरे को मिटाना था। और विस्तार—रेगिस्तान का जलता हुआ, जहाँ हरियाली दिखाई भी न पड़े, वहाँ आदमी अगर अकड़ जाय, अहंकारी हो जाय, क्रूर और कठोर हो जाय,

तो स्वाभाविक है। वहाँ नमाज की प्रक्रिया ने और झुकने ने उन खूंखार लोगों को भी बहुत विनम्र बना दिया।

आप देखें प्रयोग कर के। कमरा अँधेरा हो, और ठीक इस हालत में हो जायँ, जैसे आप फिर से छोटे बच्चे हो गये हैं और गर्भ में प्रवेश कर गये हैं। श्वास धीरे-धीरे कम हो जाएगी। आसन ही ऐसा है कि श्वास तेज नहीं हो सकती। पैर दबा होगा, पेट दबा होगा, छाती दबी होगी, सिर झुका होगा, श्वास तेज नहीं हो सकती; श्वास धीमी होती जाएगी। उसको साथ दें, और धीमा हो जाने दें। ऐसी घड़ी आयेगी जब श्वास बिलकुल लगेगी कि चलती है या नहीं चलती। क्योंकि बच्चा श्वास नहीं लेता पेट में। और जब ऐसी घड़ी आ जाएगी, जब आपको लगेगा कि श्वास चलती है या नहीं चलती; पता नहीं चलता, तब, आप समझना कि अब ठीक गर्भासन की अवस्था आ गयी। कभी-कभी ऐसा भी होगा क्षण-भर को कि श्वास बिलकुल ही रुक जाएगी, उसी क्षण आपको झलक मिलेगी प्रथम मूल की। यह झलक आपको मिलनी शुरू जाय, तो आप दूसरे ही व्यक्ति होने लगेंगे।

खोजना है उद्‌गम को; खोजना है उस बिंदु को जहाँ से हम आते हैं। क्योंकि जहाँ से हम आते हैं, वही हमारी अंतिम मंजिल होने वाली है, और कोई उपाय नहीं। मंजिल को तो हम नहीं खोज सकते हैं, क्योंकि मंजिल बहुत दूर है, लेकिन प्रथम को हम खोज सकते हैं, क्योंकि प्रथम हममें छिपा है। वह मौजूद है अभी भी, उसको आप अपने साथ लेकर चल रहे हैं।

आपने जो भी गर्भ में जाना था, वह ज्ञान आपके भीतर पड़ा है। उसे आप अभी भी लिये चल रहे हैं।

जान कर आप चकित होंगे कि गहरे सम्मोहन में, हिप्नोसिस में लोग अपने गर्भ की घटनाएँ भी याद करते हैं। अगर आपकी माँ गिर पड़ी हो, और उसको चोट लग गई हो, और उसका धक्का आपको लगा हो—जब आप गर्भ में थे; तो सम्मोहन की अवस्था में, बेहोश अवस्था में आप उसको याद कर सकते हैं। याद लोग करते हैं, कि जब मैं पाँच महीने का गर्भ में था, मेरी माँ गिर पड़ी थी, और मुझे चोट लगी, धक्का लगा; उस धक्के की स्मृति आपको अभी भी है। उन नौ महीने में आपने जो जाना है, वह आपके भीतर पड़ा है। और उस नौ महीने के पहले भी आप थे। उद्‌गम और भी गहराई में है। तब आप बिलकुल आत्मरूप थे, चाहे थोड़े ही क्षणों को। पिछला शरीर छूट गया था, नये शरीर में देर है, थोड़ा समय लगा, उस बीच आप बिलकुल आत्मरूप थे, कोई देह न थी। इसकी भी स्मृति आती है। फिर अनेक जन्मों की स्मृति और फिर सारे जन्मों की स्मृति के साथ ही इस बात का स्मरण—अतिक्रमणता का—कि मेरा न तो कोई जन्म है और न कोई मृत्यु। इतने जन्म और

इतने मृत्यु मेरे पड़ाव थे, मेरी यात्रा के ठहराव थे और मैं यात्री हूँ। और जैसे ही यह स्मरण आता है, आप अपने मूल उद्‌गम को उपलब्ध हो गये और यही अंतिम लक्ष्य है। इसको बुद्ध निर्वाण कहते हैं, पतंजलि समाधि कहते हैं।

लेकिन फ्रायड ने बड़ी ही कीमत की बात कही है। किया है उसने कठोर व्यंग और आलोचना। उसने कहा है, 'यह बुद्ध का निर्वाण और पतंजलि की समाधि, यह गर्भ की आकांक्षाएँ हैं। गर्भ को पुनः पाने की आकांक्षा है।' उसने तो विरोध के हिसाब से कहा है। उसका तो कहना है कि यह मॉर्बिड स्टेट, रुग्ण अवस्था है कि कोई आदमी अपने गर्भ को फिर पाना चाहे। लेकिन उसने चोट तो ठीक जगह की है। बात तो सच है।

हम सभी किस बात को खोज रहे हैं? एक सोचने जैसी बात है। हम उसी को खोज सकते हैं, जिसे हमने कभी जाना हो; नहीं तो खोजेंगे भी कैसे? खोजेंगे क्यों?

आप कहेंगे आनंद की खोज करना है, लेकिन आनंद आपने कभी जाना हो तभी। जिसका स्वाद ही न हो, उसकी खोज कैसे होगी? उसकी वासना भी कैसे जगेगी? आपको याद हो या न हो, आनंद आपने कभी जाना है। नहीं तो यह स्वाद कैसा? यह चेष्टा कैसी? यह दौड़ किसलिए? बिलकुल अपरिचित को कोई भी नहीं खोज सकता।

सूफी फकीर कहते हैं: 'हम ईश्वर को खोज रहे हैं, क्योंकि हम ईश्वर को जानते हैं।' ठीक कहते हैं। जानना कहीं भीतर होना ही चाहिए, नहीं तो खोज नहीं हो सकती। अपने कभी ऐसे आदमी को सुना है, जो कोई ऐसी चीज को खोजने निकल जाय, जिसे वह जानता ही न हो? तो निकलेगा भी कैसे? शुरुआत कैसे होगी?

आनंद को हम खोजते हैं, क्योंकि आनंद हमने जाना है। वह हमारा प्रथम अनुभव था और वह इतना गहन था कि उसके बाद हमने उससे श्रेष्ठतर कुछ भी नहीं जाना। उसके बाद वृक्ष नीचे ही जाता रहा है। इस आनंद को फिर पाना है। वह मूल की ही खोज है।

इस बात को बहुत गहराई से स्मरण में रख लें कि आपकी समाधि आपके पुनः गर्भ में होने का अनुभव होगी। अगर आप पुनः गर्भ का अनुभव कर लें, तो इस अवस्था को जापान के फकीरों ने सतोरी कहा है। यह पहली समाधि का अनुभव है—पहली झलक। और अगर आप बढ़ते ही जायँ पीछे—पीछे—और उस जगह पहुँच जायँ, जहाँ यह पूरा ब्रह्माण्ड आपका गर्भ हो जाय और आप इस गर्भ के हिस्से हो जायँ, तो उसे पतंजलि ने परम समाधि कहा है—ब्रह्मसमाधि, वह अंतिम समाधि है, वह अंतिम उपलब्धि है। उस दिन सारा जगत् गर्भ हो जाता है और आप गर्भ के भीतर लीन हो जाते हैं।

पर यह सूत्र बहुमूल्य है। गीता में भी इतने बहुमूल्य सूत्र कम हैं। और यह सूत्र साधक के लिए है। आगे को भूलें और पीछे को खयाल कर लें। जो पाना है, उसकी फिक्र छोड़ें; जो पाया ही हुआ था और जिसको हमने किसी तरह खोया है, जो विस्मृत हो गया है, उसकी पुनः स्मृति करें।

जितना आप पीछे जाएँगे उतने ही आप आगे जाएँगे, क्योंकि गति वर्तुलाकार है। और जिस दिन आप पीछे बिंदु पर पहुँच जाएँगे उस दिन आप अंतिम मंजिल पर पहुँच गये।

जहाँ जड़ें हैं, वहीं वृक्ष के अंतिम फूल हैं। वृक्ष में जब फूल लगते हैं, तो अंतिम क्या होता है? अंत में वृक्ष के फूल गिरने लगते हैं। वर्तुल पूरा हो गया। बीज हमने बोया था। बीज से वृक्ष बड़ा हुआ; फिर फूल लगे, फल लगे, बीज फिर आ गये। वर्तुल पूरा हुआ। और जैसे ही बीज फिर आ गये, फल टूटने लगते हैं, फूल टूटने लगते हैं, बीज वापस जमीन में गिरने लगते हैं।

जहाँ से यात्रा शुरू हुई थी, यात्रा वहीं पूरी हो गई। बीज से प्रारंभ, बीज पर अंत। परमात्मा से प्रारंभ, परमात्मा पर अंत। प्रथम ही अंतिम है। हमारा मन लेकिन आगे की तरफ दौड़ता है। पीछे की तरफ रास्ता ही नहीं मालूम पड़ता। शायद हम भयभीत हैं। क्योंकि पीछे की तरफ लौटने में जो हमने बहुत से दुःख छिपा रखे हैं, वे उभरेंगे। यही भय है। जो दुःख छिपा रखे हैं, वे उभरेंगे। उनसे हमें फिर गुजरना होगा। उनसे गुजरने में पीड़ा है।

मैंने सुना है, एक साँझ मुल्ला नसरुद्दीन अपने मकान के सामने बहुत उदास बैठा था। उसकी पत्नी पूछती है कि 'नसरुद्दीन, इतने उदास! क्या बात है?' नसरुद्दीन ने कहा कि 'सुबह जब मैं बाजार गया, तो मेरे खीसे में सौ रुपये का नोट था। फिर मैंने एक खीसे को छोड़ के सब खीसे देख लिये, नोट का कहीं कोई पता नहीं चला।' तो उसकी पत्नी ने कहा, 'उस एक को क्यों छोड़ रखा है?' नसरुद्दीन ने कहा कि 'डर लगता है; अगर उसको देखा और वहाँ भी न पाया तो। एक ही आशा बची है। और हिम्मत नहीं पड़ती, उस खीसे में हाथ डालने की।'

आप भयभीत हैं—खुद के भीतर जाने में। भविष्य में आशाएँ बाँध रखी हैं। वहाँ आशाओं की सुविधा है, क्योंकि कल्पना फैलाने का कोई अंत नहीं है; सपने देखने में कोई कठिनाई नहीं है। सपनों को सुंदर बनाना आपके हाथ में है; उनको रंगते जाना, रंगीन करते जाना भी आपकी सुविधा है। अतीत के साथ आप कुछ कर नहीं सकते। अतीत ठोस है, सत्य है, वह हो चुका। और आप उससे गुजर चुके और आप जानते हैं कि पीड़ा थी, बड़ा दुःख था। और वह सब दुःख वहाँ भरा है, उसी रास्ते से गुजरने में—डर लगता है—फिर से उन्हीं बिंदुओं को छूने में।

और ध्यान रखें, आप पूरी पीड़ा से गुजरेंगे, गुजरना ही पड़ेगा। आपके सारे दुःख फिर से पुनर्जीवित होंगे, सब घाव फिर हरे होंगे। क्योंकि कोई घाव मिटता नहीं; वह बना है।

अगर आप दस वर्ष के थे और आपके पिता ने आपको पीटा था, तो वह चोट अब भी वहाँ बनी है। जब आप पीछे लौटना शुरू करेंगे, गर्भ का प्रयोग करेंगे, आप पुनः दस वर्ष के होंगे, वह चोट फिर हरी होगी। पिता फिर आपको पीटेंगे। फिर वही पीड़ा, फिर वही अहंकार को लगी चोट, असमर्थता, असहाय अवस्था—फिर सब भीतर प्रगट होगा। फिर वही आँसू, फिर वही रोना, वह सब फिर पैदा होगा। लेकिन यह पैदा कर लेना बड़ा कीमती है। क्योंकि अब आप सचेतन रूप से इससे गुजर रहे हैं। और एक बार जिस अनुभव से आप सचेतन गुजर जायँ, वह आपकी स्मृति से मुक्त हो जाता है। संस्कार इसी तरह क्षीण होते हैं, कर्म इसी तरह लय होते हैं। पीड़ा को आप छिपायें न, उसको फिर से भोग लें और आप हलके हो जाएँगे।

तो डरें मत। पीछे उतरने का डर छोड़ें। थोड़े दुःख—पीछे के—भोगें और आप पायेंगे : आप हलके होते हैं। एक बार यह खयाल आ गया, तो फिर आप सारे दुःख भोग कर वापस गर्भ तक पहुँच सकते हैं।

मूल ऊपर की ओर, पीछे की ओर, प्रथम में छिपा है। एक लंबी यात्रा की है आपने, और इस यात्रा से बचने का एक सुगम उपाय है कि आप भविष्य में सपने देखते रहें। तो आपका अतीत बड़ा होता जाता है। लौटना उतना ही मुश्किल होगा। जितनी देर करेंगे, उतनी ही कठिनाई होगी।

लोग मेरे पास आते हैं, वे कहते हैं, 'अभी हमारी उम्र नहीं; अभी तो जवान हैं। अभी क्या ध्यान, अभी क्या समाधि, अभी क्या सोचना परमात्मा को। आयेगा समय, रिटायर होंगे, काम-धंधे से छुटकारा होगा, फुर्सत होगी; तब...।' उन्हें पता नहीं; जितनी देर होगी, उतना कठिन होता जाता है, क्योंकि अतीत रोज बड़ा होता जाता है। उतना ही बोझ, उतने ही दुःख, उतनी ही पीड़ाएँ, उतनी ही ईर्ष्याएँ, इकट्ठी होती जाती हैं। पीछे लौटना उतना ही मुश्किल हो जाएगा। दरवाजे उतने ही बंद हो जाएँगे; भय और ज्यादा होगा।

जितनी जल्दी हो सके, उतना उचित है। और किसी दिन...अब तक ऐसा हो नहीं पाया पृथ्वी पर, कभी हो पायेगा, इसकी भी संभावना कम है। किसी दिन अगर माँ-बाप ज्यादा विचारशील होंगे, वस्तुतः धार्मिक होंगे...। ऐसे धार्मिक नहीं, जैसे कि सभी माँ-बाप अभी हैं। वस्तुतः धार्मिक होंगे, तो वे बच्चे को आगे भी ले जाएँगे और निरंतर पीछे भी ले जाएँगे। वे बच्चे को कभी भी अतीत के बोझ से दबने न

देंगे। वे उसके बचपन में लौटने की प्रक्रिया को, बचपन में बार-बार डूबने की प्रक्रिया को जिन्दा रखेंगे।

अगर आप अपने छोटे बच्चों को रोज कह सकें कि वे रोज का दिन पुनः जी लें, रात सोने के पहले...। जब वह रात सोने जायँ तो पीछे लौटें। सुबह से शुरू न करें। वर्तमान से पीछे लौटें। बिस्तर पर लेटना आखिरी काम है, इससे पीछे लौटें; और एक-एक काम—जो इसके पहले किया है, उससे शुरू कर सुबह तक वापस जायँ! जब सुबह जगे थे बिस्तर से, वहाँ तक पीछे लौटें। अगर हर बच्चे को बचपन से सिखाया जा सके—रोज पीछे लौटना, तो धूल इकट्ठी न होगी; वह रोज ही अपने कर्म को झाड़ रहा है। तो जब वह जवान होगा, तब सच में ही जवान होगा, ताजा होगा। वह जब बूढ़ा होगा, तब भी ताजा होगा। उसके वार्धक्य में एक गरिमा होगी। उसका वार्धक्य ताजगी से भरा होगा। उसके पीछे कोई अतीत नहीं, कोई धूल नहीं है। वह रोज उसे झाड़ता रहा। वह रोज साफ करता रहा।

घर तो हम साफ करते हैं—रोज करते हैं; स्वयं को हम कभी साफ नहीं करते। और धर्म स्वयं को साफ करने से ज्यादा कुछ भी नहीं है। उसका न कुछ परमात्मा से लेना-देना है, न मोक्ष से। स्वयं को साफ करने से उसका संबंध है। क्योंकि स्वयं अगर आप साफ हैं, तो आप परमात्मा हैं, आप मोक्ष हैं।

आपकी गंदगी आपका संसार है। आपका बोझ आपका संसार है। आप निर्बोझ है, तो आप परमात्मा हैं।

पीछे लौटना सीखें। आगे की दौड़ में ज्यादा शक्ति न गँवायें। लेकिन सपनों में रस है।

मैंने सुना है कि मुल्ला नसरुद्दीन अपने मनोचिकित्सक के पास एक बार गया। और उसने कहा कि 'मै बड़ा व्यथित हूँ और जब बहुत थक गया और परेशान हो गया, तब आपके पास आया हूँ।' उस मनोचिकित्सक ने पूछा कि 'क्या तकलीफ है?' नसरुद्दीन ने कहा, 'एक ही स्वप्न बार-बार आता है; रोज आता है। और अब मैं थक गया हूँ। बर्षों से यह चल रहा है। अब मैं सो भी नहीं पाता। दिन भर भी लगता है, वह स्वप्न रात आयेगा, और रात उस सपने में बीतती है।' चिकित्सक, मनोचिकित्सक भी उत्सुक और आतुर हो गया। उसने पूछा, 'कौन-सा स्वप्न है?' उसने कहा, 'एक रोज, स्वप्न देखता हूँ कि बैठा हूँ अपने मकान के सामने, एक अति सुंदर युवती निकलती है और मैं उसके पीछे भागता हूँ। और वह जाती है और अपने मकान में चली जाती है, और दरवाजा बंद कर लेती है। मैं दरवाजे पर खड़ा ठोंक रहा हूँ दरवाजा, ठोंक रहा हूँ। कई साल हो गये, रोज यही स्वप्न...।' तो मनोचिकित्सक ने कहा, 'इस स्वप्न से आप मुक्त होना चाहते हैं?'

तो नसरुद्दीन ने कहा, 'आप गलती समझ रहे हैं। मैं चाहता हूँ, वह दरवाजा बंद न कर पाये।'

मन दौड़ रहा है सपनों में। सपनों में भी महत्वाकांक्षाएँ हैं, उनकी पूर्ति की इच्छा है। 'दरवाजा बंद न हो पाये।' सपने से छूटने को कोई तैयार नहीं है। सपने को सुंदर बनाने की चेष्टा है। इसे थोड़ा खयाल रखें।

मेरे पास लोग आते हैं। वे कहते हैं कि 'छुड़ायें इस संसार से।' कोई छूटना नहीं चाहता। वे यह कह रहे हैं : बनायें इस संसार को ज्यादा सुंदर, दरवाजा बंद न हो पाये। उनका मोक्ष, उनका स्वर्ग, सब इसी संसार के सुंदर रूप हैं, जहाँ दरवाजा सदा खुला हैं। साधारण आदमी का नहीं; जिनको हम बहुत समझदार, बुद्धिमान कहते हैं—उनका भी।

सपने कैसे सफल हो जायँ, कैसे और सुंदर हो जायँ। पर जितने ही सुंदर होंगे सपने—और जितने ही सफल होंगे, उतने ही आप खो जाएँगे; उतना ही स्मरण कम रह जाएगा। स्वप्न का अर्थ ही है—स्वयं को खोना, विस्मरण कर देना।

धर्म की सारी प्रक्रियाएँ स्वयं को स्मरण करने की प्रक्रियाएँ हैं। स्वप्न शुरू नहीं हुए थे गर्भ में। वहीं लौट जाना है, जहाँ स्वप्न की पहली चोट भी नहीं पड़ी थी। इसलिए पतंजलि ने योग-सूत्र में कहा है कि समाधि सुषुप्ति की ही अवस्था है—गहरी निद्रा की अवस्था है। जहाँ एक भी स्वप्न नहीं, एक भी विचार नहीं है। पर सुषुप्ति और समाधि में इतना ही फर्क है, कि सुषुप्ति में आप बेहोश हैं और समाधि में आप होश से भरे हैं। होशपूर्वक पीछे लौट जाना है और उस बिंदु को पा लेना है, जहाँ से प्रारम्भ है।

इस बात की चिंता मत करें कि संसार कैसे प्रारंभ हुआ। इस बात की फिक्र मत करें कि संसार को किसने बनाया? क्यों बनाया? किस लिए बनाया? इस बात की फिक्र करें कि आप कब प्रारम्भ हुए? कैसे प्रारम्भ हुए? उस क्षण को पकड़ें—जब आप प्रारम्भ हुए।

सृष्टि के प्रारम्भ को पकड़ने की बात व्यर्थ है। वह पकड़ा नहीं जा सकता, क्योंकि सृष्टि सदा है। यह चक्र घूमता ही रहा है। आप इस चके पर कब सवार हो गये? आपने कब इसकी जोड़ से गँठ-बंधन कर लिया; उस बिंदु को पकड़ें। उस बिंदु के पहले आप परमात्मा थे, उस बिंदु के बाद आप शाखाओं में भटक गये और शाखाएँ लम्बी हैं और वृक्ष नीचे की तरफ बढ़ता जाता है। और जिस दिन आप यह समझ लेंगे कि एक क्षण ऐसा भी था, जब आप इस चके को नहीं पकड़े थे, बाहर थे, उसी क्षण यह चका छूट भी जाएगा। क्योंकि तब इसे पकड़ने का कोई सार नहीं है।

जिस क्षण उस आनन्द की झलक मिल जाएगी, जो इस संसार में उतरने के पहले

थी, उसी क्षण संसार की दौड़ बंद हो जाएगी, क्योंकि हम उसी आनन्द को इस संसार में खोजने का प्रयास कर रहे हैं।

यह जो मैंने ध्यान का छोटा-सा प्रयोग कहा, इसे आप करें, तो कृष्ण का जो तात्पर्य है, वह समझ में आयेगा।

कृष्ण के शब्दों के तात्पर्य पर बहुत टीकाएँ लिखी गई हैं। हजारों टीकाएँ हैं। पर उन टीकाओं में से एक भी टीका नहीं है, जिसमें यह सुझाव दिया हो कि आप अपने मूल में कैसे लौट जायँ। लेकिन मैं मानता हूँ : वे टीकाएँ शाब्दिक हैं। और उनसे सत्य नहीं पकड़ा जा सकता। उनसे जो आप पकड़ेंगे, वह भी शाब्दिक ही होगा।

मुल्ला नसरुद्दीन के घर में बड़े चूहे थे। और वह परेशान था। लेकिन कंजूसी की वजह से चूहादान भी नहीं खरीद सकता था। लेकिन फिर हिम्मत की और खरीद लाया। चूहादान तो खरीद लिया, लेकिन अब मुसीबत यह थी कि उसमें एक रोटी का टुकड़ा भी रखना है। वह भी कंजूसी की वजह से मुश्किल है। तो उसने तरकीब निकाली। होशियार आदमी था, मौलवी था, मुल्ला था। जानता था शास्त्रों को। उसने एक अखबार में से रोटी की फोटो काटकर अंदर रख दी। और रात निश्चिंत सोया। सुबह उसने अपना सिर पीट लिया।

हुआ कुछ ऐसा कि जब उसने चूहादान खोला तो रोटी की तस्वीर के पास एक कुतरा हुआ अखबार का टुकड़ा और पड़ा था, जिसमें एक चूहे की तस्वीर थी।

अखबार में छपी रोटी ज्यादा से ज्यादा अखबार में छपे हुए चूहे को पकड़ सकती है—और तो कुछ नहीं। इन शब्दों की शब्दों से व्याख्या हो सकती है, लेकिन तब आप असली चूहे को नहीं पकड़ पायेंगे। इसलिए मैंने इस पहले ही सूत्र में ध्यान की प्रक्रिया की बात कही, क्योंकि उससे ही आपको दिखाई पड़ेगा कि आप एक उलटे वृक्ष हैं।

संसार हो या न हो, आप हैं। और जब आप हैं, तब सारा रहस्य खुल गया। तब आपको लगेगा आपका मूल ऊपर है, शाखाएँ नीचे की तरफ हैं। और जिसको आप विकास कह रहे हैं, वह पतन है। और जिसको आप पीछे कह रहे हैं, वही अंत है, वहीं पहुँच जाना है।

आज इतना ही।

माँ-बाप का आदर • अतीत से छुटकारा
सभ्यता विकास है या पतन • दृढ वैराग्य और शरणागति

दूसरा प्रवचन

बम्बई, रात्रि, दिनांक ६ मार्च, १९७४

न रूपमस्येह तथोपलभ्यते
नान्तो न चादिर्न च संप्रतिष्ठा।
अश्वत्थमेनं सुविरूढमूलम्
असंगशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा ॥ ३ ॥

ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं
यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः।
तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये
यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी ॥ ४ ॥

निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा
अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञैः
गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत् ॥ ५ ॥

इस संसार-वृक्ष का रूप जैसा कहा है, वैसा यहाँ नहीं पाया जाता है, क्योंकि न तो इसका आदि है और न अन्त है तथा न अच्छी प्रकार से स्थिति ही है। इसलिए इस अहंता, ममता और वासनारूप अति दृढ मूलोंवाले संसाररूप पीपल के वृक्ष को दृढ वैराग्यरूप शस्त्र द्वारा काटकर,

उसके उपरान्त उस परमपदरूप परमेश्वर को अच्छी प्रकार खोजना चाहिए कि जिसमें गये हुए पुरुष फिर पीछे संसार में नहीं आते हैं। और जिस परमेश्वर से यह पुरातन संसार-वृक्ष की प्रवृत्ति विस्तार को प्राप्त हुई है, उस ही आदि पुरुष को मैं शरण हूँ—इस प्रकार दृढ निश्चय करके,

नष्ट हो गया है मान और मोह जिनका तथा जीत लिया है आसक्तिरूप दोष जिनने और परमात्मा के स्वरूप में है निरन्तर स्थिति जिनकी तथा अच्छी प्रकार से नष्ट हो गयी है कामना जिनकी, ऐसे वे सुख-दुःख नामक द्वन्द्वों से विमुक्त हुए ज्ञानीजन उस अविनाशी परमपद को प्राप्त होते हैं।

सूत्र के पहले कुछ प्रश्न।

● पहला प्रश्न : आपने कल माता और पिता के बारे में जो भी कहा, वह बहुत प्रिय था। माता-पिता बच्चों को प्रेम देते हैं, लेकिन बच्चे माता-पिता को प्रेम क्यों नहीं दे पाते हैं?

दो-तीन बातें समझनी जरूरी है।

एक तो आपसे मैंने कहा कि अपने माता-पिता को प्रेम दें। प्रश्न जिन्होंने पूछा है, वे बच्चों से अपने लिए प्रेम माँग रहे हैं। वहीं भूल हो गई।

सभी माँ-बाप बच्चों से प्रेम माँगते हैं। आपके माँ-बाप ने भी आपसे माँगा होगा और आप नहीं दे पाये। आप भी अपने बच्चों से माँग रहे हैं और प्रेम पाने की संभावना बहुत कम है। आपके बच्चे भी अपने बच्चों से माँगेंगे।

जो मैंने कल कहा था, वह कहा था—बच्चों के लिए—माँ-बाप को प्रेम देने के लिए; माँ-बाप बच्चों से प्रेम माँगें—इसके लिए नहीं। और प्रेम कभी माँग कर मिलता नहीं; और माँग कर मिल भी जाय, तो उसका कोई मूल्य नहीं है। जहाँ माँग पैदा होती है, वहीं प्रेम मर जाता है।

दूसरी बात : माँ-बाप का प्रेम—बच्चे के प्रति—स्वाभाविक, सहज, प्राकृतिक है। जैसे नदी नीचे की तरफ बहती है, ऐसा प्रेम भी नीचे की तरफ बहता है। बच्चे का प्रेम—माँ-आप के प्रति—बड़ी अस्वाभाविक, बड़ी साधनागत घटना है। वह ऐसे है, जैसे पानी को ऊपर चढ़ाना हो।

तो गुरजिएफ का जो सूत्र था, वह था कि 'जो लोग अपने माँ-बाप को प्रेम दे पाते हैं, उन्हें ही मैं मनुष्य कहता हूँ'; क्योंकि अति कठिन बात है।

सभी माँ-बाप अपने बच्चों को प्रेम देते हैं; वह सहज बात है। उसके लिए

मनुष्य होना भी जरूरी नहीं है; पशु भी उतना करते हैं। माँ-बाप से बच्चे की तरफ प्रेम का बहना नदी का नीचे उतरना है। बच्चे माँ-बाप को प्रेम दें, तो ऊर्ध्वगमन शुरू हुआ। अति कठिन बात है।

माँ-बाप सोचते हैं : हम इतना प्रेम बच्चों को देते हैं, बच्चों से हमें प्रेम क्यों नहीं मिलता? सीधी-सी बात उनकी स्मृति में नहीं है। उनका अपने माँ-बाप के प्रति कैसा संबंध रहा? और अगर आप अपने माँ-बाप को प्रेम नहीं दे पाये, तो आपके बच्चे भी कैसे दे पायेंगे? और जैसा आप अपने बच्चों को दे रहे हैं, आपके बच्चे भी अपने बच्चों को देंगे, आपको क्यों दें?

यह प्राकृतिक पशु में भी हो जाता है। इसलिए माँ-बाप इसमें बहुत गौरव अनुभव मत करें कि वे बच्चों को प्रेम करते हैं। यह सीधी, स्वाभाविक, प्राकृतिक घटना है। माँ-बाप बच्चों को प्रेम न करें, तो अप्राकृतिक घटना होगी। बच्चे माँ-बाप को प्रेम करें, तो अस्वाभाविक घटना घटती है। यह बहुत बहुमूल्य है, क्योंकि वहाँ प्रेम प्रकृति के चक्र से मुक्त हो जाता है; वहाँ प्रेम सचेतन हो जाता है। इसलिए सभी प्राचीन संस्कृतियाँ माता-पिता के लिए परम आदर का स्थापन करती हैं। और इसे सिखाना होता है। इसके संस्कार डालने होते हैं। इसके लिए पूरी संस्कृति का वातावरण चाहिए। पूरी हवा चाहिए, जहाँ कि यह ऊपर की तरफ उड़ना आसान हो सके।

नीचे की तरफ उतरने में कुछ भी गौरव गरिमा नहीं है।

कठिन और भी है। जब एक बच्चा पैदा होता है, तो बच्चा तो निर्दोष होता है, सरल होता है। और यह बड़ी बात है; वही उसका गुण है, जिसकी वजह से आपका प्रेम उसकी तरफ बहता है; असहाय होता है, हेल्पलेस होता है। असहाय को प्रेम देने में आप के अहंकार को बड़ी तृप्ति मिलती है। असहाय को बड़ा करने में आपको बड़ा रस आता है। फिर बच्चा निर्दोष होता है। उसको घृणा करने का तो कोई उपाय भी नहीं। उस पर कठोर होने में आपको मूढ़ता मालूम पड़ेगी। पर जैसे-जैसे बच्चा बड़ा होता है, वैसे-वैसे आपका प्रेम सूखने लगता है; वैसे-वैसे आप कठोर होने लगते हैं! जैसे-जैसे बच्चा अपने पैरों पर खड़ा होने लगता है, वैसे-वैसे आप और बच्चे के बीच खाई बढ़ने लगती है। क्योंकि अब बच्चा असहाय नहीं है। और अब बच्चे का भी अहंकार पैदा हो रहा है। अब बच्चा भी संघर्ष करेगा, प्रतिरोध करेगा, बगावत करेगा, लड़ेगा। अब उसकी जिद्द और उसका हठ पैदा हो रहा है, उससे आपके अहंकार को चोट पहुँचनी शुरू होगी।

नवजात बच्चे को प्रेम करना बड़ा सरल है। लेकिन जैसे ही बच्चा बड़ा होना शुरू होता है, प्रेम करना मुश्किल, कठिन होने लगता है।

ठीक इससे उलटी बात खयाल में रखें कि बच्चे के लिए आपको प्रेम करना बहुत

कठिन है। घृणा करना सरल है, क्योंकि आप शक्तिशाली हैं। और निर्बल हमेशा शक्तिशाली को घृणा करेगा। शक्तिशाली दया बता सकता है—निर्बल के प्रति, लेकिन निर्बल को दया बताने का तो कोई उपाय नहीं है। निर्बल शक्तिशाली को घृणा करेगा।

बच्चा अनुभव करता है : 'असहाय है' और आप शक्तिशाली हैं। बच्चा अनुभव करता है : वह परतंत्र है और सारी शक्ति, सारी परतंत्रता का जाल आप के हाथ में है। जैसे ही बच्चे का अहंकार बड़ा होगा...। बड़ा होगा ही, क्योंकि वही गति है जीवन की।

जैसे ही बच्चा सजग होगा और समझेगा : 'मैं हूँ', वैसे ही आपके साथ संघर्ष शुरू होगा। आप चाहेंगे : आज्ञा माने, और बच्चा चाहेगा : आज्ञा तोड़े। क्योंकि आज्ञा मनवाने में आप के अहंकार की तृप्ति है और आज्ञा तोड़ने में उसके अहंकार की तृप्ति है। और बच्चे के मन में आपके लिए घृणा होगी, और आपका प्रेम सिर्फ जालसाजी मालूम होगी। क्योंकि प्रेम के नाम पर आप बच्चे का शोषण कर रहे हैं—ऐसा बच्चे को प्रतीत होगा। और सौ में नब्बे मौके पर बच्चा गलती में भी नहीं है। प्रेम के नाम पर यही हो रहा है।

यह सारी घृणा बच्चे में इकट्ठी होगी। अगर बच्चा लड़का है, तो पिता के प्रति घृणा इकट्ठी होगी; अगर लड़की है, तो माँ के प्रति घृणा इकट्ठी होगी। कोई बेटा अपने बाप को आदर नहीं कर पाता। आदर करना पड़ता है, मजबूरी है, लेकिन भीतर से बगावत करना चाहता है। कोई लड़की अपनी माँ को प्रेम नहीं कर पाती; दिखलाती है; वह शिष्टाचार है। लेकिन भीतर ईर्ष्या, जलन और संघर्ष है।

इसलिए गुरजिएफ की बात मूल्यवान है—कि 'जो व्यक्ति अपने माँ-बाप को प्रेम कर पाये, उसे ही मैं मनुष्य कहता हूँ'। क्योंकि यह बड़ी कठिन यात्रा है।

इसलिए आप अगर अपने बच्चों को प्रेम करते हैं, तो बहुत गौरव मत मान लेना। सभी अपने बच्चों को प्रेम करते हैं; आपके बच्चे भी करेंगे। इसमें कोई विशेषता नहीं है। लेकिन अगर आप अपने माँ-बाप के प्रति आदर करते हैं, प्रेम करते हैं, सम्मान रखते हैं, तो जरूर गौरव की बात है; जरूर महत्वपूर्ण बात है। क्योंकि यह एक चेतनगत उपलब्धि है। और यह तब ही हो सकती है, जब आप मूल के प्रति श्रद्धा से भर जायँ। अन्यथा हर बेटे को ऐसा लगता है कि बाप मूढ है। और जैसे-जैसे आधुनिक विकास हुआ है शिक्षा का, वैसे-वैसे यह प्रतीति और गहरी होने लगी है।

शायद बाप उतना पढ़ा लिखा न हों, जितना बेटा पढ़ा लिखा है। बाप बहुत-सी बातें नहीं भी जानता है, जो बेटा जान सकता है। रोज ज्ञान विकसित हो रहा है।

इसलिए बाप का ज्ञान तो पिछड़ा हो जाता है, आउट ऑफ डेट हो जाता है। तो बेटे के मन में स्वाभाविक हो सकता है कि बाप कुछ भी नहीं जानता। श्रद्धा कैसे पैदा हो?

श्रद्धा किन्हीं तथ्यों पर आधारित नहीं हो सकती। श्रद्धा तो सिर्फ इस बात पर आधारित हो सकती है कि पिता उद्गम है, स्रोत है; और जहाँ से मैं आया हूँ, उससे पार जाने का कोई उपाय नहीं। मैं कितना ही जान लूँ, मैं कितना ही बड़ा हो जाऊँ अपनी आँखों में, मेरा अहंकार कितना ही प्रतिष्ठित हो जाय, लेकिन फिर भी मूल और उद्गम के सामने मुझे नत होना है। क्योंकि कोई भी अपने उद्गम से ऊपर नहीं जा सकता।

कोई वृक्ष अपने बीज से ज्यादा नहीं होता, हो भी नहीं सकता। बीज में पूरा वृक्ष छिपा है। कितना ही विराट् वृक्ष हो जाय, वह छोटे से बीज में छिपा है। और उससे अन्यथा होने की कोई नियति नहीं है। और अंतिम फल जो होगा वृक्ष का, वह यह होगा कि उन्हीं बीजों को वह फिर पुनः पैदा कर जाय।

उद्गम से आप कभी बड़े नहीं हो सकते। मूल से कभी विकास बड़ा नहीं हो सकता। वृक्ष कभी बीज से बड़ा नहीं है—भले ही कितना ही बड़ा दिखाई पड़े। इस अस्तित्वगत घटना की गहरी प्रतीति व्यक्ति को अपने माता-पिता के प्रति आदर से भर सकती है।

लेकिन आप माता पिता की तरह इसको मत सुनना; इसको बेटे और बेटी की तरह सुनना। यह आपके माता-पिता के प्रति आपकी श्रद्धा के लिए कह रहा हूँ। अब जा कर अपने घर में आप अपने बच्चों से श्रद्धा मत माँगने लगना। क्योंकि तब आप बात समझे ही नहीं; चूक ही गये।

और जिस समाज में भी माता-पिता के प्रति श्रद्धा कम हो जाएगी, उस समाज में ईश्वर का भाव खो जाता है। चूँकि ईश्वर—आदि—उद्गम है। वह परम स्रोत है।

अगर आप अपने बाप से आगे चले गये हैं—तीस साल में; आपके और बाप के बीच अगर तीस साल की उम्र का फासला है, आप इतने आगे चले गये हैं बाप से, तो परम पिता से, परमेश्वर से तो आप बहुत आगे चले गये होंगे। अरबों खरबों वर्ष का फासला है। अगर परमात्मा मिल जाय तो वह बिलकुल महा-जड़, महा-मूढ, मालूम पड़ेगा। जब पिता ही मूढ मालूम पड़ता है, अगर परमात्मा से आपका मिलन हो, तो वह तो आपको मनुष्य भी मालूम नहीं पड़ेगा।

पीछे की ओर, मूल की ओर, उद्गम की ओर सम्मान का बोध अत्यंत विचार और विवेक की निष्पत्ति है। वह प्रकृति से नहीं मिलती। विमर्श चिंतन, ध्यान से उपलब्ध होती है। पर ध्यान रखना : जो भी मैं कह रहा हूँ, वह आपसे बेटे और बेटियों की तरह कह रहा हूँ—पिता और माता की तरह नहीं।

● दूसरा प्रश्न : आपने पहले कहा है : क्षण-क्षण जीयो; वर्तमान में जीयो; अब आप कह रहे हैं : अतीत में लौटो। हम क्या करें?

वर्तमान में जीना तभी संभव है, जब अतीत से छुटकारा हो जाय, उसके पहले कोई वर्तमान में जी नहीं सकता।

इन दोनों बातों में कोई विरोध नहीं है। वर्तमान में वही जी सकता है, जिसके मन पर अतीत का कोई बोझ नहीं। अतीत का बोझ हो तो वर्तमान में जीने का उपाय नहीं। और अतीत का बोझ आपके ऊपर है। यह अतीत में लौटने की प्रक्रिया उस बोझ को काटने का उपाय है।

अतीत से छुटकारा चाहिए, वह गिर जाय; जैसे वस्त्रों को छोड़कर कोई नग्न खड़ा हो जाय, ऐसा अतीत छूट जाय और आप नग्न वर्तमान में खड़े हो जायँ, तो ही वर्तमान में जी सकेंगे, तो ही क्षण-क्षण होने का अनुभव होगा।

यह दो बातें विरोधी मालूम पड़ सकती हैं। लेकिन अतीत में लौटना वर्तमान में जीने की कला है।

अतीत में जीने को नहीं कह रहा हूँ आपसे—कि आप अतीत में जीयें। अतीत में जीने का कोई उपाय नहीं है। जो जा चुका, वह जा चुका। वह अब है नहीं। उसमें अब जीयेंगे कैसे?

कल तो बीत गया। और कल को लाने का अब कोई मार्ग नहीं है। लेकिन कल की स्मृति भीतर टंगी रह गयी है। वह अभी भी मौजूद है। कल बीत चुका; साँप जा चुका; उसकी केंचुली आपके मन में अटकी रह गयी है।

वह जो कल की स्मृति आपके मन में आज भी मौजूद है, उस स्मृति से छुटकारा चाहिए। उस स्मृति से आपका रस समाप्त हो जाय; उस स्मृति के न तो आप पक्ष में रहें—न विपक्ष में; न तो उस स्मृति से लगाव रहे और न घृणा; उस स्मृति से आपका सारा संबंध छूट जाय, जैसे वह हुई या नहीं हुई बराबर हो जाय, तो आप अतीत से मुक्त हो गये; तो आपने अतीत की स्लेट को पोंछकर साफ कर दिया। तब ही आप वर्तमान में जी पायेंगे। तब आपकी आँखें उज्ज्वल होंगी, ताजी होंगी, और आप जो भी देखेंगे, उसमें आपकी आँखों पर पड़ी हुई अतीत की धूल बाधा नहीं देगी। वह धूल नहीं है वहाँ; दर्पण स्वच्छ है।

तो अतीत में लौटने की प्रक्रियाएँ वर्तमान में जीने की विधियाँ हैं। और जो व्यक्ति अतीत में लौटने से डरता है, वह डरता ही इसलिए है कि अतीत बहुत भारी है। अतीत का स्मरण ही उसको बेचैन और विचलित कर देता है। उसका अर्थ है कि मन में भीतर अतीत के घाव अभी हरे हैं। कैसे वर्तमान में जीयेंगे?

कल किसी ने आपको गाली दी थी, वह आदमी आपको आज फिर सड़क पर

दिखाई पड़ गया है। आपकी आँखें खाली नहीं हैं; गाली से भरी हैं। आपका मन खाली नहीं है; कल की गाली अभी भी अनुगूँज कर रही है; अभी भी गूँज रही है। और उस आदमी को देखते ही गाली फिर से सजग हो जाएगी। और इस आदमी को आप वैसा नहीं देखेंगे, जैसा वह अभी है। वैसा देखेंगे, जैसा वह कल गाली देते समय था। और हो सकता है : वह आदमी क्षमा माँगने आया हो। और हो सकता है : वह भूल ही चुका हो गाली को; हो सकता है, उसने पश्चात्ताप कर लिया हो; अपने को दण्ड दे लिया हो। लेकिन यह नया आदमी आपको दिखाई नहीं पड़ेगा। आपके पास आँखें पुरानी हैं। आप आज देख ही नहीं रहे हैं; कल से देख रहे हैं।

और हमारा सारा देखना ऐसा है; हमारा सारा सुनना ऐसा है। हम होते ही यहाँ हैं—ना के बराबर। निन्यानबे प्रतिशत अतीत बीच में खड़ा होता है। उसके कारण वर्तमान से वंचित हो जाते हैं।

जो कल मैंने आपसे कहा : अतीत में लौटने का प्रयोग, वह अतीत से छूटने का प्रयोग है। लौटकर वहाँ टिक नहीं जाना है। लौट कर वहाँ रुक नहीं जाना है। लौटना है, सिर्फ इसलिए, ताकि अतीत को आप सचेतन रूप से जी लें। इस बात को थोड़ा ख्याल से समझ लें।

अतीत में आप रहे हैं, लेकिन तब आप अचेतन थे। कल इस आदमी ने गाली दी थी, तब आप के पास होश नहीं था। तब गाली ने इतने जोर से चोट की थी, आप इतने धुएँ से भर गये थे, क्रोध इतना उबल आया था कि आप देख नहीं सके : क्या हुआ। उस क्रोध की मूर्च्छा में आप सचेतन रूप से अनुभव से गुजर नहीं सके। लेकिन अब तो कल बीत गया। कल की गाली भी गयी, आदमी भी गया, कल भी गया। अब आप बैठकर चुपचाप कल की घटना में फिर से उतर सकते हैं। और अब आप सचेतन रूप से—कॉन्शसली उतर सकते हैं। जो कल संभव नहीं हुआ, वह आज संभव हो सकता है। और आप चकित हो जाएँगे।

अगर आप होशपूर्वक कल की घटना में गये, तो आप अचानक पायेंगे : उस घटना का दंश समाप्त हो गया। उस घटना में कोई चोट न रही; उस गाली में अब कोई काँटे न रहे। और अगर यह स्मृति में हो सकता है, तो इससे एक अनुभव मिलेगा कि अगर आप यह वस्तुतः भी कर सकें, तो आपकी जिन्दगी में कोई काँटे नहीं रह जाएँगे। तब कल फिर कोई गाली आपको देगा...। जिन्दगी के रास्ते पर बहुत काँटे हैं। और जब कल आपको दुबारा कोई गाली दे, तो आपका यह सचेतन गाली में लौटने का अनुभव सहयोगी होगा। तब आप अतीत बनने ही मत देना; तब आप वहीं देख लेना, तब आप वहीं खड़े हो जाना शांत और इस घटना को ऐसे ही देखना, जैसे यह कोई स्मृति का एक खेल हो। जैसे वस्तुतः न घटती हो, सिर्फ मन में एक

कल्पना हो रही हो। तो फिर आपका अतीत निर्मित ही न होगा।

अतीत के साथ दो काम करने हैं : जो बँधा हुआ अतीत है, जिसको हम इस मुल्क में कर्म और संस्कार कहते रहे हैं, उसकी निर्जरा करनी है; उसको झाड़ देना है। और दूसरा काम यह करना है कि अब आगे अतीत निर्मित न हो पाये। तो रोज-रोज झाड़ देना है। जैसे ही धूल पड़े, उसी समय झाड़ देना है। इकट्ठा करने का प्रयोजन भी क्या है? जिससे कल छूट ही जाना है, उसे आज बाँध लेने की जरूरत क्या है? और जो कल बोझ बन जाएगा, उसे हम आज संग्रह क्यों करें?

तो जो संग्रहीत है, उससे छूटना है। और जो संग्रहीत हो सकता है, उसको संग्रहीत नहीं करना है। पिछले संस्कार को पोंछना है; नये संस्कार को निर्मित नहीं होने देना है, तब आप दर्पण की तरह स्वच्छ हो जाएँगे। तब जगत् आपको वैसा ही दिखाई पड़ेगा—जैसा है। तब आप उसको बिगाड़ेंगे नहीं; तब आप उसमें जोड़ेंगे और घटाएँगे नहीं। और अगर ऐसी दर्पण-जैसी स्थिति मिल जाय, तब जो हम जानते हैं, वह संसार नहीं है, वह परमात्मा है। तब जो हम जानते हैं, वह मूल है, उत्स है, उद्गम है। उसे जानते ही जीवन के सारे दुःख तिरोहित हो जाते हैं।

इन दोनों बातों में विरोध नहीं है। एक है : लक्ष्य—वर्तमान में जीना। और दूसरी है : विधि—अतीत में उतरना, जिससे यह लक्ष्य पूरा हो सकता है। लेकिन कठिन हमें मालूम पड़ता है।

सुना है मैंने कि मुल्ला नसरुद्दीन को गाली देने की सहज आदत थी—अकारण भी, निर्जीव वस्तुओं को भी। अपनी बैलगाड़ी को हाँक कर ले जाता था खेत तक, तो बैलों को भी गाली देता।

गाँव में एक फकीर आया हुआ था और नसरुद्दीन को रास्ते पर उसने बैलों को गाली देते देखा। उसने नसरुद्दीन को समझाया। और बात तो सीधी थी; न समझने का कोई खास कारण भी न था। बैलों को गाली देने का कोई अर्थ नहीं है। और उनसे दूर के कामुक रिश्ते जोड़ना : माँ, उनकी माँ और बहन से संबंध जोड़ना निपट पागलपन की बात है।

नसरुद्दीन को समझ में भी आ गया, तो उसने प्रतिज्ञा कर ली, कसम खा ली कि अब—अब दुबारा ऐसी भूल नहीं करूँगा। लेकिन कसमों से आदतें कभी टूटती नहीं। और कसमों से आदतें टूटती होतीं, तो सारी दुनिया कभी की बदल गई होती।

और सिर्फ बुद्धि को बात ठीक लगती है, उतना ही काफी नहीं है—जीवन रूपांतरण के लिए। क्योंकि जीवन बुद्धि से ज्यादा गहरा है। वहाँ अचेतन परतें हैं और बुद्धि की खबर वहाँ तक नहीं पहुँचती।

पंद्रह दिन भी नहीं बीते होंगे कि फिर फकीर रास्ते पर मिल गया। फकीर दिखाई

पड़ा। नसरुद्दीन उस वक्त बैलों को गाली दे रहा था और कोड़े मार रहा था। जैसे ही फकीर को देखा तो उसने फकीर को अनदेखा कर दिया, और जोर से बैलों से कहा कि 'सुनो, अगर पंद्रह दिन पहले की बात होती, तो जो बातें मैंने अभी कहीं, वह मैं तुमसे कहता। लेकिन चूँकि अब मैं कसम खा चुका हूँ, इसलिए प्यारे बच्चों, जरा जल्दी-जल्दी चलो।' वह गालियाँ दे रहा था, लेकिन बैलों से कहा कि 'अगर पंद्रह दिन पहले की बात होती, तो ये बातें मैंने तुमसे कही होतीं। अब चूँकि कसम खा चुका...।'

जो भी हमने पीछे किया है, सोचा है—उस सबके गहरे खाँचे हमारे मन पर होते हैं और उन्हीं खाँचों का हम रोज-रोज उपयोग करते हैं, तो खाँचे और गहरे हो जाते हैं। आप निर्णय भी कर लें कि अब ऐसा नहीं करूँगा, तो इस निर्णय का खाँचा तो इतना गहरा नहीं होता, यह तो निर्णय की पतली लकीर है। यह निर्णय कभी भी हार जाएगा, क्योंकि पुराने खाँचे हैं, उनकी लीकें बन गयी हैं।

जैसे गाँव के कच्चे रास्तों पर गाड़ी की लीक बन जाती है, फिर आप बैलगाड़ी चलायें; उसी लीक में चके फिर पहुँच जाएँगे, फिर पहुँच जाएँगे। वे गड्ढे खाली हैं; चकों को उनमें जाना आसान है। ठीक ऐसे ही मन पर लीकें हैं।

अतीत का अर्थ है : अनंत लीकें। तो आप कितनी ही बातें समझ लेते हैं; बुद्धि सहमत हो जाती है; निर्णय ले लेते हैं; संकल्प कर लेते हैं। और जब संकल्प करते है, तब सोचते हैं कि कुछ होने-जाने वाला है। घड़ी भी नहीं बीत पाती कि जो आपने निर्णय लिया था, वह टूट जाता है। और तब सिर्फ आत्म-ग्लानि पैदा होती है, और कुछ भी नहीं।

आपके संत, आपके फकीर, आपके पंडित-पुरोहित, आप में सिर्फ आत्म-ग्लानि पैदा करवा पाते है और कुछ भी नहीं; क्योंकि उनकी बातें तो तर्कयुक्त हैं। आप भी कह नहीं सकते कि वे गलत कह रहे हैं। स्वीकार करना पड़ता है कि ठीक कह रहे हैं। उस स्वीकृति में आप निर्णय लेते हैं।

लेकिन निर्णय किसके खिलाफ ले रहे हैं! न मालूम कितनी लम्बी लकीर है भीतर। गहरे खाँचे हैं, उनमें चलने की आदत हो गयी है। उनमें चलना सुगम है। वे खाँचे बार-बार आपको खींचेंगे। अतीत में वापस उतरने का अर्थ यह है कि इन खाँचों को मिटाना जरूरी है।

इसके पहले कि आप कसम खायें—बदलाहट का कोई निर्णय लें—जिससे आप छूटना चाहते हैं, उससे सचेतन रूप से गुजर जाना जरूरी है। आप प्रयोग करके देखें कि जिस चीज से भी आप सचेतन रूप से गुजर जाएँगे, उससे छुटकारा हो जाएगा।

एक महिला मेरे पास लायी गयी। उसके पति चल बसे थे। तीन महीने हो गये,

लेकिन वह रोयी भी नहीं। बुद्धिमान है; एक युनिवर्सिटी में प्रोफेसर है। पढ़ी-लिखी है। किताबें लिखी हैं। कविताएँ लिखती है। प्रवचन करती है। और जब नहीं रोयी, और उसकी आँख से आँसू न गिरे, तो आसपास के लोगों ने भी बड़ी प्रशंसा की। उस प्रशंसा ने अहंकार को और बल दिया। उससे वह और भी अकड़ गयी। लेकिन तीन महीने के बाद उसे हिस्टीरिया के फिट आने शुरू हो गये; मूर्च्छा आने लगी। तो मूर्च्छा की चिकित्सा शुरू हो गयी। लेकिन किसी ने भी यह फिक्र न की कि उसने दुःख की एक गहरी वेदना को बिना जिये दबा लिया।

यह बिलकुल स्वाभाविक था कि वह रो लेती। और समझदार लोग आसपास होते, तो उसे रोने में सहायता पहुँचाते। यह उचित था कि घाव जी लिया जाता। वह नहीं हो पाया। भीतर रोना भरा रहा। आँसू निकलना चाहते थे; रोक लिए गये। उन सबका बोझ भारी हो गया। मन हलका न हो पाया। उस मन के बोझ का परिणाम होने ही वाला था कि कोई भी भयानक बीमारी पैदा हो जाय।

उस स्त्री की पूरी बात सुन कर मैंने कहा कि 'कुछ और इलाज की जरूरत नहीं है। तू जी भर कर रो ले।' उसने कहा, 'लेकिन क्या फायदा रोने से? रोने से क्या मरा हुआ व्यक्ति मिलेगा?' मैंने कहा कि 'मैं भी नहीं कह रहा हूँ कि रोने से मरा हुआ व्यक्ति मिलेगा। रोने से तू ठीक से जीवित हो सकेगी। मरा हुआ व्यक्ति तो नहीं मिलने वाला है। लेकिन अगर नहीं रोयी तो तू भी मरी हुई हो जाएगी। मरी हुई हो ही गयी है। तेरा हृदय भी पत्थर जैसा हो जाएगा।' 'पर,' उसने कहा, 'अब बड़ा मुश्किल है। जिस क्षण पति मरे थे, उस समय तो आसान था; अब तो समय भी काफी बीच चुका।'

उससे मैंने कहा, 'तुझे लौटना पड़ेगा; अतीत में वापस जाना पड़ेगा। तुझे उस दिन से फिर कहानी शुरू करनी पड़ेगी, जिस दिन पति मरे थे। तो तू आँख बंद कर ले और जिस क्षण पहला तुझे समाचार मिला पति के मरने का, वहाँ से फिर से तू यात्रा शुरू कर। यह पीछे के जो दिन बीते, इनको भूल जा और फिर से जी।'

वह मेरे सामने बैठी-बैठी ही विकल हो गयी। उसके हाथ-पैर में कंपन आ गया। उसकी आँखें बंद हो गयीं। उसके जबड़े भिंच गये। चीख और रोना शुरू हो गया। कोई पंद्रह दिन गहन पीड़ा रही, लेकिन तब हल्कापन आ गया। अब वह हँस सकती है। इस फर्क को आप समझ लें।

रोने से सचेतन रूप से गुजरी, तो अब हँस सकती है। रोने को दबा लिया था, तो हँसना तो दूर, हिस्टीरिया परिणाम था।

अतीत को सचेतन रूप से एक बार आप देख लें, तो आप हँस सकते हैं। तब बोझ तिरोहित हो जाता है। और उसके बाद ही वर्तमान में जीना संभव है।

● आखिरी प्रश्न : गीता की धारणा है कि संसार श्रेष्ठ से अश्रेष्ठ की ओर पतन है। उसके अनुसार हिंदुओं की सतयुग से लेकर कलियुग के अवरोहण की धारणा भी सही लगती है। लेकिन ज्ञात इतिहास बताता है कि मनुष्य-जाति नर-सेब, दासता और दरिद्रता से निकल कर क्रमशः समृद्धि और स्वतंत्रता की ओर गतिमान रही है, इसमें तथ्य क्या है?

पहली बात : बच्चा पैदा होता है, तब वह निर्दोष है। तब उसकी स्लेट कोरी है। न उस पर बुरा है कुछ, और न अच्छा है। बच्चा साधु नहीं है, निर्दोष है। असाधु भी नहीं है। असाधु तो है ही नहीं, साधु होने का दोष भी अभी उसके ऊपर नहीं है। अभी उसने 'हाँ' और 'ना' कुछ भी नहीं कहा है। अभी उसने बुरा और अच्छा कुछ भी चुना नहीं है। अभी निर्विकल्प है। अभी उसका कोई चुनाव नहीं है। अभी चॉइसलेस है। अभी उसे पता भी नहीं कि क्या अच्छा है, और क्या बुरा है। अभी भेद पैदा नहीं हुआ। अभी बच्चा अभेद में जी रहा है।

यह जो बच्चे की दशा है, यही दशा पूरे समाज की भी कभी रही है, उसी को हिंदू सतयुग कहते हैं। और ठीक मालूम होता है, वैज्ञानिक मालूम होता है। क्योंकि एक व्यक्ति की जीवन-कथा जो है, वही जीवन-कथा सभी व्यक्तियों की जीवन-कथा है।

बच्चा निर्दोष पैदा होता है और बूढ़ा सब दोषों से भर कर मरता है। सतयुग बचपन है—समाज का। और कलियुग बुढ़ापा है—समाज का; वह अंतिम घड़ी है—जब सब तरह के रोग इकट्ठे कर लिए गये; जब सब तरह की बीमारियाँ संग्रहीत हो गयीं; जब सब तरह के अनुभवों ने आदमी को चालाक और बेईमान बना दिया, भोलापन खो गया; हालाँकि उस बेईमानी और चालाकी से कुछ मिलता नहीं है। क्योंकि मिलता होता, तो बूढ़े प्रसन्न होते और बच्चे दुःखी होते। खोता ही है, मिलता कुछ नहीं है। लेकिन मन समझाता है कि होशियारी ठीक है।

मैंने सुना है कि मुल्ला नसरुद्दीन एक फैक्टरी में काम करता था, तो उसका हाथ कट गया। मशीन के भीतर आ गया बायाँ हाथ और कट गया। महीनों के इलाज के बाद जब वह अस्पताल से वापस लौटा, तो उसके मित्र उसे देखने आये, और उन्होंने कहा कि 'नसरुद्दीन, परमात्मा को धन्यवाद दो कि अच्छा हुआ कि दायाँ हाथ न कटा, नहीं तो जिंदगी बेकार हो जाती।' नसरुद्दीन ने कहा कि 'धन्यवाद देने की कोई जरूरत नहीं। हाथ तो मेरा भी मशीन में दायाँ ही गया था, वह तो मैंने वक्त पर चालाकी की कि दायाँ तत्काल खींच कर बायाँ अंदर कर दिया।'

तो जिसे हम आदमी की समझदारी कहते हैं, वह इससे ज्यादा नहीं है। क्योंकि फल क्या है? सारी बुद्धिमत्ता कहाँ ले जाती है? हाथ में बचता क्या है?

बच्चे को हानि क्या है? उसकी निर्दोषता से उसका क्या खो रहा है? निर्दोष चित्त

का कुछ खो ही नहीं सकता। क्योंकि उसकी कोई पकड़ नहीं है। मनुष्य की जो—एक एक व्यक्ति की जो—कथा है, हिंदू-विचार पूरे जीवन की कथा को भी वैसा ही स्वीकार करता है।

मनुष्य-जाति का जो आदिम युग था, वह सतयुग है। जब लोग सरल थे और बच्चों की भाँति थे। और यह बात सच मालूम पड़ती है। आज भी आदिम जातियाँ हैं, वे सरल हैं और बच्चों की भाँति हैं। फिर सभ्यता, समझ और गणित का विकास होता है। हृदय खोता है और बुद्धि प्रबल होती है। भाव क्षीण होते हैं, और हिसाब मजबूत होता है। कविता खो जाती है और गणित ही गणित रह जाता है; आज जैसा अमेरिका है। सब चीज गणित हो जाता है। आँकड़े सब कुछ हो जाते हैं। सबसे ऊपर केलकुलेशन, हिसाब हो जाता है। चालाकी है। लेकिन हिंदू हिसाब से कलियुग है। आखिरी वक्त है; सबसे बुरा वक्त है। इसे विकास कहें या इसे पतन कहें? बूढ़े को बच्चे का विकास कहें, या बूढ़े को बचपन का खो जाना कहें, पतन कहें? अगर आप से कोई पूछे, तो दोनों में क्या होना चाहेंगे? उससे निर्णय हो जाएगा। क्योंकि जो आप होना चाहेंगे, वही पाने योग्य ह, वही श्रेष्ठ है। जो आप न होना चाहेंगे, वहीं कुछ भ्रांति, भूल, कहीं कुछ अंधकार है।

कोई भी बूढ़ा नहीं होना चाहता और कोई भी सिर्फ गणित में नहीं जीना चाहता। क्योंकि जीवन के आनन्द की कोई भी झलक मस्तिष्क में कभी नहीं उतरती। जीवन का आनन्द, जीवन का नृत्य, जीवन की सुगंध तो हृदय ही अनुभव करता है। मस्तिष्क सब कुछ दे सकता है, सिवाय आनन्द को छोड़कर। और हृदय के साथ शायद सब कुछ खो जाय, मगर सिर्फ आनन्द बचेगा। लेकिन सब कुछ खो कर भी आनन्द बचाने जैसा है।

तो जिसको हम वैज्ञानिक विकास कहते हैं, वह विज्ञान का विकास होगा। ज़्यादा बड़ी मशीनें हमारे पास हैं, ज़्यादा बड़े मकान हमारे पास हैं। लेकिन वह आनन्द का विकास तो नहीं है। क्योंकि उन बड़े मकानों में भी दुःखी लोग रह रहे हैं। झोपड़ों में भी इतने दुःखी लोग नहीं थे, जितने बड़े मकानों में दुःखी लोग रह रहे हैं। और जिनके पास कुछ भी न था, कोई औजार न थे, कोई शस्त्र साधन न थे, वे भी इनसे ज़्यादा आनन्दित थे। और हमारे पास एटॉमिक मिसाइल्स हैं और चाँद पर पहुँचने के उपाय हैं, लेकिन सुख का कोई कण भी नहीं है। कैसे हम नापते हैं—यह सवाल है। अगर आप सिर्फ रुपयों के ढेर से नापते हैं—कि आदमी का विकास हुआ कि पतन, तो विकास हुआ है। अगर आदमी में देखते हैं और नापते हैं, तो पतन हुआ है।

तो आपकी दृष्टि पर निर्भर करेगा। क्या दृष्टिकोण है? मापदण्ड क्या है? क्राईटेरियन क्या है? नापते कैसे हैं?

हिंदू-चिंतन—उपनिषद् के ऋषि—या गीता के कृष्ण—विकास को मनुष्यता से नापते हैं। क्या आपके पास है—यह मूल्यवान नहीं है; आप क्या हैं—यही मूल्यवान है। कितना आपके पास है—यह व्यर्थ हिसाब है। कितनी आत्मा है, कितना सत्त्व है, कितना चैतन्य है, आप क्या हैं...? 'बीइंग' से नापते हैं—'हैविंग' से नहीं।

आपके बैंक बैलेन्स से आपके होने का कोई नाता नहीं है। आप नग्न खड़े हों, तो भी कोई फर्क नहीं पड़ता, तो भी आपके भीतर सत्त्व हो सकता है। महावीर जैसे नग्न खड़े व्यक्ति के पास भी आत्मा है; सब कुछ है। बाहर से कुछ भी नहीं है। कैसे नापते हैं, इस पर परिभाषा निर्भर है।

इस युग से ज़्यादा दुःखी कोई युग नहीं था। इस युग से ज़्यादा विक्षिप्तता किसी युग में नहीं थी। फिर भी हम कहे चले जाते हैं कि हम सम्पन्न हैं! फिर भी हम कहे चले जाते हैं कि वैभवशाली हैं!

सच है; बात तो सच है। इतनी सम्पन्नता भी कभी नहीं थी। इतनी विपन्नता भी कभी नहीं थी। पर दो अलग कोण हैं नापने के। एक कोण है—जो धन से नापता है, पदार्थ से नापता है। और एक कोण है—जो चेतना से नापता नापता है। चेतना की दृष्टि से मनुष्य का पतन हुआ है—परमात्मा से। इसलिए हम चेतना को फिर वापस उसी स्थिति में ले जायँ, जहाँ से परमात्मा से हमारा संबंध छूटता है। फिर हमारी धारा वहीं गिरे, तो वही परम निष्पत्ति होगी।

लेकिन पदार्थ की दृष्टि से, साधन-सामग्री की दृष्टि से हम रोज विकास कर रहे हैं। 'हम विकास कर रहे हैं'—यह कहना भी शायद ठीक नहीं है; क्योंकि मशीनें हैं और वे खुद ही विकास कर रही हैं। अब तो आदमी को उसमें हाथ बँटाने की भी जरूरत नहीं है।

कम्प्युटर हैं; वे विकास करते चले जाएँगे। और वैज्ञानिक कहते हैं : इस सदी के पूरे होते-होते हम ऐसी मशीनें पैदा कर लेंगे, जो मशीनों को जन्म दे सकें—अपने से बेहतर मशीनों को जन्म दे सकें। वह बिल्ट-इन हो जाएगा कि मशीन जब टूटने के करीब आये, मिटने के करीब आये, तो अपने से बेहतर मशीन को जन्म दे जाय। जैसे आप एक बच्चे को जन्म दे जाते हैं। तब तो फिर आपकी बिलकुल भी जरूरत नहीं होगी। तब मशीनें विकसित होती रहेंगी। आप अपने घर भी बैठे रहें; जैसे थे वैसे रहें, तो भी मशीनें विकसित होती रहेंगी।

मशीनें ही विकसित हो रही हैं। आदमी खो रहा है। इस हिसाब से पतन है। इसमें पूरा पूरब सहमत है। बुद्ध, लाओत्से, कृष्ण—सब सहमत हैं।

जीसस, मोहम्मद, सब सहमत हैं; जरथुस्त्र, कन्फ्यूसियस—सब सहमत हैं—कि बचपन श्रेष्ठतम है—शुद्धता की दृष्टि से। और इसलिए 'जब कोई व्यक्ति,' लाओत्से

कहता है, 'पुनः बचपन को उपलब्ध हो जाता है, तब वह संत हो गया।' वर्तुल पूरा हुआ। उद्गम से फिर मिलना हो गया। कृष्ण भी यही गीता में कह रहे हैं।

अब हम सूत्र को लें।

'इस संसार-वृक्ष का रूप जैसा कहा है, वैसा यहाँ नहीं पाया जाता है। क्योंकि न तो इसका आदि है, और न तो अंत है, तथा न अच्छी प्रकार से स्थिति ही है। इसलिए इस अहंता, ममता और वासनारूप अति दृढ मूलोंवाले संसाररूप पीपल के वृक्ष को दृढ वैराग्यरूप शस्त्र द्वारा काटकर...।'

यह जो उलटे वृक्ष की कल्पना कृष्ण ने दी, ऐसा हम खोजने जाएँगे, तो हमें मिलेगा नहीं। उसके कई कारण हैं।

पहला तो कारण यह है कि हम उस वृक्ष की एक छोटी शाखा हैं। हम खोजने जा नहीं सकते। हम उस वृक्ष से दूर खड़े हो कर देख नहीं सकते। हम उसवृक्ष के अंग हैं। इसलिए हम कैसे देख पायेंगे कि वृक्ष उलटा खड़ा है; जड़ ऊपर है और पत्ते नीचे हैं। हम पत्ते ही हैं या शाखाएँ हैं। हम वृक्ष के अंग हैं, उससे हम दूर नहीं हो सकते हैं।

इसलिए संसार के वृक्ष की यह उलटी जो अवस्था है, ध्यान की परम गुह्य स्थिति में ही दिखाई पड़ती है—उसके पहले नहीं। क्यों? क्योंकि ध्यान की उस गुह्य स्थिति में आप वृक्ष के हिस्से नहीं रह जाते, आप संसार के हिस्से नहीं रह जाते। इसलिए सिर्फ समाधि में ही इस उलटे वृक्ष का पूरा रूप दिखाई पड़ता है। यह समाधिस्थ चित्त की अनुभूति है।

आप इसे समझ लें बुद्धि से, उतना ही काफी है। आप इसे देख न पायेंगे।

वृक्ष विराट है। वैज्ञानिक कहते हैं : हम इसका कोई ओर-छोर नहीं उपलब्ध कर पाते हैं। जितनी खोज बढ़ती है, उतना ही यह वृक्ष विराट मालूम होता है। रोज नये तारे खोजे जाते हैं; नये सूरज खोजे जाते हैं। अब तक कोई चार अरब सूरज खोजे जा चुके हैं। और कभी ऐसा लगता था कि एक सीमा आ जाएगी, जब खोज समाप्त हो जाएगी; हम पहुँच जाएँगे अंतिम सीमा पर; पर अब कोई सीमा नहीं मालूम होती है। जितना आगे बढ़ते हैं, नयी खोज होती चली जाती है।

'वृक्ष' बहुत बड़ा मालूम होता है, विराट मालूम होता है। और हम उसके अंग हैं, इसलिए दूर खड़े हो कर हम देख नहीं पाते हैं। देखने की कोई संभावना भी नहीं है।

फिर न तो इसका कोई आदि है और न अंत है। अगर इसका कोई प्रारंभ होता, तो भी देखना आसान था। अगर कभी यह अंत होता, तो भी देखना आसान था। एक अनंत श्रृंखला है। एक तरफ एक ग्रह उजड़ता है, तो दूसरा ग्रह निर्मित

हो जाता है। एक तरफ एक सूरज बुझता है, तो दूसरे सूरज में प्राण आ जाते हैं।

वैज्ञानिक सोचते हैं कि शायद आज से पाँच हजार वर्ष बाद हमारा सूरज ठण्डा हो जाएगा, क्योंकि उसकी गरमी रोज चुकती जाती है। लेकिन कुछ दूसरे सूरज, जो ठण्डे पड़े हैं, गरम होते जा रहे हैं। जैसे ही हमारा सूरज ठण्डा होगा, कोई सूरज दूसरा गरम हो जाएगा। इस सूरज के ठण्डे होते ही इस पृथ्वी से जीवन तिरोहित हो जाएगा। लेकिन किसी और पृथ्वी पर जीवन के अंकुरण शुरू हो जाएँगे।

वैज्ञानिक हिसाब से कोई पचास हजार पृथ्वियों पर जीवन अभी है। होना चाहिए। वृक्ष की एक शाखा सूखती है, तो दूसरी शाखा निकल जाती है। वृक्ष मुरझाये, कि नये अंकुर आ जाते हैं। पुराने पत्ते गिर भी नहीं पाते कि नये पत्ते प्रगट होने लगते हैं।

श्रृंखला अनंत है, इसलिए न पीछे खड़े होने का उपाय है, न आगे खड़े होने का उपाय है; न किनारे खड़े होने का उपाय है। क्योंकि हम उसके हिस्से हैं; हम श्रृंखला हैं।

और इसलिए भी अच्छे प्रकार से नहीं समझा जा सकता, क्योंकि इसकी कोई ठीक 'स्थिति' नहीं है। यह शब्द समझ लेने जैसा है। स्थिति केवल परमात्मा की है, संसार की केवल गति है—स्थिति नहीं है।

यहाँ सब चीजें हो रही हैं; कोई भी चीज 'है' की अवस्था में नहीं है। इसलिए बुद्ध ने तो कहा कि 'है' शब्द का प्रयोग ही मत करना। जैसे हम कहते हैं : 'वृक्ष है', तो बुद्ध कहते हैं : ऐसा कहना ही मत, क्योंकि 'है' की कोई स्थिति नहीं है। वृक्ष हो रहा है। जब तुम कहते हो : 'वृक्ष है', तब भी वह हो रहा है। हम कहते हैं, 'यह जवान है', तब भी हम गलत कहते हैं। क्योंकि जब हम कहते हैं, 'जवान है', तब वह जवान हो रहा है। लेकिन 'है' की कोई स्थिति नहीं है। हमेशा 'होने' की स्थिति है—भवति। सभी कुछ बिकमिंग है। कहीं कुछ ठहरा नहीं है।

स्थिति का अर्थ है : ठहराव। परमात्मा के सिवाय और किसी की कोई स्थिति नहीं है। बाकी सब बहाव है। जैसे नदी बह रही है, ऐसे आप भी बह रहे हैं। ऐसी हर चीज बह रही है।

यह संसार-वृक्ष एक बहाव है—इसलिए भी देखना बहुत मुश्किल है।

हर चीज बदल रही है। आप देख भी नहीं पाते कि बदल जाती है। आप इसके पहले कि समझ पायें—स्थिती बदल जाती है। इसके पहले कि आप पकड़ पायें—जिसको आप पकड़ रहे थे, वह वहाँ मौजूद न रहा। कुछ और हो गया। यहाँ सब धूआँ-धूआँ है—बादलों की तरह है। जैसे बादलों में हम आकृति नहीं पकड़ पाते हैं। आप देख रहे हैं कि एक हाथी बन रहा है—बादलों में—और आप देख भी नहीं पाये कि हाथी बिखर गया; कुछ और बन गया।

पूरा जगत् धूआँ-धूआँ है। स्थिति केवल परमात्मा की है। और जब तक स्थिति उपलब्ध न हो, तब तक कोई भी ठहराव—समझ का—बुद्धि का—नहीं हो सकता। तब तक ज्ञान की कोई अवस्था नहीं है। इसलिए हिंदुओं की सारी चेष्टा इस बात में रही है कि कैसे आप गति से 'मुक्त' हों और 'स्थिति' को प्राप्त हों। कैसे दौड़ना बंद हो और ठहरना आये। कैसे प्रवाह रुके, थम जाय। नदी बहते-बहते कैसे एकदम जम जाय, बर्फ हो जाय। सब चीज़ें ठहर जायँ।

इस भीतर के चित्त की दौड़ के रुक जाने का नाम ही ध्यान है। भीतर कुछ भी न दौड़े, कोई गति न रहे, कोई प्रवाह न रहे, सब चीजें फ्रोजन हो जायँ, जड़ हो जायँ, ठहर जायँ, सब कंपन समाप्त हो जाय; उसी क्षण आप परमात्मा हो गये। जब तक आप बहते हैं, तब तक संसार है। जब आप ठहरते हैं, तब आप परमात्मा हैं।

परमात्मा ही समझा जा सकता है। यह बड़ा विरोधाभासी लगेगा। क्योंकि विज्ञान कहता है : संसार समझा जा सकता है; परमात्मा को समझने का कोई उपाय नहीं। परमात्मा का पता ही नहीं चलता है कि वह कहाँ है। समझना दूर, यह भी तय करना मुश्किल है कि है भी या नहीं। और गीता कहती है कि सिर्फ परमात्मा ही समझा जा सकता है, क्योंकि वह स्थिर है। वह जाना जा सकता है; उस पर भरोसा किया जा सकता है; वह रिलाएब्ल है। ऐसा नहीं कि आप एक आँख उठाकर देखेंगे और जब दुबारा आँख खोलेंगे, तो वह बदल गया। वह वही होगा—इस जन्म में, अगले जन्म में—कल्पों कल्पों बाद, युगों युगों बाद—आप जब भी लौटकर आयेंगे, वह वही होगा।

वह कूटस्थ है, वह ठहरा हुआ है, वहाँ कुछ भी बदलता नहीं। आप कितना ही परिभ्रमण करें, कितना ही समय व्यतीत करें, जब भी आप लौटेंगे, आप पायेंगे : वह वैसा का वैसा है; सब वही है। वहाँ रत्तीभर कोई परिवर्तन नहीं हुआ है।

यह अपरिवर्तित ही समझा जा सकता है। क्योंकि यह भरोसे योग्य है। इस पर श्रद्धा की जा सकती है। संसार तो भरोसे योग्य नहीं है। वह तो छाया की भाँति है।

खलील जिब्रान की एक बड़ी प्रसिद्ध कहानी है। एक लोमड़ी सुबह-सुबह उठी। भोजन की तलाश पर निकली। सूरज उगता था उसके पीछे। बड़ी लम्बी छाया लोमड़ी की। बनी लोमड़ी ने अपनी छाया देखी और सोचा : आज तो एक हाथी मिले, तभी पेट भर पायेगा! इतनी लम्बी छाया थी कि एक हाथी के बिना भोजन का कोई उपाय नहीं। और छाया से ही लोमड़ी जान सकती है कि मैं कितनी बड़ी हूँ। और जानने का उपाय नहीं।

आप भी दर्पण से ही जानते हैं कि आप कौन हैं। और तो कोई उपाय नहीं। दर्पण यानी छाया।

लोमड़ी बड़ी चिंतित भी हुई, क्योंकि कहाँ पायेगी हाथी? और भूख बढ़ने लगी और खोजती रही, खोजती रही। दो पहर हो गयी, सूरज ऊपर आ गया; अभी तक भोजन भी नहीं मिला। और हाथी को पाने का खयाल, तो भूख भी हाथी जैसी—हाथी को पचाने जैसी—भीतर हो गयी। क्योंकि सारा मन का खेल है।

लेकिन हाथी मिला नहीं; भोजन मिला नहीं। नीचे झुककर उसने फिर छाया देखी। सूरज अब ऊपर आ गया, तो छाया करीब-करीब खो गयी। तो लोमड़ी ने कहा, 'अब तो एक चींटी भी मिल जाय तो भी काम चलेगा।'

संसार छाया की तरह है। और बचपन में हर आदमी सोचता है कि हाथी नहीं मिला, तो काम नहीं चलेगा। और बुढ़ापे में हर आदमी जानता है कि चींटी भी मिल जाय, तो काम चलेगा। छाया छोटी होती जाती है।

सभी बच्चे सिकंदर होना चाहते हैं। सभी बूढ़े कहने लगते हैं : 'अंगूर खट्टे हैं।' सभी बच्चे संसार को जीतने निकलते हैं। सभी बूढ़े वैराग्य की बातें करने लगते हैं। इसलिए नहीं—कि वैराग्य आ गया। इसलिए—कि छाया सिकुड़ गयी। और अब इतने से भी काम चल जाएगा। और कुछ न भी मिला, तो भी काम चल जाएगा।

वैराग्य का मतलब है : छाया सिकुड़ गयी। यह वैराग्य कोई वास्तविक नहीं है। अगर यह वैराग्य वास्तविक हो, तो जवानी में भी आ सकता था। इसके लिए बुढ़ापे तक रुकने की कोई जरूरत न थी।

यह जो लोमड़ी का कहना है कि 'चींटी से भी काम चल जाएगा', यह कोई बुद्धिमत्ता नहीं है। अगर यह बुद्धिमत्ता होती तो सुबह भी छाया की भ्रांति में आने का कोई प्रयोजन न था। सिर्फ छाया सिकुड़ गयी।

इस संसार को समझने का ठीक ठीक उपाय नहीं है, क्योंकि प्रतिपल बदल रहा है। इसकी कोई स्थिति नहीं है। 'इसलिए इस अहंता, ममता और वासनारूप अति दृढ मूलोंवाले संसाररूप पीपल के वृक्ष को दृढ वैराग्य शस्त्र द्वारा काट कर...।' इसको जानने में उलझने की भी कोई जरूरत नहीं है। क्योंकि उसको जान-जान कर भी कोई कभी जान नहीं पाता।

विज्ञान सोचता था, सौ वर्ष पहले—कि जल्दी ऐसा दिन आ जाएगा, जब हम सब जान लेंगे। अब वैज्ञानिक कहते हैं कि वह दिन कभी भी नहीं आयेगा। क्योंकि जितना हम जानते हैं, उतना पता चलता है कि और भी जानने को शेष है। जितना हम जानते हैं, उतने ही अनजान तथ्य सामने आ जाते हैं—जिनको जानने की चुनौती मिल जाती है।

एक समस्या हल नहीं होती, पचास खड़ी हो जाती है। उसको हल करने के कारण ही पचास समस्याएँ उठ आती हैं; पचास प्रश्न उठ आते हैं।

अब विज्ञान का भरोसा डगमगा गया है।

अब विज्ञान भी मानता है कि कोई अंतिम ज्ञान उपलब्ध हो सकेगा, इसकी आशा नहीं है। सब काम-चलाऊ ज्ञान है। रिलेटिव्हिटि का यही मतलब है कि सब ज्ञान काम-चलाऊ है। हम जितना जानते हैं, उतने तक ठीक है। बाकी जितना हम और ज्यादा जानेंगे—सब गड़बड़ हो जाएगा।

परमात्मा ही जाना जा सकता है। उसकी ही स्थिति है। इसलिए धर्म के अतिरिक्त ज्ञान का कोई भी द्वार नहीं है।

विज्ञान काम-चलाऊ, उपयोगिता का द्वार है—ज्ञान का नहीं। उससे जो भी हम जानते हैं यह करीब-करीब सत्य है—अप्रॉक्सिमेटली। लेकिन 'करीब-करीब सत्य' का कोई मतलब नहीं होता। 'करीब-करीब सत्य' का असत्य ही मतलब होता है। या तो कोई चीज सत्य होती है या नहीं होती। 'करीब-करीब सत्य' का कोई अर्थ नहीं होता। पर उपयोगिता विज्ञान की है।

ज्ञान धर्म के माध्यम से उपलब्ध होगा। और ज्ञान तभी उपलब्ध होगा, जब हम स्थिति को उपलब्ध हो जायँ। अगर परमात्मा की स्थिति है और हमारी गति है, तो मिलन नहीं हो सकता। समान समान का ही मिलन संभव है। जब हम भी स्थिति होंगे, तो उससे मिलन हो जाएगा। उस जैसे जब होंगे, तब हमारा उससे मिलन हो जाएगा।

ठहरते ही उस ठहरे हुए का अनुभव शुरू हो जाता है। और ठहरने का एक ही उपाय है। इस संसार वृक्ष के समझने से कुछ न होगा, वरन् 'अहंता, ममता और वासना—इन तीनों को वैराग्यरूपी शस्त्र द्वारा काटकर, उसके उपरांत उस परमपद परमेश्वर को अच्छी प्रकार खोजना चाहिए।'

वृक्ष को खोजने में न पड़ें। वृक्ष को तो काट ही दें। और उसको खोजने में चलें, जिसका पतन वृक्ष है। जिससे गिर कर वृक्ष पैदा हो रहा है, उस मूल उद्गम को खोजने चलें। उस बीज को पकड़ें, उस मूल-स्रोत को पकड़ें।

कभी आपने बीज को तोड़ कर देखा? बीज आप बोते हैं; एक वृक्ष उससे निकल आता है। लेकिन जो बीज आप बोते हैं, क्या उससे यह वृक्ष निकलता है? क्योंकि वह बीज तो सड़ जाता है, गल जाता है, मिट्टी में मिल जाता है। उस बीज से यह वृक्ष निकलता नहीं। उस बीज को कभी तोड़ कर आपने देखा है? कहीं आप इस वृक्ष को खोज पायेंगे? उस बीज में कहीं यह वृक्ष मिलता भी नहीं है खोजने से।

वैज्ञानिक, वनस्पतिशास्त्री भी कहते हैं कि बीज में किसी शून्य से ही वृक्ष निकलता है। बीज तो केवल शून्य को अपने भीतर छिपाये हुए है। बीज तो सिर्फ खोल है; भीतर कोई शून्य छिपा है। बीज की खोल टूट कर मिट्टी में मिल जाती है; उस शून्य से ही वृक्ष निकलता है।

तो बीज के भीतर छिपा जो शून्य है, वही उद्गम है। और जब तक हम उस शून्य में प्रवेश न कर जायँ, तब तक मूल का, सत्य का कोई अनुभव संभव नहीं है। इसलिए बुद्ध ने तो अपने सारे धर्म को शून्यता की छाया दे दी, शून्यता का रंग दे दिया, और कहा कि 'शून्य में प्रवेश कर जाओ, तो ब्रह्म की उपलब्धि है। और कोई ब्रह्म नहीं है।'

जो भी दिखाई पड़ता है, वह खोल है। उस खोल के भीतर न दिखाई पड़ने वाला छिपा है। उस अदृश्य को जानने की दो बातें कृष्ण कह रहे हैं। पहले तो वैराग्य से अहंकार, ममता और वासना को काट डालें।

वैराग्य का क्या मतलब है? वैराग्य का मतलब है : यह बोध कि जहाँ-जहाँ मुझे सुख का खयाल होता है, वहाँ सुख नहीं है। यह शास्त्र से पढ़कर नहीं आ जाएगा। संसार को ही उसके पूरे तत्त्व में समझने से आयेगा।

आपने बहुत प्रयोग किये हैं। जहाँ-जहाँ सुख की छाया दिखी है, वहाँ-वहाँ दौड़े हैं। फिर वहाँ सुख पाया या नहीं? अगर नहीं पाया—कभी भी नहीं पाया...। जहाँ भी प्रतिबिंब दिखा, वहीं गये—और मृग-मरीचिका मिली। जहाँ भी ध्वनि मिली, वहीं गये, लेकिन पाया कि सिर्फ खाली घाटियों में गूँजती आवाज थी। इंद्र-धनुषों की खोज की। बड़े रंगीन थे दूर से; पास गये, खो गये। हाथ में कुछ भी न आया। इन सारे जीवन के अनुभवों का जो निचोड़ है, वह वैराग्य है।

तो किसी शास्त्र को पढ़ने से वैराग्य नहीं आ जाएगा। कि आप भर्तृहरी का 'वैराग्य शतक' पढ़ लें और सोचें कि वैराग्य आ जाएगा। भर्तृहरि को वैराग्य-शतक का अनुभव आया—गहन भोग से।

भर्तृहरि ने दो किताबें लिखी हैं। एक का नाम है: 'श्रृंगार-शतक'। वह उसका पहला अनुभव है—संसार का अनुभव। तब उसने भोगा। उसने सब भूलें कीं—जो कोई भी समझदार आदमी करेगा। जो कोई भी हिम्मती आदमी करेगा; उसने वे सब भूलें कीं। उसने अपने को भूलों से बचाया नहीं, क्योंकि भूलों से जो बचता है, वह अनुभव से भी बच जाता है। वह संसार के सब गली-कूचों में भटका। उसने संसार की सब पगडंडियाँ छान डालीं। उसने बुरे और भले का भेद भी नहीं किया। जहाँ उसकी वासना ले गयी—गया। लेकिन होश सजग रखा और इस बात को जाँचता रहा कि जहाँ-जहाँ वासना ले जाती है, वहाँ कुछ मिलता है या नहीं। हर बार असफलता मिली। सुख कभी न पाया। सदा ही भ्रांति सिद्ध हुई। वासना ने जहाँ-जहाँ मार्ग दिखाया, वहीं-वहीं व्यर्थता हाथ आयी, वहीं-वहीं विषाद मिला।

हजारों वासनाओं के मार्गों पर चलकर जब एक ही अनुभव होता है—निरपवाद रूप से—तो वैराग्य का जन्म होता है।

वैराग्य वासना की असफलता का सतत अनुभव, उसका सार-निचोड़ है। और तब यह बात कठिन नहीं रह जाती; अहंकार को, ममता को, वासना को काट देना जरा भी कठिन नहीं रह जाता।

वैराग्य की प्रतीति का अर्थ है : जहाँ-जहाँ वासना कहती है, सुख है, वहाँ-वहाँ सुख नहीं है। जहाँ-जहाँ वासना कहती है, वहाँ-वहाँ दुःख है, और जहाँ-जहाँ वासना कहती है : दुःख है, वहाँ-वहाँ सुख है। वासना धोखा देती है, प्रवंचक है—द ग्रेट डिसीवर—इस प्रतीति का नाम : वैराग्य। और तब सुख में खोजना बंद, और दुःख में खोज शुरू होती है। दुःख की खोज को हम तप कहते हैं। तपश्चर्या का अर्थ है : अब मैं सुख में नहीं खोजता; सुख में खोजा और नहीं पाया, अब मैं दुःख में खोजूंगा। क्योंकि अगर सुख में खोजने से दुःख मिला, तो संभावना है कि शायद दुःख में खोजने से सुख मिल सके। विपरीत यात्रा करूँगा।

वैराग्य अनुभव है—वासना की विफलता का। और जैसे ही यह अनुभव गहरा हो जाता है, यह अनुभव शस्त्र बन जाता है। तब साधक अपने भीतर वैराग्य के शस्त्र लिए रहता है। जैसे ही वासना उससे कहती है : 'वहाँ सुख', वहीं वह शस्त्र को गिरा कर काट डालता है। वह कहता है : मैं जानता हूँ; यह बहुत बार हो चुका।

बुद्ध को जब पहली समाधि उपलब्ध हुई, तो उन्होंने जो पहले शब्द अपने भीतर कहे—किसी और से नहीं खुद से कहे—वह ये थे कि 'बस, हे काम के देवता, अब तुझे मेरे लिए कष्ट न करना पड़ेगा। मैं भी दौड़ा और मेरे कारण तू भी काफी दौड़ा। अब तुझे मेरे लिए नये घर न बनाने पड़ेंगे। क्योंकि मैंने आधार ही गिरा दिया, अब कोई बुनियाद ही न रही।

वैराग्य के शस्त्र का अर्थ है : भीतर एक सजगता। वासना जहाँ-जहाँ धोखा देने लगे, वहाँ-वहाँ सजगता रुकावट बन जाय। वहाँ-वहाँ हम पुनः स्मरण कर सकें कि इस तरह की वासना हम बार-बार उतर चुके हैं।

मुल्ला नसरुद्दीन की पत्नी मरने के करीब थी। तो उसने मुल्ला से कहा कि 'मुल्ला, शादी तो तुम करोगे ही—मेरे मरने के बाद। शादी तो तुम करोगे ही—यह निश्चित है।' नसरुद्दीन ने कहा, 'जल्दी नहीं करूँगा। पहले कुछ दिन आराम करूँगा।'

इस विवाह ने काफी थका दिया है। इस विवाह ने काफी दुःख दे दिया है। लेकिन उससे कोई वैराग्य उत्पन्न नहीं हुआ है। थोड़े दिन आराम करके वासना फिर सजग हो जाएगी, वासना फिर ताजी हो जाएगी। विश्राम के बाद वासना की माँग फिर खड़ी हो जाएगी।

आप भी बहुत बार वैराग्य की हलकी झलक से भरते हैं। हर वासना के बाद वैराग्य की झलक हर आदमी को आती है। हर सम्भोग के बाद क्षण भर को प्रत्येक स्त्री-पुरुष

को यह प्रतीति होती है कि 'बस, बहुत हुआ; व्यर्थ है।' लेकिन थोड़ी देर आराम के बाद फिर वासना सजग हो जाती है। तो वह जो क्षण भर का अनुभव था, वह शस्त्र नहीं बन पाता। वह जो अनुभव था, वह संग्रहीत नहीं होता। वह बूँद-बूँद की तरह खो जाता है। कभी गागर भर नहीं पाता। साधक बूँद-बूँद अनुभव को इकट्ठा करता है और गागर को भरता है। वह बूँद-बूँद को खो जाने नहीं देता।

आपके अनुभव में और बुद्ध के अनुभव में बहुत फर्क नहीं है। बस, इतना ही फर्क है कि आपके पास कोई गागर नहीं है, जिसमें आप अपनी बूँदें भर लेते। आपको इतने ही अनुभव हुए हैं, ज़्यादा हो गये होंगे, क्योंकि बुद्ध को मरे हुए पच्चीस सौ साल हो गये। बुद्ध से ज़्यादा अनुभव आपको हो चुके, लेकिन बूँद-बूँद होते हैं, खो जाते हैं। इकट्ठे नहीं हो पाते हैं; उनकी चोट नहीं बन पाती। शस्त्र निर्मित नहीं हो पाता।

अपने अनुभवों को इकट्ठा कर लें। अनुभवों को खो जाने मत दें। क्योंकि उनके अतिरिक्त ज्ञान का और कोई मार्ग नहीं है। बूँद-बूँद इकट्ठा करके आपके पास इतनी अनुभव की क्षमता हो जाएगी कि वासना कमजोर पड़ जाएगी। काटना भी नहीं पड़ता। अनुभव ही काफी होता है। वासना से लड़ना भी नहीं पड़ता। वासना धीरे-धीरे निर्वीर्य हो जाती है।

'इस वृक्ष को वैराग्यरूप शस्त्र द्वारा काटकर उसके उपरांत उस परमपद परमेश्वर को अच्छी प्रकार खोजना चाहिए कि जिसमें गये हुए पुरुष फिर पीछे संसार में नहीं आते। और जिस परमेश्वर से यह पुरातन संसारवृक्ष की प्रवृत्ति विस्तार को प्राप्त हुई है, उस ही आदि पुरुष के मैं शरण हूँ—इस प्रकार दृढ निश्चय कर के...।'

इस प्रक्रिया को थोड़ा सजगता से समझ लें। हम सब बार-बार जन्मते हैं, बार-बार मरते हैं। लेकिन हर मरण मूर्च्छा में है और हर जन्म भी मूर्च्छा में है। इसलिए आपको कुछ याद नहीं कि पहले भी आप थे। यह जन्म आपको पहला मालूम पड़ता है और यह मौत जो आती है, आखिरी मालूम पड़ती है। क्योंकि दोनों तरफ अंधकार है। स्मृति खो गयी है।

होशपूर्वक मर सकें, तो होशपूर्वक जन्म होगा। लेकिन मरना अभी दूर है, भविष्य में है। पीछे लौटा जा सकता है। और जो जन्म हो चुका है आपका—चालीस, पचास, साठ साल पहले—उस जन्म को होशपूर्वक फिर से देखा जा सकता है। उसकी पूरी फिल्म आपके भीतर संग्रहीत है। जैसे मैं बोल रहा हूँ और टेप रिकॉर्ड कर रहा है। मैं बोल चुकूंगा, फिर आप टेप को लौटा लें, तो फिर से सुन सकेंगे।

आपका मस्तिष्क बिलकुल टेप का यंत्र है। वह सब रिकॉर्ड कर रहा है। वहाँ कुछ भी नहीं खोया है। जो भी आपने कभी जाना है, वह वहाँ अंकित है। आप पीछे इस रिकार्ड का उपयोग करना सीखा जायँ, इसे लौटा कर बजाना

सीख जायँ, तो आप उन अनुभवों से फिर गुजर सकते हैं, जिनसे आप बेहोशी में गुजर गये हैं। आप पिछले जन्म में वापस जा सकते हैं, और पिछले जन्म के पीछे मृत्यु में जा सकते हैं। और तब यात्रा का द्वार खुल जाता है। इस भाँति जो व्यक्ति पीछे लौटता है—होशपूर्वक, उसकी आगे के लिए भी होश की क्षमता निर्मित हो जाती है। वह मरेगा, लेकिन होशपूर्वक मरेगा। वह जन्मेगा, लेकिन होशपूर्वक जन्मेगा। वह जीयेगा, लेकिन होशपूर्वक जीयेगा। और जो व्यक्ति होशपूर्वक जीने लगा, संसार उसे नहीं बाँध पाता। बाँधती है : हमारी मूर्च्छा।

'वैराग्य के द्वारा ममता, अहंता और वासना को काटकर जो व्यक्ति परमेश्वर को खोजता है, मूल उद्‌गम को खोजता है, वह व्यक्ति फिर संसार में वापस नहीं आता।' फिर इस संसार में वापस आने का कोई कारण नहीं रह जाता।

संसार में हम वापस होते हैं बार-बार—मूर्च्छा के कारण, सोये हुए होने के कारण।

'और जिस परमेश्वर से यह पुरातन संसार-वृक्ष की प्रवृत्ति विस्तार को प्राप्त हुई है, उसी आदि पुरुष के मैं शरण हूँ—इस प्रकार दृढ निश्चय करके नष्ट हो गया है मान, और मोह जिनका तथा जीत लिया है आसक्तिरूप दोष जिनने और परमात्मा के स्वरूप में है निरंतर स्थिति जिनकी, तथा अच्छी प्रकार से नष्ट हो गई है कामना जिनकी, ऐसे सुख-दुःख नामक द्वंद्वों से विमुक्त हुए ज्ञानीजन, उस अविनाशी परमपद को प्राप्त होते हैं।'

यह सूत्र, कि 'मैं उस आदि पुरुष, उस आदि उद्‌गम के शरण हूँ'—बहुमूल्य है। शरण का भाव बहुमूल्य है। क्योंकि वासना भी काटी जा सकती है वैराग्य से, फिर भी अहंकार शेष रह जाता है। वासना तोड़ी जा सकती है, वैराग्य से, लेकिन तब वैराग्य का अहंकार सघन हो जाता है—कि मैं विरागी हूँ; कि मैं त्यागी हूँ; कि मैंने इतना छोड़ा; कि मैंने वासना नष्ट कर दी। एक गहन अग्नि जलने लगती है। अहंकार नये रूप ले लेता है—सूक्ष्म, पर और भी प्रगाढ। इसलिए कृष्ण एक शर्त जोड़ते हैं: 'वैराग्य के शस्त्र से काटकर मैं उस आदि पुरुष के शरण हूँ—ऐसा दृढ भाव करें।'

यह वैराग्य कहीं मेरे अहंकार को भरने का कारन न बने। क्योंकि जब तक 'मैं' हूँ, तब तक मूल उद्‌गम में खोना आसान नहीं। तब तक बूँद अपने को पकड़े है, सागर में खोने को राजी नहीं है।

मूल उद्‌गम में मैं 'मैं' नहीं रह जाऊँगा, मेरी अस्मिता खो जाएगी; मेरा सत्व बचेगा, मेरी चेतना बचेगी, लेकिन मैं का 'रूप' खो जाएगा, मैं का 'नाम' खो जाएगा। सभी 'नाम-रूप' विलीन हो जाएँगे।

यदि साधक वैराग्य को साधते-साधते साथ में शरणागति के भाव को न साधे, तो भटक जाता है। तब वैसा साधक हो सकता है शुद्ध हो जाय, लेकिन उसकी शुद्धि में भी

जहर होगा। पवित्र हो जाय, लेकिन उसकी पवित्रता निर्दोष न होगी। उसकी पवित्रता में भी दोष होगा। शुभ हो जाय, सच्चा हो जाय, नैतिक हो जाय, लेकिन उसकी नीति, उसकी सचाई, उसकी शुभता, भीतर एक मूल गलत भित्ती पर खड़े होंगे—वे अस्मिता की भित्ती पर खड़े होंगे।

मैं शुद्ध हूँ, मैं शुभ हूँ, मैं नैतिक हूँ—यह भाव बना ही रहेगा। और यह आखिरी दीवाल हो जाएगी। 'मैं हूँ', यह बना ही रहेगा। और जब तक 'मैं हूँ', तब तक परमात्मा नहीं है।

लोग मुझसे पूछते हैं कि परमात्मा को हम खोजते हैं, मिलता नहीं है। मैं उनसे कहता हूँ : तुम जब तक खोजोगे, तब तक मिलने का कोई उपाय ही नहीं है! क्योंकि तुम ही बाधा हो। यह खोजनेवाला ही उपद्रव है। और जब तक यह खोजनेवाला न खो जाय, तब तक मिलने की कोई आशा नहीं है।

बुद्ध ने परमात्मा को अस्वीकार किया। और कहा कि कोई परमात्मा नहीं है। लेकिन तब एक मुसीबत शुरू हुई। दार्शनिक रूप से कोई अड़चन नहीं है परमात्मा को अस्वीकार करने में, लेकिन तब साधक में शरणागति का भाव कैसे पैदा करोगे? परमात्मा हो या न हो—यह मूल्यवान भी नहीं है। 'है'—इसको सिद्ध करने की कोई जरूरत भी नहीं है।

बुद्ध ने कह दिया कि नहीं कोई परमात्मा है, लेकिन तब एक अड़चन शुरू हुई। और वह अड़चन यह थी कि शरणागति कैसे हो? व्यक्ति अपने अहंकार को कैसे खोयेगा? तो उसके लिए नये सूत्र खोजने पड़े। वह नये सूत्र फिर वही के वही हो गये; उससे कोई फर्क न पड़ा।

तो बुद्ध-भिक्षु कहता है : बुद्धं शरणं गच्छामि। संघं शरणं गच्छामि। धम्मं शरणं गच्छामि। पर 'शरणं गच्छामि'—उससे बचने का कोई उपाय नहीं है!

बुद्ध कहते हैं : कोई भगवान् नहीं है। लेकिन बुद्ध के साधक को बुद्ध को ही भगवान् कहना पड़ता है। और बुद्ध भी इनकार नहीं करते कि मुझे भगवान् मत कहो। क्योंकि बुद्ध को एक अड़चन साफ दिखाई पड़ती है। बुद्ध कह सकते हैं: मुझे भगवान् मत कहो, क्योंकि बुद्ध को कोई रस आता होगा, किसी के भगवान् कहने से। यह धारणा ही मूढतापूर्ण है।

फिर बुद्ध इनकार क्यों नहीं कर देते? और जब कोई बुद्ध के सामने आ कर कहता है : 'बुद्धं शरणं गच्छामि—हे बुद्ध, तुम्हारी शरण जाता हूँ', तब वे क्यों नहीं कहते कि 'मैं कोई भगवान् नहीं हूँ। मेरी शरण क्यों जाते हो?' कारण है।

बुद्ध को कोई रस नहीं है, कि कोई उन्हें भगवान् कहे, न कहे। लेकिन यह जो जा रहा है शरण, इसके शरण जाने का कोई मार्ग खोजना पड़े। और परमात्मा को

इनकार कर दिया है; तो परमात्मा को जिस झंझट से छुटकारा दिला दिया, उसी झंझट में खुद को बैठ जाना पड़ा।

परमात्मा की जगह खाली कर दी। और कोई चाहिए, जिसकी शरण जा सकें। लेकिन बुद्ध तो कल मर जाएँगे। परमात्मा तो कभी नहीं मरता; बुद्ध कल मर जाएँगे, फिर क्या होगा? फिर किसकी शरण जाएँगे? क्योंकि लोग पूछेंगे : बुद्ध अब कहाँ हैं? अगर कहते हो कि वे आकाश में हैं, तो फिर वह परमात्मा बन गया। अगर कहते हो कि कहीं भी बुद्ध हैं और वहाँ से सहायता करेंगे, तो परमात्मा बन गया। तो संघं शरणं गच्छामि। इसलिए दूसरा सूत्र जोड़ना पड़ा—कि यह जो भिक्षुओं का संघ है—साधकों का, सिद्धों का—इसकी शरण जाओ।

यह रहेगा। लेकिन यह भी जरूरी नहीं कि सदा हो। हिंदुस्तान से खो गया, बुद्धों का कोई संघ न रहा, तो किसकी शरण जाओ? तो बुद्ध को तीसरा सूत्र खोजना पड़ा : धम्मं शरणं गच्छामि—धर्म की शरण जाओ। धर्म सदा रहेगा। लेकिन क्या फर्क पड़ता है?

शरण जाना ही पड़ेगा। क्योंकि शरण जाये बिना साधक का अहंकार नहीं खोता। इसलिए पतंजलि ने अनूठी बात कही है, और वह यह है कि परमात्मा स्वयं को खोने की एक विधि है। परमात्मा है या नहीं, यह सवाल ही नहीं है। यह परमात्मा तो सिर्फ एक तरकीब है—खुद को खोने की।

इस दार्शनिक विवेचन का कोई भी मूल्य नहीं है हिंदुओं के लिए—कि ईश्वर है या नहीं।

ईसाइयों ने बड़ी मेहनत की ईश्वर को सिद्ध करने की—कि वह है। मगर उनकी मेहनत से कुछ सिद्ध नहीं होता। क्योंकि जिन दलीलों से सिद्ध करो, वे दलीलें काटी जा सकती हैं। कट जाती हैं। उनमें कोई बड़ी दलील ऐसी नहीं है, जो न काटी जा सके।

हिंदुओं ने कभी कोशिश नहीं की—ईश्वर को सिद्ध करने की। क्योंकि वे कहते हैं: यह तो सिर्फ एक ट्रिक है; यह तो सिर्फ एक युक्ति है; यह तो सिर्फ एक उपाय है; उपाय है कि तुम शरण जा सको।

इसलिए जब पहली दफा ईसाई भारत आये या इसलाम भारत आया, तो उनको बड़ी हैरानी हुई कि हिंदू भी कैसे मूढ़ हैं। कोई पत्थर को रख कर पूज रहा है, कोई झाड़ को पूज रहा है, कोई नदी को पूज रहा है। पत्थर...! कोई मूर्ति भी नहीं है। ऐसे ही अनगढ़ पत्थर पर सिंदूर पोत दिया है, उसको पूज रहे हैं। हनुमान जी हैं! बहुत अजीब लगा उनको कि यह सब क्या हो रहा है। लेकिन उन्हें पता नहीं कि हिंदुओं ने बड़े गहन तत्त्व को खोज लिया है। वे यह कहते हैं कि इससे फर्क ही नहीं पड़ता कि तुम किसको पूज रहे हो। तुम 'पूज' रहे हो—यह सवाल है।

तुम कहाँ झुक रहे हो—यह बेमानी है। तुम झुक रहे हो—बस, इतना काफी है। तो तुम पीपल के वृक्ष के सामने झुक जाओ। यह तो बहाना है। यह पीपल का वृक्ष बहाना है; परमात्मा भी बहाना है। है या नहीं—इससे हमें कोई प्रयोजन भी नहीं है। झुकने में सहयोगी है, तो झुक जाओ। क्योंकि झुकने से तुम उसे जान लोगे—जिसे बिना झुके तुम कभी नहीं जान सकते हो। और वह तुम्हारे भीतर छिपा है।

इसलिए दुनिया में हिंदू-धर्म को समझने में बड़ी अड़चन हुई है। हिंदू-धर्म सबसे कम समझा गया धर्म है। क्योंकि उसके रूप ऐसे अनगढ़ दिखाई पड़ते हैं। पर उनके अनगढ़ होने का कारण है। कारण है कि बड़ी गहरी बात हिंदुओं की पकड़ में आ गयी। ईश्वर महत्वपूर्ण नहीं है; झुकता हुआ साधक, झुका हुआ साधक, शरण में गया हुआ साधक महत्वपूर्ण है।

तो जहाँ शरण मिल जाय, जिसके माध्यम से मिल जाय; वह है या नहीं—यह भी गौण है। शरण मिल जाय, तो सब हो जाता है। कृष्ण कह रहे हैं : 'उस आदि—पुरुष के मैं शरण हूँ—इस प्रकार दृढ़ निश्चय कर के नष्ट हो गया है मान और मोह जिसका...।' स्वाभाविक है; जो भी शरण जाएगा, उसका मान और मोह नष्ट हो जाएगा। और जो शरण नहीं गया, उसका मान और मोह कभी नष्ट नहीं होता।

इसलिए मैं कई दफा चकित होता हूँ। जैन या बौद्ध भिक्षु गहन मान से भर जाते हैं। जैनों को तो शरण जाने का और भी उपाय नहीं। बौद्धों ने तो बुद्ध को ही शरण जाने का उपाय बना लिया।

महावीर ने कहा : 'अशरण रहो; किसी की शरण मत जाओ।' बात में कुछ गलती नहीं है। अगर अशरण रह कर भी निर-अहंकारी हो सको, तो इससे बड़ी और कोई बात नहीं है। फिर जरूरत भी नहीं है—शरण जाने की। लेकिन कौन रह सकेगा—बिना शरण जाये—निर-अहंकारी? कभी करोड़ में एक कोई व्यक्ति, जो शरण न गया हो और निर-अहंकारी हो जाय।

शरण जा जा कर भी अहंकार नहीं मिटता। झुक-झुक कर भी नहीं झुकता, तो बिना झुके बहुत कठिन है। महावीर का अहंकार झुक गया होगा; महावीर के पीछे चलने-वालों को मुश्किल पड़ी है। वह झुक नहीं पाता। इसलिए जैन साधु बड़ी साधना करता है; वैसी साधना संभवतः दुनिया में कोई भी धर्म का साधु नहीं करता है। उसकी साधना प्रगाढ़ है, लेकिन उसका अहंकार भी उतना ही प्रगाढ़ है।

इसलिए जैन साधु जिस अकड़ से चलता है, वैसी अकड़ की हम सूफी फकीर में कल्पना भी नहीं कर सकते। सूफी फकीर तो सोच कर चकित ही हो जाएगा कि क्या कर रहे हो तुम। इतनी अकड़? जैन साधु किसी को नमस्कार नहीं कर सकता। क्योंकि कोई है ही नहीं—जिसकी शरण जाना है।

मैं एक बड़े जैन साधु आचार्य तुलसी के साथ मौजूद था; कई वर्ष पहले। मोरारजी देसाई उनको मिलने आये। तब वे सत्ता में थे। नेहरू जिन्दा थे और मोरारजी सत्ता में थे। तो मोरारजी ने नमस्कार किया—आचार्य तुलसी को। आचार्य तुलसी तो नमस्कार किसी को कर नहीं सकते। सिर्फ आशीर्वाद दे सकते हैं।

मोरारजी किसी साधु से कम साधु नहीं हैं। कोई जैन साधु उतना अहंकारी नहीं हो सकता; वे भी पक्के नैतिक पुरुष हैं—बिलकुल पत्थर की तरह।

चोट तत्काल लग गई। और जो पहला सवाल उन्होंने पूछा, वह यह कि 'मैंने हाथ जोड़कर नमस्कार किया; आपने हाथ जोड़कर जवाब क्यों नहीं दिया? और आप ऊपर क्यों बैठे हैं; और मुझे नीचे क्यों बिठाया है?'

दोनों साधु पुरुष हैं! बड़ी अड़चन खड़ी हो गयी। और दस-बीस विद्वान सारे मुल्क से बुलाये गये थे—गोष्ठी के लिए; उसी में मुझे भी निमंत्रित किया था उन्होंने। मैं समझा कि गोष्ठी तो समाप्त हो गई। क्योंकि अब वह कैसे चलेगी?

'यह पहला ही प्रश्न है', मोरारजी ने कहा, 'जब तक इसका जवाब न मिले, आगे कुछ बात करने का प्रयोजन नहीं है।'

तुलसीजी चुप रहे। अब क्या कहें! क्योंकि जैन साधु को आज्ञा नहीं है—कि वह नमस्कार करे किसी को। कोई नमस्कार-योग्य है भी नहीं। शरण किसी की जाना नहीं है।

मैंने कहा कि 'अगर यह नियम है, तो दूसरे को भी नमस्कार करने से रोकना चाहिए। जैसे कोई दूसरा नमस्कार करे, कहना चाहिए : रुको। उसका नमस्कार ले लेना और फिर अपनी तरफ से नमस्कार न देने का नियम—जरा बेईमानी है। या उसको कहना चाहिए कि सावधान। आप करो; आपकी मरजी। हम लौटायेंगे नहीं।'

और मोरारजी को मैंने कहा कि 'आपको उनका ऊपर बैठना अखर रहा है कि अपना नीचे बैठना अखर रहा है—यह साफ हो जाना चाहिए, फिर कुछ बात आगे चले। क्योंकि ऊपर तो एक छिपकली भी चल रही है; उससे आपको कोई एतराज नहीं है। आप नीचे बिठाये गये हैं, इससे अड़चन है। अगर आपको भी ऊपर बिठाया गया होता, तो कोई अड़चन न थी।'

नैतिक पुरुष कितना ही नैतिक हो जाय, धार्मिक नहीं हो पाता। मोरारजी की नैतिकता में संदेह नहीं है। आचार्य तुलसी की नैतिकता में कोई संदेह नहीं है। दोनों साधु पुरुष हैं। पर अहंकार सघन है। और जब साधु का अहंकार सघन हो, तो असाधु से भी खतरनाक होता है। उसको झुकाया नहीं जा सकता।

असाधु तो थोड़ा डरता भी है—कि मैं असाधु हूँ; साधु डरता ही नहीं। उसको झुकायेंगे कैसे? असाधु तो खुद अपने डर के कारण झुका रहता है। साधु की अकड़ तो सख्त है। वह टूट जाएगा—झुक नहीं सकता।

लेकिन हिंदुओं ने मौलिक तत्त्व को पकड़ लिया है—कि कहीं से भी झुकना आ सके; और किसी भी तरह शरण जाने का भाव पैदा हो सके, तो वही परम साधना है। स्वभावतः मान और मोह नष्ट हो जाएगा।

और जैसे-जैसे मान-मोह-आसक्ति नष्ट होते हैं, वैसे-वैसे परमात्मा के स्वरूप में स्थिति बनने लगेगी; क्योंकि ये ही हिलाते हैं। इनकी वजह से कंपन होता है। इनकी वजह से बेचैनी और अशांति होती है। इनकी वजह से गति होती है।

परमात्मा में जिनकी स्थिति बनने लगती है...'सुख-दुःख नामक द्वन्द्वों से विमुक्त हुए ज्ञानीजन उस अविनाशी पद को—परमपद को प्राप्त होते हैं।'

यह परमद छिपा है भीतर। जैसे ही हमारा हिलन-डुलन बंद हो जाता है, कंपन शांत हो जाता है, ज्योति स्थिर हो जाती है, वह परमपद हमें उपलब्ध हो जाता है। जो सदा से हमारा है, जो सदा से हमारा रहा है, हम उसके प्रति प्रत्यभिज्ञा से भर जाते हैं। हम पहचान जाते हैं कि हम कौन हैं?

मैं के मिटते ही 'मै कौन हूँ'—इसकी पहचान आ जाती है।

आज इतना ही।

शरणागत-भाव • दुःख का रेचन • भोग और वैराग्य
संकल्प—संसार का या मोक्ष का

तीसरा प्रवचन

बम्बई, रात्रि, दिनांक ७ मार्च, १९७४

न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम॥ ६ ॥

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।
मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ॥ ७ ॥

शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः।
गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात् ॥ ८ ॥

श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च।
अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते ॥ ९ ॥

उस स्वयं प्रकाशमय परमपद को न सूर्य प्रकाशित कर सकता ह, न चन्द्रमा और न अग्नि ही प्रकाशित कर सकता है तथा जिस परम पद को प्राप्त होकर मनुष्य पीछे संसार में नहीं आते हैं, वही मेरा परम धाम है।

और हे अर्जुन, इस देह में यह जीवात्मा मेरा ही सनातन अंश है और वही इन त्रिगुणीमयी माया में स्थित हुई मन सहित पाँचों इन्द्रियों को आकर्षण करता है।

जैसे कि वायु गन्ध के स्थान से गन्ध को जैसे ग्रहण करके ले जाता है, वैसे ही देहादिकों का स्वामी जीवात्मा भी जिस पहले शरीर को त्यागता है, उससे इन मन सहित इन्द्रियों को ग्रहण करके फिर जिस शरीर को प्राप्त होता है, उसमें जाता है।

और उस शरीर में स्थित हुआ यह जीवात्मा श्रोत्र, चक्षु और त्वचा को तथा रसना, घ्राण और मन को आश्रय करके अर्थात् इन सबके सहारे से ही विषयों को सेवन करता है।

पहले कुछ प्रश्न।

● पहला प्रश्न : शरणागत-भाव को कैसे उपलब्ध हुआ जा सकता है?

जीवन में सर्वाधिक कठिन, सब से ज्यादा दुरूह अगर कोई भाव-दशा है, तो शरणागति ही है।

मन अहंकार के आसपास निर्मित है। मन को मानना आसान है कि 'मैं ही केन्द्र हूँ—सारे जगत् का'। जैसे पृथ्वी और सूर्य, तारे—सब मेरे आसपास घूमते हों, मेरे लिए घूमते हों; पूरा जीवन साधन है और साध्य मैं हूँ।

अहंकार की भाव-दशा का अर्थ है कि मैं साध्य हूँ और सभी कुछ साधन है। सब कुछ मेरे लिए है और मैं किसी के लिए नहीं हूँ। मैं ही लक्ष्य हूँ; मेरे लिए ही सब घटित हो रहा है। सभी कुछ मेरी सेवा का आयोजन है—यह अहंकार-भाव है।

शरणागति का भाव ठीक इससे विपरीत है—कि मैं कुछ भी नहीं हूँ। मेरा होना शून्यवत् है और केन्द्र मुझसे बाहर है। वह केन्द्र आप कहाँ रखते हैं, यह बड़ा महत्वपूर्ण नहीं है। कोई उसे बुद्ध में रखे, कोई उसे क्राइस्ट में रखे, कोई उसे राम में—कृष्ण में—यह बहुत महत्वपूर्ण नहीं है।

'मेरे होने का केन्द्र मैं नहीं हूँ, केन्द्र मुझसे बाहर है और मैं उसके लिए जी रहा हूँ। मैं साधन हूँ वह साध्य है।' यह अति कठिन बात है। क्योंकि अहंकार बिलकुल स्वाभाविक मालूम होता है। लेकिन इस क्रांति के बिना घटे कोई भी व्यक्ति सत्य को उपलब्ध नहीं होता। क्योंकि सत्य यही है कि आपका केन्द्र आपके भीतर नहीं है।

इस सारे जगत् का केन्द्र एक ही है। सभी का केन्द्र एक है। इसलिए प्रत्येक के भीतर अलग-अलग केन्द्र होने का कोई उपाय नहीं है। हम संयुक्त जीते हैं—वियुक्त नहीं। व्यक्ति होना भ्रांति है।

सारा अस्तित्व जुड़ा हुआ इकट्ठा है। यह विश्व एक इकाई है, एक यूनिट है। यहाँ कुछ भी खण्ड-खण्ड—अलग-अलग नहीं है। यहाँ कोई एक पत्ता भी अलग नहीं है।

हमने सुन रखा है कि 'राम की मरजी के बिना पत्ता भी नहीं हिलता'। और हमने जो उसको अर्थ दिये हैं, वे ना-समझी से भरे हैं। 'राम की बिना मरजी से पत्ता भी नहीं हिलता'—इसका केवल इतना ही अर्थ है कि इस संसार में दो मरजियाँ काम नहीं कर रही हैं। पत्ते की मरजी और इस अस्तित्व की मरजी—दो नहीं हैं। यह पूरा अस्तित्व इकट्ठा है। और जब पत्ता हिलता है, तो पूरे अस्तित्व के हिलने के कारण ही हिलता है।

अकेला पत्ता हिल नहीं सकता है। हवाएँ न हों, फिर पत्ता न हिल सकेगा। सूरज न हो, तो हवाएँ न हिल सकेंगी।

सब संयुक्त है। और एक छोटा-सा पत्ता भी हिलता है, तो उसका अर्थ यह हुआ कि सारा अस्तित्व उसके हिलने का आयोजन कर रहा है। उस क्षण में सारे अस्तित्व ने उसे हिलने की सुविधा दी है। उस सुविधा में रत्ती भर भी कमी हो और पत्ता नहीं हिल पायेगा।

'राम की बिना मरजी के पत्ता नहीं हिलता है'—इसका केवल इतना ही अर्थ है। ऐसा कुछ अर्थ नहीं कि कोई 'राम' जैसा व्यक्ति ऊपर बैठा है और एक-एक पत्ते को आज्ञा दे रहा है, कि 'तुम अब हिलो, तुम अब मत हिलो', वैसी धारणा मूढ़ता-पूर्ण है। लेकिन अस्तित्व एक है।

दूर—अरबों प्रकाशवर्ष दूर—जो तारे हैं, उनका भी हाथ आपके बगीचे में हिलने वाले पत्ते में है। उनके बिना ये पत्ते नहीं हिल सकते।

समुद्र में लहर उठती है, चाँद का हाथ उसमें है। चाँद के बिना वह लहर नहीं उठ सकती। चाँद में रोशनी है, क्योंकि सूरज का हाथ उसमें है। चाँद के पास अपनी कोई रोशनी नहीं है। सूरज से उधार प्रतिबिम्ब है, प्रतिफलन है। चाँद से सागर हिलता है। और जब सागर हिलता है, तो आपके भीतर भी कुछ हिलता है। क्योंकि सारा जीवन सागर से पैदा हुआ है।

आपके भीतर पचहत्तर प्रतिशत सागर का पानी है। आप पचहत्तर प्रतिशत सागर हैं। और आपके भीतर जो जल है, उसका ठीक सागर के जैसा स्वाद है। उतनी ही नमक की मात्रा है, उतना ही खारापन है। उतने ही रासायनिक द्रव्य हैं उसमें। मछली ही सागर में नहीं जीती, आप भी सागर में जीते हैं। फर्क इतना है कि मछली के चारों तरफ सागर है; आपके भीतर सागर है। आपके भीतर नमक कम हो जाय, आपकी मृत्यु हो जाएगी। ज्यादा हो जाय, आप अड़चन में पड़ जाएँगे। ठीक सागर में नमक की जितनी मात्रा है, उतनी ही आपके भीतर होनी चाहिए।

वह जो बच्चा पहली दफा माँ के गर्भ में पैदा होता है, तो माँ के गर्भ में ठीक सागर की स्थिति हो जाती है। ठीक सागर जैसे पानी में बच्चे का पहला जन्म होता है। बच्चा पहले मछली की तरह बड़ा होता है।

जब सागर हिलता है, तो आपके भीतर भी कुछ हिलता है। अगर सागर के पास बैठ कर आपको सुख मालूम होता है, तो आपने कभी सोचा नहीं होगा : क्यों? वह जो सागर का कंपन है, जीवन है, वह आपके छोटे से सागर को भी कँपाता है, जीवंत करता है।

अगर रात चाँद को देख कर आपको अच्छा लगता है, सुखद मालूम होता है, एक शांति मिलती है, तो वह चाँद की किरणों के कारण है, जो आपके भीतर के सागर को कंपित कर रही हैं, जीवंत कर रही हैं।

पूर्णिमा की रात दुनिया भर में सब से ज्यादा लोग पागल होते हैं; अमावस की रात सब से कम। पागलपन में भी एक ज्वार-भाटा है। पूर्णिमा की रात दुनिया में सबसे ज्यादा अपराध होते हैं; अमावस की रात सब से कम। आप शायद उलटा सोचते होंगे—कि अमावस की अँधेरी रात सबसे ज्यादा अपराध होने चाहिए। अपराध नहीं होते हैं। क्योंकि अमावस की रात लोग उत्तेजित नहीं होते हैं। पूर्णिमा की रात उत्तेजित हो जाते हैं।

पागलों के लिए पुराना शब्द है: 'चाँद-मारा'; अंग्रेजी में शब्द है: लूनाटिक। लूनाटिक लूनार से बना है। लूनार का मतलब चाँद है।

पागलपन में चाँद का हाथ है। और अगर पागलपन में चाँद का हाथ है, तो बुद्धिमता में भी चाँद का हाथ होगा। और अगर बुद्ध को पूर्णिमा की रात बुद्धत्व प्राप्त हुआ, तो चाँद के हाथ को इनकार नहीं किया जा सकता।

सब जुड़ा है, सब संयुक्त है। हम अलग-अलग नहीं हैं।

शरणागति का अर्थ है: इस तथ्य को समझ लेना कि मेरे जीवन का केन्द्र मेरे भीतर नहीं है—अस्तित्व में है। फिर उस केन्द्र को भक्त भगवान् कहता है; ज्ञानी ब्रह्म कहते हैं। जो बहुत तार्किक ज्ञानी हैं, वे सत्य कहते हैं। यह सब शब्दों का फासला है। क्या आप कहते हैं—यह सवाल नहीं है।

अपने से बाहर केन्द्र को समझ लेना शरणागत हो जाना है। और जब केन्द्र मेरे भीतर नहीं, तो अकड़ किस बात की है? जब मैं सिर्फ एक लहर हूँ, और खुद सागर में ही हूँ, तो अकड़ किस बात की है? इतना अहंकार किस बात का है? अपने आपको इतना महत्वपूर्ण समझ लेना पागलपन है।

ठीक से जो अपने को समझेगा, वह अपने को शून्य समझेगा। गलत जो अपने को समझेगा, वह अपने को बहुत-कुछ समझेगा।

तो जितना ज्यादा आप अपने को समझते हों, उतने ही कम धार्मिक होने की संभावना है। जितना कम समझते हों—अपने आपको, उतने धार्मिक होने की संभावना ज्यादा है। और जिस दिन आप समझ लें कि आप शून्य हैं, उस दिन आप स्वयं भगवान् हैं।

शून्य होते ही शरणागति घटित हो जाती है। इसलिए शरणागति के दो उपाय हैं। और दुनिया में दो ही तरह के धर्म हैं।

एक तो उपाय यह है कि आप शून्य हो जायें। बुद्ध, महावीर कहते हैं: 'अशरण हो जाओ', वह आपको शून्य होने के लिए कह रहे हैं। वे कह रहे हैं: 'बिलकुल शांत हो जायँ, शून्य हो जायँ।' शून्य होने से वही घटना घट जाती है—केन्द्र आपके भीतर नहीं रह जाता।

दूसरा मार्ग है कि आप अपने को विचार ही मत करें, राम के चरणों में रख दें सिर—कि कृष्ण के चरणों में रख दें।

कृष्ण अर्जुन से कहते हैं : 'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज—सब छोड़—सब धर्म; मेरी शरण आ जा।' आप किसी के चरण में सिर रखते हैं।

या तो आप शून्य हो जायँ, तो केन्द्र मिट गया भीतर। और या आप किसी को पूर्ण मान लें, तो भीतर से केन्द्र मिट गया। दोनों ही अवस्था में आप मिट जाते हैं। जैन और बौद्ध पहली धारणा को मान कर चलते हैं। परिणाम वही है।

शून्य हो जाना है, शांत हो जाना है, मौन हो जाना है। अहंकार को भूल जाना है—विसर्जित कर देना है। इसलिए वे अशरण की बात बोल सकते हैं। अशरण की किसलिए? थोड़ा समझ लेना जरूरी है।

महावीर कहते हैं कि 'अहंकार इतना सूक्ष्म है कि तुम जब शरणागति करोगे, तो उसमें भी बच सकता है।' उनकी बात में सचाई है। महावीर कहते हैं कि जब तुम किसी की शरण में जाओगे, तो 'तुम' ही जाओगे। यह तुम्हारा ही निर्णय होगा। तुम ही सोचोगे, तय करोगे कि मैं शरण जाता हूँ। तो यह तुम्हारे 'मैं' का ही निर्णय है। इसमें डर है कि मैं छिप जाएगा—मिटेगा नहीं। क्योंकि तुम सदा मालिक रहोगे। जब चाहो, अपनी शरण वापस ले सकते हो। अर्जुन कृष्ण से कह सकता है : 'बस, बहुत हो गया। अब मैंने आपके चरणों में जो सिर रखा था, वह वापस लेता हूँ', तो कृष्ण क्या करेंगे?

आप किसी व्यक्ति को गुरु चुनते हैं, वह आपका ही चुनाव है। कल आप गुरु को छोड़ देते हैं, तो गुरु क्या कर सकता है? अगर आप शरण जाने के बाद भी छोड़ने में समर्थ हैं, तो शरण झूठी हुई और धोखा हुआ; और आपने सिर्फ अपने को भुलाया, विस्मृत किया, लेकिन मिटे नहीं।

यह डर है। इस डर के कारण महावीर ने कहा, 'यह बात ही उपयोगी नहीं है।

दूसरे की शरण मत जाओ; अपने को ही सीधा मिटाओ।' दूसरे के बहाने नहीं—सीधा। यह सीधा आक्रमण है।

कृष्ण, राम, मोहम्मद, क्राइस्ट, जरथुस्त्र, वे सब शरण को मानते हैं—कि शरण जाओ। उनकी बात में भी बड़ा बल है। क्योंकि वे कहते हैं कि जब तुम शरण जा कर भी नहीं मिटते हो, और अपने को धोखा दे सकते हो, तो जो व्यक्ति दूसरे के बहाने अपने को 'धोखा दे सकता है, वह अकेले में तो धोखा दे ही लेगा। जो दूसरे की मौजूदगी में भी धोखा देने से नहीं बचता...जहाँ कि एक गवाह भी था, जहाँ कि कोई देख भी रहा था...वह अकेले में तो धोखा दे ही लेगा।

आप ताश खेलते हैं, तो आप दूसरों को धोखा देते हैं; लेकिन लोग हैं, जो कि 'पेशेंस' खेलते हैं—अकेले ही खेलते हैं, अपने को ही धोखा दे लेते हैं। अगर आपने अकेले ही ताश के पत्ते दोनों तरफ से चले हैं, तो आपको पता होगा कि आपने कई दफा धोखा दिया। किसको धोखा दे रहे हो? लेकिन अकेले ताश खेलने में भी लोग धोखा देते हैं।

अड़चन है। अड़चन आदमी के साथ है। कोई भी विधि हो, अड़चन रहेगी। कृष्ण, और जरथुस्त्र और क्राइस्ट की मान्यता है कि जो आदमी गुरु के सामने भी धोखा दे लेता है और अपने अहंकार को बचा लेता है, उसको अकेला छोड़ना खतरनाक है। कम से कम दूसरे की आँखें, दूसरे की मौजूदगी सम्हलने का मौका बनेगी। और इसमें सचाई है।

जैन साधना ने बड़े अहंकारी साधु पैदा किये। जैन साधु में विनम्रता दिखाई नहीं पड़ती; अकड़ दिखाई पड़ती है। अकड़ का कारण भी है, क्योंकि वह साधना करता है। सचाई से जीता है, ब्रह्मचर्य साधता है; उपवास करता है; तप करता है। अकड़ का कारण भी है। अकारण नहीं है अकड़। लेकिन कारण हो या अकारण हो, अकड़ रोग है। और क्योंकि शरण जाने का कहीं कोई उपाय नहीं है, इसलिए 'मैं कर रहा हूँ'—यह धारणा मजबूत होती है।

दोनों के खतरे हैं। दोनों के लाभ हैं। जिस व्यक्ति को लगे कि खतरा कहाँ है, वहाँ वह न जाय।

अगर आप बहुत धोखेबाज हैं और बहुत बेईमान हैं, और अपने को भी धोका देने में समर्थ हैं, सेल्फ डिसेप्शन आपके लिए आसान है, तो महावीर का मार्ग आपके लिए खतरनाक है। अगर आप अपने को धोखा देने में असमर्थ हैं, तो महावीर का मार्ग आपके लिये सुगम है।

साधक को निर्णय करना होगा : कैसे जाय। लेकिन प्रयोजन एक ही है कि साधक को मिटना पड़ेगा। या तो सीधा मिट जाय, शून्य हो जाय; या दूसरे के चरण में जा कर खो जाय और लीन हो जाय।

यह शरणागति कैसे आयेगी?

अपनी स्थिति समझ लें, अपनी वास्तविक स्थिति समझ लें। यह ठीक-ठीक समझ लेने से कि मैं क्या हूँ...।

च्वांगत्से एक कब्रस्तान से निकल रहा था। सुबह का अँधेरा था; भोर होने में देर थी। एक आदमी की खोपड़ी से उसका पैर टकरा गया, तो उस खोपड़ी को अपने साथ ले आया। उसे सदा अपने पास रखता था। अनेक बार उसके शिष्यों ने कहा भी, 'इस खोपड़ी को फेकें; यह भद्दी मालूम पड़ती है। और इसे किसलिए रखे हैं?' तो च्वांगत्से कहता था, 'इसे मैं याददाश्त के लिए रखे हूँ। जब भी मेरी खोपड़ी भीतर गरम होने लगती है, मुझे लगता है कि मैं कुछ हूँ, तभी मैं इसकी तरफ देखता हूँ कि आज नहीं कल मरघट में पड़े रहोगे; लोगों की ठोकरें लगेंगी। कोई क्षमा भी मांगने रुकेगा नहीं।

'जब मुझे कोई गाली देता है—या कि जब कोई मुझे मारने को तैयार हो जाता है, तब मैं उसकी तरफ नहीं देखता, इस खोपड़ी की तरफ देखता हूँ। तब मेरा मन भीतर ठंडा हो जाता है कि ठीक ही है। इस खोपड़ी को कब्र तक बचाऊँगा? फिर अनंत काल तक यह पड़ी रहेगी, ठोकरें खायेगी। तो क्या फर्क पड़ता है कि अभी कोई मार जाता है—कि कल कोई मार जाएगा, जब मैं बचाने के लिए मौजूद न रहूँगा।' तो यह खोपड़ी भी शून्यता में ले जाएगी।

अपनी वास्तविक स्थिति का स्मरण कि मैं मरणधर्मा हूँ; कि यह देह थोड़ी देर के लिए है; कि मेरी सीमाएँ हैं; कि मेरे ज्ञान की सीमा है, मेरे सामर्थ्य की सीमा है; और मैं स्वतंत्र नहीं हूँ, परतंत्र हूँ; सब तरफ से मैं घिरा हूँ और सब तरफ से परस्पर आश्रित हूँ; मेरी कोई स्वतंत्र इकाई नहीं है : ऐसी प्रतीति गहरी होती जाय, यह विचार गहन होता जाय, यह ध्यान में उतरता जाय, यह हृदय में बैठ जाय, तो शरणागति फलित होगी।

शरणागति कठिन इसलिए है कि 'मैं कुछ भी नहीं हूँ', यह मानने का मन नहीं होता। मैं कुछ हूँ—ऐसा मोह, बहुत दीन मोह है, बहुत दुर्बल मोह है। किसी मूल्य का भी नहीं; दो कौड़ी उसकी कीमत नहीं है, लेकिन मैं कुछ हूँ...।

मैंने सुना है कि मुल्ला नसरुद्दीन के बड़े भाई ने उसे अपनी पत्नी को लेने ससुराल भेजा। और जाते वक्त कहा कि 'नसरुद्दीन, व्यर्थ बकवास मत करना। ज्यादा उलटी-सीधी बात करने की तुम्हारी आदत है, इसका उपयोग मत करना। तुम तो ना या हाँ में ही जवाब दे देना।'

तो नसरुद्दीन ने गाँठ बाँध ली कि ना और हाँ से दूसरा शब्द बोलेगा ही नहीं। पहुँचा तो भाई के ससुर ने पूछा कि 'तुम आये हो नसरुद्दीन, तुम्हारे बड़े भाई नहीं

आये ?" तो नसरुद्दीन ने कहा, 'ना।' तो पूछा ससुर ने कि 'क्या बीमार हैं ?" तो नसरुद्दीन ने कहा, 'हाँ।' तो पूछा ससुर ने कि 'क्या बचने की कोई आशा नहीं ?' तो नसरुद्दीन ने कहा, 'हाँ।'

तो घर में कोहराम मच गया। लोग छाती पीटने लगे। रोने लगे। और फिर ससुर ने कहा कि 'जब तुम्हारा भाई आखिरी क्षण में है, तब मेरी लड़की को लिवा ले जा कर क्या करोगे ? मैं भेजने से मना करता हूँ। वह तो बेवा हो ही गयी।'

नसरुद्दीन दुःखी और रोता हुआ वापस लौटा। रोता हुआ लौटा, तो भाई ने पूछा कि 'क्या हुआ ? और भाभी कहाँ है ?' तो नसरुद्दीन ने कहा, 'वह बेवा हो गई।' तो भाई ने कहा, 'नालायक, मैं जिंदा बैठा हूँ, तो वह बेवा हो कैसे सकती है ?' तो नसरुद्दीन ने कहा कि 'तुम जिन्दा बैठे हो, इससे क्या फर्क पड़ता है। जब बुआ बेवा हुई थी, तब भी तुम जिन्दा थे। जब चाची बेवा हुई, तब भी तुम जिन्दा थे। सैकड़ों औरतें गाँव में बेवा हो गयीं, तुम जिन्दा थे। किसी को न रोक पाये बेवा होने, तो अब तुम क्या कर सकते हो ? किसी का बेवा होना, न होना तुम पर निर्भर है ?'

नसरुद्दीन ठीक ही कह रहा है। लेकिन वह जो भीतर 'मैं' है, वह पूरे समय अपने को केन्द्र मान कर बैठा है।

नसरुद्दीन का व्यंग बिलकुल ही ठीक है। तुम्हारे रहने से क्या होता है ? लेकिन प्रत्येक सोच रहा है कि उसके रहने से ही सब कुछ होता है। छिपकली भी सोचती है कि उसका सहारा नहीं होगा, तो मकान गिर जाएगा। हम सब भी उसी भाषा में सोचते हैं।

मेरे पास लोग आते हैं; कहते हैं, 'ध्यान करना चाहते हैं, शांत होना चाहते हैं, लेकिन अगर हम शांत हो जाएँगे तो क्या होगा ? परिवार है, पत्नी है, बच्चे हैं।'

हर एक को खयाल है कि सारा संसार, उसकी वजह से चल रहा है; उसके सहारे चल रहा है। और कब्रस्तान भरे पड़े हैं, इस तरह के लोगों से—जिनको सभी को यह खयाल था।

जिस जगह पर आप बैठे हैं, उस जगह पर कम से कम दस आदमी मर चुके और गड़ चुके। जमीन पर कोई ऐसी जगह नही है, जहाँ दस-दस परतें—लाशों की न बिछ चुकी हों। उन सभी को यही खयाल था—जो खयाल आपको है— कि मैं कुछ हूँ। यह भ्रांति टूट जाय, तो शरणागति आनी शुरू होती है।

औरइसे तोड़ने के लिए कुछ करना नहीं है, सिर्फ आँख खोलनी काफी है। अपने चारों तरफ आँख भर खोलनी काफी है।

स्थिति ही यही है कि आप कुछ भी नहीं हैं। छोटा-सा संयोग है, वह भी पानी की लहर की तरह संयोग है। बन भी नहीं पाता और मिट जाता है। कोई पत्थर की

लकीर भी नहीं है; पानी पर खिंची लकीर है। अपने को जो ठीक से सोचेगा, अपनी स्थिति को पहचानना शुरू करेगा, जागतिक संदर्भ में जो अपने को रखेगा और पहचानने की कोशिश करेगा, वह अनुभव करेगा कि मैं एक पानी की बूँद हूँ; सागर होने का भ्रम गलत है।

और जो अपनी तरफ सोच-विचार में लगेगा, विमर्ष करेगा, चिंतन करेगा, उसे यह भी दिखाई पड़ना शुरू हो जाएगा कि जगत मुझसे बहुत बड़ा है। मेरे पीछे, मुझसे आगे, मेरे चारों ओर विराट जगत है। उस विराट जगत में एक छोटा-सा, कंपित होता हुआ जीवन-कण हूँ; केन्द्र मैं नहीं हूँ। तब शरणागति सहज हो जाएगी। और अगर कोई परमात्मा दिखाई न पड़ता हो, कोई ईश्वर की प्रतीति न हो, तो शून्यता सध जाएगी।

दोनों के परिणाम एक हैं। या तो शून्यता सध जाय या शरण–भाव आ जाय। आपका मिटना जरूरी है। जैसे ही आप खोते हैं, वैसे ही जीवन का सत्य प्रगट हो जाता है।

● दूसरा प्रश्न : अपने स्रोत की ओर लौटने के लिए प्राइमल स्क्रीम का होना आपने जरूरी बताया। पर हम कैसे पहचानेंगे कि कौन-सी रेचन प्रक्रिया वांछित प्राइमल स्क्रीम है ?

आपको पहचानने की जरूरत न पड़ेगी। उसके बाद आप तत्क्षण दूसरे हो जाएँगे।

आप बीमार हों, तो आप कैसे पहचानते हैं—जब आप स्वस्थ हो जाते हैं ? कोई उपाय है आपके पास पहचानने का ? नहीं; बीमारी जाती है, तो आप तत्क्षण अनुभव करते हैं कि स्वस्थ हो गये। जब आपका सिर-दर्द खो जाता है, तो आप कैसे पता लगा पाते हैं कि अब सिर-दर्द नहीं और सिर ठीक हो गया ?

प्राइमल स्क्रीम का जो रेचन है, जो कैथार्सिस है, जिस क्षण हो जाएगी, उसी क्षण आप फूल की तरह हलके हो जाएँगे, जैसे सारा बोझ खो गया।

बोझ है भी नहीं आप पर, सिर्फ आपको खयाल है। पर इस बोझ को आप खींचते हैं, क्योंकि बिना बोझ के अहंकार नहीं चल सकता। इसलिए जितना अहंकारी आदमी हो, उतना बड़ा बोझ ले लेता है। अहंकारी हों, तो राष्ट्रपति हो जाना जरूरी है, प्रधान-मंत्री हो जाना जरूरी है। क्योंकि पूरे मुल्क का बोझ चाहिए। पूरी पृथ्वी का बोझ चाहिए, तब अहंकार को लगता है कि मैं कुछ हूँ। हालाँकि कुछ राजनीतिज्ञ कर नहीं पाते हैं। बोझ को घटाते हैं—ऐसा लगता नहीं, बढ़ाते भला हों। लेकिन बड़ा बोझ लेकर उन्हें अनुभव होता है कि हम कुछ हैं।

मैंने सुना है कि स्टैलिन ने मरने के पहले ख्रुश्चेव को दो पत्र दिये, और कहा कि 'जब मैं मर जाऊँ और तू ताकत में आ जाय, तो इन पत्रों को सम्हाल कर रखना।

इसमें नम्बर एक का जो पत्र है, वह तू तब खोलना, जब तेरी कोई योजना इतनी असफल हो जाय कि तेरा तख्ता डाँवाडोल हो। और दूसरा तब खोलना, जब कि कोई भरोसा भी न रह जाय—तेरे बचने का; सब डूबने की हालत हो जाय और तुझे उतरने के सिवा कोई चारा न रहे, तब तू दूसरा खोलना।'

जब ख्रुश्चेव असफल हुआ...। और सभी राजनीतिज्ञ असफल होते हैं। अब तक कोई राजनीतिज्ञ जमीन पर सफल नहीं हुआ। होंगे भी नहीं; क्योंकि सफलता से राजनीति का कोई संबंध भी नहीं है।

समस्याएँ बड़ी हैं, और आदमी का अहंकार भर उसे खयाल देता है कि 'मैं हल कर लूँगा'। समस्याएँ विराट हैं। किसी से हल नहीं होतीं। पर थोड़ी देर को यह वहम भी मन को बड़ा सुख देता है, अहंकार को बड़ा सुख देता है, अहंकार को बड़ी तृप्ति देता है कि मैं हल करने की कोशिश कर रहा हूँ। यह खयाल भी कि सारी समस्याओं के हल मुझ पर निर्भर हैं और लोगों की आशा मुझ पर लगी है, काफी सुख देता है।

जब ख्रुश्चेव की योजनाएँ असफल हुईं, तो उसने मजबूरी में पहला पत्र खोला। उस पहले पत्र में स्टैलिन ने लिखा था, कि 'सब जिम्मेवारी मेरे सिर पर थोप दे।'

यह पुरानी तरकीब है—राजनीतिज्ञों की—कि जो ताकत में नहीं हैं, जो पीछे ताकत में थे, जो मर गये हैं, उन पर सारी जिम्मेवारी थोप देना—कि उनके कारण...। ख्रुश्चेव ने वही किया। थोड़े दिन नाव और चली; फिर नाव के डूबने के दिन आ गये। तब उसने दूसरा पत्र खोला। दूसरे पत्र में स्टैलिन ने लिखा था कि 'अब तू भी दो पत्र लिख।'

आदमी की बड़ी से बड़ी एक समस्या है और वह यह कि बिना समस्याओं के आपका अहंकार निर्मित नहीं हो सकता।

लोग कहते हैं 'हम कैसे शांत हों।' लेकिन वे शांत होना नहीं चाहते। क्योंकि अगर आप शांत होंगे, तो आपका अहंकार खड़ा कैसे होगा? बड़ी समस्याएँ चाहिए; चुनौती चाहिए; संघर्ष चाहिए—उसके मुकाबले अहंकार खड़ा होगा।

अहंकार को बड़ा करने के लिए लोग समस्याएँ खड़ी करते हैं। आप भी खड़ी करते हैं। और अगर दो-चार दिन कोई समस्या न हो, तो बड़ी बेचैनी शुरू हो जाती है। खाली लगते हैं। कुछ करने को नहीं सूझता। पृथ्वी पर होना न-होना बराबर मालूम पड़ता है।

जिन्दा अगर हैं, तो कुछ उपद्रव चाहिए। जितना ज्यादा उपद्रव, उतने आप जिन्दा मालूम होते हैं।

मनसविद कहते हैं, 'अपराधी और राजनीतिज्ञ एक ही कोटि के लोग हैं। अपराधी

भी बिना अपराध किये नहीं रह सकता। क्योंकि अपराध कर के वह उपद्रव खड़े कर लेता है, और उनके बीच में महत्वपूर्ण हो जाता है। और राजनीतिज्ञ भी बिना उपद्रव खड़े किये नहीं रह सकता, क्योंकि उपद्रव के बिना उसका कोई मूल्य नहीं, कोई अर्थ नहीं। इसीलिए युद्ध के समय में बड़े नेता पैदा होते हैं, क्योंकि युद्ध से बड़ा उपद्रव और किसी समय में पाना मुश्किल है।

इसलिए जिसको बड़ा नेता होना हो, उसे युद्ध को पैदा करवाना ही पड़ता है।

आप भी यही कर रहे हैं। उपद्रव खड़े करते हैं, खोजते हैं, निर्माण करते हैं; न हों तो कल्पना करते हैं। ये सारे उपद्रव आपके भीतर अपनी छाया, अपने दाग, अपने घाव छोड़ जाते हैं, अपना दुःख छोड़ जाते हैं। आपके भीतर एक खंडहर निर्मित हो जाता है।

प्राइमल स्क्रीम, मूल-रुदन इस सारे घाव का इकट्ठा रेचन है। जो कुछ आपने इकट्ठा किया है : कूड़ा-करकट, दुःख पीड़ा, झूठ, असत्य, धोखे—वह जो आपने एक खंडहर अपने भीतर निर्मित किया है, वह पूरा का पूरा एक चीख में बाहर आ जाएगा। उसके बाद आप एकदम हलके हो जाते हैं। मन की सारी व्यथा खो जाती है। इतना ही कहना ठीक नहीं; मन ही खो जाता है।

पहचानने की जरूरत नहीं पड़ेगी; अचानक आप पायेंगे कि पंख लग गये, आप उड़ सकते हैं। अचानक पायेंगे : ग्रेव्हिटेशन समाप्त हो गया; जमीन आपको खींचती नहीं। वजन न रहा; आप निर्भार हो गये। कोई चिंता न आगे है, न पीछे है। यह क्षण पर्याप्त है। और यह क्षण बहुत सुखद है।

आनंद की अनुभूति आपको बतायेगी कि रेचन हो गया है। दुःख बताता है कि रेचन बाकी है।

और आप रेचन भी नहीं होने देते। हृदयपूर्वक रो भी नहीं सकते, चीख भी सकते, हृदयपूर्वक कुछ भी करने का उपाय नहीं है। सब अधूरा-अधूरा—झूठा-झूठा—करते है। और तब अगर पूरी जिंदगी एक उदास ऊब हो जाय, तो कुछ आश्चर्य नहीं है।

इसलिए साधक को साहस चाहिए कि जो भीतर दबा है, वह बाहर फेंक सके। और एक बार भी आप हिंमत जुटा लें, तो बाहर फेंकना बहुत कठिन नहीं है। और एक बार रस अनुभव होने लगे, जैसे ही बोझ अलग हो और रस अनुभव होने लगे...।

मैंने सुना है : एक दिन मुल्ला नसरुद्दीन रास्ते से गुजर रहा था। और बड़ी अश्लील भद्दी गालियाँ दे रहा है—अपने जूतों को। उसके एक मित्र ने पूछा कि 'क्या बात है? और इतने उदास, इतने दुःखी—चेहरे पर ऐसे भाव जैसे कांटे चुभ रहे हों! उसने कहा कि 'जूते छोटे हैं, और पैरों में बड़ा कष्ट है।' तो मित्र ने कहा, 'तुम इन्हें उतार क्यों नहीं देते?' नसरुद्दीन ने कहा, 'वह मैं नहीं कर सकता।'

मित्र कुछ समझा नहीं। उसने पूछा कि 'कारण—न करने का!' तो नसरुद्दीन ने कहा, 'बस यही एक—मेरे सुख का सहारा है। जब दिन भर का थका-मांदा, हारा, पराजित, दुकान धंधे से उदास, घर वापस लौटता हूँ, पत्नी देखते ही टूट पड़ती है; बकने लगती है, चीखने-चिल्लाने लगती है। बच्चे अपनी मांगें मौजूद कर देते हैं। पास में पैसा नहीं है।

'पूरे दिन भर के इस दुःख और पीड़ा के बाद जब घर जा कर मैं अपने पैर के जूते निकालता हूँ, तो मोक्ष का आनन्द उपलब्ध होता है। जूते उतारते ही लगता है कि जिन्दगी में सुख है। और कोई सहारा नहीं है सुख का। बस, यह एक जूता ही सहारा है।'

आप भी अपने दुःख को पकड़े हैं। क्योंकि वह दुःख ही आपके सुख की छोटी-मोटी झलक है। बस। जब उसको आप उतार कर रखते हैं, थोड़ा-सा लगता है अच्छा।

नसरुद्दीन कहता है: 'ये जूते मैं उतार नहीं सकता। क्योंकि इनके सिवाय तो जीवन में कोई सुख नहीं है।'

आप किस-किस बात को सुख कहते हैं—आपने कभी खयाल किया? लोग काम को, सेक्स को सुख कहते हैं; वह सिर्फ आपका जूता उतारने से ज्यादा नहीं है। तनाव इकट्ठे करते हैं। शरीर से बाहर जाती ऊर्जा के कारण तनाव शिथिल हो जाते हैं। लगता है: सुख मिला।

महावीर या बुद्ध काम-वासना को जीत कर आनन्द को उपलब्ध नहीं होते हैं। आनन्द को उपलब्ध होते हैं, इसलिए कामवासना व्यर्थ हो जाती है। जूता उतार कर सुख अनुभव नहीं करते। सुख अनुभव हो रहा है, इसलिए जूते के दुःख को झेलने की, और सुख की आशा बचाने की कोई जरूरत नहीं रह जाती।

दिन भर के तानव से भरे हुए जा कर एक फिल्म में बैठ जाते हैं। सुख मिलता है। कैसा सुख मिलता होगा! आँखें और थकती हैं। लेकिन कम से कम दो घंटे, तीन घंटे के लिए, अपने को भूल जाते हैं; व्यस्त हो जाते हैं—कथा में। व्यस्तता ज्यादा हो जाती है, स्वयं का विस्मरण हो जाता है।

लेकिन जिसको दिन भर स्वयं का विस्मरण रहा हो, जिसको अहंकार ही न हो, विस्मरण करने को कुछ न हो, उसे तीन घंटा भुलाने के लिए किसी फिल्म में बैठने की कोई जरूरत नहीं है। उसने 'जूते' ही उतार दिये।

शराब पी कर थोड़ी देरसुख मिलता है। अहंकार शराब पीकर मिट जाता है। इसलिए शराब पीने वाले लोग विनम्र होते हैं। जो लोग शराब छोड़े होते हैं, वे लोग अकड़ेल और दुष्ट प्रकृति के होते हैं। उन्हें अहंकार को हटाने का कोई उतना भी उपाय नहीं है।

इसलिए अकसर आप पायेंगे कि शराब पीने वाला मृदु होगा, मैत्रीपूर्ण होगा, भला होगा; वक्त पर काम पड़ सकता है। आप उस पर भरोसा कर सकते हैं। कंजूस नहीं होगा, कठोर नहीं होगा। क्योंकि थोड़ी शराब के द्वारा कम से कम अहंकार भूलता है; मिटता तो नहीं, लेकिन थोड़ी देर को भूल जाता है।

इसलिए आप शराब पीयें, तो थोड़ी देर में चेहरे की उदासी खो जाती है, और एक प्रसन्नता प्रगट होने लगती है। पैरों में गति आ जाती है और नाच आ जाता है। यह वही आदमी है, जो थोड़ी देर पहले ऐसा मरा हुआ चल रहा था, चेहरा ऐसा था जैसे कि बस, जीवन में कोई अर्थ नहीं है। इसकी आँखों में रौनक आ गई, चेहरे पर चमक आ गई, पैर में गति आ गई।

यह हलका-फुलका कैसे हो गया? शराब किसी को हलका-फुलफा नहीं करती। शराब केवल अहंकार को सुला देती है। इसलिए सूफी फकीर कहते हैं कि जिन्होंने परमात्मा की शराब पी ली, फिर इस साधारण शराब में उन्हें कोई भी अर्थ नहीं है।

परमात्मा की शराब का मतलब इतना ही है कि जिन्होंने अहंकार ही छोड़ दिया, जिन्होंने उसकी शरण पकड़ ली, उनको अब भुलाने को कुछ नहीं बचा। इसलिए फकीरों की मस्ती शराबियों की ही मस्ती है—पर बड़ी गहन शराब की है। और शराबी की मस्ती बड़ी महँगी है। क्योंकि पाता बहुत ना कुछ है और बहुत से दुःख उठाता है। फकीर की मस्ती बिना कुछ खोये, बहुत कुछ पाने की है।

हम दुःख को पकड़े बैठे हैं और दुःख को इकट्ठा करते हैं। हम इसमें रस भी लेते हैं।

लोगों को देखें, जब वे अपने दुःख की कथा किसी को सुनाते हैं, तो कितने प्रसन्न मालूम होते हैं! यह बड़ी हैरानी की बात है। अगर कोई आपकी दुःख की कथा न सुने, तो आपको दुःख लगता है। सुने तो आपको रस आता है।

और हर आदमी अपने दुःख की कहानी बढ़ा-चढ़ा कर बताता है।

एक मेरे मित्र की पत्नी मेरे पास आती थी। उन्होंने कहा, 'आप इसकी बातों में ज्यादा मत पड़ना। क्योंकि उसको फुन्सी हो जाती है, और कैन्सर बताती है।' और मैंने पाया कि वे ठीक कहते थे। फुन्सी भी कोई बीमारी है? जब तक कैन्सर न हो, तब तक अहंकार को रस नहीं आता।

आपने खयाल न किया होगा: जब आप डॉक्टर की तरफ जाते हैं, सोच कर कि बड़ी बीमारी पकड़ गयी है, और डॉक्टर कहता है: 'कुछ भी नहीं है', तो आपको अच्छा नहीं लगता। मन में थोड़ी-सी चोट लगती है; शक होता है कि शायद यह डॉक्टर ठीक नहीं है। मुझ जैसे आदमी को और छोटी-मोटी बीमारी—या कुछ भी नहीं?

यह उलटा मालूम पड़ता है, लेकिन भीतर यह लगता है कि बेकार आना-जाना

हुआ। तो जो बेईमान डॉक्टर है—या कुशल, वह आपको देख कर बड़ा गंभीर चेहरा बना देगा। उससे आपका चित्त प्रसन्न होता है। और जब आपका हाथ हाथ में लेते हैं, तो ऐसा लगता है कि बहुत गंभीर स्थिति है। आपको कोई बीमारी न भी हो, तो भी वे बीमारी को बढ़ा-चढ़ा कर खड़ा करते हैं। उससे मरीज प्रसन्न होता है।

किसी मरीज को कह दें कि 'आपको मानसिक खयाल है, बीमारी है नहीं।' वह आपका दुश्मन हो जाता है।

कोई यह बात मानने को राजी नहीं है कि हम दुःख को भी पकड़ते हैं, लेकिन हम पकड़ते हैं। दुःख को भी हम बड़ा करते हैं। फिर वह दुःख बड़ा हो कर, हमारे सिर पर पत्थर की तरह, छाती पर पत्थर की तरह सवार हो जाता है, फिर हम उसको ढोते हैं।

रेचन का अर्थ है : दुःख को उतार देना।

प्राइमल स्क्रीम का अर्थ है : दुःख को प्रगट हो जाने देना, निकल जाने देना। एक भयंकर चीत्कार में वह बाहर हो जाय और छाती हलकी हो जाय; हृदय का बोझ उतर जाय।

तो कोई आपको पता नहीं लगाना पड़ेगा कि कैसे पता चले कि यह प्राइमल स्क्रीम थी। ऐसे पता चलेगा कि उसके बाद एकदम आप हलके हो जाएँगे। आप पायेंगे कि जैसे आपके पास कोई दुःख कभी था ही नहीं। आप सदा ही आनन्द में रहे। जैसे एक स्वप्न देखा हो दुःख का और नींद टूट गई। और अब कोई स्वप्न नहीं है। और आप हँस रहे हैं।

● तीसरा प्रश्न : कल आपने बताया कि वासनाओं की जड़ें गहरे अचेतन में हैं और केवल बौद्धिक तल पर घटित वैराग्य का निर्णय अपर्याप्त है। वैराग्य का जागरण गहरी अचेतन जड़ों तक कैसे हो सकता है?

अनुभव के अतिरिक्त कोई भी उपाय नहीं; और हम सब चाहते हैं कि अनुभव के बिना कुछ हो जाय। अनुभव से बिना गुजरे कोई उपाय नहीं है—चाहे अनुभव कितनी ही पीड़ा दे, कितना ही जलाये। हमारी आकांक्षा ऐसी है, जैसे सोना सोचता हो, कि बिना आग से गुजरे और मैं शुद्ध हो जाऊँ। आग से गुजरना ही पड़ेगा; पहली बात।

अनुभव से गुजरना ही पड़ेगा। और दूसरे के अनुभव आपके काम न आयेंगे, यह ध्यान में रखें। बुद्ध कहते हैं, 'संसार दुःख है।' आप पढ़ लें, समझ लें। मैं कहता हूँ, 'संसार दुःख है'। आप सुन लें, समझ लें। इससे कुछ होगा नहीं। इससे खतरा है कि आप पाखण्डी हो जाएँगे।

यह अनुभव आपका ही होना चाहिए कि संसार दुःख है। इसीलिए इस तरह के सवाल उठते हैं कि वैराग्य कैसे गहरा हो? वैराग्य को गहरा करने का सवाल नहीं

है। जीवन के अनुभव को पूरा का पूरा भोगने का सवाल है। लेकिन हम सब का मन यह होता है कि...।

बुद्ध तो दुःख भोग कर वैराग्य को उपलब्ध हुए, फिर उन्होंने आनन्द पाया। हम बुद्ध से भी ज्यादा कुशलता दिखाना चाहते हैं। हम दुःख भोगने से भी बचना चाहते हैं। और जैसा वैराग्य बुद्ध को हुआ, वैसा वैराग्य चाहते हैं; और वैसा आनंद चाहते हैं, जैसा वैराग्य के बाद उन्हें हुआ! नहीं; यह नहीं होगा।

वैराग्य का अपना गणित है। और कोई शॉर्ट कट न कभी रहा है और न कभी होने वाला है। और अगर आप इतने लम्बे दिनों से भटक रहे हैं, तो शॉर्ट कट की तलाश की वजह से। नहीं तो कभी का आपको भी मिल गया होता।

कितने जन्मों तक, आप भी गुजरे हैं, पर आप की आशा यह है कि बिना दुःख से गुजरे, बिना अनुभव से गुजरे और वैराग्य हो जाय। और फिर वैराग्य से मोक्ष मिले और परम आनन्द की उपलब्धि हो। आप पहली सीढ़ी चूक रहे हैं।

बुद्ध जैसे दुःख से गुजरना पड़े, तो ही बुद्ध जैसा वैराग्य उत्पन्न होगा।

और ऐसा भी नहीं है कि दुःख की आपको कोई कमी है। दुःख काफी है, लेकिन आप उससे गुजरते नहीं, बचते हैं। आपने पलायन को, एस्केप को अपना रास्ता बनाया हुआ है। कैसे बच जायँ—इसकी फिक्र में रहते हैं।

जो दुःख से बचेगा, उसे वैराग्य कभी उत्पन्न नहीं होगा। क्योंकि दुःख की गहनता ही वैराग्य का जन्म है।

आपका कोई प्रियजन मर जाता है; आप बचने की तलाश में लग जाते हैं। आप मृत्यु का दुःख नहीं भोगते। आप पूछने चले जाते हैं—पंडित से, पुरोहित से—कि आत्मा अमर है? पत्नी मर गयी है या पति मर गया, या बेटा मर गया; मौत सामने खड़ी है। आप साधु-संन्यासियों से पूछ रहे हैं कि आत्मा अमर है? आप झुठलाना चाहते हैं मौत को—कि कोई कह दे कि 'आत्मा अमर है', भरोसा दिला दे, तो रोने की जरूरत न रहे, दुःख की जरूरत न रहे। क्यों? क्योंकि अगर आत्मा अमर है, तो कुछ बात नहीं। शरीर ही छूटा, वस्त्र बदले, लेकिन बेटा कहीं न कहीं जिन्दा है; कभी न कभी मिलना होगा।

ईसाई, मुसलमान, सभी सोचते हैं कि मरने के बाद फिर अपने संबंधियों से मिलना हो जाता है। तो थोड़े दिन का फासला है, थोड़े दिन की बात है; झेल लो। और कोई मिटा नहीं, कोई मरा नहीं। आप दुःख से बचने का उपाय खोज रहे हैं।

मौत सामने खड़ी है, इसके दुःख को भोगो। झुठलाओ मत। तरकीबें मत खोजो। जिस पत्नी से सुख पाया है, उसका दुःख भी भोगो। जिस पति के साथ आनन्द किया था, उस पति के जाने पर अभाव का जो नरक है, उससे गुजरो। न तो शराब पी कर

भुलाओ, न तो सिद्धांतों को पी कर भुलाओ। न भजन-कीर्तन कर के अपने को समझाओ; न गीता पढ़ कर अपने मन को यहाँ-वहाँ लगाओ।

दुःख सामने खड़ा है, दुःख को सीधा भोगो। दुःख को ही तुम्हारा ध्यान बन जाने दो। तो उस मृत्यु से तुम निखर कर बाहर आओगे। तुम आग से गुजर जाओगे, तुम्हारा सोना निखर जाएगा; वैराग्य का उदय होगा। फिर तुम्हें मुझसे नहीं—किसी से भी नहीं—पूछना पड़ेगा कि वैराग्य गहरा कैसे हो? वैराग्य गहरा हो जाएगा।

एक मौत को भी तुम ठीक से देख लो, तो जिन्दगी व्यर्थ हो जाती है। एक सूखा पत्ता वृक्ष से गिरता हुआ भी तुम ठीक से समझ लो, तो जिन्दगी में कुछ पाने जैसा नहीं रह जाता।

लेकिन नहीं; जब कोई मरता है, तब तुम अपने को समझाने में लग जाते हो। और जब कोई मर भी जाता है, तब भी तुम यही सोचते हो कि दुर्घटना है।

मौत जीवन का वास्तविक तथ्य है—दुर्घटना नहीं। यह कोई संयोग नहीं है। यह होने ही वाला है; यह जीवन की नियति है।

जब कोई मरता है, तो तुम ऐसा सोचते हो कि कुछ भूल-चूक हो गई, कहीं कुछ गड़बड़ हो गई, कुछ कर्म का फल रहा होगा। तुम यह बात भूल रहे हो कि मौत हर जीवन के पीछे लगी ही है; होगी ही; उससे ज्यादा निश्चित और कुछ भी नहीं है। वही एक-मात्र निश्चित तथ्य है।

फिर जब कोई दूसरा मरता है, तब तुम्हें कभी खयाल नहीं आता कि यह मेरे मरने की भी खबर है। तब तुम दूसरे पर दया करने का विचार करते हो कि बड़ा बुरा हुआ; बेचारा! तुम्हें यह खयाल कभी भी नहीं आता की कोई भी जब मरता है, तब तुम ही मर रहे हो।

लेकिन हर आदमी यह सोचकर चलता है कि हमेशा दूसरा मरता है। मैं तो कभी मरता नहीं। और एक लिहाज से आपका तर्क ठीक भी है। क्योंकि अभी तक तो आप मरे नहीं। इसलिए...।

मैंने सुना है कि एक आदमी एक पक्षियों की दुकान से एक तोता खरीद कर ले गया। दूसरे दिन ही वापस आया और तोता बेचने वाले पर नाराज होने लगा और कहा कि 'तुमने किस तरह का तोता दिया! वह घर जा कर मर गया।' तो उस दुकानदार ने कहा, 'लेकिन यह मैं मान ही नहीं सकता, क्योंकि ऐसी हरकत उसने इसके पहले कभी नहीं की। तोता यहाँ भी था, महीनों तक रहा, ऐसी हरकत उसने पहले कभी की नहीं। इसलिए मैं भरोसा कर ही नहीं सकता।'

आपका भी तर्क यही है। अभी तक आप मरे नहीं, तो भरोसा कैसे कर सकते हैं कि मर जाएँगे। और जो अब तक नहीं हुआ, वह आगे भी क्यों होगा?

जब दूसरा मरता है, तब भी आप सोचते हैं : दूसरा मरता है। तब आपको खयाल नहीं आता है कि मैं भी मरूँगा; या मैं भी मर रहा हूँ; या यह खबर मेरी मौत की खबर है। अगर आप दुःख को ठीक से जीयें, तो हर मौत आपको अपनी मौत मालूम पड़ेगी। तब वैराग्य गहरा हो जाएगा।

जब कोई दूसरा असफल होता है या जब आप खुद भी असफल होते हैं जीवन में, तो आप सोचते हैं : संयोग ठीक न थे; भाग्य साथ न था; दूसरे लोगों ने बेईमानी की, चालबाजी की—चार सौ बीस थे, इसलिए वे सफल हुए; मैं असफल हुआ। लेकिन आप यह कभी नहीं देख पाते हैं कि पूरा जीवन असफलता है। इसमें सफल होना होता ही नहीं। लेकिन कोई तरकीब आप निकाल लेते हैं।

मुल्ला नसरुद्दीन एक गाँव से गुजर रहा है। कोई मर गया है; घर के आसपास भीड़ है; लाश सामने रखी है। नसरुद्दीन भूखा है। छोटा गाँव है। सारा गाँव वहीं इकट्ठा है। कोई भोजन देने के लिए भी अभी उत्सुक नहीं होगा। अभी कोई मेहमान बनाने की भी तैयारी में नहीं है। और गाँव इतने दुःख में है कि वह बात भी करे कि मुझे भूख लगी है, कि मुझे भोजन चाहिए, तो भद्दा मालूम पड़ेगा।

वह भी भीड़ में जा कर खड़ा हो गया और उसने पूछा कि 'क्या बात है? क्यों रो रहे हो?' तो उन्होंने कहा कि 'क्यों रो रहे हैं, यह भी पूछने की कोई बात है? घर का आदमी मर गया है। गाँव भर का प्यारा था।'

नसरुद्दीन ने कहा कि 'मैं उसे जिला सकता हूँ, लेकिन अभी मैं भूखा हूँ। पहले मेरा पेट भर जाय, मैं स्नान कर लूँ, पूजा-पाठ कर लूँ; इसे मैं जिला सकता हूँ। रोने की कोई जरूरत नहीं है।'

भूख में ऐसा कह तो गया, फिर जब पेट भर गया, हाथ-मुँह धोकर पूजा-पाठ जब उसने की, तब पूजा-पाठ कर नहीं सका, क्योंकि अब उसको झंझट मालूम हुई कि अब क्या करना? कहीं मरा हुआ कभी कोई जिन्दा हुआ है?

फिर भी वह आया, लाश के पास बैठा; और उसने कहा कि 'यह आदमी कौन था? इसका धंधा क्या था? और यह आदमी...?' लोगों ने बताया, 'जाहिर आदमी है, यह बड़ा नेता था; राजनीति इसका धंधा थी।' नसरुद्दीन क्रोध से खड़ा हो गया, उसने कहा कि 'नालायकों, मेरा समय खराब किया; राजनीतिज्ञ मर कर कभी जिन्दा नहीं होते। तुम्हें पहले ही बताना था; नाहक मेरा समय खराब करवा दिया। अब तक मैं दूसरे गाँव पहुँच गया होता।'

आप भी जिन्दगी में बहाने खोज रहे हैं। कभी यह, कभी वह। लेकिन हमेशा समझा लेते हैं, अपने को—कि असफलता का कोई कारण है।

बुद्ध का वैराग्य गहरा हुआ, क्योंकि बुद्ध ने अपने को समझाया नहीं, बल्कि सीधा

देखा और पाया कि जीवन पूरी की पूरी असफलता है; इसमें कारण की कोई जरूरत नहीं है।

यहाँ कुछ भी करो, सफलता तो हो नहीं सकती, क्योंकि यहाँ कुछ भी करो, सुख तो मिल नहीं सकता। यहाँ कुछ भी करो, कहीं पहुँचना नहीं हो सकता। स्वप्नवत है।

जो सीधा देखना शुरू करेगा, उसका वैराग्य गहरा हो जाता है। और वैराग्य के बिना गहरा हुए, कोई शास्त्र सहयोगी नहीं है; कोई गुरु अर्थ का नहीं है। वैराग्य गहरा हो, तो गुरु से संबंध हो सकता है। वैराग्य गहरा हो, तो शास्त्र का अर्थ प्रगट हो सकता है। और वैराग्य गहरा हो, तो गुरु भी न हो, शास्त्र भी न हो, तो पूरा जीवन ही गुरु और शास्त्र बन जाता है।

लेकिन वैराग्य को गहरा करने की तरकीबें नहीं हैं।

वैराग्य को गहरा करने का एक ही मार्ग है—आपका अनुभव; पूरी सचाई में जीया जाय—जो भी अनुभव हो : सुख का हो, दुःख का हो; संताप हो, चिंता हो; असफलता हो—जो भी अनुभव हो, उसे पूरी तरह जीया जाय, होशपूर्वक जीया जाय। वह अनुभव ही आपको बतायेगा कि जीवन व्यर्थ है, छोड़ देने योग्य है। पकड़ने योग्य यहाँ कुछ भी नहीं है।

अब हम सूत्र को लें।

'उस स्वयं प्रकाशमय परमपद को न सूर्य प्रकाशित कर सकता है, न चन्द्रमा आर न अग्नि ही। तथा जिस परमपद को प्राप्त हो कर मनुष्य पीछे संसार में नहीं आते वही मेरा परम धाम है।'

पहली बात : इस जगत् में जो भी हम देखते हैं, वह दूसरे से प्रकाशित है। आप मुझे देख रहे हैं; बिजली बुझ जाय, फिर आप मुझे नहीं देख सकेंगे। मैं आपको देख रहा हूँ; बिजली बुझ जाय, फिर मैं आपको नहीं देख सकूँगा। आप हैं, लेकिन कोई और चीज चाहिए—जिसके द्वारा आप प्रकाशित ह।

दिन में दिखाई पड़ता है, रात में दिखाई नहीं पड़ता। आँख तो होती है, चीजें भी होती हैं, लेकिन सूरज नहीं होता।

सभी चीजें 'पर-प्रकाश' चाहती हैं। कोई और चाहिए, जो प्रकाशित कर सके। कृष्ण कह रहे हैं : लेकिन मेरा परम धाम वहाँ है, जहाँ न तो सूर्य के प्रकाश की कोई जरूरत है; न चन्द्र के प्रकाश की कोई जरूरत है; न अग्नि की कोई जरूरत है; जहाँ दूसरे प्रकाश की कोई जरूरत नहीं है। मेरा परमधाम स्व-प्रकाशित है, सेल्फ इल्युमिन्ड है।

यह बात बड़ी समझ लेने जैसी है; क्योंकि यह बहुत गहरा और मौलिक आधार है—समस्त साधना का। और इसकी खोज ही साधक का लक्ष्य है।

ऐसी कौन-सी घटना है, जो स्व-प्रकाशित है? ऐसा क्या अनुभव है, जो स्व-प्रकाशित है?

आप आँख बंद कर लें तो मैं नहीं दिखाई पड़ूँगा। लेकिन आप तो अपने को दिखाई पड़ते ही रहेंगे। शरीर दिखाई नहीं पड़ेगा, लेकिन स्वयं का होना तो प्रतीत होता ही रहेगा। दीया बुझ जाय, मैं आपको दिखाई नहीं पड़ूँगा। लेकिन आप अपने को तो अनुभव करते ही रहेंगे—कि मैं हूँ।

आपके होने के लिए तो किसी और प्रकाश की जरूरत नहीं। तो आपके होने में कोई एक तत्त्व चेतना का है, जो स्वयं प्रकाशित है; जिसका होना अपने आप में काफी है। यह जो चेतना की हल्की-सी झलक आपके भीतर है, यही झलक जब पूरी प्रगट हो जाती है, तो कृष्ण कहते है : 'वह परम धाम मेरा है; वही मैं हूँ।'

'उस स्वयं प्रकाशमय परपमद को न तो सूर्य प्रकाशित कर सकता है, (न करने की कोई जरूरत है।) न चन्द्रमा और न अग्नि, तथा जिस परमपद को प्रात होकर मनुष्य पीछे संसार में नहीं आते, वही मेरा परमधाम है।'

यहाँ कृष्ण कह रहे हैं कि जितना ही व्यक्ति चेतन होता चला जाता है, उतना ही वह परमधाम की तरफ गति करता है। और जिस दिन परम चैतन्य प्रगट होता है, उस परम चैतन्य को प्रकाशित करने के लिए किसी की भी कोई जरूरत नहीं है; वह स्व-प्रकाशित है।

और एक ही बात इस जगत में स्व-प्रकाशित है, वह स्वयं का होना है। उसके लिए किसी प्रमाण की कोई जरूरत नहीं है। उसको असिद्ध करने का भी कोई उपाय नहीं है। अगर आप यह भी कहें कि मैं नहीं हूँ, तो कोई फर्क नहीं पड़ता। आपके 'नहीं हूँ' कहने से सिर्फ आपका होना ही सिद्ध होता है।

अंधा आदमी भी अपने को अनुभव करता है। अंधेरे में भी आप अपने को अनुभव करते हैं। आपकी आँखें चली जायँ, आपके कान खो जायँ, आपके हाथ काट दिये जायँ, आपकी जीभ काट दी जाय, आपकी नाक नष्ट कर दी जाय, तो भी आप अपना अनुभव कर सकते हैं; तो भी आप होंगे और आपकी प्रतीति में रत्ती भर का भी फर्क नहीं पड़ेगा। क्योंकि आँखों से दूसरे देखे जाते हैं—स्वयं नहीं। कानों से दूसरे सुने जाते हैं—स्वयं नहीं। सारी इन्द्रियाँ भी खो जायँ, तो भीतर के होने में जरा भी अंतर नहीं पड़ता।

वह जो भीतर का होना है, वहाँ कोई प्रकाश नहीं है, फिर भी आप जानते हैं कि आप हैं। और आप कभी भीतर नहीं गये हैं। अगर आप भीतर जायँ, तो आपको वहाँ भी प्रकाश का अनुभव होना शुरू हो जाएगा।

ध्यान में जो लोग भी गति किये हैं, उन सभी का अनुभव प्रकाश का अनुभव है। वे किस प्रकाश को जानते हैं?

कबीर कहते हैं कि जैसे आकाश में बिजलियाँ चमक रही हैं, ऐसा मेरे भीतर कुछ हो रहा है। दादू कहते हैं कि जैसे हजार सूरज एक साथ उग गये हों, ऐसा मेरे भीतर कुछ उग आया है।

फिर चाहे मुसलमान फकीर हों, ईसाई फकीर हों—सभी फकीरों का अनुभव है कि जब भीतर ध्यान की गहराई उतरती है, तो परम प्रकाश का अनुभव होता है।

वह प्रकाश न तो सूरज का है, न अग्नि का है, न चाँद का है। वह प्रकाश कहाँ से आता है?

वह प्रकाश कहीं से भी नहीं आता; आप स्वयं ही वह प्रकाश हैं। आपका होना ही वह प्रकाश है। इस प्रकाश को कह रहे हैं कृष्ण कि 'वह मेरा परम धाम है। और जो उस स्थिति को उपलब्ध हो जाता है, वह इस संसार में वापस नहीं लौटता।' वही मूलस्रोत है, वही उद्गम है।

'और हे अर्जुन, इस देह में यह जीवात्मा मेरा ही सनातन अंश है। और वही इन त्रिगुणमयी माया में स्थित हुई मन सहित पाँचों इन्द्रियों को आकर्षण करता है।'

उस स्व-प्रकाशित ज्योति-पुंज का एक हिस्सा ही प्रत्येक देह के भीतर छिपा है। इसे हम ऐसा समझें :

आप आँख बंद कर लें, तो आप अपने विचारों को देख सकते हैं। आँख बंद है; विचार देखे जा सकते हैं। कौन देखता है? भीतर क्रोध उठे, काम-वासना उठे; आप उसे भी देख सकते हैं। कौन देखता है? वह जो देखने वाला है, उसको आप नहीं देख सकते।

जिस-जिस को आप देख सकते हैं, वह-वह आप नहीं हैं; यह गणित है। और जो सब को देखता है, लेकिन स्वयं नहीं देखा जा सकता, वह आप है। वही आपका मूल उत्स है। उससे पीछे जाने का कोई उपाय नहीं। नहीं तो उसको भी आप देख लेते। उससे पीछे खड़े हो जाते, उसको भी देख लेते। लेकिन उसे आप नहीं देख सकते। और सब देख सकते हैं।

शरीर देखा जा सकता है; मन के विचार देखे जा सकते हैं; हृदय की भावनाएँ देखी जा सकती हैं; कुंडलिनी के अनुभव देखे जा सकते हैं—सब देखा जा सकता है। जो भी देखा जा सकता है, वह आपका स्वभाव नहीं है। देखने वाला जो है, वही आपका स्वभाव है। वह जो द्रष्टा है, वह इररिडयूसिबल है। उसे आप दृश्य नहीं बना सकते। उसको आप विषय नहीं बना सकते। वह हमेशा विषयी है। वह हमेशा सब्जेक्ट है; वह ऑब्जेक्ट नहीं हो सकता।

जैसे ही सारे विषय खो जाते हैं, और सिर्फ जाननेवाला ही रह जाता है, और जानने को कुछ नहीं बचता, परम प्रकाश का उदय होता है।

यह परम प्रकाश बाहर से नहीं आता—न सूरज से, न चाँद से; यह आपके भीतर ही छिपा है।

सूरज भी चुक जाएगा। उसकी गरमी भी कम होती है। यह बिजली भी चुक जाएगी। दीया जलता है, तेल चुक जाएगा; दीया बुझ जाएगा। सिर्फ एक ज्योति है, जो कभी नहीं बुझती, क्योंकि वह बिना ईंधन के जलती है, वह चेतना की ज्योति है। कोई तेल उसे नहीं जलाता। कोई ईंधन, कोई पेट्रोल, कोई बिजली, कोई हिलियम गैस उसे नहीं जलाता। इसलिए उसके समाप्त होने का कोई उपाय नहीं। वह शाश्वत है।

वैज्ञानिक बड़ी खोज करते हैं कि कोई ऐसा प्रकाश उपलब्ध हो जाय, जो बिना ईंधन के चले। क्योंकि सब ईंधन चुकते जाते हैं। सब ईंधनों की सीमा है। कोयला खत्म होता जाता है, पेट्रोल खत्म होता जाता है। आज नहीं कल सब ईंधन चुक जाएँगे। और आदमी बिना ईंधन के जी नहीं सकता। तो बड़ी कठिनाई खड़ी हो गई है। वैज्ञानिक सोचते हैं कि ईंधनरहित कोई प्रकाश मिल जाय।

और कृष्ण उसी प्रकाश की बात कर रहे हैं। वह प्रकाश प्रत्येक के भीतर है। लेकिन उसे यंत्र से पैदा करने का कोई भी उपाय नहीं है। चैतन्य उसी प्रकाश का नाम है।

'इस देह में यह जीवात्मा मेरा ही सनातन अंश है, उस परम प्रकाश का ही अंश है। और वही इन त्रिगुणमयी माया में स्थित हुई मन सहित पाँचों इन्द्रियों को आकर्षण करता है।'

और यह जो चेतना का अंश आपके भीतर है, यही आपकी पाँचों इन्द्रियों को अपने में आकर्षित किये हुए है, सम्हाले हुए है। यह थोड़ा समझने जैसा है। क्योंकि बड़ी भ्रांति है इस संबंध में।

आमतौर से आदमी सोचता है कि इन्द्रियों ने मुझे बाँधा हुआ है, और कृष्ण कह रहे हैं कि आप ही इन्द्रियों को पकड़े हुए हैं। इन्द्रियाँ आपको क्या बाँधेंगी? इन्द्रियाँ जड़ हैं, वे आपको बाँधें—इसका कोई उपाय नहीं है। आप बँधे हुए हैं और यह आपका ही संकल्प है; यह आपका ही निर्णय है। इस निर्णय की बड़ी प्रक्रिया है।

आप रूप देखना चाहते हैं; रूप देखने की जो वासना है, वह आपकी आँखों को आप से बाँधे रखती है। उस वासना के रज्जु से आँख बँधी रहती है। अगर आपकी देखने की इच्छा खो जाय, आप इसी क्षण अंधे हो जाएँगे।

मेरे पास एक युवती को लाया गया। वह अचानक अंधी हो गई और चिकित्सकों ने जाँच की और पाया की उसकी आँख में कोई शारीरिक भूल-चूक नहीं है। आँख बिलकुल ठीक है, इसलिए इलाज का कोई उपाय नहीं है। और चिकित्सकों ने कहा कि यह तो मानसिक अंधापन है। कुछ किया नहीं जा सकता।

किसी ने सुझाव दिया; उसके माँ-बाप उस युवती को मेरे पास ले आये। मैंने उससे पूछा की 'कैसे हुआ? क्या हुआ?' क्योंकि अगर मानसिक घटना है, तो उसका इतिहास होगा, क्योंकि मन तो अतीत से काम करता है, मन तो अतीत है। तो मैंने माँ-बाप को कहा कि 'आप जायँ; मैं उस युवती से अलग ही बात कर लूँ।'

उससे पूछ-ताछ की; खोजा-बीना तो पता चला कि पड़ोस के युवक से उसका प्रेम है। और उसके बीना वह नहीं रह सकती। लेकिन वह ब्राह्मण की लड़की है। पड़ोस में जो व्यक्ति है, वह ब्राह्मण तो है ही नहीं, हिंदू भी नहीं है। यह प्रेम चलाया नहीं जा सकता। यह विवाह हो नहीं सकता। तो सब तरफ से माँ-बाप ने रोक लगा दी; और दोनों के मकान के बीच छत पर एक बड़ी दीवाल खड़ी कर दी, जिससे कि आर-पार देखा न जा सके। जिस दिन दीवाल बनी है, उसी दिन से उसकी आँखें चली गयी हैं।

मैंने उसको पूछा कि 'तेरे भीतर क्या भाव है?' उसने कहा कि 'जिसे मैं देखने के लिए जीती हूँ, अगर उसे न देख सकूँ, तो इन आँखों का कोई अर्थ नहीं है।'

चिकित्सक इसका इलाज न कर सकेंगे। क्योंकि उसकी देखने की इच्छा ही वापस लौट गयी है। तो आँखें निर्जीव पड़ी रह गयी हैं। आँखों से देखने की इच्छा का जो प्रवाह है, वही आँखों में जीवन देता है।

मैंने उनके माँ-बाप को कहा कि 'उपाय एक ही है: वह दीवाल बीच से गिरा दो। औरजो-जो बंधन खड़े किये हैं; वह वह हटा दो। या फिर यह लड़की अंधी रहेगी—इसे स्वीकार कर लो।

उनको बात समझ में आ गयी—जो कि बड़ा चमत्कार है। क्योंकि माँ-बाप की समझ में कुछ आ जाय...! तो वे राजी हो गये। दीवाल नहीं गिरानी पड़ी; उनके राजी होने से ही—मेरे सामने ही बैठे-बैठे उस लड़की की आँखें वापस आ गयीं। उनमें फिर से देखने की इच्छा प्रवाहित हो गयी।

आप आँखों को पकड़े हैं, क्योंकि देखना चाहते हैं। कान को पकड़े हैं, क्योंकि सुनना चाहते हैं। हाथ को पकड़े हैं, क्योंकि छूना चाहते हैं।

आपकी चाह आपकी इन्द्रियों के और आपके बीच सेतु है। इसलिए बुद्ध ने कहा है कि आँखें मत फोड़ो; कान बंद करने से कुछ भी न होगा। चाह को गिरा दो, चाह को हटा दो, तो इन्द्रियों से संबंध धीरे-धीरे अपने आप छूट जाता है।

ध्यान रहे: आप आमतौर से यही सुनते रहे हैं कि इन्द्रियों ने आपको बाँधा है, इन्द्रियाँ दुश्मन हैं। और कृष्ण बिलकुल उलटी बात कह रहे हैं। कृष्ण कह रहे हैं कि आपने इन्द्रियों को चाहा है; उनका उपयोग किया है। आपने ही उनको खींचा और आकर्षित किया है, इसीलिए वे हैं। और जिस दिन आप निर्णय करेंगे, जिस दिन आपका रुख बदल जाएगा, आपकी धारा भीतर बहने लगेगी, उसी दिन इन्द्रियाँ तिरोहित हो जाएँगी।

इन्द्रियों को दोष मत दें। दोष किसी का भी नहीं है। आपका संकल्प है। आपकी चेतना ने इस शरीर में रहना चाहा है, इसलिए शरीर में है। जिस दिन नहीं रहना चाहेगी, उसी दिन शरीर छूट जाएगा।

अगर यह बात खयाल में आ जाय, तो इन्द्रियों से जो दुश्मनी चलती है, वह बंद हो जाय। वह मूढतापूर्ण है। उसका कोई भी मूल्य नहीं है। और वह गलत है। उसके परिणाम भयानक हैं। क्योंकि आप इन्द्रियों से लड़ने में शक्ति गँवा देते हैं। और लड़ाई वहाँ अर्थहीन है। लड़ाई कहीं और होनी चाहिए। लड़ाई होनी चाहिए कि मेरा इन्द्रियों को पकड़ने का रुख कम हो जाय।

'मन सहित पाँचों इन्द्रियों को वही आकर्षण करता है। वायु गन्ध के स्थान से गन्ध को जैसे ग्रहण करके ले जाता है, वैसे ही देहादिकों का स्वामी जीवात्मा भी जिस पहले शरीर को त्यागता है, उससे इन मन सहित इन्द्रियों को ग्रहण करके फिर जिस शरीर को प्राप्त होता है, उसमें जाता है।'

जब आप मरते हैं, तब भी आप सूक्ष्म इन्द्रियों को अपने साथ ले जाते हैं। जैसे हवा फूलों की गन्ध को अपने साथ ले जाती है। फूल को तो नहीं ले जा सकती; फूल तो पीछे रह जाता है, लेकिन हवा का झोंका फूल की गन्ध को अपने साथ ले जाता है। आपकी चेतना शरीर को तो नहीं ले जा सकती, लेकिन शरीर को पकड़ने की जो वासना है, उसको गन्ध की तरह अपने साथ ले जाती है। उसी वासना को हिंदुओं ने सूक्ष्म इन्द्रियाँ कहा है। आँख स्थूल इन्द्रिय है; देखने की वासना सूक्ष्म इन्द्रिय है। जीभ स्थूल इन्द्रिय है; स्वाद की आकांक्षा सूक्ष्म इन्द्रिय है। फूल तो पड़े रह जाते हैं।

आप जान कर चकित होंगे कि हिंदू मरे हुए आदमी के शरीर की हड्डियाँ मरघट से उठा कर लाते हैं, तो उनको फूल कहते हैं। बिलकुल प्यारा शब्द है।

फूल पड़े रह जाते हैं, लेकिन गन्ध आपके साथ चली जाती है। और वह जो गन्ध आपके साथ चली जाती है, वह नये जन्मों की तलाश करती है। वह नये शरीर खोजती है; नये गर्भ खोजती है। और जैसी आपकी वासना होती है, वैसा गर्भ आपको उपलब्ध हो जाता है।

जो आप होना चाहते हैं, जो आप होना चाहने की कामना इकट्ठी करते हैं, वही संगृहीतभूत हो जाती है, वही क्रिस्टलाइज हो जाती है। नयी देह का निर्माण...आप नयी देह को पकड़ लेते हैं।

यह तब तक चलता रहेगा, जब तक हवा गन्ध को ले जाती रहेगी। यह उस दिन

बंद हो जाएगा, जिस दिन हवा फूल को ही नहीं छोड़ेगी, गन्ध को भी छोड़ देगी। हवा खाली उड़ जाएगी।

बुद्ध ऐसे ही उड़ते हैं। महावीर ऐसे ही उड़ते हैं। फूल भी छोड़ जाते हैं, गन्ध भी छोड़ जाते हैं। फिर कोई देह उपलब्ध नहीं होती, फिर कोई गर्भ उपलब्ध नहीं होता। फिर किसी शरीर में प्रवेश का उपाय नहीं रह जाता। प्रवेश का उपाय आपको साथ ले कर चलना पड़ता है।

'और उस शरीर में स्थित हुआ यह जीवात्मा, श्रोत्र, चक्षु और त्वचा को तथा रसना, घ्राण और मन को आश्रय करके अर्थात् इन सबके सहारे से ही विषयों का सेवन करता है।'

फिर यात्रा शुरू हो जाती है। फिर वही भोग शुरू हो जाता है। फूल बदल जाते हैं—गंध की यात्रा चलती रहती है। इंद्रियाँ बदल जाती हैं, वासना की यात्रा चलती रहती है।

इंद्रियों को छोड़ना नहीं है, वासनाओं को छोड़ देना है। इंद्रियाँ अपने से छूट जाती हैं। लेकिन हमें इंद्रियाँ छोड़ना आसान मालूम पड़ता है। कोई भोजन छोड़ देता है; कोई भोजन में नमक छोड़ देता है; कोई भोजन में घी छोड़ देता है; कोई भोजन से शक्कर छोड़ देता है; कोई आँखें नीची करके चलने लगता है; कोई स्त्री के स्पर्श से भयभीत हो जाता है; कोई कीमती वस्त्र का स्पर्श नहीं करता। यह इंद्रियों का छोड़ना है।

यह वैसे ही है, जैसे कोई जीवन से ऊबा हुआ आदमी आत्म-हत्या कर ले। पर आत्म-हत्या से जीवन समाप्त नहीं होता; सिर्फ देह बदलती है। मरे नहीं—कि नया शरीर ग्रहण हो जाएगा। और आत्म-हत्या करने वाले को और भी विकृत देह उपलब्ध होने की संभावना है। क्योंकि जिसने अपने को नष्ट करना चाहा, उसका चित्त विकृत अवस्था में है। और इस विकृति की छाप उसके ऊपर रहेगी—आत्म-हत्या की।

आपने अपने को आग लगाकर जला लिया। तो एक क्षण में तो नहीं जल जाएँगे। जलने के पहले सोचेंगे, विचारेंगे, तब विकृति भीतर इकट्ठी होगी। फिर आग लगायेंगे। फिर तड़पेंगे। फिर उस तड़पती हुई आग में बचाना भी चाहेंगे, और बच भी न सकेंगे। पुकारेंगे, चीखेंगे, सोचेंगे कि भूल हो गयी; बड़ा विषाद उत्पन्न होगा, बड़ा संताप, बड़ी पीड़ा होगी और उस पीड़ा में मरेंगे।

इस पीड़ा की छाप—ये कुंठित वासनाएँ, ये जलती हुई आग की लपटें—सब की गन्ध आपके साथ चली जाएगी। गन्ध तो जाएगी ही, दुर्गन्ध भी जाएगी, उत्तप्तता भी जाएगी। और नया गर्भ आप लेंगे, वह गर्भ भी विकृत और उत्तप्त होगा। उसमें भी आप अपंग पैदा होंगे, अंधे पैदा होंगे, टूटे-फूटे पैदा होंगे; खंडहर की

तरह पैदा होंगे। क्योंकि खंडहर करने की जो चेष्टा आपने की, उसका संस्कार अपने साथ ले आये। लेकिन यह तो हमारी समझ में आ जाता है कि इस तरह कोई अपने को आत्मघात करे तो पाप है, बुरा है और उसके दुष्परिणाम होंगे। लेकिन छोटी-छोटी आत्महत्याएँ लोग करते हैं, वे हमारी समझ में नहीं आते हैं।

एक आदमी आँखें बंद करके बैठ जाता है। वह एक बटे पाँच—$\frac{1}{5}$—आत्महत्या हुई, क्योंकि पाँच इन्द्रियाँ हैं; एक आदमी ने पाँचों को जला ली, एक आँख बंद करके बैठ गया।

सूरदास की हमने कथा सुनी है, अगर सूरदास ढंग के आदमी रहे हों, तो कथा झूठी होनी चाहिए। अगर कथा सच्ची हो तो सूरदास ढंग के आदमी नहीं हो सकते।

कथा है कि एक सुंदर युवती को देख कर उन्होंने अपनी आँखें फोड़ लीं। यह तर्क तो समझ में आता है। इस तरह के बहुत सूरदास हैं।

लेकिन सुंदर स्त्री की जो वासना उठती है, वह सुंदर स्त्री से नहीं उठ रही है, वह मेरे भीतर से उठ रही है। वह मेरी आँखों से भी नहीं उठ रही। आँखों में मेरे भीतर से आ रही है; आँखों से गुजर रही है। उस सुंदर स्त्री को शायद पता भी न हो कि कोई उसके पीछे सूरदास हो गया।

और इन आँखों का कोई कसूर भी न था। आँखें तो वहीं गयीं, जहाँ मैं ले जाना चाहता था। आँखों ने वही देखा, जो मैं देखना चाहता था। आँखों ने वही चाहा, जो मेरी चाह थी। आँखें मेरा अनुसरण कर रही हैं। और मैंने आँखें फोड़ दीं। यह आत्म-हत्या हुई—एक बटा पाँच ($\frac{1}{5}$)। इस तरह के आत्म-हत्या करने वालों को हम साधु कहते हैं। मगर यह भी विकृति है। और इस तरह की आत्म-हत्या करने वाला भी दुर्गति को उपलब्ध होता है।

सवाल इन्द्रियों को नष्ट करने का है ही नहीं; सवाल इन्द्रियों से मुक्त होने का है।

और इन्द्रियों ने आपको नहीं बाँधा है, आपने उनको बाँधा है। इसलिए इन्द्रियों का कहीं भी कोई कसूर नहीं है। आपका भी कोई कसूर नहीं है। अगर आप चाहते हैं यही, तो कोई कसूर नहीं है। पर इसे होशपूर्वक होने दें। फिर इसमें प्रसन्न हों। फिर वैराग्य की कामना न करें।

राग की कामना कर रहे हैं, और वैराग्य के सवाल उठाते हैं, तब आप दुविधा में पड़ जाते हैं।

रोज मेरे पास लोग आते हैं, जिनका कष्ट एक ही है : राग और वैराग्य की दुविधा। राग तो उनके जीवन का रस है और किन्हीं सिर-फिरों की बातें सुन कर वैराग्य उनको पकड़ गया है। तो वैराग्य भी उनके सिर में घूम रहा है। और राग उनकी अवस्था है। अब इन दो झंडों के नीचे उनकी यात्रा चल रही है। इससे वे बड़े कष्ट में हैं

और खंडित हो गये हैं, टूट गये हैं—स्प्लिट। दो आदमी हैं उनके भीतर। एक राग की तरफ खींचता है, एक वैराग्य की तरफ खींचता है। इस संताप से कोई आप्त-उपलब्धि होने वाली नहीं है।

वैराग्य और राग साथ-साथ नहीं जी सकते हैं। जब तक राग है, तब तक वैराग्य को पकड़ भी नहीं सकते आप; सिर्फ सोच सकते हैं—शब्दों में। शब्दों में सोचने का कोई अर्थ नहीं है; वह निष्प्राण है।

मुल्ला नसरुद्दीन और उसकी पत्नी में कुछ खटापटी हो गई। बोलचाल बंद हो गया, जैसा पति पत्नी में अकसर हो जाता है। ऐसे तो बोल-चाल चलता है, तब भी बंद ही रहता है। लेकिन कभी-कभी बिलकुल ही बंद हो जाता है।

मुल्ला की पत्नी को सुबह कहीं जाना था जल्दी। सर्दी के दिन थे, तो वह कैसे पति को कहे? और जब भी बोल-चाल बंद होता है, तो पति को ही शुरू करना पड़ता है। पत्नी कभी शुरू नहीं करती। वह स्त्री का स्वभाव नहीं है—पहल करने का—इनीसियेटिव लेने का।

तो पत्नी बड़ी मुश्किल में पड़ी। सर्दी के दिन हैं, सुबह जल्दी उठना है। तो उसने एक कागज पर लिख कर नसरुद्दीन को दिया कि 'मुल्ला, सुबह पाँच बजे मुझे उठा देना।' नसरुद्दीन ने चिट्ठी खीसे में रख दी।

सुबह जब पत्नी की नींद खुली तो वह चकित हुई; सूरज उग चुका था और कोई आठ बज रहे थे। कुछ कह तो सकती नहीं नसरुद्दीन से, क्योंकि बोल-चाल बंद है। आस-पास देखा; एक चिट रखी थी उसके बिस्तर पर—'देवी जी, पाँच बज गये हैं, उठिये।'

बस, आपका वैराग्य ऐसा कागजी हो सकता है। उससे आप उठेंगे नहीं; सोये ही रहेंगे राग में और वैराग्य की चिट्ठियाँ आपके आस-पास तैरती रहेंगी।

शास्त्र से आया हुआ वैराग्य कागजी होगा।

अपने राग को ठीक से समझें। और यह भी समझें कि मेरा संकल्प है। यह मैंने ही तय किया है। चाहे अनंत जन्मों पहले तय किया हो; यह मेरा ही निर्णय है कि मैं शरीर की यात्रा पर जाता हूँ; इस संसार के सागर में उतरता हूँ; इस संसार के वृक्ष में डूबता हूँ; यह मेरा निर्णय है। मैं नियंता हूँ। जिस दिन मैं यह निर्णय बदलूँगा, उसी दिन धारा बदल जाएगी।

'कोई मुझे ले जा नहीं रहा है'—यह हिंदू विचार अनूठा है। 'कोई मुझे ले जा नहीं रहा है, मैं मालिक हूँ—इस गुलामी में भी मैं मालिक हूँ। मैं जा रहा हूँ—यह मेरा चुनाव है। और अगर इस गुलामी को भी मैंने चुना है, तो जिस क्षण मैं चाहूँ, उसी क्षण तोड़ सकता हूँ।' यह ध्यान आते ही रुख बदल जा सकता है।

इसलिए एक क्षण में समाधि लग सकती है, और एक क्षण में बोध उत्पन्न हो सकता है।

बुद्ध होने के लिए अनंत जन्मों की जरूरत नहीं है। एक क्षण में भी घटना घट सकती है।

कृष्ण यही अर्जुन को कह रहे हैं कि 'मेरा ही अंश तेरे भीतर है, सब के भीतर है। उसी अंश ने इन्द्रियों को पकड़ा है। और वही अंश उन इन्द्रियों की गन्ध को ले जाता है—नयी यात्राओं पर। जिस क्षण तू जान लेगा कि तेरा संकल्प ही यात्रा है, उस क्षण तू चाहे तो यात्रा रुक सकती है। और अगर तू यात्रा करना चाहे, तो कर सकता है। लेकिन तब यात्रा खेल होगी; तब यात्रा लीला होगी। क्योंकि तू ही कर रहा है; कोई करवा नहीं रहा है। तेरी ही मौज है।'

इस संबंध में यह बड़ी ही क्रांतिकारी बात है। क्योंकि ईसाई सोचते हैं : ईश्वर ने दंड दिया आदमी को, इसलिए संसार है। आदम ने भूल की, पाप किया, गुनाह किया, तो निष्कासित किया आदम को। मुसलमान भी वैसा ही सोचते हैं। जैन सोचते हैं कि आदमी ने कोई पाप किया, कोई कर्म-बंध किया, उसकी वजह से भटक रहा है। बुद्ध भी ऐसा ही सोचते हैं।

हिंदुओं का सोचना बहुत अनूठा है। हिंदू-चिंतना यह है कि यह तुम्हारा संकल्प है। न तुम्हारा पाप है, न किसी ने तुम्हें दंड दिया है, न कोई दंड देने वाला बैठा है। और पाप तुम करोगे कैसे? कभी तो तुमने शुरुआत की होगी? कभी तो पहले दिन 'तुमने' किया होगा—बिना किसी पिछले कर्म के। आज हो सकता है कि मैं कर रहा हूँ—पिछले जन्म के कर्मों के कारण; पिछले जन्म में—और पिछले जन्म के कर्मों के कारण। लेकिन प्रथम क्षण में तो बिना किसी कर्म के मैंने कुछ किया होगा। वह मेरा संकल्प रहा होगा। वह मैंने चाहा होगा।

अगर यह मेरी चाह से ही संसार का वृक्ष है, तो मेरी चाह से ही समाप्त हो जा सकता है।

राग संसार में उतरने का संकल्प है, वैराग्य संसार से पार होने का संकल्प है।

आज इतना ही।

समर्पण की छलाँग • सत्संग की संक्रामकता
अहंकार और हीनता की ग्रंथि • सचेतन मृत्यु और भाव-शुद्धि

चौथा प्रवचन

बम्बई, रात्रि, दिनांक ८ मार्च, १९७४

उत्क्रामन्तं स्थितं वापि भुञ्जानं वा गुणान्वितम्।
विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः ॥ १० ॥

यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम्।
यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः ॥ ११ ॥

परंतु शरीर छोड़कर जाते हुए को अथवा शरीर में स्थित हुए को और विषयों को भोगते हुए को अथवा तीनों गुणों से युक्त हुए को भी अज्ञानी जन नहीं जानते हैं, केवल ज्ञानरूप नेत्रोंवाले ज्ञानीजन ही तत्त्व से जानते हैं।

योगीजन भी अपने हृदय में स्थित हुए इस आत्मा को यत्न करते हुए ही तत्त्व से जानते हैं और जिन्होंने अपने अन्तःकरण को शुद्ध नहीं किया है, ऐसे अज्ञानीजन तो यत्न करते हुए भी इस आत्मा को नहीं जानते हैं।

पहले कुछ प्रश्न।

• पहला प्रश्न : किसे समर्पण करें? किसे समर्पण करना चाहिए—उसकी कैसे तसल्ली हो? और तब तक क्या जारी रखें?

तसल्ली कभी भी न होगी। क्योंकि जो मन तसल्ली माँगता है, तृप्त होना उसका स्वभाव नहीं। वह भूल-चूक खोज ही लेगा।

आप बुद्ध के पास से भी गुजरे हैं—कृष्ण के पास से भी, महावीर के पास से भी। आप पहली दफा पृथ्वी पर नहीं हैं। तसल्ली कोई आपको दे नहीं पाया। अगर किसी ने भी तसल्ली दी होती तो आप यहाँ होते नहीं।

भूलें आपने सब में खोज ली हैं। इसलिए नहीं कि भूलें थीं। इसलिए कि भूल खोजने में आप पारंगत हैं, कुशल हैं। जहाँ भूल न हो, वहाँ भी आप देख ले सकते हैं। फिर व्याख्या आपके ऊपर निर्भर है। तथ्य तो केवल उन्हें दिखाई पड़ते हैं, जिनका मन खो गया। आप तो तथ्य की व्याख्या करते हैं। और आपको वही दिखाई पड़ता है, जो आप देखना चाहते हैं—जो आप देख सकते हैं।

मेरे एक मित्र हाईस्कूल में ड्राइंग शिक्षक थे। किसी कारण से उनको जेल हो गई। जब वे वापस लौटे और मैं गाँव गया, तो मैंने उनसे पूछा कि 'जेल का जीवन कैसा रहा?' उन्होंने कहा, 'और सब ठीक था, लेकिन जेल की मेरी कोठरी थी, उसके कोने नब्बे डिग्री के नहीं थे।'

ड्राइंग के शिक्षक...। उन्हें बड़ी तकलीफ रही होगी। वह जो दीवाल के कोने थे, नब्बे डिग्री के नहीं थे!

आप पर निर्भर होता है : आप क्या देखेंगे। आप पर निर्भर है : आप कैसी व्याख्या करेंगे।

महावीर के पास से आप गुजरें, तो हो सकता है उनका नग्न खड़ा होना आपको कठिनाई में डाल दे। शायद आपको लगे कि नग्न खड़ा आदमी, भला कैसे हो सकता है? भले आदमी तो सदा अपने को वस्त्र से ढाँके हुए हैं। इस पर भरोसा न आयेगा, तसल्ली न आयेगी।

जीसस के पास से आप गुजरें, और यह जीसस दावा करता है कि मैं परमात्मा का पुत्र हूँ। आपके अहंकार को चोट लगे कि आपके अतिरिक्त और कोई कैसे परमात्मा का पुत्र होने का दावा कर सकता है! जरूर यह धोखेबाज है, बेईमान है। और फिर जब जीसस को सूली लगेगी, तब भी आप व्याख्या करेंगे। आप कहेंगे : 'न मालूम किन कर्मों का फल भोग रहा है यह आदमी! और अगर सच में ईश्वर का पुत्र है, तो अब सूली पर चमत्कार दिखाना चाहिए।' कोई चमत्कार नहीं हुआ।

मोहम्मद के पास से आप गुजरेंगे, तो भी अपनी व्याख्या ही आप करेंगे। मोहम्मद ने नौ स्त्रियों से शादी कर ली थी। तसल्ली आपको न होगी। आप अपने को ही बेहतर समझेंगे; एक से ही निबटारा कर रहे हैं। इस आदमी ने नौ स्त्रियों से शादी कर लिया है। महा-कामी मालूम पड़ता है!

तसल्ली आपको कोई भी न दे सकेगा। कृष्ण तो आपको बिलकुल तसल्ली न दे सकेंगे। आप में से एक भी उनके द्वारा तसल्ली नहीं पा सकेगा। इतनी सखियाँ हैं! इतना राग-रंग है! नाच है; युद्ध है; धोखा-धड़ी है; बेईमानी है; झूठ बोलना है। सब उनमें है।

अगर आप तसल्ली की तलाश में हैं, तो आपके समर्पण का कोई उपाय नहीं है। सच तो यह है कि तसल्ली की खोज समर्पण से बचने का ढंग है। जिन्हें समर्पण करना है, वे पत्थर को भी समर्पण कर सकते हैं।

और समझ लेने की बात यह है कि वह आदमी समर्पण के योग्य था या नहीं, यह बात ही व्यर्थ है। आपने समर्पण किया—आपको फल मिल जाएगा। वह आदमी गलत भी रहा हो, वह आदमी ठीक न भी रहा हो, योग्य भी नहीं था कि उसके चरणों में आप झुकें। लेकिन उस आदमी का सवाल भी नहीं है। आप झुके, आप झुक सके, तो आप बदल जाएँगे। और अगर समर्पण की तलाश स्वयं को बदलने के लिए है, तो तसल्ली की बात ही मत सोचो।

फिर एक और बात समझ लेने की है। अगर कोई व्यक्ति सच में ही आपको पूरी तसल्ली दे दे, तो आपके झुकने का अर्थ क्या रह जाएगा? अगर परमात्मा आपके सामने खड़ा हो और सब भाँति आपको तसल्ली हो जाय, तब आपका सिर झुके, तो आपका अहंकार नहीं झुक रहा है।

अगर सब तरह तसल्ली ही हो गई, तो सिर को झुकना ही पड़ रहा है, इसमें गुण

क्या है? इसका मूल्य क्या है? इससे कोई आत्मक्रांति घटित न होगी। इसलिए बहुत से संत तो इस भाँति जीते हैं, ताकि आपको तसल्ली न हो सके। उनके पूरे जीवन की व्यवस्था यह है कि आपको तसल्ली न होने देंगे।

गुरजिएफ के पास एक महिला थी: अलेक्जेन्ड्रा डि साल्जमन। एक बड़ी संगीतज्ञ की पत्नी थी। और गुरजिएफ की आदत कि जब कोई व्यक्ति उसके पास आये, तो पहले उससे वह कहता था : 'सारा रुपया-पैसा, जेवर, जायदाद—जो भी है, वह मुझे दे दो।' कई तो इसीलिए भाग जाते थे कि हम यहाँ धर्म की तलाश करने आये, और यह आदमी सारा धन, जेवर पहले माँगता है!

यह डि साल्जमन और उसकी पत्नी बड़े भक्त थे। और जब गुरजिएफ ने उनसे कहा कि 'तुम अपना सब जेवर पहले मेरे पास छोड़ दो; तुम खाली हाथ हो जाओ, क्योंकि तब ही मैं तुम्हें भर सकूँगा।' तो मिस्टर साल्जमन—पति तो राजी हो गया। लेकिन जैसा स्त्रियों का मन होता है, साल्जमन की पत्नी का मोह अपने कुछ हीरे जवाहरातों में था। बड़े परिवार की महिला थी। एक हीरे में तो उसका बहुत ही लगाव था। तो उसने अपने पति को कहा कि 'मैं क्या करूँ?' उसके पति ने कहा, 'तेरे लिए दो ही उपाय हैं। या तो तू सब दे दे। वह एक हीरा नहीं बचाने देंगे। और या कुछ भी मत दे, लेकिन तब तू निर्णय कर ले। क्योंकि मैं तो सब छोड़कर उसके चरण में जा रहा हूँ। अगर तू गुरजिएफ को छोड़ती है, तो मुझे भी छोड़ दे।'

तो उसकी पत्नी ने हिम्मत की। अपना हीरा, अपने सब जवाहरात, अपने सब गहने—लाखों रुपये के थे—वह सब एक पोटली में बाँधे और गुरजिएफ के चरणों में जा कर रख दिये। दूसरे दिन गुरजिएफ ने बुलाया और पूरी पोटली उसे वापस कर दी।

कोई पंद्रह दिन बाद एक दूसरी महिला आयी और गुरजिएफ ने उससे भी कहा कि 'तू सारे अपने जेवर मुझे दे दे।' उसने साल्जमन की पत्नी को पूछा कि क्या करना चाहिए?' साल्जमन की पत्नी ने कहा, 'मैं नहीं जानती। मैंने दिये थे, वे मुझे वापस मिल गये।' तो उसने सोचा, 'जब वापस ही मिल जाना है, तो डरना क्या?' वह गुरजिएफ को दे आयी। उसने कभी वापस न किये।

अब यह जो गुरजिएफ है, इसे कोई प्रयोजन हीरे और जवाहरात से नहीं है; लेकिन उस मन से तो प्रयोजन है, जो पकड़ता है, छोड़ नहीं सकता। जो छोड़ सकता है, उसके वापस लौटाये जा सकते हैं। जो छोड़ नहीं सकता, उसके वापस लौटाना असंभव है।

और गुरजिएफ यहाँ से पैसा लेता और दूसरी जगह बाँट देता। एक से माँगता और दूसरे को दे देता। उसके व्यवहार से लगेगा कि पैसे पर उसकी पकड़ है।

और गुरजिएफ ने अपने शिष्यों को कहा है कि 'मैं सब भाँति अपने में अविश्वास

पैदा करवाने की कोशिश करवाता हूँ और उसके बाद भी अगर कोई विश्वास कर ले, तो समर्पण है; तो उसका अहंकार उसी वक्त खो जाता है।'

इसलिए जिनको आप साधारणतः संत पुरुष समझते हैं, जो सब भाँति आपके मापदंड में साधु हैं, उनके पास आपके जीवन में कोई क्रांति कभी घटित नहीं होने वाली। आप सब भाँति कसौटी पर कस कर उनको समर्पण करते हैं। समर्पण आप करते हैं नहीं। क्योंकि समर्पण तो वही कर सकता है, जो जानता है : मेरी योग्यता क्या कि मैं कसौटी पर कसूँ?

जो 'आपकी' कसौटी पर खरा उतरा, उसे आपने समर्पण किया, तो आपने समर्पण किया ही नहीं, आपकी कसौटी जिन्दा है। यह आदमी आपसे छोटा है। आपने सब भांति इसे परख लिया। और आपका मन राजी हो गया कि बिलकुल ठीक; तब आपने समर्पण किया। समर्पण की कोई क्रांति घटित नहीं होगी।

समर्पण की क्रांति तो तब ही घटित होती है, जब मन डाँवाडोल है; जब मन डरता है, जब मन भरोसा भी नहीं कर पाता है। और जब अहंकार सब तरह के सुझाव देता है—कि भाग जाओ, हट जाओ, तब भी आप साहस करते हैं और छलाँग लगाते हैं। उसी छलाँग में अहंकार की मृत्यु हो जाती है।

पक्के भरोसे के साथ, तसल्ली के साथ जब आप समर्पण करते हैं, तो समर्पण झूठा है। समर्पण है ही नहीं; वहाँ कोई छलाँग ही नहीं है।

आपने सब भाँति परख कर ली कि रास्ता साफ-सुथरा है; यहाँ कोई गड्ढे नहीं हैं। और यहाँ कोई छलाँग का खतरा नहीं है; यहाँ किसी खाई में गिर जाने का डर नहीं है। रास्ता है पक्का—पटा हुआ; 'हाई वे' है। उस पर आप चल रहे हैं।

वे ही संत पुरुष आपके समर्पण में सफल हो पाते हैं—आपको समर्पण करवाने में, जो आपकी कसौटी पर बँधने को राजी नहीं हैं। लेकिन एक बड़े मजे की घटना घटती है : जैसे ही वैसा संत पुरुष चल बसता है, उसके जीवन का ढंग उसके भक्तों के लिए—आगे आने वाले दिनों में—फिर कसौटी बन जाता है।

महावीर नग्न खड़े हैं। यह नग्नता उस वक्त अड़चन की बात थी। और जिन्होंने इस नंगे आदमी को समर्पण किया, वे क्रांतिकारी लोग थे। उन्होंने बड़ी हिम्मत जुटायी होगी। लेकिन उसके बाद, महावीर की मृत्यु के बाद, उन क्रांति पुरुष के—जो उनके भक्त बने थे—उनके बच्चे और बेटे, उनकी कोई क्रांति नहीं है। उनको अगर आप बुद्ध के पास ले जायँ, तो वे देखते हैं और सोचते हैं कि यह आदमी कपड़े पहने हुए है, इसलिए संत नहीं हो सकता। इसलिए उनका समर्पण बुद्ध के लिए नहीं होगा।

अगर जैन को आप राम के मंदिर में ले जायँ, तो वह सिर नहीं झुका सकता

क्योंकि यह कैसा भगवान्, जो गहनों से सजा हुआ खड़ा है! और यह कैसा भगवान् जिसकी सीता पास में है! यह असंभव है। तसल्ली नहीं होती है।

इसलिए जैन राम को भगवान् नहीं मान सकता है। कोई उपाय नहीं उसके मन में —मानने का। उसकी अपनी कसौटी है। और कसौटी उसने महावीर से ले ली है। लेकिन महावीर खुद अत्यंत क्रांतिकारी व्यक्ति थे। और जो लोग उनसे राजी हुए थे, उन्होंने समर्पण किया था।

इसलिए हर बुद्ध पुरुष के पास समर्पित लोग इकट्ठे होते हैं, लेकिन उसकी मृत्यु के बाद परम्परा बन जाती है—लीक बन जाती है। फिर लीक से लोग चलते चले जाते हैं। फिर सब के पास अपनी धारणाएँ, अपने मापदंड होते हैं।

आपका कोई मापदंड होगा, इसलिए पूछते हैं : तसल्ली कैसे करें? क्या है आपके पास मापदंड? कोई यंत्र नहीं है, जिससे जाना जा सके कि कौन व्यक्ति जाग गया; कान प्रबुद्ध हुआ; किसका ज्ञान प्रज्वलित हुआ? कौन हो गया कृष्ण; कौन हो गया क्राइस्ट—कोई जाँचने का उपाय नहीं है, कोई व्यवहार की कसौटी नहीं है।

दुनिया में सैकड़ों बुद्ध पुरुष हुए हैं, सब का व्यवहार अलग-अलग है; सब की निजता है, सबका व्यक्तित्व है।

हम सोच भी नहीं सकते कि बुद्ध नाराज हों। लेकिन क्राइस्ट नाराज होते हैं। तो जिसने बुद्ध को कसौटी मान लिया, वह क्राइस्ट को नाराज देख कर समझेगा कि यह आदमी योग्य नहीं है; इसको अभी ज्ञान नहीं हुआ।

क्राइस्ट इतने नाराज हो गये कि उन्होंने अपना कोड़ा हाथ में उठा लिया, और यहूदियों के मंदिर में प्रवेश कर गये। और उन्होंने पुरोहितों को चोट मारी और जो ब्याज लेनेवाले दुकानदार वहाँ बैठे थे, उनके तख्ते उलट दिये, और उनको खदेड़ कर बाहर कर दिया।

जो बुद्ध को मानता है आधार, वह कहेगा : यह आदमी क्रांतिकारी हो सकता है; लेकिन अभी शांत नहीं हुआ। लेकिन जिसने क्राइस्ट को आधार माना है और उनके प्रेम में जो जिया है, और जिसने उनको समर्पण किया है, वह बुद्ध को देख कर कहेगा : यह शांति निर्जीव है; यह आदमी नपुंसक है। जहाँ इतनी कठिनाई है समाज में, वहाँ यह चुपचाप वृक्ष के नीचे बैठा हुआ है! जहाँ इतनी पीड़ा, इतना, दुःख, इतनी दरिद्रता है, वहाँ इसकी शांति में कुछ भी क्रांति पैदा नहीं होती; इसकी शांति का कोई भी मूल्य नहीं है।

कैसे कसौटी खोजियेगा? क्या रास्ता है? महावीर लात मार देते हैं—धन पर; जनक साम्राज्य में सिंहासन पर बैठे हैं। दोनों बुद्ध पुरुष हैं।

प्रत्येक बुद्ध पुरुष अनूठा है, इसलिए कोई कसौटी बनती नहीं है। कोई सार निचोड़ा

नहीं जा सकता है कि कैसे हम नापें? और नापने वाला कभी नहीं सोचता कि मैं कहाँ हूँ? कैसे मैं नापूँगा?

किनारे पर आप खड़े हैं, और हिंद महासागर की गहराई को नापने की कोशिश कर रहे हैं! उस गहराई में उतरना पड़ेगा। जमीन पर आप बैठे हैं, और एव्हरेस्ट की ऊँचाई नापने की कोशिश कर रहे हैं। उस ऊँचाई पर चढ़ना पड़ेगा।

बुद्ध हुए बिना बुद्धों को पहचानने का कोई उपाय नहीं। तसल्ली कैसे होगी? तसल्ली कभी किसी को नहीं हुई है। अगर आप तसल्ली के लिए रुके हैं, तो सदा ही रुके रहेंगे।

हिम्मत करें और जहाँ थोड़ा-सा भी आकर्षण मालूम होता हो, वहाँ छलाँग लगायें। मत रुकें कि जब सौ प्रतिशत तसल्ली होगी, तब छलाँग लेंगे। वैसा कभी भी नहीं होगा, कि जहाँ मन सौ प्रतिशत आकर्षित होता हो।

जिस व्यक्ति के द्वार से आपको किसी अज्ञात की हवा का हलका-सा झोंका भी लगता हो; जिसकी उपस्थिति में आपके भीतर ऊँचाइयों के द्वार खुलते हों; जिसकी मौजूदगी आपको बदलती हो; जिसके पास स्वाद आता हो—किसी अनजाने—अज्ञात का, वहाँ साहस करें और तसल्ली की फिक्र मत करें। गणित मत बिठायें।

यह काम जोखम का है। इसलिए मैं अकसर कहता हूँ कि दुकानदार धर्म में असफल रहते हैं। जुआँरी जीत जाते हैं।

यह काम कोई हिसाब-किताब का नहीं है कि आप पूरा पक्का पता लगा लेंगे कि एक रुपया लगा रहे हैं, तो कितनी बचत होगी? कि नहीं होगी? यह दाँव है। इसमें सब खो सकता है, सब मिल सकता है। इसमें छोटे हिसाब से नहीं चलेगा।

और जिन्दगी बड़ी बेबूझ है; गणित की तरह नहीं है, पहेली की तरह है। यह पहेली की तरह जो जिन्दगी है, इसमें अगर आप बहुत हिसाबी-किताबी हैं, तो धर्म आपके लिए नहीं है, फिर व्यवसाय आपके लिए है।

यह बिलकुल जोखम का काम है। यहाँ कोई पक्की गैरेंटी नहीं है, कि आप किसी को समर्पण करेंगे, तो वह योग्य होगा ही। भूल हो सकती है। पर भूल से कोई खतरा नहीं है।

समझने की बात यह है : जिसको आप समर्पण करते हैं, उसकी योग्यता से क्रांति घटित नहीं होती; समर्पण से क्रांति घटित होती है। इसलिए एक वृक्ष के नीचे रखे हुए पत्थर को आप समर्पण कर लें और क्रांति घटित हो जाएगी।

असली सवाल आपके झुकने में है। असली सवाल अपने को मिटाने का है। किसके बहाने मिटाया—यह बात गौण है। और मैं आपसे कहता हूँ : ऐसा अकसर हुआ है कि अज्ञानी गुरुओं के पास भी कई बार शिष्य ज्ञान को उपलब्ध हो गये हैं। यह बिलकुल उलटा लगेगा, क्योंकि यह गणित नहीं समझ में आयेगा।

जब तक गुरु ज्ञानी न हो, तब तक कैसे शिष्य ज्ञान को उपलब्ध हो सकता है? ज्ञानी गुरुओं के पास भी शिष्य वर्षों रहे हैं—और अज्ञानी रहे हैं।

इसलिए मैं कहता हूँ : जीवन पहेली जैसा है। क्योंकि ज्ञानी गुरु के पास भी आप बैठे रहें—बिना समर्पित हुए, तो ज्ञानी गुरु कुछ भी नहीं कर सकता। उसकी आँखें आपके काम नहीं आ सकतीं, और न उसका हृदय आपके लिए धड़क सकता है, न उसकी अनुभूति आपकी अनुभूति बन सकती है। और अज्ञानी गुरु भी कभी काम आ सकता है—अगर आप समर्पण कर दें। क्योंकि समर्पण करना ही घटना है। गुरु तो सिर्फ बहाना है।

जैसे आप कमरे में आते हैं; कोट निकालते हैं; खूंटी पर टाँग देते हैं। खूंटी तो सिर्फ बहाना है। कोई भी खूंटी काम दे जाएगी। लाल रंग की है, कि हरे रंग की है; कि पीले रंग की है, कि बेरंग की है; कि छोटी है, कि बड़ी है; कि लकड़ी की है, कि लोहे की है, सोने की है, इसकी तसल्ली करने की बहुत जरूरत नहीं। खूंटी है; कोट टाँगा जा सकता है। कोट टंग जाएगा। कोट होना चाहिए—टाँगने को—आपके पास।

समर्पण चाहिए, तैयारी चाहिए—अपने को खोने और मिटाने की, तो कोई भी गुरु काम दे देगा।

मगर यह जो सवाल है, यह सबके मन में उठता है : कि जब तक तसल्ली न हो...। तो आप भटकेंगे। तसल्ली कभी भी न होगी।

यह मन ऐसा है कि तसल्ली होने ही नहीं देगा। मन की सारी प्रक्रिया अविश्वास पैदा करवाने की है। इसे समझ लें।

मन का ढाँचा संदेह जन्माने का है। जैसे वृक्षों में पत्ते लगते हैं, ऐसे मन में संदेह लगते हैं। तो मन में कभी श्रद्धा तो लगती ही नहीं; वह उस वृक्ष के बीज में ही नहीं है। कोई व्यक्ति मन के द्वारा श्रद्धा को उपलब्ध नहीं होता; मन के द्वारा सिर्फ संदेह को उपलब्ध होता है। मन यानी संदेह।

तो जिस मन से आप खोजने जाएँगे, उसमें आपको संदेह मिलते चले जाएँगे। और जब संदेह मिलेगा, तो कैसे समर्पण कर सकते हैं? समर्पण तो वे ही लोग कर सकते हैं, जो अपने मन से थक गये हैं।

तसल्ली के कारण नहीं—किसी पर; अपने मन पर जिनकी श्रद्धा उठ गई है; जो अपने मन से ऊब गये हैं और परेशान हो गये हैं; और जिन्होंने मन के सब रास्ते टटोल लिये हैं; मन के साथ सब मार्गों पर चल कर देख लिया, मन की सब बातें मान लीं और फिर भी कहीं कोई आनन्द नहीं पाया; जो अपने मन से ऊब गये हैं, जो अपने मन से विषाद से भर गये, वे लोग समर्पण करते हैं।

मन को छोड़ना समर्पण है। क्योंकि मन को छोड़ा कि श्रद्धा का जन्म हुआ।

जहाँ आपको कल संदेह दिखाई पड़ते थे, वहीं श्रद्धा दिखाई पड़ने लगेगी। जहाँ कल आपको तसल्ली पैदा नहीं होती थी, वहाँ अचानक तसल्ली हो जाएगी—ट्रस्ट हो जाएगा। एक गहरा भाव पैदा हो जाएगा और आप मार्ग पर चलना शुरू कर देंगे।

कौन माँगता है तसल्ली? आप? अगर आप कहीं पहुँच गये हैं, तो तसल्ली की कोई जरूरत नहीं। समर्पण की जरूरत है, अगर कहीं नहीं पहुँचे हैं तो।

धार्मिक व्यक्ति और अधार्मिक व्यक्ति में एक फर्क है। अधार्मिक व्यक्ति सब पर संदेह करता है—अपने को छोड़कर। और धार्मिक व्यक्ति अपने पर संदेह करता है—सब को छोड़कर।

जो अपने पर संदेह करता है, उसको गुरु जल्दी मिल जाएगा, क्योंकि वह तसल्ली कर सकता है। जो दूसरे पर संदेह करता है, उसे गुरु कभी भी नहीं मिल सकता, क्योंकि वह कहीं भी जाय, अपने पर उसका भरोसा है—जिसने कहीं भी नहीं पहुँचाया है।

मैंने सुना है कि मुल्ला नसरुद्दीन एक दिन बहुत नाराज था; उछल-कूद रहा था। क्रोध में आग-बबूला हो रहा था। उसके मित्र पंडित रामचरणदास उसके पास बैठे थे। वे उससे पूछ रहे थे कि 'नाराजगी क्या है?' तो वह कह रहा था, 'मेरी पत्नी ने मुझे धोखा दिया है; वह बेईमान है, दुश्चरित्र है। घर से निकाल देने योग्य है।'

तो उसके मित्र ने पूछा कि 'आखिर क्या तुम्हारे पास प्रमाण है? किस आधार पर कहते हो कि पत्नी दुश्चरित्र है? किस आधार पर इतने नाराज और पागल हुए जा रहे हो?'

नसरुद्दीन ने कहा, 'मेरे पास प्रमाण है। कल पूरी रात वह घर से गायब रही। और सुबह जब आयी, और मैंने पूछा, तो उसने मुझे धोखा दिया है। वह कहती है : मैं अपनी सहेली तारा के घर पर रात रुक गई। यह बात सरासर झूठ है। तो पंडित रामचरणदास ने पूछा कि 'इसका तुम्हारे पास प्रमाण है कोई?' तो उसने कहा, 'पूरा प्रमाण है। क्योंकि तारा के घर तो रातभर मैं रुका था।'

मन पूरे समय दूसरे पर संदेह कर रहा है। मन अपने पर लौटता ही नहीं।

तो अगर आप इस मन को लेकर खोजने चले हैं, तो गुरु से आपका मिलना कभी भी नहीं हो सकता। अगर इस मन से थक गये हैं...। या न थके हों, तो और थोड़ी मेहनत करें, और थक जायँ। जब थक जायँ, तो गुरु से मिलना हो जाएगा।

और गुरु को खोजने कोई हिमालय जाने की जरूरत नहीं है। गुरु हो सकता है—आपके घर में मौजूद हो। लेकिन आपका मन उससे संबंध न जुड़ने देगा।

आपका मन हट जाय, तो आँखें साफ हो जाएँगी, खोज सरल हो जाएगी। और शायद आपको खोजने भी न जाना पड़े। वह व्यक्ति आपको खोजता आ जाय। लेकिन तसल्ली की खोज वाला मन कभी भी नहीं खोज पाता है।

और पूछा है : तब तक क्या करें? तब तक इस मन के दुःख जितना भोग सकें—भोगें। कोई और उपाय नहीं है। और जहाँ-जहाँ यह मन ले जाय, और भटकाये—भटकें। इस मन से पूरी तरह थक जाना है। थक जायँ।

यह मन उसी तरह का है, जैसे एक छोटे बच्चे को कहें कि बैठ जाओ एक कोने में; शांत बैठो; हिलो-डुलो मत, तो बड़ी मुश्किल में हो जाता है बच्चा। क्योंकि उसकी ऊर्जा भागती है। वह कुछ करना चाहता है। उसको बिठा देना कष्टपूर्ण है। उसको बिठाने का एक ही उपाय है कि पहले उससे कहो कि घर के दस चक्कर लगाये। और जितनी तेजी से बन सके, उतनी तेजी से लगाये। और जब वह थक जाय और हाथ-पैर जोड़ने लगे कि 'अब मैं नहीं दौड़ सकता; अब बस', तब उससे कहो कि बैठ जाय।

इस मन को पहले दौड़ा लें। यह आधा-आधा दौड़ा हुआ होगा, तो यह कहीं रुकने न देगा। जहाँ भी आप जाएँगे, यह आपके लिए दौड़ के लिए कारण खोज लेगा। इसे दौड़ा ही लें—अच्छी तरह।

जितना संदेह करना है—संदेह कर लें। जितने तर्क करने हैं—तर्क कर लें। जितना विचार करना है—विचार कर लें। कुनकुने नहीं, पूरे उबल जायँ। भाप बनने दें इसे। बड़ा कष्ट होगा; नरक हो जाएगा खड़ा।

यही अड़चन है : न तो समर्पण करते हैं कि सब शांत हो जाय; और न उबलते हैं पूरे—कि सब तरह से भाप पैदा हो जाय। कुछ भी नहीं करते। बीच में कुनकुनाते रहते हैं। यह जो कुनकुनापन है, यह आदमी का दुःख है।

संदेह ही करना है, तो पूरा कर लें। पूरा संदेह भी श्रद्धा पर ले जाएगा। नरक से गुजरना पड़ेगा। बड़ी पीड़ा होगी। लेकिन उस पीड़ा से गुजर कर एक बात हाथ में आ जाएगी कि यह मन सिवाय दुःख के और कहीं भी नहीं ले जा सकता। यह द्वार है—दुःख का। यह प्रतीति हो जाएगी, तो आप इस मन के द्वारा तसल्ली नहीं खोजेंगे। आप इस मन को हटा देंगे और सीधा संपर्क साधेंगे। फिर समर्पण आसान है।

जब तक समर्पण न होता हो, तसल्ली खोजने का मन जारी रहता हो, तब तक इसका दुःख पूरी तरह भोगें। और धीमे-धीमे नहीं। होमियोपैथिक डोज़ मत लें। पूरा जहर इकट्ठा पी लें।

या इस पार या उस पार। दो में से कहीं भी पार हो जायँ। बीच में मत उलझे रहें।

तो मैं यहाँ देखता हूँ : अनेक लोग, थोड़ी तसल्ली भी करते हैं, थोड़ी नहीं भी करते हैं। यह उनकी स्थिति है; 'नपुंसकता' की स्थिति है। इससे इम्पोटेंस पैदा होता है। इससे कहीं जा नहीं सकते।

मेरे पास कोई आता है, वह कहता है कि 'थोड़ा आप पर विश्वास आता है,

थोड़ा नहीं भी आता।' मैं कहता हूँ : दो में से तू कुछ भी चुन। यह थोड़ा विश्वास भी छोड़ दे, तो मुझसे छुटकारा हो। इस थोड़े विश्वास की वजह से तू मुझसे दूर भी नहीं जा सकता। अकारण समय खराब कर रहा है। और थोड़ा अविश्वास है, उसकी वजह से मेरे पास भी नहीं आ सकता।

थोड़ा अविश्वास है, तो मुझसे संबंध भी नहीं बनता। और थोड़ा विश्वास है, तो मुझसे संबंध टूटता भी नहीं है। यह बड़ी दुविधा की स्थिति है। मुझसे संबंध टूटे, तो किसी और से बन सके। हो सकता है, कहीं और विश्वास घटित हो जाय। वहाँ भी जाना नहीं हो पाता, क्योंकि थोड़ा विश्वास यहाँ है।

यह ऐसी हालत है, जैसे किसी वृक्ष की हम आधी जड़ें बाहर निकाल लें और आधी जमीन में रहने दें। तो न तो वृक्ष में फूल लगें, न फल आयें, न पत्तों में हरियाली रहे और न वृक्ष मरे।

कभी आप अस्पतालों में जायँ; हिंदुस्तान के अस्पतालों में भी अब वैसी हालत आती जाती है। यूरोप और अमेरिका में तो बहुत है। लोग सौ वर्ष के हो गये हैं, सवा सौ वर्ष के हो गये हैं; और लटके हैं अस्पतालों में। उनको मरने नहीं दिया जाता और जीने का उनका कोई उपाय नहीं रहा है। तो किसी को आक्सीजन दी जा रही है; किसी के हाथ-पैर उलटे बाँधे हुए हैं; उनको दवाइयाँ पिलायी जाती हैं।

वे मुरदा जिन्दा हैं। न तो मर सकते हैं, क्योंकि ये डॉक्टर मरने न देंगे। और न जी सकते हैं, क्योंकि डॉक्टरों के हाथ के बाहर है—उनको जीवन देना। जीवन उनके भीतर से बह चुका है। पर मौत को भी नहीं आने दिया जा रहा है। इस अधूरी अवस्था में लटके लोग पश्चिम में आवाज उठा रहे हैं : 'अथनासिया' की। वे कहते हैं : 'हमें मरने का हक होना चाहिए। और जब हम लिख कर दे दें कि हम मरना चाहते हैं, तो हमें बचाने की कोशिश बंद हो जानी चाहिए।' लेकिन अभी तक कोई राज्य इतनी हिम्मत नहीं कर पाता कि मरने का हक दे।

डॉक्टर भी जानते हैं कि यह आदमी मर जाय तो अच्छा। लेकिन फिर भी उसे दवाइयाँ दिये जाते हैं—जिन्दा रखने के लिए; क्योंकि उनको उनके अन्तःकरण की पीड़ा है। अगर दवा न दें और यह आदमी मरे, तो उनको जिन्दगी भर लगेगा कि हमने मारा।

जो व्यक्ति थोड़ा-सा विश्वास करता है और थोड़ा-सा अविश्वास, वह अस्पतालों में लटके हुए इन व्यक्तियों की भाँति हो जाता है; न जी सकता है, न मर सकता है। न दूर जा सकता है, न पास आ सकता है।

तो या तो छलाँग लगा लें; या समझें कि यह खाई आपके लिए नहीं है। कहीं और कोई खाई होगी, तो इस खाई से हट जायँ।

निर्णायक होने की जरूरत है। अपना निर्णय लेने की जरूरत है।

गलत निर्णय भी बुरा नहीं है; लेकिन अनिर्णय बुरा है। क्योंकि गलत निर्णय भी बल देता है। कुछ तो तय हुआ। उस तय होने के साथ आपके भीतर इन्टिग्रेशन पैदा होता है, अखंडता आती है। लेकिन अनिर्णय—कुछ भी तय नहीं—इनडिसीसिवनेस है, तो आप धीरे-धीरे भीतर बिखर जाते हैं। भीतर आत्मा संगृहीत नहीं हो पाती; खण्ड-खण्ड हो जाती है। यह खण्डित स्थिति छोड़ें।

तो जब तक, पहली तो बात तसल्ली की खोज बंद कर दें। न बंद कर सकते हों, तो खोज को पूरा करें; समर्पण कर दें। न समर्पण होता हो, तो असमर्पण का पूरा दुःख भोग लें।

मध्य में मत रहें। मध्य से कोई भी ज्ञान को उपलब्ध नहीं हुआ है। छलाँग केवल अति से ही लग सकती है।

● दूसरा प्रश्न : दूसरों के अनुभव काम नहीं आते—ऐसा आपने कहा। फिर आप जैसे बुद्ध पुरुषों के बोलने में सार्थकता क्या है—कि जिसके लिए लोक प्रार्थना करता है?

दूसरों के अनुभव काम नहीं आते—इसका अर्थ है कि दूसरों के अनुभव आपके अनुभव नहीं बन सकते हैं। दूसरे की प्रतीति आपकी प्रतीति नहीं बन सकती; लेकिन दूसरे का संपर्क संक्रामक हो सकता है। दूसरे की सन्निधि संक्रामक हो सकती है। अगर आप दूसरे के प्रति खुले हों, तो जैसे बीमारियाँ पकड़ सकती हैं आपको, वैसे ही स्वास्थ्य भी पकड़ सकता है। अनुभव दूसरे के काम नहीं आते। अगर आप कृष्ण के पास हों, तो कृष्ण के अनुभव आपके अनुभव नहीं बन सकते। लेकिन कृष्ण की मौजूदगी में अगर आप समर्पित हों, तो आपके अपने जीवन का विकास शुरू हो जाता है। उस विकास में कभी अनुभव घटित होंगे।

वह अनुभव कोई दूसरा आपको नहीं दे सकता, लेकिन दूसरे की मौजूदगी कैटेलिटिक एजेन्ट का काम कर सकती है। उससे स्फुरणा हो सकती है। वह प्रेरणा बन सकती है। उससे धक्का लग सकता है। लेकिन उसके लिए जरूरी है कि आप खुले हों। आपका हृदय बंद न हो; आपका मस्तिष्क पक्षपात से न घिरा हो। आप राजी हों—अनजान में जाने के लिए, अपरिचित में उतरने के लिए; जिसको आपने कभी नहीं जाना है, उस रास्ते पर किसी के पीछे चलने के लिए।

अनहोना घटित हो सकता है। अन-चाहा घटित हो सकता है, यदि उस जोखम को उठाने की तैयारी भीतर हो। इसीलिए तो हम अपने को बंद रखते हैं कि कहीं कोई जोखम न हो जाय।

एक मित्र मेरे पास आये और उन्होंने मुझे कहा कि 'मैं शिविर में आने से डरता

हूँ कि कहीं कुछ सच में ही हो न जाय। बच्चे हैं, पत्नी है, घर-द्वार है और अभी इन सबको बड़ा करना है, सम्हालना है; अभी संसार का दायित्व है—उसे पूरा निभाना है। डर लगता है कि जाऊँ और कहीं कुछ हो ही न जाय!' उनका डर ऐसे स्वाभाविक है। और ठीक भी है। मगर इस डर के कारण वे बंद हैं। तो मैंने उनसे कहा, 'मेरे पास भी क्यों आये हो? क्योंकि आना फिजूल है। यहाँ भी डर तो भीतर होगा ही। उस डर की आड़ से अगर तुम मुझसे मिलोगे, तो मिलन हो ही न पायेगा। वह डर भीतर बैठा है : कहीं कुछ हो न जाय। तो जब डर चला जाय, तब ही आना।

'और जल्दी कुछ भी नहीं है। समय अनंत है। और इतने जन्म आपके हुए हैं; और इतने ही जन्म हो जाएँगे; कोई जल्दी नहीं है।' मगर डर की दीवार अगर भीतर हो, तो फिर आप किसी के भी पास जायँ, जाने से कुछ न होगा। अकेली पार्थिव मौजूदगी कुछ भी नहीं कर सकती है। मेरा जो अनुभव है, वह मैं आपको दे नहीं सकता। लेकिन अगर आप खुले हों, अगर आप मेरे साथ बहने को राजी हों, तो आपके अनुभव घटने शुरू हो जाएँगे। वे आपके ही होंगे।

लेकिन मैं आपका हाथ पकड़ कर कहीं ले चलूँ, कहूँ कि 'आओ, मकान के बाहर सूरज निकला है, और फूल खिले हैं, और आकाश में बड़ी रंगीनी है', तो मैं आपका हाथ पकड़ कर बाहर ले जा सकता हूँ, लेकिन जब आप आँख खोलेंगे और सूरज को देखेंगे, तो वह अनुभव आपका ही होगा, वह मैं आपको नहीं दे सकता।

इस कमरे में बैठा हुआ मैं आपको वह अनुभव नहीं दे सकता। मैंने कितना ही सरज देखा हो, और कितने ही फूल खिलें देखे हों, और कितना ही आकाश रंगीन हो, यहाँ बैठ कर मैं आप से आकाश की बात कर सकता हूँ, सूरज की बात कर सकता हूँ, लेकिन अनुभव नहीं दे सकता।

शब्द अनुभव नहीं हैं। और अगर आप मेरे शब्दों से राजी हो जायँ, तो मैं आपका दुश्मन हूँ। क्योंकि आप समझ लें कि शब्द 'सूरज' सूरज है; 'आकाश' शब्द आकाश है, तो फिर आप बाहर जाना, खोजना, आकाश की तलाश ही बंद कर देंगे। सोचेंगे : यहीं बैठे सब मिल गया।

लेकिन मैं यहाँ आपके भीतर प्यास जगा सकता हूँ—अनुभव नहीं दे सकता। या मेरी मौजूदगी को अगर आप देखें, तो प्यास जग सकती है। और अगर मेरे साथ दो कदम चलने को राजी हों, तो बाहर भी पहुँच सकते हैं। फिर जो आप देखेंगे, वह आपका ही अनुभव होगा।

अनुभव निजी है। और कभी भी हस्तांतरित नहीं हो सकता। इसलिए मैंने कहा कि अनुभव—दूसरे के अनुभव—काम नहीं आते हैं। लेकिन इसका यह अर्थ नहीं

है कि आप दूसरों से सीख नहीं सकते हैं। अनुभव नहीं सीख सकते, लेकिन कैसे अनुभव तक पहुँचें, वे सारी विधियाँ, वे सारे मार्ग आप सीख सकते हैं।

इसलिए बुद्ध पुरुष सिद्धांत नहीं देते, केवल विधियाँ देते हैं। निष्पत्ति नहीं देते, केवल मार्ग देते हैं। क्या होगा वहाँ पहुँच कर—यह नहीं बताते; कैसे वहाँ पहुँच सकोगे—इतना ही बताते हैं।

बुद्ध ने कहा है : मैं मार्ग बताता हूँ; चलना तुम्हें है, पहुँचना तुम्हें है। जाना तुम्हें है। मैं सिर्फ मार्ग बता सकता हूँ।

जो उस मार्ग से गुजरे हैं, वे उस मार्ग की खबर आपको दे सकते हैं। उनके अनुभव काम नहीं आते, लेकिन उनकी मौजूदगी, उनका व्यक्तित्व, उनका प्रकाश, उनका मौन—अगर आप खुले हों, तो संक्रामक हो जाता है।

जैसे मलेरिया पकड़ता है, वैसे ही बुद्धत्व भी पकड़ता है। लेकिन मलेरिया के लिए हम खुले होते हैं, तैयार होते हैं। अभी यहाँ एक आदमी खाँस दे, दस पंद्रह आदमी खाँसेंगे। उसके लिए हम तैयार हैं। रोग के लिए हम तैयार हैं! लेकिन अगर यहाँ एक आदमी शांत हो जाय, तो दस-पंद्रह आदमी शांत नहीं हो जाएँगे।

दुःख के प्रति हम संवेदनशील हैं। आनंद के प्रति ऐसी ही संवेदनशीलता का नाम समर्पण है।

● तीसरा प्रश्न : इस विराट विश्व के संदर्भ में अपनी तुच्छता का बोध आदमी में हीनता की ग्रंथि को मजबूत बनाकर उसे पंगु बना सकता है। और हीनता-भाव निर-अहंकारिता नहीं है। कृपया बतायें कि हीनता से बचकर अहंकार विसर्जन के लिए क्या किया जाय?

पहली बात : हीनता की ग्रंथि—इनफीरियारिटी कॉम्प्लेक्स—अहंकार का ही हिस्सा है। अहंकार के कारण ही हमें हीनता मालूम होती है।

यह समझना जरा कठिन लगेगा। अगर आप में अहंकार न हो, तो आप में हीनता हो ही नहीं सकती। हीनता इसलिए मालूम होती है कि आप समझते तो अपने को बड़ा हैं और उतने बड़े अपने को पाते नहीं। जितना बड़ा आप अपने को समझते हैं, उतना बड़ा आप पाते नहीं हैं। वास्तविक जगत् में आप पाते हैं कि आप छोटे हैं; उससे हीनता पैदा होती है।

अहंकार जितना बड़ा होगा, उतनी ज्यादा हीनता मालूम होगी। अहंकार जितना कम होगा, हीनता उतनी ही कम होगी। अहंकार नहीं होगा, हीनता खो जाएगी।

हीनता और अहंकार एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। इसलिए जो आदमी विनम्र है, वह हीन नहीं होता। उसको हीनता पकड़ ही नहीं सकती। जो आदमी दम्भी है, उसको ही हीनता पकड़ती है।

मेरे पास न मालूम कितनी बार तरह-तरह के लोग आते हैं। कोई आ कर कहता है : 'मेरा आत्म-विश्वास ज़्यादा कैसे हो?' 'मुझमें बड़ा आत्म-अविश्वास है', कोई आ कर कहता है। कोई कहता है कि 'मुझमें हीनता की ग्रंथि है' तो यह कैसे मिटे?' ठीक बीमारी को नहीं पकड़ पा रहे हैं। वे केवल लक्षण को पकड़ रहे हैं।

अगर आत्म-अविश्वास है, तो इसे स्वीकार कर लें कि यह मेरा हिस्सा हुआ। जैसे आपकी छह फीट ऊँचाई है या पाँच फीट ऊँचाई है, तो आप क्या करते हैं? स्वीकार कर लेते हैं कि मैं पाँच फीट ऊँचा हूँ। लेकिन आप सोचते हैं कि छह फीट होना था। कोई दूसरा छह फीट है; तो फिर हीनता शुरू हुई। एक फुट आप कम हैं; अब इसको किसी तरह पूरा करना जरूरी है। तब आप पंजे के बल खड़े होकर चलना शुरू करेंगे। उससे कष्ट पायेंगे; उससे बड़ी पीड़ा होगी।

सारी दुनिया में स्त्रियाँ बड़ी एड़ी का जूता पहनती हैं। वह सिर्फ पुरुष की ऊँचाई पाने की चेष्टा है। उससे बड़ा कष्ट होता है, क्योंकि चलने में वह आराम-देह नहीं है। जितनी ऊँची एड़ी हो, उतनी ही कष्टपूर्ण हो जाएगी। लेकिन फिर धीरे-धीरे उसी कष्ट की आदत हो जाती है। फिर हड्डियाँ वैसी ही जकड़ जाती हैं; फिर सीधे पैर से जमीन पर चलना मुश्किल हो जाता है। लेकिन स्त्री के मन में थोड़ा-सा संकोच है। पुरुष से थोड़ी उसकी ऊँचाई कम है।

पूरब की स्त्रियों ने इतनी फिक्र नहीं की—ऊँची एड़ी के जूतों की। क्योंकि उनमें अभी भी पुरुष के साथ बहुत प्रतिस्पर्धा नहीं है। लेकिन पश्चिम में भारी प्रतिस्पर्धा है।

दूसरा बड़ा है, उससे कष्ट शुरू होता है। लेकिन कष्ट की क्या बात है? आप छह फीट के हैं, मैं पाँच फीट का हूँ। न तो एक फुट बड़े होने से कोई बड़ा होता है, न एक फुट छोटे होने से कोई छोटा होता है। आप बहुत अच्छा गा सकते हैं, मैं नहीं गा सकता हूँ। तो अड़चन कहाँ खड़ी होती है? यह सब मुझ में भी होना चाहिए...।

यह मेरा अहंकार मान नहीं सकता कि कुछ है, जो मुझमें कम है। फिर जीवन में अनुभव होता है : बहुत कम है। तो हीनता आती है, आत्म-अविश्वास आता है। फिर इससे दूर होने के लिए हम उपाय करते हैं और एड़ियों वाले जूते पहनते हैं; उससे और कष्ट पैदा होता है; और सारा जीवन विकृत हो जाता है।

इन सारे रोगों से मुक्त होने का एक ही उपाय है : आप जैसे हैं, वैसे अपने को स्वीकार करें।

आपके पास दो आँखें हैं, तो आपने स्वीकार किया। आँखों का रंग काला है या भूरा है, तो आपने स्वीकार किया। किसी की नाक लम्बी है, किसी की छोटी है, तो उसने स्वीकार किया। यह तथ्य है; इसे स्वीकार कर लें—कि ऐसा मैं हूँ। और जो

में हूँ—इस मेरी स्थिति से क्या उपलब्धि हो सकती है, उस पर चेष्टा, उस पर सृजनात्मक श्रम करें।

लेकिन दूसरे से स्पर्धा हो, तो आप पागल हो जाएँगे। और करीब-करीब सारे लोग पागल हो गये हैं। स्पर्धा विक्षिप्तता लाती है।

मैं एक यात्रा पर था। एक मेरे मित्र खुद ही ड्राइव कर रहे थे। तो जैसे ही कोई गाड़ी उनको आगे दिखाई पड़ती—रोड पर, वे अपनी गाड़ी तेज कर देते। कोई गाड़ी उनसे आगे कैसे हो सकती है!

मैं थोड़ी देर तो देखता रहा कि जैसे ही उनको गाड़ी दिखाई पड़ती—आगे—कि वे पगला जाते। वे गाड़ी तेज कर देते, जब तक उसको पीछे न कर दें, तब तक उनको बेचैनी रहती।

मैंने उनसे पूछा कि 'क्या तुम सोचते हो : इस रास्ते पर कभी ऐसी हालत आयेगी कि आगे कोई गाड़ी न हो? तुम पगला जाओगे। रास्ते पर कोई न कोई गाड़ी आगे होगी ही। तुम अपनी रफ्तार से चलो। तुम्हें अपनी मंजिल पर पहुँचना है—उसके हिसाब से चलो।'

मगर कोई भी गाड़ी आगे हो, तो उसे पार करने की क्या तकलीफ है? कोई बहुत गहरी हीनता की ग्रंथि होगी कि मैं किसी दूसरे से पीछे कैसे रह सकता हूँ? और जीवन के रास्ते पर भी यही है।

आप इस फिक्र में नहीं होते हैं कि आपको कहाँ जाना है। इसकी भी कोई चिंता नहीं कि कहीं पहुँचना है। लेकिन कोई आपके आगे न हो। वह चाहे नरक जा रहा हो, तो भी आपको उसे पीछे करना है!

मैंने सुना ह कि अमेरिका का एक बहुत बड़ा वैज्ञानिक ओपेनहेमर ने अमेरिकी प्रेसिडेन्ट को सलाह दिया कि 'जल्दी करें, क्योंकि रूसी चाँद पर पहुँचने में हमसे आगे हैं।' शुरू में वे थे भी। तो ओपेनहेमर ने कहा—अमेरिका के प्रेसिडेन्ट को—कि 'हम जल्दी करें, नहीं तो चाँद पर वे हमसे पहले पहुँच जाएँगे।'

प्रेसिडेन्ट ने ऐसे ही कहा कि 'लेट देम गो टु हेल—जाने दो उनको नरक, जाने दो उनको दोजख।' ओपेनहेमर ने कहा कि 'अगर इस रफ्तार से गये, तो वहाँ भी वे हमसे पहले पहुँच जाएँगे।' और यह बरदाश्त नहीं किया जा सकता...।

तो कौन कहाँ जा रहा है, यह बड़ा सवाल नहीं है आपको, आप से आगे भर न जा पाये।

आपकी जिंदगी में कई बार आपके रास्ते इसीलिए बदल गये कि संयोग से आगे एक आदमी मिल गया, जो कहीं और जा रहा था।

आपको खयाल में नहीं है, अगर आप विश्लेषण करेंगे, तो आपको साफ दिखाई पड़ेगा कि आप चले जा रहे थे और एक आदमी और अच्छी कार में चला जा रहा था, आपकी जिंदगी बदल गई। क्योंकि आपको उससे अच्छी कार चाहिए।

आप चले जा रहे थे, किसी से मित्रता हो गयी, जिसके पास आप से बड़ा मकान था। अब आप मुश्किल में पड़ गये; आपके पास उससे बड़ा मकान होना चाहिए।

और आप भूल ही जाते हैं कि आप कहाँ जाना चाहते हैं? क्या होना चाहते हैं? यह अहंकार बरदाश्त नहीं कर सकता कि कोई मुझसे आगे हो; इससे हीनता अनुभव होती है। और कोई न कोई आगे होगा।

जीवन के रास्ते पर कभी किसी आदमी ने अनुभव नहीं किया कि मैं सबके आगे हूँ। नेपोलियनसब कुछ जीत ले, तो भी छोटी-छोटी चीजों में दुःखी हो जाता था। एक दिन उसकी दीवाल घड़ी बिगड़ गई, तो उसे सुधारने की कोशिश में उसने हाथ ऊपर बढ़ाया। उनकी ऊँचाई ज्यादा नहीं थी; पाँच ही फीट थी। तो उसका हाथ नहीं पहुँचा घड़ी तक, तो उसका जो अर्दली था, वह छह फीट लम्बा जवान था। उसने जल्दी से आ कर ठीक कर दिया। नेपोलियन ने अपनी डायरी में लिखा है कि 'मुझे इतनी पीड़ा हुई कि जैसे मैं सारा संसार हार गया। अर्दली! और उसका हाथ पहुँच गया और मेरा नहीं पहुँचा!'

आप थोड़ा सोचें : नेपोलियन की जगह आप भी होते, तो ऐसी ही पीड़ा होती। रोज यही पीड़ा हो रही है।

हीनता अनुभव होने लगती है, क्योंकि बड़ा अहंकार है। अगर नेपोलियन स्वीकार करता है : 'म पाँच फीट का हूँ; ठीक है। यह छह फीट का है। तो इसका हाथ पहुँचेगा, मेरा नहीं पहुँचा।' यह तथ्य की बात है; इसमें अड़चन क्या है? और हाथ पहुँच जाने से कौन-सी ऊँचाई सिद्ध हो गयी? तब फिर कोई हीनता नहीं है।

और फिर जब हम निरंतर जोर देते हैं—समर्पण के लिए, शून्य होने के लिए, तो हीनता पैदा करने के लिए नहीं, विनम्रता पैदा करने के लिए।

और विनम्रता हीनता से बिलकुल उलटी बात है। क्योंकि विनम्रता तब पैदा होती है, जब अहंकार जाता है। और जब अहंकार जाता है, तो हीनता अपने आप चली जाती है; वह उसकी छाया है।

आप विनम्र आदमी को तो कभी हीन कर ही नहीं सकते।

लाओत्से ने कहा है कि मुझे कभी कोई हरा नहीं पाया, क्योकि मैं पहले से ही हारा हुआ हूँ। और मेरा कभी कोई अपमान नहीं कर सका, क्योंकि मैंने कभी सम्मान चाहा नहीं।

कहा जाता है : लाओत्से किसी सभा में जाता—अगर वह यहाँ आता सुनने—तो वह बिलकुल अंत—में जहाँ जूते उतारे जाते हैं—वहाँ बैठता। क्योंकि वह कहता : वहाँ से कभी कोई उठा नहीं सकता।

आप लाओत्से को हीन नहीं कर सकते। कोई उपाय नहीं है—उसे हीन करने का।

और ध्यान रखें : जो आदमी अंतिम बैठने में समर्थ है, उसके पास बड़ी आत्मा चाहिए। वह इतना आश्वस्त है—अपने होने से कि अंतिम बैठने से अंतिम नहीं होता है।

और जो आदमी पहले बैठने की कोशिश कर रहा है, वह आश्वस्त नहीं है। वह डरा हुआ है। वह जानता है : अगर मैं पहला बैठा नहीं, तो लोग समझेंगे कि मैं पहला नहीं हूँ। उसे अपने पर भरोसा नहीं है। जिसे अपने पर भरोसा है, वह कहीं भी बैठे, इससे कोई भी फर्क नहीं पड़ता।

विनम्रता हीनता नहीं है। विनम्रता अहंकार का विसर्जन है। विनम्रता इस बात की घोषणा है कि मैं जैसा हूँ—वैसा हूँ। और मेरी किसी दूसरे से प्रतिस्पर्धा नहीं है। और अगर मुझे विकास करना है, तो वह मेरा विकास है; वह दूसरे से संबंधित नहीं है। वह दूसरे की तुलना और कम्पैरिजन में नहीं है।

जैसे ही यह बोध आना शुरू हो जाता है, वह कहता है कि मैं मैं हूँ, तुम तुम हो तुम जैसे हो, तुम्हारे लिए भले हो; मैं जैसा हूँ, मेरे लिए भला हूँ। न तुमसे कोई स्पर्धा है, न तुम्हारी जगह लेने की कोई आकांक्षा है। मेरी अपनी जगह है; परमात्मा ने मुझे मेरी जगह दी है। मुझे मेरी जगह पर अंकुरित होना है।

और जैसे ही व्यक्ति दूसरों से प्रतिस्पर्धा छोड़ देता है, वैसे ही परमात्मा में उसका विकास शुरू हो जाता है। और जब तक व्यक्ति दूसरों से उलझता रहता है, तब तक परमात्मा के जगत् में उसका कोई विकास नहीं हो पाता, क्योंकि उसका ध्यान दूसरों पर लगा है। परमात्मा पर तो ध्यान ही नहीं है उसका।

अगर तुम मंदिर में भी जाते हो, तो भी तुम इस बात की फिक्र करते हो कि प्रार्थना उस जगह पर बैठ कर करो, जो नम्बर एक है! प्रार्थना का क्या संबंध है—नम्बर एक से! मंदिर में भी कतारें हैं। वहाँ भी अहंकार आगे बैठा है! वह दूसरे को आगे नहीं बैठने देगा।

अभी कुम्भ का मेला भरने को है, वहाँ अहंकारी पहले स्नान करेंगे। उस पर दंगा-फसाद हो जाता है। हत्याएँ हो जाती हैं, लठ चल जाते हैं। और चलाने वाले संन्यासी हैं, क्योंकि वे कहते हैं : पहले हमारा हक है, पहले हम स्नान करेंगे।

धर्म का क्या संबंध है—पहले से? धर्म का संबंध अगर कुछ है, तो अंतिम से है। आखिरी होने के लिए जो राजी है, वह परमात्मा का प्यारा हो जाएगा।

प्रथम होने की जो दौड़ में है, वह परमात्मा से लड़ रहा है। प्रथम होने की दौड़ नदी में उलटी धारा में तैरने की कोशिश है।

अंतिम होने पर राजी होने का मतलब है : धारा में बह जाना, धारा के साथ एक हो जाना और कहना : जहाँ नदी ले जाय, हम वहीं जाने को राजी हैं।'

समर्पण बहने की कला है। और यह पूरा अस्तित्व परमात्मा है। इसमें जो बहने की कला सीख लेता है, मंदिर उसके लिए दूर नहीं है। मंदिर में वह पहुँच ही गया है।

अब हम सूत्र को लें।

'परंतु शरीर छोड़ कर जाते हुए को अथवा शरीर में स्थित हुए को और विषयों को भोगते हुए को अथवा तीनों गुणों से युक्त हुए को भी अज्ञानी जन नहीं जानते हैं। केवल ज्ञानरूप नेत्रोंवाले ज्ञानी जन ही तत्त्व से जानते हैं।'

'शरीर छोड़कर जाते हुए को...।' जब शरीर छूटता है...। और आपका बहुत बार छूटा है, लेकिन वह घड़ी चूक-चूक जाती है। क्योंकि शरीर छूटने के पहले ही आप बेहोश हो जाते हैं। जब भी कोई मरता है, मरने के पहले ही बेहोश हो जाता है। तो मौत का अनुभव नहीं हो पाता और मृत्यु की जो रहस्यमय घटना है, वह अनजानी रह जाती है।

मरने के पहले आदमी मूर्च्छित हो जाता है, इसलिए मृत्यु में जो भेद घटित होता है : शरीर अलग होता है, आत्मा अलग होती है; इंद्रियों के फूल पीछे पड़े रह जाते हैं, सुगंध, सूक्ष्म वासनाएँ, संस्कार—आत्मा के इर्द-गिर्द सुगंध की तरह लिपटे हुए नयी यात्रा पर निकल जाते हैं। यह घटना हमारी समझ में नहीं आ पाती; क्योंकि हम मूर्च्छित होते हैं। मूर्च्छित हम क्यों हो जाते हैं—मरते क्षण में?

एक जीवन की व्यवस्था है कि दुःख एक सीमा तक झेला जा सकता है। जहाँ दुःख असह्य हो जाता है, वहीं मूर्च्छा आ जाती है। इसलिए जब आप कभी-कभी कहते हैं कि 'मैं असह्य दुःख में हूँ', तो आप गलत कहते हैं। क्योंकि असह्य दुःख में आप होश में नहीं रह सकते, आप बेहोश हो जाएँगे।

तभी तक होश रहता है, जब तक सहने योग्य हो। इसलिए जब भी कोई पीड़ा बहुत हो जाएगी, आप बेहोश हो जाएँगे। कोई भी आघात गहरा होगा, आप बेहोश हो जाएँगे।

मूर्च्छा दुःख का असह्य हो जाना है। और मृत्यु सब से बड़ा दुःख है—हमारे लिए; हम डरते हैं मिटने से—इसलिए। मृत्यु के कारण नहीं है दुःख; मिटने से डरते हैं इसलिए है। 'मैं मिट जाऊँगा; मैं मिटा'—इससे जो भय, पीड़ा और संताप पैदा होता है, उसके धुएँ में चित्त बेहोश हो जाता है।

लेकिन जिन लोगों ने जीवन में ही समर्पण की कला साधी हो, मृत्यु उन्हें बेहोश नहीं कर पायेगी। क्योंकि मिटने के लिए वे पहले से ही तैयार हैं। वे तलाश कर रहे हैं। वे मिटने का ही विज्ञान खोज रहे हैं।

जिन्होंने योग साधा हो, तंत्र साधा हो, जिन्होंने ध्यान के कोई प्रयोग किये हों,

प्रार्थना की हो कभी—उनकी तलाश एक ही है कि मैं कैसे मिट जाऊँ, क्योंकि 'मेरा होना' पीड़ा है। मृत्यु के क्षण में ऐसे लोग सहज मृत्यु के लिए राजी होंगे।

संत अगस्तीन एक चर्च बनवा रहा था। उसने एक बहुत बड़े चित्रकार को बुलाया और कहा कि इस चर्च के प्रथम द्वार पर मृत्यु का चित्र अंकित कर दो। क्योंकि जो मृत्यु को नहीं समझ पाता, वह मंदिर में प्रवेश भी कैसे कर पायेगा?'

अगस्तीन ने चर्च के द्वार पर मृत्यु का चित्र बनवाया। जब चित्र बन गया, तो अगस्तीन उसे देखने आया, पर उसने कहा कि 'और तो सब ठीक है, लेकिन यह जो मृत्यु की काली छाया है, इसके हाथ में तुमने कुल्हाड़ी क्यों दी है?'

चित्रकार ने मृत्यु की काली छाया बनायी है—एक भयंकर विकराल रूप—और उसके हाथ में कुल्हाड़ी है।

उस चित्रकार ने कहा, 'यह प्रतीक है कि मृत्यु की कुल्हाड़ी सभी को काट डालती है, तोड़ डालती है। अगस्तीन ने कहा, 'और सब ठीक है; कुल्हाड़ी अलग कर दो और हाथ में चाबी दे दो।'

चित्रकार ने कहा, 'कुछ समझ में नहीं आया! चाबी से क्या लेना-देना?' अगस्तीन ने कहा, 'जो हमारा अनुभव है, वह यह है कि मृत्यु सिर्फ एक नया द्वार खोलती है; किसी को मिटाती नहीं। इसलिए चाबी।'

मृत्यु एक नया द्वार खोलती है, लेकिन नया द्वार उनके लिए खोलती है, जो होशपूर्वक मरते हैं। जो बेहोशी से मरते हैं, उनकी तो गरदन ही काटती है। उनके लिए तो मृत्यु के हाथ में कुल्हाड़ी ही है।

शरीर छोड़ कर जाते हुए को हम नहीं जान पाते हैं, क्योंकि हम बेहोश होते हैं और हम तभी जान पायेंगे, जब मृत्यु में होश सधे।

इसका अभ्यास करना होगा। इसका इतना अभ्यास करना होगा कि यह चेतन से उतरते-उतरते अचेतन में चला जाय। और जब तक अचेतन में न चला जाय अभ्यास...। इसलिए योग दो शब्दों का उपयोग करता : है वैराग्य और अभ्यास। बस, प्रक्रिया पूरी उन दो में समायी हुई है।

वैराग्य की हमने बात की—कि क्या है वैराग्य। और दूसरा है कि उसका गहन अभ्यास। रोज-रोज साधना, ताकि मरने के पहले आपके भीतर इतना उतर जाय कि मृत्यु उसको हिला न सके।

मेरे एक मित्र हैं। मिलिट्री में मेजर हैं। उनकी पत्नी मेरे पड़ोस में रहती थी। वे तो कभी-कभी आते थे। जगह-जगह उनकी बदलियाँ होती रहती थीं। पत्नी उनकी एक कॉलेज में प्रोफेसर थीं।

जब भी मित्र आते, तो पत्नी थोड़ी परेशान हो जाती। क्योंकि और तो सब ठीक

था, बहुत प्यारे आदमी हैं, लेकिन रात में घुर्राते बहुत थे। और पत्नी अकेली रहने की आदी हो गई थी वर्षों से, तो जब भी साल में महीने-दो महीने के लिए पति आते, तो उसकी नींद हराम हो जाती थी।

उसने मुझे एक दिन कहा कि 'बड़ी अजीब हालत है। कहते भी अच्छा मालूम नहीं पड़ता। वे कभी आते हैं; लेकिन मेरी नींद मुश्किल हो जाती है। यदि मैं यह कहूँ कि मैं दूसरे कमरे में सोऊँगी, तो भी अशोभन मालूम पड़ता है। इतने दिन के बाद पति घर आते हैं। और रात में तो सो ही नहीं पाती। तो मैंने उनसे पूछा कि 'मुझे पूरा ब्यौरा दो।'

उसने कहा कि जब भी वे बायें सोते हैं, तो घुर्राते हैं। जब दायें बदल लेते हैं करवट, तो ठीक सो जाते हैं। और रात में उनको सोने में करवट कौन बदलवाये! और वजनी शरीर है—भारी; सैनिक हैं। और बदलाओ उनको करवट, तो नींद टूट जाएगी।'

तो मैंने उसको कहा कि 'मैं तुझे एक मंत्र देता हूँ; उनके कान में अभ्यास करना।' दूसरे दिन उसने अभ्यास करके मुझे कहा कि 'अद्भुत मंत्र है!'

छोटा-सा मंत्र था। मैंने कहा, 'उनके कान में कहना : राईट टर्न।' मिलिट्री के आदमी थे। जिन्दगी भर का अभ्यास है। मंत्र काम कर गया। जैसे ही उसने कहा : राईट टर्न, और उन्होंने नींद में अपनी करवट बदल ली।

मौत के क्षण में तो आप तभी होश रख पायेंगे, जब जिन्दगी भर अभ्यास किया हो—और वह इतना गहरा हो गया हो कि मौत भी सामने खड़ी हो, तो भी चित्त बेहोश न हो। अचेतन तक, अनकॉन्शस तक पहुँच जाना जरूरी है। इसलिए समर्पण का जितना ज्यादा प्रयोग हो सके, जितना गहरा प्रयोग हो सके; जिन-जिन स्थितियों में आप अपने को खो सकें, खोयें। अपने को सम्हालें मत।

वह खोना इकट्ठा होता जाएगा। रत्ती-रत्ती इकट्ठा होते-होते उसका पहाड़ बन जाएगा। और जब मौत आयेगी, तो आप होशपूर्वक जा सकेंगे। और जो व्यक्ति होशपूर्वक मर गया, उसका दूसरा जन्म होशपूर्वक होता है।

जन्म और मृत्यु एक ही द्वार के दो हिस्से हैं। इस तरफ से जब हम प्रवेश करते हैं, तब मृत्यु; और जब उसी दरवाजे से उस तरफ निकलते हैं, तो जन्म। जैसे एक ही दरवाजे पर लिखा होता है : 'भीतर'। तो बाहर से जब हम प्रवेश करते हैं, तो 'भीतर'—वह बाहर जब हम खड़े थे दरवाजे के। लेकिन जैसे ही दरवाजे के भीतर गये, दूसरा जगत् शुरू हो गया।

मृत्यु अर्थात् इस शरीर से बाहर; और जन्म—दूसरे शरीर में भीतर। लेकिन प्रक्रिया एक ही है। अगर आप होशपूर्वक मर सकते हैं, तो आपका जन्म होशपूर्वक होगा। और तब आपको पिछले जन्म की याद रहेगी। और तब पिछले जन्म के

अनुभव व्यर्थ नहीं जाएँगे। उनका निचोड़ आपके हाथ में होगा। और तब आपने जो भूलें पिछले जन्म में कीं, वह आप इस जन्म में न कर सकेंगे। अन्यथा हर बार वही भूल है। और यह दुष्टचक्र है, व्हीसियस सर्किल है। हर बार भूल जाते हैं; फिर वही भूल करते हैं।

ऐसा आप बहुत बार कर चुके हैं। यही काम जो आप आज कर रहे हैं, इसको आप अनंत बार कर चुके हैं। यही शादी, यही बच्चे, यही धन, यही पद-प्रतिष्ठा; यही लड़ाई, झगड़ा, कलह, अदालत, दुकान—यह आप बहुत बार कर चुके हैं।

काश, आपको एक दफे भी याद आ जाय कि यह आप बहुत बार कर चुके हैं, तो इसमें जो आज आप इतना रस ले रहे हैं, वह एकदम खो जाएगा। यह पागलपन मालूम पड़ेगा। आप एकदम ठहर जाएँगे।

मृत्यु में जो होशपूर्वक मरे, वह जन्म में भी होशपूर्वक पैदा होता है। और जो मृत्यु और जन्म में होशपूर्वक रह जाय, वह जीवन में होशपूर्वक रहता है। क्योंकि मृत्यु और जन्म छोर हैं; बीच में जीवन है। और हम तीनों में बेहोश हैं। इसलिए हम कितना ही सुनें कि 'शरीर नहीं है, आत्मा है', यह बात बैठती नहीं है।

कितना ही कोई कहे कि आप शरीर नहीं, आत्मा हैं; मान भी लें, तो भी यह बात भीतर उतरती नहीं, क्योंकि हमारा अनुभव नहीं है। लगता तो ऐसे ही है कि शरीर ही होंगे। यह आत्मा हवा मालूम पड़ती है; हवाई बात मालूम पड़ती है।

कृष्ण कहते हैं, 'परंतु शरीर छोड़कर जाते हुए को अथवा शरीर में स्थित हुए को और विषयों को भोगते हुए को अथवा तीनों गुणों से युक्त हुए को भी अज्ञानी जन नहीं जानते हैं', क्योंकि मूर्च्छा सतत है। 'केवल ज्ञानरूप नेत्रोंवाले ज्ञानी जन ही इस तत्त्व को जानते हैं।'

कौन-सा है : ज्ञान-नेत्र, जो ज्ञानियों को मिल जाता है? उसको ही मैं अमूर्च्छा कह रहा हूँ।

होशपूर्वक घटनाओं को घटने देना : मृत्यु को, जन्म को, जीवन को; ये तीन घटनाएँ हैं। अगर ये तीनों होशपूर्वक घट जायँ, तो आपके पास ज्ञान-नेत्र उपलब्ध हो गया।

जहाँ आप हैं, वहीं से शुरू करना पड़ेगा। जन्म तो पीछे छूट गया। मौत आगे आ रही है। वह अभी दूर है। जीवन अभी है। जीवन के साथ शुरू करना जरूरी है—कि हम जीयें तो ज्ञानपूर्वक जीयें। जो भी करें, होशपूर्वक करें। बार-बार होश छूट जाएगा; फिर उसे पकड़ें।

रास्ते पर चलें, तो होश से। भोजन करें, तो होश से। किसी से बात करें, तो होश से। एक बात सतत बनी रहे कि मेरे द्वारा मूर्च्छा में कुछ न हो।

कोई गाली दे, तो पहले होश को सम्हालें, फिर उत्तर दें। आप चकित हो जाएँगे : होश सम्हल जाय, तो उत्तर निकलेगा नहीं। और होश न सम्हला हो, तो जो आप नहीं करना चाहते, वह भी हो जाता है, वह भी निकल जाता है।

मुल्ला नसरुद्दीन एक यात्रा पर गया। दो मित्र साथ थे। तीनों बैलगाड़ी से यात्रा कर रहे थे। तीनों ने चिटें डाल कर तय किया कि भोजन कौन बनायेगा। एक का नाम आ गया। पर उसमें भी एक शर्त थी। वह शर्त यह थी कि जिसका नाम आ जाएगा, वह भोजन बनायेगा; लेकिन बाकी दो में से कोई भोजन की शिकायत न कर सकेगा। और जिसने शिकायत की, उसी दिन से भोजन उसको बनाना पड़ेगा। मुल्ला बड़ी मुश्किल में पड़ गया। नाम तो दूसरे का आया, इसलिए प्रसन्न हुआ। लेकिन भोजन उसने इतना रद्दी बनाना शुरू किया कि वह खाया ही न जाय और शिकायत कर नहीं सकते। शिकायत की, तो खुद बनाना पड़े।

एक दिन, दो दिन, तीन दिन, फिर उसने होश खो दिया। तीसरे दिन उसने कहा कि 'टेस्ट्स लाइक हॉर्स शिट—घोड़े की लीद जैसा इसका स्वाद है।' लेकिन उसको खयाल आया, तो उसने कहा कि 'बट डेलीसियस—पर बड़ा स्वादिष्ट है। क्योंकि कम्पलेन नहीं करनी है—शिकायत नहीं करनी है।

अगर आप खयाल रखेंगे, तो चौबीस घंटे ऐसे मौके आपको आयेंगे, जब आधा वाक्य बेहोशी में निकलेगा, और तब आपको खयाल आयेगा आधा; तब आप पीछे से कहेंगे : 'बट डेलीसियस'।

जीवन है हाथ में अभी, और अभी ही कुछ किया जा सकता है। वाणी, विचार, आचरण—सब पहलुओं पर होश की साधना करनी है। जो भी मैं कहूँ, जो भी मैं सोचूँ, जो भी मैं करूँ, वह होशपूर्वक हो, इतना भर काफी है। तो धीरे-धीरे आप पायेंगे कि बेहोशी टूटने लगी और बेहोशी के टूटने के साथ ही दुःख टूटने शुरू हो जाते हैं।

बेहोशी के कारण ही दुःखों को हम निमंत्रण देते हैं। और बेहोशी के कारण ही वे क्षण चूक जाते हैं—जिनसे आनन्द उपलब्ध हो सकता था।

मुल्ला नसरुद्दीन के पास एक गधा था। और गधे को अकसर सर्दी लग जाती, तो वह कंपने लग जाता था। उसे बुखार आ जाता। तो वह ले कर गया गधे को—एक जानवरों के डॉक्टर के पास।

उस डॉक्टर ने जाँच-पड़ताल की और उसको दो गोलियाँ दीं। और एक पोली दी और कहा कि 'नली में गोलियों को रखना और एक छोर गधे के मुँह में डालना और दूसरे से फूँक मार देना, तो गोलियाँ इसके पेट में चली जाएँगी। गोलियाँ बहुत गरम हैं, एक ही दिन में गधा ठीक हो जाएगा।'

शाम को ही नसरुद्दीन लौटा, तो वह लट्ठ लिए हुए था। उसने जा कर दरवाजे पर लट्ठ मारी और कहा, 'कहाँ है, वह डॉक्टर का बच्चा?' डॉक्टर भी डरा, क्योंकि उसकी आँखें लाल हैं; चेहरा सुर्ख—पसीने से भरा हुआ।

डॉक्टर ने पूछा कि 'क्या हुआ?' उसने कहा कि 'तूने पूरी बात क्यों न बतायी?' 'कौन-सी पूरी बात?' डॉक्टर ने पूछा। नसरुद्दीन ने कहा, 'गधे ने पहले फूँक मारी; गोलियाँ मेरे पेट में चली गयीं!'

उस डॉक्टर ने पूछा, 'तुम करने क्या लगे?' उसने कहा, 'मैं जरा दूसरे सोच में पड़ गया था। जरा देर हो गई। गोली रख कर मुँह में नली लगा कर, मैं बैठा और कुछ दूसरा खयाल आ गया।'

उतने खयाल में तो बेहोशी हो जाएगी।

हम सब ऐसे ही जी रहे हैं। कुछ कर रहे हैं, कुछ खयाल आ रहा है। कुछ करना चाहते हैं, कुछ हो जाता है। कुछ सोचा था, कुछ परिणाम आते हैं।

कभी भी वही नहीं हो पाता, जो हम चाहते हैं। वह होगा भी नहीं, क्योंकि वह केवल तभी हो सकता है, जब होश पूरा हो।

जिसका होश पूरा है, उसके जीवन में वही होता है, जो होना चाहिए। उसने अन्यथा का कोई उपाय नहीं है।

जिसका जीवन मूर्च्छा में चल रहा है, वह शराबी की तरह है। जाना चाहता था घर, पहुँच गया कहीं और। क्योंकि पैर का उसे कोई पता नहीं कि कहाँ जा रहे हैं। वह शराबी की तरह है। जो करना चाहता था कुछ, हो गया कुछ और।

मैं पढ़ता था—एक शराबी के संस्मरणों को। वह एक रात ज्यादा पी कर लौटा। पत्नी से बचने के लिए—कि पत्नी को पता न चले...। और ज्यादा पी गया, तो रास्ते पर कई जगह गिरा था। तो चेहरे पर कई जगह खरोंच और चोट लग गई। तो वह बाथरूम में गया और उसने मलहम की पट्टियाँ अपने चेहरे पर लगायीं; जा कर चुपचाप बिस्तर में सो गया।

वह बड़ा प्रसन्न हुआ कि पत्नी को पता भी नहीं चला; शोर-गुल भी नहीं हुआ; खरोंच वगैरह भी सुबह काफी ठीक हो जाएगी; पता भी नहीं चलेगा। बात निपट गई।

लेकिन सुबह ही उसकी पत्नी चिल्लाती बाथरूम से बाहर आयी कि 'तुमने बाथरूम का दर्पण क्यों खराब किया है?' पति ने पूछा : 'कैसा दर्पण!'

वह रात बेहोशी में जो मलहम-पट्टी चेहरे पर लगानी थी, उन्हें दर्पण पर लगा आया था।

होश न हो तो यही होगा। करेंगे कुछ, हो जाएगा कुछ। और शराबी को होना

बिलकुल आसान है। क्योंकि चेहरा दिखाई दर्पण में पड़ रहा था, वहीं उसने पट्टियाँ लगा दीं।

कृष्ण कह रहे हैं कि 'केवल ज्ञानरूप नेत्रोंवाले ज्ञानी जन ही तत्त्व से जानते हैं।' केवल वे ही जो होश से जगे हुए हैं और प्रतिपल जिनका ज्ञान जाग्रत है, वे ही जन्म में, मृत्यु में, जीवन में—भीतर के तत्त्व को पूरी तरह पहचानते हैं।

'योगी जन भी अपने हृदय में स्थित हुए इस आत्मा को यत्न करते हुए ही तत्त्व से जानते हैं। और जिन्होंने अपने अंतःकरण को शुद्ध नहीं किया है, ऐसे अज्ञानीजन तो यत्न करते हुए भी इस आत्मा को नहीं जानते हैं।

यत्न ही काफी नहीं है। यत्न जरूरी है—पर्याप्त नहीं है। प्रयास तो करना होगा सघन, लेकिन अकेला प्रयास काफी नहीं है; हृदय की शुद्धि भी चाहिए।

यहाँ थोड़ा-सा समझ लेना जरूरी है क्योंकि बहुत बार ऐसा होता है कि लोग सिर्फ प्रयास ही करते रहते हैं, बिना इस बात की फिक्र किये कि भाव शुद्ध नहीं है। तो उसके परिणाम भयानक हो सकते हैं। कोई आदमी हृदय को शुद्ध न करे और एकाग्रता को साधे, कन्सेन्ट्रेशन को साधे...। साध सकता है।

बुरे से बुरा आदमी भी एकाग्रता साध सकता है। एकाग्रता से बुराई का कोई लेना-देना नहीं है। बल्कि बुरा आदमी शायद एकाग्रता ज्यादा आसानी से साध सकता है, क्योंकि बुरे आदमी का एक लक्षण होता है कि वह जिस काम में भी लग जाय, पागल की तरह लगता है।

और बुरा आदमी जिद्दी होता है, क्योंकि बुराई बिना जिद्द के नहीं की जा सकती। तो बुरे आदमी के लिए हठयोग बिलकुल आसान है। उसको पकड़ भर जाय, उसके खयाल में भर आ जाय। और बुरा आदमी दुष्टता कर सकता है—दूसरों के साथ भी—अपने साथ भी। दुष्टता करने में उसे अड़चन नहीं है।

अगर आप हठयोग साधेंगे, तो ऐसा लगेगा कि क्यों सताओ इस शरीर को? क्यों इतना आसन लगाकर बैठो? पैर दुखने लगते हैं; आँख से आँसू झरने लगते हैं। दुष्ट आदमी इनकी फिक्र नहीं करता। वह दूसरे को भी सता सकता है—उतनी ही मात्रा में खुद को भी सता सकता है।

आप हैरान होंगे जान कर कि आपके तथाकथित योगियों में महात्माओं में आधे से ज्यादा तो दुष्ट जन हैं। पर उनकी दुष्टता दूसरों की तरफ नहीं है। इतनी भी उनकी बड़ी कृपा है। अपनी ही तरफ किये हुए हैं। समाज को उनसे कोई हानि नहीं है। अगर हानि है, तो उनको खुद को है।

अगर एक दुष्ट हत्यारा एकाग्रता साधे, तो साध सकता है। लेकिन उसकी एकाग्रता से खतरा होगा। क्योंकि एकाग्रता से शक्ति आयेगी, और हृदय शुद्ध नहीं है। उस

शक्ति का दुरुपयोग होगा। आपने दुर्वास ऋषि की कहानियाँ पढ़ी हैं। बस, वह इस तरह का आदमी दुर्वास हो जाएगा। उसके पास शक्ति होगी; अगर वह कुछ भी कह दे, तो उसका परिणाम होगा।

अगर किसी व्यक्ति ने बहुत एकाग्रता साधी हो, तो उसके वचन में एक शक्ति आ जाती है, जो सामान्यतः दूसरों के वचन में नहीं होती। उसका वचन आपके हृदय के अंतस्तल तक प्रवेश कर जाता है। वह जो भी कहेगा, उसके पीछे बल होगा। हमारी जो कथाएँ हैं, वे झूठी नहीं हैं; उन कथाओं में सचाई है।

अगर एकाग्रता साधने वाला आदमी कह दे कि 'तुम कल मर जाओगे', तो बचना बहुत मुश्किल है। इसलिए नहीं कि उसके कहने में कोई जादू है। बल्कि उसके कहने में इतना बल है कि वह बात आपके हृदय में गहरे तक प्रवेश कर जाएगी। उसका तीर गहरा है, एकाग्र है, और उसने वर्षों तक अपने को साधा है। वह एक विचार पर अपनी पूरी शक्ति को इकट्ठा कर लेता है, तो उसका विचार आपके लिए सजेशन बन जाएगा।

वह कह देगा : 'कल मर जाओगे', तो उसकी आँखें, उसका व्यक्तित्व, उसका ढंग, उसकी एकाग्रता, उसकी अखण्डता, उस विचार को तीर की तरह आपके हृदय में चुभा देगी। अब आप लाख कोशिश करो, उस विचार से छुटकारा मुश्किल है। वह आपका पीछा करेगा। वह कल आने के पहले ही आपको आधा मार डालेगा। कल आप मर जाएँगे।

अभिशाप इसलिए लागू नहीं होता कि परमात्मा अभिशाप पूरा करने को बैठा है; कि दुर्वासाओं का रास्ता देख रहा है कि वे अभिशाप दें, और परमात्मा पूरा करे। लेकिन दुर्वासा ने एकाग्रता साधी है वर्षों तक; पर हृदय शुद्ध नहीं है।

इसलिए कृष्ण कहते हैं : सिर्फ यत्न काफी नहीं है। अगर अन्तःकरण को शुद्ध किया है, तो यत्न करते हुए भी, अज्ञानी जन आत्मा को नहीं जानते हैं।

इसलिए दो बातें हैं। प्रयत्न चाहिए और साथ-साथ हृदय की शुद्धि चाहिए।

तो बुद्ध और महावीर जैसे लोगों ने तो हृदय की शुद्धि को पहले रखा है, ताकि भूल-चूक जरा भी न हो पाये। आहार शुद्धि, शरीर शुद्धि, आचरण शुद्धि—सब तरह से शुद्ध हो जाय व्यक्ति, फिर वे कहते हैं : यत्न करो। नहीं तो खतरा है।

ऐसे खतरे कोई अतीत में कहानियों में घटे हैं, ऐसा ही नहीं है। अभी इस सदी के प्रारंभ में रूस में एक बहुत अद्भुत व्यक्ति था—रासपुतिन। अनूठी प्रतिभा का आदमी था। ठीक उसी हैसियत का आदमी था, जिस हैसियत के आदमी गुरजिएफ या रमण हैं। लेकिन एक खतरा था कि हृदय की शुद्धि नहीं थी।

रासपुतिन ने गहन साधना की थी। और पूरब की जितनी पद्धतियाँ हैं—सब पर काम किया था। ठेठ तिब्बत तक उसने खोजबीन की थी : और अनूठी शक्तियों का

मालिक हो गया था। लेकिन हृदय साधारण था। साधारण आदमी का हृदय था। इसलिए जो चाहता, वह हो जाता था। लेकिन जो वह चाहता, वह गलत ही चाहता था। वह ठीक तो चाह नहीं सकता था।

पूरे रूस को डुबाने का कारण रासपुतिन बना, क्योंकि उसने ज़ार को प्रभावित कर लिया। खास कर ज़ार की पत्नी को प्रभावित कर लिया। उसमें ताकत थी। और ताकत सच में अद्भुत थी। उसके दुश्मनों ने भी स्वीकार किया।

जब उसको मारा, हत्या की गई उसकी, तो उसको पहले बहुत जहर पिलाया, लेकिन वह बेहोश न हुआ। एकाग्रता इतनी थी उसकी। उसको जहर पिलाते गये, वह बेहोश न हुआ। जितने जहर से—कहते हैं—पाँच सौ आदमी मर जाते हैं, उनसे वह सिर्फ बेहोश भी नहीं हुआ; मरने की तो बात ही अलग रही।

फिर उसको गोलियाँ मारीं, तो कोई बाईस गोलियाँ उसके शरीर में मारीं, तो भी नहीं मरा! तो फिर उसको बाँध कर और पत्थरों से लपेटे कर वोल्गा के अंदर उसको डुबा दिया। और जब दो दिन बाद उसकी लाश मिली, तो उसने पत्थरों से अपने को छुड़ा लिया था। बंधन काट डाले थे। और डॉक्टरों ने कहा कि 'वह पत्थरों की वजह से नहीं मरा है; उसके दो घंटे बाद मरा है।'

अंदर भी वोल्गा में वह इतना सारा—इतना नशा, इतनी जहर, इतनी गोलियाँ, पत्थर बँधे—फिर भी उसने पत्थर छोड़ लिए थे और अपने बंधन भी अलग कर डाले थे। हो सकता था, वह निकल ही आता। गहन शक्ति का आदमी था, लेकिन सारा प्रयोग उसकी शक्ति का उलटा हुआ।

रूस की क्रांति में लेनिन का उतना हाथ नहीं जितना रासपुतिन का है। क्योंकि रासपुतिन ने रूस को बरबाद करवा दिया। ज़ार पर उसका प्रभाव था। उसने जो चाहा, वह हुआ। सारा उपद्रव हो गया। उस उपद्रव का फल लेनिन ने उठाया। क्रांति आसान हो गई। आधा काम रासपुतिन ने किया—आधा लेनिन ने।

अगर हृदय शुद्ध न हो, तो शक्ति तो यत्न से आ सकती है। लेकिन उससे आत्मा नहीं आ जाएगी।

रासपुतिन के पास इतनी ताकत है, लेकिन आत्मा नहीं है। यह शक्ति भी मन और शरीर की है।

हृदय की शुद्धि का अर्थ है—भावों की निर्मलता। बच्चे जैसा हृदय हो जाय। कठोरता छूटे, क्रोध छूटे, अहंकार छूटे, ईर्ष्या-द्वेष छूटे, घृणा-वैमनस्य छूटे और हृदय शुद्ध हो; और साथ में योग का यत्न हो। यत्न और शुद्ध भाव।

इसे हम ऐसा भी कह सकते हैं कि सिर्फ योगी होना काफी नहीं है; भक्त होना भी जरूरी ह। सिर्फ योगी खतरनाक है, सिर्फ भक्त कमजोर है।

भक्त निर्बल है। वह सिर्फ दीनता और हीनता की प्रार्थना कर सकता है कि 'तुम पतित-पावन हो आर मैं पापी हूँ। मुझे मुक्त करो।' यह सब कह सकता है। लेकिन निर्बल है। उसके पास कोई शक्ति नहीं है। योगी के पास बड़ी शक्ति इकट्ठी हो सकती है, लेकिन उसके पास भाव नहीं है।

जहाँ भक्त और योगी का मिलन होता है, जहाँ भाव और यत्न दोनों संयुक्त हो जाते ह, वहाँ आत्मा उपलब्ध होता है।

आज इतना ही।

एकाग्रता और हृदय-शुद्धि • वैराग्य और अभ्यास
सोमरस, सुरति और अन्तर्यामी

पाँचवाँ प्रवचन

बम्बई, रात्रि, दिनांक ९ मार्च, १९७४

यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम् ।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम् ॥ १२ ॥

गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा ।
पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः ॥ १३ ॥

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः ।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ॥ १४ ॥

सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टो
मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च ।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो
वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम् ॥ १५ ॥

और हे अर्जुन, जो तेज सूर्य में स्थित हुआ संपूर्ण जगत् को प्रकाशित करता है तथा जो तेज चन्द्रमा में स्थित है और जो तेज अग्नि में स्थित है, उसको तू मेरा ही तेज जान।

और मैं ही पृथ्वी में प्रवेश करके अपनी शक्ति से सब भूतों को धारण करता हूँ और रसस्वरूप अर्थात अमृतमय सोम होकर संपूर्ण औषधियों को अर्थात् वनस्पतियों को पुष्ट करता हूँ।

मैं ही सब प्राणियों के शरीर में स्थित हुआ वैश्वानर अग्निरूप होकर प्राण और अपान से युक्त हुआ चार प्रकार के अन्न को पचाता हूँ।

और मैं ही सब प्राणियों के हृदय में अंतर्यामीरूप से स्थित हूँ तथा मेरे से ही स्मृति, ज्ञान और अपोहन अर्थात संशय विसर्जन होता है और सब वेदों द्वारा मैं ही जानने के योग्य हूँ तथा वेदांत का कर्ता और वेदों को जाननेवाला भी मैं ही हूँ।

पहले कुछ प्रश्न।

● पहला प्रश्न : कल आपने रासपुतिन की जो घटना कही, वह विस्मयजनक है। हमने तो अब तक यही सुना था कि शक्ति जब जागती है—उसे चाहे कुंडलिनी कहें, या त्रिनेत्र—तो उसकी अग्नि में मनुष्य के सभी मैल, सभी कलुष जल जाते हैं, और वह शुद्ध और पवित्र हो जाता है!

इस संबंध में कुछ बातें महत्त्वपूर्ण हैं।

एक : शक्ति स्वयं में निष्पक्ष और निरपेक्ष है। शक्ति न तो शुभ है और न अशुभ। उसका शुभ उपयोग हो सकता है; अशुभ उपयोग हो सकता है।

दीये से अँधेरे में रोशनी भी हो सकती है, और किसी के घर में आग भी लगायी जा सकती है। जहर से हम किसी के प्राण भी ले सकते हैं, और किसी मरणासन्न व्यक्ति के लिए जहर औषधि भी बन सकता है।

शक्ति—सभी—भौतिक या अभौतिक—निष्पक्ष और निरपेक्ष है। क्या उपयोग करते हैं—इस पर परिणाम निर्भर होंगे।

शुद्ध अंतःकरण न हुआ हो, तो भी शक्ति उपलब्ध हो सकती है। क्योंकि शक्ति की कोई शर्त भी नहीं कि शुद्ध अंतःकरण हो, तो ही उपलब्ध होगी। अशुद्ध अंतःकरण को भी उपलब्ध हो सकती है। और अक्सर तो ऐसा होता है कि अशुद्ध अंतःकरण शक्ति को पहले उपलब्ध कर लेता है। क्योंकि शक्ति की आकांक्षा भी अशुद्धि की ही आकांक्षा है।

शुद्ध अन्तःकरण शक्ति की आकांक्षा नहीं करता, शांति की आकांक्षा करता है। अशुद्ध अन्तःकरण शक्ति की आकांक्षा करता है—शांति की नहीं।

शुद्ध अन्तःकरण को शक्ति मिलती है, वह प्रसाद है; वह परमात्मा की कृपा है—

अनुकम्पा है। वह उसने माँगा नहीं है; वह उसने चाहा भी नहीं है। वह उसने खोजा भी नहीं है। वह उसे सहज मिला है।

अशुद्ध अन्तःकरण को शक्ति मिलती है, वह उसकी वासना की माँग है। वह प्रभु का प्रसाद नहीं है। वह उसने चाहा है, यत्न किया है, और उसे पा लिया है।

शक्ति की चाह ही हमारे भीतर इसलिए पैदा होती है कि हम कुछ करना चाहते हैं। शक्ति के बिना न कर सकेंगे।

शुद्ध अन्तःकरण कुछ करना नहीं चाहता। शक्ति की कोई जरूरत भी नहीं है। अशुद्ध अन्तःकरण बहुत कुछ करना चाहता है। वासनाओं की पूर्ति करनी है; महत्त्वकांक्षाएँ भरनी हैं। मन की पागल दौड़ है, उस दौड़ के लिए सहारा चाहिए, ईंधन चाहिए। तो शक्ति की माँग होगी।

और शक्ति मिलती है—न तो शुद्धि से, न अशुद्धि से। शक्ति मिलती है—यत्न से—प्रयत्न, साधना से। अगर कोई व्यक्ति अपने चित्त को एकाग्र करे, तो शुभ विचार पर भी एकाग्र कर सकता है, अशुभ विचार पर भी।

इस संबंध में महावीर की अंतर-दृष्टि बड़ी गहरी है। महावीर ने ध्यान के दो रूप कर दिये। एक को वे धर्म-ध्यान कहते हैं; एक को अधर्म-ध्यान। ऐसा भेद मनुष्य जाति के इतिहास में किसी दूसरे व्यक्ति ने नहीं किया। यह भेद बड़ा कीमती है।

हमें तो लगेगा कि सभी ध्यान धार्मिक होते हैं। लेकिन महावीर दो हिस्से करते हैं—अधर्म-ध्यान और धर्म-ध्यान।

तो ध्यान अपने आप में धार्मिक नहीं है। शुद्ध अन्तःकरण के साथ जुड़े तो ही धार्मिक है। अशुद्ध अन्तःकरण के साथ जुड़े तो अधार्मिक है।

आपको भी अनुभव हुआ होगा...। धार्मिक ध्यान का तो अनुभव शायद न हुआ हो, लेकिन अधार्मिक ध्यान का आपको भी अनुभव हुआ है।

जब आप क्रोध में होते हैं, तो चित्त एकाग्र हो जाता है। जब काम-वासना से भरते हैं, तो चित्त एकाग्र हो जाता है। परमात्मा पर मन को लगाना हो, तो यहाँ-वहाँ भटकता है। एक सुंदर स्त्री मन में समा जाय, तो भटकता नहीं है; सुंदर स्त्री में रुक जाता है।

परमात्मा की मूर्ति पर ध्यान को लगायें तो बड़ी मेहनत करनी पड़ती है; तो भी नहीं रुकता। एक नग्न स्त्री का चित्र सामने रखा हो, तो मन एकदम रुक जाता है; कहीं जाता नहीं। पास शोरगुल भी होता रहे, तो भी मन विचलित नहीं होता। इसे महावीर अधर्म-ध्यान कहते हैं। यह भी ध्यान तो है। क्योंकि ध्यान का तो मतलब है : मन का ठहर जाना। वह कहाँ ठहरता है—यह सवाल नहीं है।

जब आप क्रोध में होते हैं, तब मन ठहर जाता है। इसलिए आपको अनुभव होगा

कि क्रोध में आपकी शक्ति बढ़ जाती है। साधारणतः हो सकता है : आपमें इतनी शक्ति न हो, लेकिन जब क्रोध में आप होते हैं, तो अनेक गुना शक्ति हो जाती है। क्रोध की अवस्था में लोगों ने ऐसे पत्थरों को हटा दिया है, जिनको सामान्य अवस्था में वे हिला भी नहीं सकते। क्रोध की अवस्था में अपने से दुगुने ताकतवर आदमियों को लोगों ने पछाड़ दिया है—जिनको साधारण अवस्था में वे देख कर भाग ही खड़े होते।

क्रोध में मन एकाग्र हो जाता है; शक्ति उपलब्ध होती है। वासना के क्षण में मन एकाग्र हो जाता है; शक्ति उपलब्ध होती है।

एकाग्रता शक्ति है। कहाँ एकाग्र कर रहे हैं—यह बात निर्णायक होगी। एकाग्रता के लिए आवश्यकता नहीं है कि वह शुभ हो, या अशुभ हो।

रासपुतिन जैसे व्यक्ति बड़ी एकाग्रता को साधते हैं। लेकिन हृदय अशुद्ध है, तो उस एकाग्रता का अंतिम परिणाम अशुभ होता है। रासपुनित ने अपनी शक्तिओं का जो उपयोग किया...।

ज़ार का एक ही लड़का था; रूस के सम्राट का एक ही लड़का था। और सम्राट और साम्राज्ञी दोनों ही उस लड़के के लिये बड़े चिंतातुर थे। वह बचपन से ही बीमार था, अस्वस्थ था। रासपुतिन की किसी ने खबर दी कि वह शायद ठीक कर दे। रासपुतिन ने उसे ठीक भी कर दिया। रासपुनित ने उसके सिर पर हाथ रखा और वह बच्चा पहली दफ़ा ठीक स्वस्थ अनुभव हुआ। लेकिन तब से सम्राट के पूरे परिवार को रासपुतिन का गुलाम हो जाना पड़ा। क्योंकि रासपुतिन दो दिन के लिए कहीं चला जाय, तो वह बच्चा अस्वस्थ हो जाय। रासपुतिन का रोज राजमहल आना जरूरी है। और यह बात थोड़े दिन में साफ़ हो गई कि रासपुतिन अगर न होगा, तो बच्चा मर जाएगा। इलाज तो कम हुआ, इलाज बीमारी बन गया! पहले तो कुछ चिकित्सकों का परिणाम भी होता था, अब किसी का भी कोई परिणाम न रहा। अब रासपुतिन की मौजूदगी नियमित चाहिए।

और उस लड़के के आधार पर रासपुतिन जितना शोषण कर सकता था—ज़ार का और ज़ारीना का—उसने किया। उसने जो चाहा, वह करवाया। मुल्क का प्रधान मंत्री भी नियुक्त करना हो, तो रासपुतिन जिसको इशारा करे, वह प्रधानमंत्री हो जाय। क्योंकि वह लड़के की जान उसके हाथ में हो गई। जिस व्यक्ति ने चित्त को बहुत एकाग्र किया हो, उसे यह बड़ा आसान है।

वह बच्चा सम्मोहित हो गया था। वह बच्चा हिप्नोटाइज्ड हो गया था। अब यह सम्मोहित अवस्था—उस बच्चे की—शोषण का आधार बन गई।

जीसस ने भी लोगों को स्वस्थ किया है। जीसस ने भी लोगों के सिर पर हाथ रख कर उनकी बीमारियाँ अलग कर दीं।

रासपुतिन के पास भी ताकत वही है, जो जीसस के पास है। रासपुतिन भी बीमारी दूर कर सकता है। लेकिन रासपुतिन बीमारी को रोक भी सकता है; जीसस वह न कर सकेंगे। रासपुतिन बीमारी का शोषण भी कर सकता है; जीसस वह न कर सकेंगे।

हृदय शुद्ध हो, तो वही शक्ति सिर्फ चिकित्सा बनेगी। हृदय अशुद्ध हो, तो वही शक्ति शोषण भी बन सकती है।

कठिनाई हमें समझने में यह होती है कि अशुद्ध हृदय एकाग्र कैसे हो सकता है। कोई अड़चन नहीं है। एकाग्रता तो एक कला है; मन को एक जगह रोकने की कला है। इसलिए अगर दुनिया में बुरे लोगों के पास भी शक्ति होती है, तो उसका कारण भी यही है कि उनके पास भी एकाग्रता होती है।

हिटलर के पास बड़ी एकाग्रता है। जर्मन जैसी बुद्धिमान जाति को इतने बड़े पागल-पन में उतार देना सामान्य व्यक्ति की क्षमता नहीं है। हिटलर ने जो भी कहा, वह जर्मन जाति ने स्वीकार कर लिया। उसकी आँखों में जादू था। उसके कहने में बल था। उसके खड़े होने से ही सम्मोहन पैदा हो जाता था।

जर्मनी की पराजय के बाद जिन लोगों ने अंतरराष्ट्रीय अदालत में वक्तव्य दिये हैं उसमें बड़े बुद्धिमान लोग थे : प्रोफेसर थे, युनिवर्सिटी के वाइस चान्सेलर थे। इन्होंने यही कहा कि 'हम अब सोच भी नहीं पाते कि हमने यह सब कैसे किया! जैसे कोई शक्ति हमसे करवा रही थी।'

दुनिया में बुरे आदमी के पास भी ताकत होती है; भले आदमी के पास भी ताकत होती है। ताकत एक ही है। बुरे आदमी के पास हृदय का यंत्र बुरा है। वही ताकत उसके बुरे यंत्र को चलाती है।

यह बिजली दौड़ रही है। इससे बिजली भी चल रही है, पंखा भी चल रहा है। पंखा खराब हो, तो बिजली वही दौड़ती रहेगी, लेकिन पंखे में खड़-बड़ शुरू हो जाएगी। पंखा बहुत खराब हो, तो टूट कर गिर भी सकता है, और किसी के प्राण भी ले सकता है। कसूर बिजली का नहीं है।

मनुष्य तो एक यंत्र है। शक्ति तो सभी परमात्मा की है—चाहे बुरे आदमी में हो, चाहे भले आदमी में हो। शक्ति का स्रोत तो एक ही है। राम में भी वही स्रोत है; रावण में भी वही स्रोत है। रावण के लिए कोई अलग मार्ग नहीं है—शक्ति को पाने का। उसी महास्रोत से रावण भी शक्ति पाता है, जिस महास्रोत से राम शक्ति पाते हैं।

शक्ति के स्रोत में कोई भी फर्क नहीं है, लेकिन दोनों के हृदय में फर्क है। एक के पास शुद्ध हृदय है; एक के पास अशुद्ध हृदय है। उस अशुद्ध हृदय में से शक्ति विनाशक हो जाती है। शुद्ध; हृदय से शक्ति निर्मात्री—सर्जनात्मक हो जाती है।

शुद्ध हृदय से जीवन बहने लगता है; अशुद्ध हृदय से मृत्यु बहने लगती है। शुद्ध से प्रकाश बन जाता है; अशुद्ध से अंधकार बन जाता है।

लेकिन शक्ति का स्रोत एक है। दो स्रोत हो भी नहीं सकते; दो स्रोत का कोई उपाय भी नहीं है। कितना ही बुरा आदमी हो, परमात्मा उसके भीतर वही है।

इसलिए जिन सद्गुरुओं ने वस्तुतः सैकड़ों लोगों पर साधना के प्रयोग किये हैं—करवाये हैं, उन्होंने अनिवार्यरूप से कुछ व्यवस्था की है, जिससे कि अंतःकरण शुद्ध हो। या तो साधना के साथ शुद्ध हो या साधना के पूर्व शुद्ध हो। शक्ति की घटना घटने के पहले अंतःकरण शुद्ध हो जाय, अन्यथा हित की जगह अहित की संभावना है।

आप सोचें : अगर आपको अभी शक्ति मिल जाय, तो आप क्या करेंगे? अगर आपको एक शक्ति मिल जाय कि आप चाहें तो किसी को जीवन दे सकें; और चाहें तो किसी को मृत्यु दे सकें, तो आपके मन में सब से पहले क्या खयाल उठेगा?

शायद यह आपके मन में खयाल उठे कि मित्र को मैं शाश्वत बना दूँ। लेकिन शत्रु को नष्ट कर दूँ—यह खयाल पहले उठेगा। वह जो अंतःकरण भीतर है, जैसा है, वैसे ही खयाल देगा।

अगर आपको यह शक्ति मिल जाय कि आप अदृश्य हो सकते हैं, तो आपको यह खयाल शायद हो आये कि अदृश्य हो कर जाऊँ और लोगों के पैर दबाऊँ, सेवा करूँ। मैं नहीं सोचता कि इसका खयाल भी आ सकता है। अदृश्य होने का खयाल आते से किसकी पत्नी को आप ले भागें; किसकी तिजोरी खोल लें; जहाँ कल तक आप प्रवेश नहीं कर सकते थे, वहाँ कैसे प्रवेश कर जायँ—यही खयाल आयेगा।

सोचने भर से कि आपको अगर अदृश्य होने की शक्ति मिल जाय, तो आप क्या करेंगे? एक कागज पर आप बैठ कर आज ही रात लिखना, तो आपको खयाल में आ जाएगा…। अभी शक्ति मिल नहीं गई है, सिर्फ खयाल है, लेकिन मन सपने संजोना शुरू कर देगा कि क्या करना है।

और शक्ति अशुद्ध को भी मिल सकती है, इसलिए शक्ति के स्रोत छिपा कर रखे गये हैं। योग, तंत्र और धर्म के आसपास इतनी गुप्तता, इतनी सीक्रेसि का कुल कारण यही है। क्योंकि शक्ति का स्रोत गलत आदमी को भी मिल सकता है; खतरनाक आदमी को भी मिल सकता ह। और जब भी कोई विज्ञान—कोई भी विज्ञान—चाहे आंतरिक या चाहे बाह्य—ऊँचाइयों पर पहुँचता है, तो खतरे शुरू हो जाते हैं।

अभी पश्चिम में विचार चलता है कि विज्ञान की जो नई खोजें हैं, वे गुप्त रखी जायँ; अब उनको प्रगट न किया जाय। क्योंकि विज्ञान की नई खोजें अब खतरे की सीमा पर पहुँच गई हैं। वे बुरे आदमी के हाथ में पड़ सकती हैं। पड़ ही रही हैं; क्योंकि राजनीतिज्ञ के हाथ में पड़ जाती है—सारी खोज। आइन्स्टीन—जिसने हाथ बँटाया—अणु

शक्ति के निर्माण में—उसने कभी सोचा भी नहीं था कि हिरोशिमा और नागासाकी में एक एक लाख लोग जल कर राख हो जाएँगे—मेरी ही खोज से।

आइन्स्टीन से मरने के पहले किसी ने पूछा कि 'तुम अगर दुबारा जनम लो तो क्या करोगे?' तो उसने कहा, 'मैं एक प्लम्बर होना पसंद करूँगा, बजाय एक वैज्ञानिक होने के। क्योंकि वैज्ञानिक हो कर देख लिया कि मेरे माध्यम से, मेरे बिना जाने, मेरी बिना अकांक्षा के, मेरे विरोध में, मेरे ही हाथों से जो काम हुआ, उसके लिए मैं रोता हूँ।'

शक्ति तो खोज़ता है वैज्ञानिक और राजनीतिज्ञ के हाथ में पहुँच जाती है। और राजनीतिज्ञ शुद्ध रूप से अशुद्ध आदमी है। वह पूरा अशुद्ध आदमी है। क्योंकि उसकी दौड़ ही शक्ति की है। उसकी चेष्टा ही महत्वाकांक्षा की है कि दूसरों पर कैसे हावी हो जाय।

तो आइन्स्टीन ने अपने अंतिम पत्रों में अपने मित्रों को लिखा है कि 'भविष्य में अब हमें सचेत हो जाना चाहिए। और हम जो खोजें, वह गुप्त रहे।'

यह खयाल पश्चिम को अब आ रहा ह। लेकिन हिंदुओं को यह खयाल आज से तीन हजार साल पहले आ गया।

पश्चिम में बहुत लोग विचार करते हैं कि हिंदुओं ने—जिन्होंने इतनी गहरी चिंतना की—उन्होंने विज्ञान की बहुत-सी बातें क्यों न खोजीं।

चीन को आज से तीन हजार साल पहले यह खयाल आ गया कि विज्ञान खतरनाक है। चीन में सबसे पहले बारूद खोजी गई, लेकिन चीन ने बम नहीं बनाये; फुलझड़ी-फटाके बनाये। बारूद वही है, लेकिन चीन ने फुलझड़ी-फटाके बना कर बच्चों का खेल किया—इससे ज्यादा उनका उपयोग नहीं किया।

यह तो बिलकुल साफ है कि जो फुलझड़ी-फटाके बना सकता है, उसको साफ है कि इससे आदमी की हत्या की जा सकती है। क्योंकि कभी-कभी तो फुलझड़ी-फटाके से हत्या हो जाती है। हर साल दीवाली पर न मालूम कितने बच्चे इस मुल्क में मरते हैं; अपंग हो जाते हैं; आँख फूट जाती है; हाथ जल जाते हैं।

तो तीन हजार साल पहले चीन को फटाके बनाने की कला आ गई। बम बड़ा फटाका है। लेकिन चीन ने उस कला को उस तरफ जाने ही नहीं दिया, उसको खेल बना दिया।

जैसे ही यूरोप में बारूद पहुँची कि उन्होंने तत्काल बम बना लिया। बारूद की ईजाद पूरब में हुई और बम बना पश्चिम में।

हिंदुओं को, चीनिओं को तीन हजार साल पहले बहुत से विज्ञान के सूत्रों का खयाल हो गया। और उन्होंने वह बिलकुल गुप्त कर दिया कि वे सूत्र नहीं उपयोग करते हैं।

न केवल विज्ञान के संबंध में, बल्कि धर्म के संबंध में भी हिंदुओं को तिब्बतिओं को, चीनिओं को—पूरे पूरब को कुछ गहन सूत्र हाथ में आ गये। और यह बात भी साफ हो गयी कि यह सूत्र गलग आदमी के हाथ में जाएँगे तो खतरा है। तो उन सूत्रों को अत्यंत गुप्त कर दिया। जब गुरु समझेगा—शिष्य को—इस योग्य, तब वह उसके कान में दे देगा। सीक्रेसि, अत्यंत गुप्तता और गुह्यता है। और वह तब ही देगा, जब वह समझेगा कि शिष्य इस योग्य हुआ, कि शक्ति का दुरुपयोग न होगा।

इसलिए जो भी महत्वपूर्ण है, वह शास्त्रों में नहीं लिखा हुआ है। शास्त्रों में तो सिर्फ अधूरी बातें लिखी हुई हैं। कोई भी गलत आदमी शास्त्र के माध्यम से कुछ भी नहीं कर सकता।

शास्त्र में मूल बिंदु छोड़ गये हैं। जैसे सब बता दिया गया है, लेकिन चाबी शास्त्र में नहीं है। महल का पूरा वर्णन है। भीतर के एक-एक कक्ष का वर्णन है। लेकिन ताला कहाँ लगा है, इसकी किसी शास्त्र में कोई चर्चा नहीं है। और चाबी का तो कोई हिसाब शास्त्र में नहीं है। चाबी तो हमेशा व्यक्तिगत हाथों से गुरु शिष्य को देगा।

जिसको हम मन्त्र कहते रहे हैं और दीक्षा कहते रहे हैं, वह गुप्तता में, जो जानता है उसके द्वारा, उसको चाबी दिये जाने की कला है, जिससे खतरा नहीं है, जो दुरुपयोग नहीं करेगा; और चाबी को सम्हाल कर रखेगा, जब तक कि योग्य आदमी न मिल जाय। और अगर योग्य आदमी न मिले तो हिंदुओं ने तय किया कि चाबी को खो जाने देना; हर्जा नहीं है। जब भी योग्य आदमी होंगे, चाबी फिर खोजी जा सकती है। लेकिन गलत आदमी के हाथ में चाबी मत देना। वह बड़ा खतरा है। और एक बार गलत आदमी के हाथ में चाबी चली जाय, तो अच्छे आदमी के पैदा होने का उपाय ही समाप्त हो जाता है।

तो ज्ञान चाहे खो जाय, लेकिन गलत को मत देना। यह जो हिंदुओं ने ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र की व्यवस्था की, उस व्यवस्था में यह सारा का सारा खयाल था। ब्राह्मण के अतिरिक्त चाबी किसी को न दी जाय। शूद्र के हाथ तक तो पहुँचने न दी जाय। शूद्र से कोई मतलब उस आदमी का नहीं, जो शूद्र घर में जन्मा ह।

हिंदुओं का हिसाब बहुत अनूठा है। हिंदुओं का हिसाब यह है कि पैदा तो हर आदमी शूद्र ही होता है। शूद्रता तो जन्म से सभी को मिलती है। इसलिए ब्राह्मण को हम द्विज कहते हैं। उसका दुबारा जन्म होना चाहिए। गुरु के पास फिर से उसका जन्म होगा।

माँ-बाप ने जो जन्म दिया, उसमें तो शूद्र ही पैदा होता है। उससे कोई कभी ब्राह्मण पैदा नहीं होता है। और जो अपने को माँ-बाप से पैदा होकर ब्राह्मण समझ लेता है, उसे कुछ पता ही नहीं है।

ब्राह्मण तो पैदा होगा गुरु की सन्निधि में। दुबारा उसका जन्म होगा, वह ट्वाइस बॉर्न होगा; इसलिए उसे द्विज कहते हैं—इसका दूसरा जन्म हो गया। और दूसरे जन्म के बाद वह अधिकारी होगा कि गुरु उसे—जो गुह्य है, जो छिपा है, वह दे। जो नहीं दिया जा सकता सामान्य को, वह उसे दे। वह उसकी धरोहर होगी।

इसलिए बहुत सैकड़ों वर्ष तक हिंदुओं ने चेष्टा कि उनके शास्त्र लिखे न जायँ; कंठस्थ किये जायँ। क्योकि लिखते ही चीज सामान्य हो जाती है, सार्वजनिक हो जाती है। फिर उस पर कब्जा नहीं रह जाता। फिर नियंत्रण रखना असंभव है।

और जब लिखे भी गये शास्त्र, तो मूल बिंदु छोड़ दिये गये हैं। इसलिए आप शास्त्र कितना ही पढ़ें, सत्य आपको नहीं मिल सकेगा। सब शास्त्र पढ़कर आपको अन्ततः गुरु के पास ही जाना पड़ेगा।

तो सभी शास्त्र गुरु तक ले जा सकते हैं; बस। और सभी शास्त्र आप में प्यास जगायेंगे और बेचैनी पैदा करेंगे, और चाबी कहाँ है—इसकी चिंता पैदा होगी। और तब आप गुरु की तलाश में निकलेंगे—जिसके पास चाबी मिल सकती है।

आध्यात्मिक विज्ञान तो और भी खतरनाक है। क्योंकि आपको खयाल ही नहीं कि आध्यात्मिक विज्ञान क्या कर सकता है। अगर कोई व्यक्ति थोड़ी-सी भी एकाग्रता साधने में सफल हो जाय, तो वह दूसरे लोगों के मनों को बिना उनके जाने प्रभावित कर सकता है। आप छोटे-मोटे प्रयोग करके देखें तो आपको खयाल में आ जाएगा।

रास्ते पर जा रहे हों, किसी आदमी के पीछे चलने लगें; कोई तीन-चार कदम का फासला रखें। फिर दोनों आँखों को उसकी चेथी पर—सिर के पीछे स्थिर कर लें। एक सैकेंड भी आप एकाग्र नहीं हो पायेंगे कि वह आदमी लौटकर पीछे देखेगा। आपने कुछ किया नहीं; सिर्फ आँख...।

ठीक रीढ़ के आखिरी हिस्से से मस्तिष्क शुरू होता है। मस्तिष्क रीढ़ का ही विकास है। जहाँ से मस्तिष्क शुरू होता है, वहाँ बहुत संवेदनशील हिस्सा है। आपकी आँख का जरा-सा भी प्रभाव और वह संवेदना वहाँ पैदा हो जाती है; सिर घुमा कर देखना जरूरी हो जाएगा।

और अगर आप दस-पाँच लोगों पर प्रयोग कर के समझ जायँ कि यह हो सकता है, तो उस संवेदनाशील हिस्से से कोई भी विचार किसी व्यक्ति में डाला जा सकता है।

बहुत बार ऐसा होता है; आपको पता भी नहीं होता है कि बहुत से विचार आप में किस भाँति प्रवेश कर जाते हैं।

बहुत बार ऐसा होता है कि किसी व्यक्ति के पास आप जाते हैं और आपके विचार तत्काल बदलने लगते हैं; बुरे या अच्छे होने लगते हैं।

संतों के पास अकसर अनुभव होगा कि उनके पास जा कर आपके विचारों में एक

झोंका आ गया; कुछ बदलाहट हो गयी। बुरे आदमी के पास जा कर भी एक झोंका आता है; कुछ बदलाहट हो जाती है।

संत किसी भावना में जीता है। उस भावना में वह इतनी सघनता से जीता है कि जैसे ही आप उसके पास जाते हैं, आपके मस्तिष्क में उसकी चोट पड़नी शुरू हो जाती है। वहाँ एक सतत वातावरण है।

बुरा आदमी भी एक भावना में जीता है। वह उसकी एकाग्रता ह। उसके पास आप जाते हैं कि चोट पड़नी शुरू हो जाती है।

भीड़ में जब भी आप जाते हैं, तभी आप लौटकर अनुभव करेंगे कि मन उदास हो गया, थक गया; जैसे आप कुछ खो कर लौटे हैं। क्योंकि भीड़ एक उत्पात है; उसमें कई तरह के मस्तिष्क हैं, कई तरह की एकाग्रताएँ हैं। वे सब एक साथ आपके ऊपर हमला कर देती हैं।

इसलिए सदियों से साधक एकांत की तलाश करता रहा है। एकांत की तलाश—आप जान कर हैरान होंगे—जंगल और पहाड़ के लिए नहीं है। एकांत की तलाश आप से बचने के लिए है। वह कोई जंगल की खोज में नहीं जा रहा है, पहाड़ की खोज में नहीं जा रहा है। वह आपसे दूर हट रहा है। वह आप से बच रहा है। नकारात्मक है खोज। पहाड़ क्या दे सकते हैं! पहाड़ कुछ नहीं दे सकते। लेकिन आप बहुत कुछ छीन सकते हैं।

पहाड़ों के पास कोई मस्तिष्क नहीं है। इसलिए पहाड़ों के पास आप निश्चिंत रह सकते हैं। वे न तो बुरा देंगे, न भला देंगे। जो आपके भीतर है, वही होगा। लेकिन आदमियों के पास आप निश्चिंत नहीं रह सकते। क्योंकि पूरे समय उनके विचार आप में प्रवाहित हो रहे हैं—वे न भी बोलें तो, वे न भी चाहें तो, उनका कचरा आप में बह रहा है; आपका कचरा उनमें बह रहा है।

जब भी आप भीड़ में जाते हैं, आप कचरे से भर कर लौटते हैं। एक कन्फ्यूजन, एक भीतर भीड़ पैदा हो जाती है।

आप आपको थोड़ी-सी भी एकाग्रता अनुभव हो जाय, तो आप किसी के भी विचार बदल सकते हैं। बड़ी ताकत है—विचार बदलने में। तर्क करने की जरूरत नहीं है। विवाद करने कीज रूरत नहीं है। सिर्फ एक विचार सतत किसी की तरफ फेंकने की जरूरत है; उसके विचार बदलने शुरू हो जाते हैं।

और अगर आप कोई अशुभ काम करवाना चाहें, तो कोई अड़चन नहीं है। उसकी जेब में हाथ डाल कर उनकी नोट निकालने की जरूरत नहीं है। उससे ही कहा जा सकता है कि निकालो नोट और सड़क पर गिरा दो। वह खुद ही रूमाल निकालने के बहाने रूमाल के साथ नोट भी गिरा देगा। और वह सोचेगा कि भूल से गिर गया।

जीवन के गहन में प्रवेश किया जा सकता है—एकाग्रता के सेतु से। शुभ भी किया जा सकता है, अशुभ भी किया जा सकता है। इसलिए एकाग्रता की कला किसी शास्त्र में लिखी हुई नहीं है। और जो भी लिखा हुआ है, उसको आप वर्षों करते रहें, तो भी एकाग्र न होंगे।

बहुत लोग मेरे पास आते हैं; वे कहते हैं, 'हम वर्षों से एकाग्रता साध रहे हैं, लेकिन कुछ हो नहीं रहा है! वे किताब पढ़कर साध रहे हैं। कभी होगा भी नहीं। थोड़े दिन में थक जाएँगे। किताब भी फेंक देंगे, एकाग्रता को भी भूल जाएँगे।

एकाग्रता तभी कोई उनको बता सकेगा, जब पाया जाएगा कि उनका हृदय उस शुद्धि में है कि अब वे किसी को नुकसान नहीं पहुँचा सकते हैं। बच्चों के हाथ में तलवार नहीं दी जा सकती। और जो दे, वह आदमी मंगलदायी नहीं है।

रासपुतिन या दुर्वासा, या उस तरह के लोग शक्तिशाली लोग हैं। अदम्य उनके पास ऊर्जा है; लेकिन हृदय की शुद्धि नहीं है।

रासपुतिन जैसे लोग कैसे सूत्र खोज लेते हैं? रासपुतिन भटका है। जैसे गुरजिएफ सूफी फकीरों, लामाओं की तलाश में तिब्बत, भारत, मिस्र—सब जगह भटका—कोई बीस साल तक—सूत्रों की तलाश में, वैसे ही रासपुतिन भी भटका है।

और आज की नतिकता इतनी कमजोर है कि जिनको आप साधारणतः साधु भी कहते हैं, वे भी खरीदे जा सकते हैं। और छोटी-मोटी बातें 'लीक आउट' हो जाती हैं।

रासपुतिन भटका तलाश में कि कहाँ से सूत्र मिल सकते हैं। और उसने जरूर कहीं से सूत्र खरीद लिए। उसने अथक मेहनत की और वर्षों के श्रम के बाद उसने कुछ रास्ते निकाल लिए। कुछ छोटी-मोटी कुंजियाँ उसके हाथ में आ गई। और उसने उनका उपयोग किया।

आज भी कुछ लोगों के पास छोटे-मोटे सूत्र हैं। अनेक कारणों से गलत लोगों के पास भी पहुँच गये हैं। कभी मोह के कारण पहुँच जाते हैं; कभी भूल-चूक से भी पहुँच जाते हैं। कभी बाप मरता है और सिर्फ मोह के कारण कुछ जानता है, वह बेटे को दे जाता है। बेटा योग्य भी नहीं होता है तो भी। कभी गुरु मरता है और सिर्फ इस आशा में दे जाता है कि आज नहीं कल शिष्य योग्य हो जाएगा।

कई बार सूत्रों की चोरी भी हो जाती है। धन की ही चोरी नहीं हो सकती, सूत्रों की भी चोरी हो सकती है।

हिंदुस्तान में बहुत दिन तक वैसा हुआ। बौद्धों के पास कुछ सूत्र थे, जो हिंदुओं के पास नहीं थे। तो हिंदू बौद्ध भिक्षु बन कर वर्षों तक बौद्धों गुरुओं की शरण में रहे, ताकि कुछ सूत्र वहाँ से पाये जा सकें। कुछ सूत्र हिंदुओं के पास थे, जो जैनों या बौद्धों के पास नहीं थे। तो जैन और बौद्ध, हिंदू बन कर वर्षों तक हिंदू गुरुओं की

शरण में रहे, ताकि कहीं से कुछ पाया जा सके। और जैसे उन्होंने पा लिया, वह दूसरी परंपरा को दे दिया गया।

हजारों साल से खोज चलती है, उस खोज में ठीक और गलत सब तरह के लोग लगे हुए हैं।

रासपुतिन ने भी सूत्र खोज लिए; और मनुष्य तो शक्तिशाली था। क्योंकि सूत्रों से कुछ नहीं होता। आपको अगर कुंजी भी दे दी जाय, तो आप इतने कमजोर हैं कि कुंजी हाथ में रखे बैठे रहेंगे; ताले तक भी कुंजी नहीं पहुँचाएँगे। या भरोसा ही न करेंगे कि कुंजी खोल भी सकती है कुछ। या कुंजी को कुछ और समझते रहेंगे। या जहाँ ताला नहीं है, वहाँ कुंजी लगाते रहेंगे।

लेकिन रासपुतिन ने अथक चेष्टा की और उसने कुछ पाया। और उसे पा कर उसने श्रम भी किया उस पर। और एक बड़ी अनूठी क्षमता—बुराई की—उसने पैदा कर ली। रासपुतिन प्रतीक बन गया—इस सदी में—बुरे से बुरे आदमी का। लेकिन वह बड़ा शक्तिशाली था।

ध्यान रहे : हृदय की शुद्धि अत्यंत अपरिहार्य है। इसलिए बुद्ध ने तो अपने शिष्यों को पहले चार ब्रह्मविहार साधने को कहा है। जब तक ये चार ब्रह्मविहार न सध जायँ; ब्रह्मविहार—जब तक ब्रह्म में इनके द्वारा विहार न होने लगे, तब तक कोई यौगिक साधना नहीं करनी है। तो करुणा पहले सध जाय; मैत्री पहले सध जाय; मुदिता पहले सध जाय; उपेक्षा पहले सध जाय।

ये चार : करुणा, मैत्री, मुदिता, उपेक्षा पहले सध जाय; क्योंकि जिसकी करुणा गहन है, वह किसी को नुकसान न पहुँचा सकेगा। जिसकी मैत्री की भाव-दशा है, उसके लिए कोई शत्रु न रह जाएगा। और मुदिता का अर्थ है : प्रफुल्लता, प्रसन्नता। जो प्रसन्न है और प्रफुल्ल है, वह किसी को दुःखी नहीं करना चाहता। सिर्फ दुःखी आदमी ही दूसरे को दुःखी करना चाहता है।

तो जब भी आप किसी को दुःखी करना चाहते हों, समझना कि आप दुःखी हैं। आनंदित आदमी किसी को दुःखी नहीं करना चाहता। आनंदित आदमी चाहता है : सभी आनंदित हो जायँ। आनंदित आदमी आनंद को बाँटना और फैलाना चाहता है। जो हमारे पास है, वही हम बाँटते हैं; उसी को हम फैलाते ह।

बुद्ध ने मुदिता को अनिवार्य कहा, क्योंकि जब तक तुम प्रसन्न-चित्त न हो जाओ, तब तक तुम खतरनाक हो।

दुःखी आदमी से खतरा है। वह किसी को सुखी नहीं देखना चाहेगा। दुःखी आदमी चाहता है कि सब लोग मुझसे ज्यादा दुःखी हों, तभी उसको लगता है कि मैं थोड़ा सुखी हूँ—तुलना में।

और चौथा बुद्ध ने कहा : उपेक्षा, इनडिफरेन्स। बुद्ध ने कहा कि ऐसी उपेक्षा सध जाय कि जीवन या मृत्यु—बराबर मालूम पड़ें। सुख हो या दुःख—समान मालूम पड़ें। हानि हो या लाभ, सफलता हो या विफलता—कोई चिंता न रह जाय।

इन चार ब्रह्मविहारों के सध जाने के बाद साधक योग में प्रवेश करे। इसलिए पतंजलि ने भी यम, नियम आदि पाँच चरणों की पहले ही व्यवस्था दी है। और इसके पहले कि धारणा, ध्यान और समाधि के अंतिम तीन चरण आयें, प्रथम पाँच चरणों में हृदय का पूरा रूपांतरण है। वे जो पाँच प्राथमिक चरण हैं, जब तक उनसे हृदय का रूपांतरण न होता हो, तब तक अंतिम तीन चरण देने के लिए पतंजलि राजी नहीं हैं।

अभी पश्चिम में पूरब से कई कुंजियाँ पहुँच रही हैं। जैसे महेश योगी ध्यान की एक पद्धति पश्चिम ले गये। तो उन्होंने बाकी सारे यम-नियम अलग कर दिये। सिर्फ मंत्र-योग रखा है। उसका परिणाम होता है; लेकिन खतरनाक है। आग के साथ खेलना है। और लोग जल्दी उत्सुक होते हैं, क्योंकि न कोई नियम है, न कोई साधना है। बस, एक बीस मिनट बैठ कर एक मंत्र जाप कर लेना है; पर्याप्त है। तुम चोर हो, तो अंतर नहीं पड़ता; तुम बेईमान हो, तो अंतर नहीं पड़ता। तुम हत्यारे हो, तो अंतर नहीं पड़ता! बीस मिनट मंत्र जाप कर लेना है।

उस मंत्र जाप से शांति मिलती है, क्योंकि मंत्र मन को संगीत से भर देता है। लेकिन ध्यान रहे, हत्यारे को शांति मिलनी उचित नहीं है। क्योंकि हत्यारे की पीड़ा है कि उसने हत्या की है। यह उसकी पीड़ा है; यह अपराध उसके ऊपर है। इसको अगर शांति मिल जाय, तो यह दूसरी हत्या करेगा। इसको अशांत होना उचित है; यह उसके कर्म का सहज परिणाम है। और यह अशांत रहे, पीड़ा भोगे, तो शायद हत्या से बचेगा।

चोर को शांति मिलनी उचित नहीं है। उसके हृदय की धड़कन बढ़ी ही रहनी चाहिए। क्योंकि जैसे ही उसको शांति मिलती है, वह दुबारा चोरी करेगा। और करेगा क्या?

बुरे आदमी को शांति मिलनी उचित नहीं है। यह ऐसे है, जैसे बुरे आदमी को स्वास्थ्य मिलेगा, तो वह करेगा क्या?

जीसस के जीवन में एक बड़ी प्यारी कथा है और वह यह है कि जीसस एक गाँव से गुजरे। उन्होंने एक आदमी को एक वेश्या के पीछे भागते हुए देखा। उन्होंने उस आदमी को रोका, क्योंकि चेहरा उसका पहचाना हुआ मालूम पड़ा। और जीसस ने कहा कि 'अगर मै भूलता नहीं हूँ, तो जब मैं पहली दफा आया था, तब तुम अंधे थे। और मेरे ही स्पर्श से तुम्हारी आँखें वापस लौटीं। और अब तुम आँखों का क्या उपयोग कर रहे हो! वेश्या के पीछे भाग रहे हो?'

उस आदमी ने कहा, 'हे प्रभु, मैं तो अंधा था। तुमने ही मुझे आँखें दीं, अब मैं

इन आँखों का और क्या करूँ? आँखें रूप देखने के लिए हैं। और अगर मैं तुम्हारे पास आँखें माँगने आया था, तो इसलिए माँगने आया था, ताकि आँखों से रूप देख सकूँ।'

जीसस ने सोचा भी नहीं होगा कि जिसको आँखें दी हैं, वह आँखों का क्या करेगा। सभी आदमी आँखों का एक ही उपयोग नहीं कर सकते। उपयोग तो आदमियों पर निर्भर होगा। आँखें तो उपकरण हैं।

तो अगर मंत्र जाप से बेईमान को शांति मिले, तो वह बेईमानी में और कुशल हो जाएगा। खतरनाक है यह बात। और मंत्र जाप से अगर धन की दौड़ में कोई आदमी लगा है—उसको शांति मिले, तो उसकी धन की दौड़ और कुशल हो जाएगी; और क्या होगा?

और महेश योगी से लोग पूछते हैं, तो वे कहते हैं : 'बिलकुल ठीक है। तुम जहाँ भी जा रहे हो, तुम जो भी कर रहे हो, उसमें, ध्यान से सफलता मिलेगी।'

निश्चित सफलता मिलेगी; लेकिन 'तुम कहाँ जा रहे हो—' यह पूछ लेना जरूरी है। 'तुम क्या कर रहे हो' यह पूछ लेना जरूरी है।

सभी सफलताएँ सफलताएँ नहीं हैं। बुरे काम में विफल हो जाना बेहतर है। बुरे काम में सफल हो जाना बेहतर नहीं है।

तो सफलता का अपने आप में कोई मूल्य नहीं है। लेकिन यह परिणाम पश्चिम में घटित होगा; क्योंकि कोई भी यम और नियम के लिए तो राजी नहीं है। लोग चाहते हैं—जैसे वे इन्स्टेंट कॉफी बना लेते हैं—वैसा इन्स्टेंट मेडिटेशन हो!

एक पाँच मिनट में ध्यान किया और उस ध्यान के लिए भी कुछ करना नहीं है। आप हवाई जहाज में उड़ रहे हों, तो भी मंत्र जाप कर सकते हैं। कार में चल रहे हो, तो भी मंत्र जाप कर सकते हैं। ट्रेन में बैठे हों, तो भी मंत्र जाप कर सकते हैं। उसमें कोई कुछ आपको बदलना नहीं है। सिर्फ एक तरकीब है, जिसका उपयोग करना है। वह तरकीब आपको भीतर शांत करेगी; वह शांति आत्मज्ञान नहीं बन सकती।

वह शांति अक्सर तो आत्मघात बनेगी, क्योंकि आपके पास जो व्यक्तित्व है, वह खतरनाक है। वह उस शांति का उपयोग करेगा।

इसलिए अगर पतंजलि और बुद्ध और महावीर ने ध्यान के पूर्व कुछ अनिवार्य सीढ़ियाँ रखी हैं, तो अकारण नहीं रखी हैं। गलत आदमी के पास शक्ति न पहुँचे—इसलिए; और गलत आदमी अगर चाहे, तो पहले 'ठीक' होने की प्रक्रिया से गुजरे। और उसके हाथ में चाबी तभी आये, जब कोई दुरुपयोग—अपने लिए या दूसरों के लिए—वह न कर सके।

सवाल इतना ही नहीं है कि दूसरों के लिए आप हानि पहुँचा सकते हैं; खुद को भी पहुँचा सकते हैं। और गलत आदमी खुद को भी हानि पहुँचाएगा।

सच तो यह है कि बिना खुद को हानि पहुँचाए कोई दूसरे को हानि पहुँचा ही नहीं सकता। इसका कोई उपाय ही नहीं है। इसके पहले कि मैं आपको आग लगाऊँ, मुझे खुद जलना पड़ेगा। इसके पहले कि मैं आपको जहर पिलाऊँ, मुझे खुद पीना पड़ेगा। जो मैं दूसरों के साथ करता हूँ, वह मुझे अपने साथ पहले ही कर लेना पड़ता है।

● दूसरा प्रश्न : साधन तत्त्व को अभ्यास और वैराग्य—ऐसे दो भागों में बाँटने का क्या कारण है? क्या वह एक ही चीज के दो छोर नहीं है? क्या सम्यक् साधन पद्धति के अभ्यास से वैराग्य का उदय अवश्यम्भावी नहीं है? और वैराग्य क्या स्वयं एक साधन पद्धति नहीं है?

अभ्यास और वैराग्य बड़ी भिन्न बातें हैं। वैराग्य तो एक भाव है और अभ्यास एक प्रयत्न, एक यत्न है। वैराग्य तो आपको कई बार अनुभव होता है, लेकिन उसकी हल्की झलक आती है। उसको अगर आप अभ्यास न बना सकें, तो वह खो जाएगा।

अभ्यास का अर्थ है कि जिस वैराग्य की झलक मिली है, वह झलक न रह जाय, उसकी गहरी लकीर हो जाय आपके भीतर।

जैसे कि आप धन के लिए दौड़ते थे। और धन आपको मिल गया। धन के मिलने के बाद आपके मन में विषाद आयेगा। क्योंकि आप पायेंगे कि कितनी आशा की थी; आशा तो कुछ पूरी न हुई। कितने सपने संजोये थे, वे सब सपने तो धूल में मिल गये। धन हाथ में आ गया। कितना सोचा था आनंद मिलेगा, वह आनंद तो कुछ मिला नहीं!

तो जो भी धन को पा लेगा, उसके पीछे एक छाया आयेगी, जहाँ वैराग्य का अनुभव होगा। उसे लगेगा : धन बेकार है। लेकिन अगर इसे अभ्यास न बनाया, तो यह झलक खो जाएगी। और मन फिर कहेगा कि आनंद इसलिए नहीं मिल रहा है, क्योंकि इतना धन आनंद के लिए पर्याप्त नहीं है। और धन चाहिए। दस हजार ही हैं—दस लाख ही हैं—करोड़ चाहिए।

करोड़ भी मिल जाएँगे एक दिन; कुछ अड़चन नहीं है। तब फिर वैराग्य का उदय होगा। फिर लगेगा कि वे सब इन्द्र-धनुष खो गये। वह सब मृग-मरीचिका हाथ नहीं आयी। फिर खाली के खाली हैं; और इतना जीवन गया मुफ्त।

धन कोई ऐसे नहीं मिलता; जीवन से खरीदना पड़ता है। खुद को बेचो, तो धन मिलता है। जितना खुद को मिटाओ, उतना धन इकट्ठा होता है।

तो आत्मा नष्ट होती जाती है—सोने का ढेर लगता जाता है। फिर विषाद पकड़ेगा; फिर वैराग्य लगेगा; लेकिन उसकी झलक ही आयेगी।

मन फिर जोर मारेगा कि 'छोड़ो भी, एक करोड़ से कहीं दुनिया में सुख मिला है?' यह वही मन है, जो दस लाख पर कहता था : 'करोड़ से मिलेगा।' यह वही

मन है, जो दस हजार पर कहता था : दस लाख पर मिलेगा। यह वही मन है, जो दस पैसे पर कहता था : दस हजार पर मिलेगा।

जब तक कोई पूरा अध्ययन न करे—अपने जीवन की घटनाओं का और वैराग्य की जो झलकें आती हैं, उनको पकड़ न ले, और फिर उन वैराग्य की झलकों का अभ्यास न करे...।

अभ्यास का मतलब है : उनकी पुनरुक्ति, उनका बार-बार स्मरण, उनकी चोट निरंतर भीतर डालते रहना। और जब भी मन पुराना धोखा दे, तो वैराग्य का स्मरण खड़ा करना। तो एक घटना बनेगी। तब वराग्य पानी पर खींची लकीर न होगा, पत्थर पर खींची लकीर हो जाएगा। और उसी वैराग्य के सहारे मन का अंत होगा; नहीं तो मन का अंत नहीं होगा। एक-एक बूँद वैराग्य इकट्ठा करना होगा : उसका नाम अभ्यास है।

यह बड़े मजे की बात है कि वैराग्य तो सभी को आता है; ऐसा आदमी ही खोजना मुश्किल है, जिसको वैराग्य न आता हो।

हर सम्भोग के बाद वैराग्य आता है। हर सम्भोग के बाद ब्रह्मचर्य की आकांक्षा उठती है। हर बार ज्यादा खा लेने के बाद उपवास की सार्थकता दिखाई पड़ती है। हर बार क्रोध कर के पश्चात्ताप उठता है। हर बार बुरा कर के न करने की प्रतिज्ञा मन में आती है। पर क्षण भर को रहती है—यह बात है। मन प्रबल है, क्योंकि मन का अभ्यास जन्मों-जन्मों का है।

तो दो तरह के अभ्यास हैं जगत् में। एक मन का अभ्यास और एक वैराग्य का अभ्यास। आप मन का अभ्यास तो पूरी तरह करते हैं। वैराग्य मन का विपरीत है।

वैराग्य का मतलब है: मन का एन्टिडोट। वह मन जब भी नया धोखा खड़ा करे, तब आपको वैराग्य की स्मृति खड़ी करनी है। 'यह तो मैं पहले भी सुन चुका; यह तो मैं पहले भी कर चुका; यह तो मेरा अनुभव है और परिणाम क्या हुआ?'

निरंतर परिणाम का चिंतन पुराने अनुभव की स्मृति है, और पुरानी झलकों का संग्रह है। इसको जब कोई साधता ही चला जाता है, तो धीरे-धीरे मन के विपरीत एक नई शक्ति का निर्माण होता है। जो मन के लिए नियंत्रण बन जाता है—और मन के लिए साक्षी बन जाता है—और मन की जो पागल दौड़ है, उसे तोड़ने में सहयोगी हो जाता है।

कई बार मन आपको पकड़ लेगा—फिर-फिर, लेकिन अगर वैराग्य का थोड़ा-सा संग्रह है, तो पुनः स्मरण आ जाएगा और आप रुक सकेंगे।

अभ्यास का केवल इतना ही अर्थ है कि जीवन में जो सहज वैराग्य की झलक आती है, उसको संजो लेना है, इकट्ठा कर लेना है; उसकी शक्ति निर्मित कर लेनी है। और अभ्यास के उपाय हैं।

मृत्यु तो आपको कई दफा अनुभव होती है, लेकिन हमने ऐसी व्यवस्था कर ली है कि उसके अनुभव की हमें चोट नहीं लगती।

कोई कहता है कि कोई मर गया; अगर वह कोई बहुत निकट का नहीं है, तो हम कहते हैं : 'बुरा हुआ।' बात समाप्त हो गई। उसके बाद हमारे मन में कुछ भी नहीं होता। कोई बहुत निकट का मर गया, तो दिन-दो-दिन खयाल में रहता है। कोई बहुत ही निकट का मर गया—कि पत्नी चल बसी, कि बेटा, कि पति के पिता—तो थोड़ी चोट लगती है—कुछ दिन। फिर हम भूल जाते हैं। यह हमने इन्तजाम किया है।

यह इन्तजाम ऐसा ही है, जैसे ट्रेन में बफर लगे होते हैं। दो रेल के डब्बों के बीच में बफर लगे रहते हैं, ताकि धक्का, बफर पी जायँ और यात्रियों को धक्का न लगे। कार में स्प्रिंग लगे रहते हैं कि गड्ढा आये, तो स्प्रिंग गड्ढे के धक्के को पी जायँ; भीतर बैठे यात्री को धक्का न लगे।

तो हमने अपने चारों तरफ बफर लगा रखे हैं। चोटें आयें, तो बफर पी जायँ। अगर मुसलमान मर जाय, तो हिन्दू के लिए बफर है कि 'ठीक है; मुसलमान था; मर गया तो क्या हर्ज है? पहले ही मर जाना जाहिए था। आदमी बुरा था। और रोने से कोई लाभ भी नहीं है।'

हिन्दू मर गया, तो मुसलमान के लिए बफर है। नीग्रो मर जाय, तो अमेरिकी को फिक्र नहीं है। अमेरिकी मरे, तो नीग्रो को प्रसन्नता है। हमने बफर पैदा किये हैं। शत्रु मर जाय, तो ठीक।

इन सब बफर के बाद दो चार लोग ही बचते हैं हमारे आसपास, जिनकी मौत से हमको थोड़ी-बहुत चोट पहुँचेगी। नहीं तो हर एक की मौत से चोट पहुँचती है। क्योंकि कौन मरता है—इससे क्या फर्क पड़ता है। मौत घटती है। और मौत की चोट पहुँचती है; और वैराग्य का उदय होता ह। लेकिन हमने तरकीबें बना रखी हैं।

फिर जो हमारे बिलकुल निकट हैं, उनसे भी बचने के लिए हमने बफर बना रखे हैं। अगर पत्नी भी मर जाय, तो भी हम कहते हैं : 'जल्दी ही मिलना होगा; स्वर्ग में मिलेंगे। थोड़े ही दिन की बात है, और आत्मा अमर है—इसलिए पत्नी कुछ मरी नहीं है। यह तो सिर्फ शरीर छूट गया है।' कोई रास्ता हम खोज लेते हैं।

बेटा मर जाय, तो हम कहते हैं, 'परमात्मा, जो प्यारे लोग हैं—उनको जल्दी उठा लेते हैं।' यह बफर है। इससे अपने को राहत देते हैं, कन्सोलेशन देते हैं। इससे सांत्वना बना लेते हैं कि 'ठीक है; परमात्मा के लिए प्यारा होगा, इसलिए बेटे को उठा लिया।' आपका बेटा परमात्मा को प्यारा होना ही चाहिए! सिर्फ गलत लोग ज्यादा जीते हैं। अच्छे लोग तो जल्दी मर जाते हैं।

या हम कहते हैं कि अपना कोई कर्म होगा, जिसकी वजह से दुःख भोगना पड़ रहा है।

मौत को बचाते हैं; कुछ और चीजें बीच में ले आते हैं। 'कर्म का फल है, इसलिए भोगना पड़ रहा है।' अब फल है, तो भोगना पड़ेगा; तो मौत को हटा दिया; डायव्हर्शन पैदा हो गया। अब हम कर्म की बात सोचने लगे। लड़का—मौत—अलग हट गई। थोड़े दिन में सब भूल जाएगा; हम अपने काम धंधे में लग जाएँगे।

इस तरह हमने बफर हर चीज में खड़े कर रखे हैं और वैराग्य उदित नही हो पाता।

अभ्यास का अर्थ है: बफर का तोड़ना। और हर जगह से—जहाँ से भी सूरज की किरण मिल सके, वैराग्य की किरण मिल सके, वहाँ से उसे भीतर आने देना। सब तरफ खुले होना।

बुद्ध अपने भिक्षुओं से कहते थे, 'मरघट पर जाओ। पहला ध्यान मरघट पर। और तीन महीने मरघट पर रहो।'

भिक्षु कहते, 'लेकिन मरघट पर जाने की क्या जरूरत है? ध्यान यहीं कर सकते हैं!' बुद्ध कहते, यहाँ न होगा। तुम मरघट पर ही बैठो—दिन-रात। चिताएँ जलेंगी; लोग आयेंगे, जाएँगे; तुम वहीं ध्यान करना।'

तीन महीने जो मरघट पर बैठकर ध्यान कर लेता है, उसके मौत के संबंध में जितने बफर होते हैं, वे सब टूट जाते हैं। तब वह यह नहीं देखता कि कौन मरा। 'मौत' दिखाई पड़ती है। 'कौन' का कोई संबंध नहीं रह जाता।

और चौबीस घंटे मरघट पर बैठे-बैठे यह असंभव है—तीन महीने में—कि आपको यह समझ में न आ जाय कि यह देह आज नहीं कल जलेगी। यह असंभव है कि आपको सपना न आने लगे कि आप जलाये जा रहे हैं चिता पर—तीन महीने मरघट में रहने पर। यह असंभव है कि मौत इतनी प्रगाढ न दिखाई पड़ने लगे कि जीवन का रस खो जाय। तो मौत का अभ्यास हो जाएगा मरघट पर। अभ्यास से वैराग्य उदित है होगा, घना होगा। जीवन के साथ जो हमारे राग के, लगाव के संबंध हैं, वे क्षीण और शिथिल हो जाएँगे।

अगर बुद्ध के जमाने में एक्स-रे रहा होता, तो वे कहते कि अपनी पत्नी का एक्स-रे अपने साथ रखो, और जब भी पत्नी की याद आये, एक्स-रे देखो, तो समझ में आयेगा कि देह कितनी सुंदर है।

लोग फोटो रखते हैं। फोटो रखना ठीक नहीं है। एक्स-रे की कॉपी रख लेना एकदम अच्छा है। और जब भी मन में आ जाय, तो फिर-फिर उसको देख लेना उचित है।

तो एक्स-रे की फोटो अभ्यास बन जाएगी। उससे वैराग्य का जन्म होगा; वैराग्य सघन होगा। फिर धीरे-धीरे पत्नी को भी देखेंगे, तो आपके पास एक्स-रे वाली आँखें हो जाएँगी। तो उसकी सुंदर चमड़ी के पीछे हड्डियाँ दिखाई पड़ने लगेंगी। जब उसको छाती से लगायेंगे तो आपको अस्थि-कंकाल छूता हुआ मालूम पड़ेगा।

बफर तोड़ने हैं और वैराग्य को जन्माना है और उसका निरंतर अभ्यास चाहिए। क्योंकि मन का पुराना अभ्यास है। और मन से संघर्ष है। मन को काटना है। मन बहुत सबल है। आपने ही उसको सबल किया है।

अब हम सूत्र को लें।

'और हे अर्जुन, जो तेज—सूर्य में स्थित हुआ संपूर्ण जगत् को प्रकाशित करता है, तथा जो तेज—चन्द्रमा में स्थित है और जो तेज—अग्नि में स्थित है, उसको तू मेरा ही तेज जान।

'और मैं ही पृथ्वी में प्रवेश करके अपनी शक्ति से सब भूतों को धारण करता हूँ। और रस स्वरूप अर्थात् अमृतमय सोम होकर, संपूर्ण औषधियों को अर्थात् वनस्पितियों को पुष्ट करता हूँ।

'मैं ही सब प्राणियों में स्थित हुआ वैश्वानर अग्निरूप होकर प्राण और अपान से युक्त अन्न को पचाता हूँ। आर म ही सब प्राणियों के हृदय में अन्तर्यामीरूप से स्थित हूँ। तथा मेरे से ही स्मृति, ज्ञान और अपोहन (संशय विसर्जन) होता है। और सब वेदों द्वारा मैं ही जानने योग्य हूँ; तथा वेदान्त का कर्ता और वेदों को जाननेवाला मैं ही हूँ।'

कुछ बातें; पहली बात: कृष्ण के ये सारे सूत्र अर्जुन का समर्पण संभव हो सके—इसके लिए हैं। कृष्ण ये सारी बातें कह रहे हैं—उस एक केन्द्र की ओर इशारा करने को, जो सबका आधार है। और अगर वह आधार हमें दिखाई पड़ने लगे, तो हम उस आधार की शरण सहज ही जा सकेंगे।

अगर हमारी बुद्धि को 'उसकी' झलक भी मिलने लगे, तो हम अपने होने का आग्रह, और अपने आपको कुछ समझने का आग्रह—अस्मिता और अहंकार की भ्रांति हमारी छूटनी शुरू हो जाएगी।

तो कृष्ण जब बार-बार यह कहते है कि 'मैं यह हूँ, मैं यह हूँ, मैं यह हूँ', तो बहुत से पढ़नेवालों को गीता में ऐसा लगता है कि कृष्ण बड़े अहंकारी हैं। यह आदमी अजीब है। यह क्यों कहे चला जाता है कि सभी चाँद-सूरज की रोशनी मैं हूँ! कि सभी रसों में छिपा हुआ रस मैं हूँ; कि सभी प्राणों में धड़कता प्राण मैं हूँ!

आज के जमाने में तो गीता जैसी किताब लिखनी बड़ी मुश्किल हो जाय; कहनी ही मुश्किल हो जाय। फौरन पत्थर पड़ जायँ। क्योंकि लोग कहें कि दिमाग खराब है आपका। सभी कुछ आप हैं?

और हिंदुओं को गीता पढ़ते वक्त यह खयाल नहीं आता, तो बफरों के कारण। उसको लगता है : कृष्ण भगवान् हैं, इसलिए ठीक है। लेकिन मुसलमान जब गीता पढ़ता है, तो उसे फौरन खयाल आता है कि यह आदमी ठीक नहीं मालूम पड़ता। जैन जब पढ़ता है, तो उसे फौरन समझ में आता है कि यह आदमी अहंकारी है।

हिंदू सोच लेता है कि कृष्ण—भगवान् हैं; ठीक है। बाकी अगर वह भी विचार करेगा, तो उसको भी लगेगा कि यह बात क्या है! कृष्ण क्यों इतना जोर देते हैं कि मैं ही सब कुछ हूँ?

और आपको अगर ऐसा लगे कि कृष्ण अहंकारी हैं—इतना जोर अपने 'मैं' पर देते हैं, तो समझना कि यह चोट आपके अहंकार को लग रही है। यह आपका अहंकार क्रुद्ध हो रहा है।

कृष्ण का क्या प्रयोजन होगा? कृष्ण क्यों इतना जोर दे रहे हैं—स्वयं पर? कृष्ण के जोर का कारण आप समझ लें।

कृष्ण का जोर स्वयं पर नहीं है; कृष्ण का जोर अर्जुन मिट जाय—इस पर है। पर इसके लिए एक ही उपाय है कि अर्जुन का केन्द्र अर्जुन के बाहर हट जाय। अर्जुन का केन्द्र अर्जुन के भीतर न हो, कहीं बाहर हो जाय।

कृष्ण की यह सारी चेष्टा इसीलिए है कि अर्जुन देख पाये कि उसके भीतर जो 'मैं' की आवाज है, वह व्यर्थ है और वह संपूर्ण के कहने पर समर्पित हो जाय।

अर्जुन ने कहीं भी यह सवाल नहीं उठाया कि आप इतने अहंकार की बातें क्यों कर रहे हैं। यह भी जरा आश्चर्यजनक है। क्योंकि अर्जुन बुद्धिमान है; जैसा सॉफिस्टिकेटेड होना चाहिए, उतना है। सुशिक्षित है। सुसंस्कारी है। उस समय के प्रतिभावान व्यक्तियों में एक है। मेधावी है। नहीं तो कृष्ण की मेहनत का कोई अर्थ भी न था। और कृष्ण जिसके सारथी बनने को राजी हो गये हैं, वह कोई साधारण गँवार नहीं है। पर अर्जुन एक बार भी नहीं कहता कि आप क्यों अपने अहंकार की घोषणा किये जा रहे हैं।

कृष्ण अर्जुन से कह सके, क्योंकि अर्जुन का एक प्रेम—एक सतत प्रेम कृष्ण के प्रति है। और जहाँ प्रेम हो, वहाँ हम समझ पाते है, कि यह जो कहा जा रहा है, इसमें कोई अहंकार नहीं है। और प्रेम हो, तो यह भी हम समझ पाते हैं कि यह मेरे लिए कहा जा रहा है

तो अर्जुन को पूरे समय यह लगा है कि मैं मिट जाऊँ। इसकी चेष्टा के लिए कृष्ण अपने 'मैं' को बड़ा कर रहे हैं। वे अपने 'मैं' को खड़ा कर रहे हैं, ताकि मेरा मैं उस बड़े 'मैं' खो जाय। वे अपने 'मैं' के विराट रूप को मुझे दे रहे हैं, ताकि मैं बूँद की तरह उस सागर में खो जाऊँ।

यह सिर्फ एक उपाय है। अर्जुन मिट सके, राजी हो सके—मिटने को, इसके लिए यह सिर्फ एक सहारा है।

प्रत्येक गुरु अपने शिष्य को यह सहारा देगा ही। जिस दिन शिष्य मिट जाएगा, उस दिन गुरु हँस कर उससे भी कह देगा कि 'तुम भी नहीं हो, मैं भी नहीं हूँ।' लेकिन उसके पहले यह नहीं कहा जा सकता।

यह बड़ी अड़चन की बात है। क्योंकि गुरु अगर यह कह दे कि 'मैं भी नहीं हूँ, तुम भी नहीं हो', तो शिष्य यह तो मान लेगा कि तुम नहीं हो; यह नहीं मान सकता कि मैं नहीं हूँ। क्योंकि यह मानना बहुत कठिन बात है।

यह तो कोई भी मान लेगा कि तुम नहीं हो; बिलकुल ठीक है; सच है। यह तो हम पहले ही जानते थे। इसलिए जो गुरु कहे, 'मैं नहीं हूँ', तो शिष्य बिलकुल राजी होगा। कृष्णमूर्ति के पास वैसी घटना रोज घट रही है।

कृष्णमूर्ति उलटा प्रयोग कर रहे हैं—ठीक कृष्ण से उलटा। लेकिन वह प्रयोग सफल नहीं हो रहा है। वह सफल नहीं हो सकता। उस सफलता के लिए तो अर्जुन से भी श्रेष्ठ शिष्य चाहिए, जो कि बड़ा मुश्किल मामला है।

कृष्णमूर्ति कहते है : 'न मैं गुरु हूँ, न मैं अवतार हूँ; मैं कोई भी नहीं हूँ।' वह जो शिष्य बैठकर सुनते हैं, वे बड़े प्रसन्न होते है। वे कहते हैं : 'बिलकुल ठीक है।' लेकिन इससे यह खयाल नहीं आता उनको—कि हम भी नहीं हैं। अपने 'मैं' से भर कर लौटते हैं—घट कर नहीं।

और एक खतरा हो जाता है कि अब जहाँ भी कृष्ण मिल जाएँगे उनको, और कृष्ण कहेंगे कि 'मैं हूँ प्राणों का प्राण; मैं हूँ ज्योतियों की ज्योति,' तो वे कहेंगे : 'आपका दिमाग खराब है। क्योंकि कृष्णमूर्ति ने कहा है कि मैं कुछ भी नहीं हूँ। ज्ञानी तो सदा यह कहते है कि मैं कुछ भी नहीं हूँ।'

ज्ञानी सदा जानते हैं कि वे कुछ भी नहीं हैं। लेकिन अज्ञानियों से बात करना जोखम का काम है।

कृष्ण इतने जोर से कह रहे हैं कि मैं सब कुछ हूँ, ताकि अर्जुन को प्रतीति होने लगे कि वह कुछ भी नहीं है।

यह ठीक वैसा ही है, जैसा कि एक बड़ी प्रसिद्ध घटना है, जो आपने सुनी होगी कि अकबर ने एक लकीर खींच दी दीवाल पर और अपने दरबारियों को कहा कि 'इसे बिना छुए छोटा कर दो।' वे नहीं कर पाये, क्योंकि बुद्धि सीधी कहेगी कि बिना छुए कैसे छोटी होगी? हाथ लगाना पड़े, पोंछना पड़े। लेकिन बीरबल ने एक बड़ी लकीर उसके पास खींची। उस लकीर को नहीं छुआ, लेकिन वह छोटी हो गई।

कृष्ण इतना ही कर रहे हैं कि अर्जुन की लकीर के पास एक बहुत बड़ी लकीर

खींच दी—कृष्ण की लकीर। वह अर्जुन का 'मैं' है—एक छोटा-सा टिमटिमाता दीया और कृष्ण कह रहे है : 'सूर्यों' का सूर्य मैं हूँ। तू कहाँ एक छोटे से दीये की टिमटिमाती लौ...।' और मिट्टी का तेल...! अब तो वह भी मिलना मुश्किल हो गया है।

कृष्ण कह रहे हैं कि 'कब तक टिमटिमाता रहेगा। इस तरफ देख।' और अर्जुन का प्रेम है इतना—कृष्ण के प्रति—कि वह देख सकता है। उसे इतना भरोसा है कि यह आदमी कह रहा है, तो कोई सूरज होगा उसमें। और सूरज सबके भीतर छिपा है, इसलिए अड़चन कुछ भी नहीं है।

अगर अर्जुन भाव से देख ले, तो कृष्ण के भीतर का सूरज दिख जाएगा। और जिस दिन कृष्ण के भीतर का सूरज दिखेगा, वह अपने टिमटिमाते दीये को छोड़ देगा।

टिमटिमाता दीया छूट जाय, तो अपने भीतर का सूरज भी दिखेगा। लेकिन यह गुरु जो है—व्हाया मीडिया है।

अपने ही भीतर के सूरज को देखना अति कठिन है। क्योंकि अपनी नजर तो अपने दीये पर ही लगी है। इस दीये का बुझना जरूरी है। यह गुरु के सहारे बुझ जाएगा। और एक बार बुझ जाय, तो गुरु के सूरज को देखने की कोई जरूरत नहीं है; अपना सूरज भी दिखाई पड़ने लगेगा।

हम दीये से आविष्ट हो कर बैठे हैं। हमारी हालत ऐसी है कि सूरज निकला है—खुले मैदान में, और हम अपना दीया रखे उस पर आँख गड़ाये बैठे हैं। इतने जन्मों से आँख गड़ाये हैं कि हिप्नोटाइज्ड हो गये हैं। वह दीया ही दिखाई पड़ता है।

और दिया देखते-देखते आँखें भी इतनी छोटी हो गई हैं कि अगर एक दफे सूरज की तरफ देखें, तो अँधेरा ही दिखाई पड़ेगा।

कृष्ण का सहारा सिर्फ इतना है कि आहिस्ता से अर्जुन को उसके दीये से हटा लें। और एक बार वह सूरज—कृष्ण का—देख ले, तो वह कृष्ण का सूरज नहीं है, वह सभी का सूरज है; वह सभी के भीतर बैठा है। इसे खयाल में रखें।

'और हे अर्जुन, जो तेज सूर्य में स्थित हुआ संपूर्ण जगत् को प्रकाशित करता है, तथा जो तेज चन्द्रमा में स्थित है, और जो तेज अग्नि में स्थित है, उसको तू मेरा ही तेज जान। और मैं ही पृथ्वी में प्रवेश कर के अपनी शक्ति से सब भूतों को धारण किये हूँ। और रस-स्वरूप अर्थात् अमृतमय—सोम हो कर वनस्पतियों को पुष्ट करता हूँ।''

'सोम' दो अर्थ रखता है। एक तो सोम का अर्थ है : चन्द्रमा।

हिन्दुओं का जो रस-विज्ञान है, उसमें औषधियों को जो पुष्टि मिलती है, वह चन्द्रमा से मिलती है। सूर्य उनको प्राण देता ह। सूर्य के बिना औषधियाँ बड़ी नहीं

होंगी; वनस्पतियाँ बड़ी नहीं होंगी; वृक्ष बड़े नहीं होंगे। सूरज उन्हें प्राण देता है। लेकिन जो रस है, जो जीवनदायी तत्त्व है—वह उन्हें चाँद से मिलता है; वह चाँद के द्वारा मिलता है।

यह बात काल्पनिक समझी जाती थी आज तक—कि आयुर्वेद और हिंदुओं की यह जो रस-विद्या है, यह काव्य है, प्रतीक है। लेकिन इधर पचास वर्षों में जो खोजबीन हुई है, उससे सिद्ध हो रहा है कि चाँद निश्चित ही प्राण देने वाला है।

और सूरज जो कुछ भी देता है, उसमें एक उत्तेजना है और चाँद जो भी देता है, उसमें एक शांति है। इसलिए जितनी शांत औषधियाँ हैं, उन सब में चाँद छिपा है। और जो सर्वाधिक शांतिदायी औषधि थी, इसी कारण उसे हम सोम-रस कहते थे।

पश्चिम में वैज्ञानिक बड़ी खोज में लगे ह कि वेदों में जिसको सोम-रस कहा है, वह क्या है? पच्चीसों प्रस्ताव किये गए हैं, पच्चीसों दावे किये गए हैं कि यह वनस्पति सोम-रस होनी चाहिए। कुछ लक्षण मिलते हैं, लेकिन पूरे लक्षण किसी वनसति से नहीं मिलते। संभावना इस बात की है कि वह वनस्पति पृथ्वी से खो गई। या हिंदुओं ने उसे विलुप्त कर दिया।

काफी काम इस समय विज्ञान में चलता है। बड़े ग्रंथ लिखे जाते हैं; बड़ी शोध की जाती है—सोम की खोज के लिए। क्यों? क्योंकि पश्चिम में इधर तीस वर्षों में वनस्पति के द्वारा, औषधि के द्वारा, रसायन के द्वारा समाधि कैसे प्राप्त की जाय—इस संबंध में बड़ा आंदोलन है। तो एल. एस. डी., मारीजुआना, मेस्कलीन—इन सब की बड़ी पकड़ है। और सारी गव्हर्नमेन्टस डर गई हैं, सारी दुनिया में रुकावट लगा दी गई है कि कोई भी इन चीजों को न ले।

और यह बड़े मजे की बात है कि शराब सबसे ज्यादा खतरनाक है; लेकिन शराब सब जगह प्रचलित है! और ये औषधियाँ शराब जैसी खतरनाक नहीं हैं। लेकिन इस पर भारी रोक है। और डर इस बात का है कि ये औषधियाँ व्यक्ति में ऐसे क्रांतिकारी फर्क ले आती हैं कि आज का जो समाज है, वह उस व्यक्ति का उपयोग नहीं कर सकेगा।

जैसे अगर युवक एल. एस. डी., मारीजुआना, और इस तरह की चीजों का उपयोग करने लगें, तो उनको युद्ध पर नहीं भेजा जा सकता। वे इतने शांत हो जाएँगे कि उनको युद्ध पर नहीं भेजा जा सकता। उनसे दंगे, उपद्रव नहीं करवाये जा सकते। उन्हें रस ही नहीं रह जाएगा लड़ने का।

इन सारी औषधियों के कारण पश्चिम के एक बहुत बड़े विचारक आल्डुअस हक्सले ने घोषणा की थी कि इस सदी के पूरे होते-होते हम सोम का पता लगा लेंगे। क्योंकि सोम इन्हीं से मिलती-जुलती कोई चीज होनी चाहिए। इनसे बहुत श्रेष्ठ—लेकिन इनसे

मिलती-जुलती। क्योंकि वेद में जो वर्णन है सोम का कि ऋषि सोम को पी लेते हैं और समाधिस्थ हो जाते हैं, और परमात्मा के आमने-सामने उनकी चर्चा और बातचीत होने लगती है। इस लोक से रूपांतरित हो जाते हैं; किसी और आयाम में प्रविष्ट हो जाते हैं।

हो सकता है : सोम इस तरह का रासायनिक रस रहा हो कि समाज को उसे विलुप्त कर देना पड़ा हो। क्योंकि समाज उसके सहारे नहीं चल सकता।

अगर लोग बहुत आनंदित हो जायँ, नाचने-गाने लगें और तल्लीन रहने लगें, तो समाज नहीं चल सकता है। समाज के लिए थोड़े दुःखी, परेशान लोग चाहिए; वे ही चलाते हैं। उनके बिना नहीं चल सकता।

अगर सभी लोग प्रसन्न हों, तो बहुत मुश्किल है काम। किसको लगाइएगा दौड़ में कि तू फैक्टरी चला। वह कहेगा, 'ठीक है; रोटी मिल जाती है।' किसको दौड़ में लगाइएगा कि तू दिल्ली जा! वह कहेगा, 'हम पागल नही हैं। हम जहाँ हैं, वही दिल्ली है। हम मजे में हैं।'

यह जो इतनी दौड़ चलती है—अर्थ की, राजनीति की—सब तरह की विक्षिप्तता की, इसके लिए दुःखी लोक चाहिए। युद्ध चलते हैं, संघर्ष चलता है और चैन नहीं है एक क्षण को; इसके लिए बेचैन लोग चाहिए।

हिप्पियों से अमेरिका डरा हुआ है। क्योंकि अगर सारे लड़के और लड़कियाँ हिप्पियों जैसे हो जायँ, तो अमेरिका डूबेगा। इस अर्थ-तंत्र में उसकी कोई जगह न रह जाएगी।

इनको लड़वाया नहीं जा सकता है। ये लड़ने से इनकार करते हैं। और यह परिणाम है—एल. एस. डी. और मारीजुआना और मेस्कलिन का, तो सोम का क्या परिणाम रहा होगा!

सोम अद्भुततम रस है। हिंदू धारणा से सभी वनस्पतियों में चाँद उतरता है। लेकिन सोम नाम की जो वनस्पति है, उसमें चाँद पूरा उतरता है। वह चाँद की पूरी शांति को पी जाती है। उसके पत्ते-पत्ते में, उसके फूल में, उसकी जड़ों में चाँद छिद जाता है और उसका अगर विधिवत् उपयोग किया जाय, तो समाधि फलित होगी। निश्चित उस पर रोक लगायी गई होगी; उसको छिपाया गया होगा या नष्ट कर दिया गया होगा। इसलिए बहुत खोज कर के हिमालय में भी सोम वनस्पति उपलब्ध नहीं होती।

कृष्ण यहाँ कह रहे हैं कि मैं वही सोम हूँ। चाँद भी मैं हूँ, सूरज भी मैं हूँ। इस जगत् में जो तेज है, वह भी मेरा है; और इस जगत् में जो शांति है, सन्नाटा ह, वह भी मेरा है। इस जगत् में जो तरंगें हैं, वे भी मेरी हैं। इस जगत् में जो मौन है, वह भी मेरा है। इस जगत् का जो ताप-उत्तप्त व्यक्तित्व है—वह भी मैं हूँ; और इस जगत् का जो शांत समाधिस्थ व्यक्तित्व है, वह भी मैं हूँ।

"मैं ही सब प्राणियों के शरीर में स्थित हुआ वैश्वानर अग्निरूप हो कर प्राण आर अपान से युक्त हुआ अन्न को पचाता हूँ। और मैं ही सब प्राणियों में अन्तर्यामी रूप से स्थित हूँ।'

यह काफी महत्वपूर्ण बात है : 'सभी प्राणियों के हृदय में अन्तर्यामी रूप से स्थित हूँ।'

आपके भीतर कहाँ अन्तर्यामी है? अगर आप अपने अन्तर्यामी को पकड़ लें, तो कृष्ण के चरण हाथ में आ गये। कौन-सा तत्त्व है आपके भीतर, जो अन्तर्यामी है? कैसे उस तत्त्व को पकड़ें?

अन्तर्यामी का अर्थ होता है : भीतर का जाननेवाला—भीतर जो छिपा है जाननेवाला।

तो जिस तत्त्व को आप जान नहीं सकते और जो सबको जानता है, धीरे-धीरे उसकी गहराई में डूबना है।

शरीर को मैं जानता हूँ। शरीर को देखता हूँ। तो जिसे मैं जानता हूँ, देखता हूँ, वह अलग हो गया, पृथक हो गया; वह मेरा ज्ञाता न रहा, ज्ञेय हो गया; वह ऑब्जेक्ट हो गया। वह संसार का हिस्सा हो गया।

भीतर आँख बंद करता हूँ, तो हृदय की धड़कन भी मैं सुनता हूँ। तो यह हृदय की धड़कन मेरी न रही; यंत्रवत हो गई, शरीर, की हो गई। मैं देखनेवाला इसके पीछे खड़ा हूँ। इसको भी मैं सुनता हूँ; इससे मैं अलग हो गया, फासला हो गया।

आँख बंद करता हूँ, विचारों की बदलियाँ घूमती हैं। उनको भी मैं देखता हूँ कि यह विचार जा रहा है। यह अच्छा, यह बुरा; यह क्रोध, यह लोभ। इन विचारों के पार मैं देखने वाला हो गया।

समस्त ध्यान की प्रक्रियाएँ इतनी ही चेष्टा करती हैं, कि तुम्हें यह समझ में आना शुरू हो जाय कि तुम क्या-क्या नहीं हो। नेति नेति; यह भी मैं नहीं, यह भी मैं नहीं। काटते जाओ।

जो भी दिखाई पड़ जाय, जो भी ज्ञेय बन जाय, जो भी ऑब्जेक्ट बन जाय, उसे छोड़ते जाओ; इलिमिनेट करो, नकार करो और उस जगह ही रुको, जहाँ सिर्फ जाननेवाला ही रह जाय। वह अन्तर्यामी है : 'वह जो भीतर छिपा और सब जानता है। और किसी के द्वारा कभी जाना नहीं जाता, क्योंकि उसके पीछे जाने का कोई उपाय नहीं है। वह सबसे पीछे है। वह अन्त है। वह मूल है, वह उत्स है।

अगर हम अपने भीतर के अन्तर्यामी को पकड़ लें, (वही हम हैं) अगर उसमें हम

खड़ हो जायँ और ठहर जायँ, तो हम कृष्ण में खड़े हो गये। आर तब हम भी कह सकेंगे कि सूरज में मेरी ही रोशनी है, और यह चाँद मुझसे ही चमकता है। औषधियाँ मुझसे ही बड़ी होती हैं; और इस जगत् में जो सोम बरस रहा है; वह मैं ही हूँ।

अन्तर्यामी को आप पकड़ लें, तो यही घोषणा जो कृष्ण की है, आपकी घोषणा हो जाएगी। और तभी आप समझ पाएँगे कि कृष्ण अहंकार के कारण यह घोषणा नहीं कर रहे हैं। एक आंतरिक अनुभव के कारण कर रहे हैं।

'और मैं ही सब प्राणियों के हृदय में अन्तर्यामीरूप से स्थित हूँ, तथा मेरे से ही स्मृति, ज्ञान और अपोहन (संशय विसर्जन) होता है। और सब वेदों द्वारा मैं ही जानने के योग्य हूँ। तथा वेदान्त-कर्ता और वेदों को जानने वाला भी मैं ही हूँ।'

'मुझसे ही स्मृति है, ज्ञान है और अपोहन है।'

तीन शब्दों का कृष्ण ने उपयोग किया है : स्मृति, ज्ञान और अपोहन। अपोहन का अर्थ है : संशय विसर्जन। यह बड़ी समझने की बात है। 'अपोहन' शब्द याद रखने जैसा है।

आपके भीतर सदा ऊहापोह चलता है। ऊहापोह का मतलब है : यह ठीक, कि वह ठीक? यह भी ठीक, वह भी ठीक! कुछ समझ नहीं पड़ता : क्या ठीक है। संशय; मन डोलता रहता है—घड़ी के पेंडुलम की तरह—बायें, दायें; कहीं ठहरता नहीं मालूम पड़ता। यह ऊहापोह की अवस्था है।

अपोहन का अर्थ है : इससे विपरीत अवस्था—जहाँ कोई ऊहापोह नहीं; जहाँ संशय चला गया; जहाँ असंशय आ गया। आप खड़े हो गये। जहाँ पेंडुलम घूमता नहीं है; खड़ा हो गया है, स्थिर है। फिर जहाँ कोई कंपन नहीं है। जहाँ 'यह ठीक या वह ठीक'—ऐसा भी कोई सवाल नहीं है। जहाँ आप सिर्फ खड़े हैं; जहाँ चुनाव न रहा।

जिसको कृष्णमूर्ति चॉइसलेसनेस कहते हैं, वह अपोहन है। जहाँ सब चुनाव शांत हो गये; जहाँ मुझे चुनना नहीं—कि यहाँ जाऊँ कि वहाँ जाऊँ। जहाँ आप बिना चुनाव चुपचाप खड़े हैं; जहाँ चित्त स्थिर है।

कृष्ण कहते हैं : 'स्मृति मैं हूँ।' लेकिन आपके भीतर जिसको आप स्मृति कहते हैं; उसको कृष्ण स्मृति नहीं कह रहे हैं। जिसको आप मेमोरि कहते हैं, वह नहीं; कि आपको पता है कि आपका नाम क्या है? आपकी तिजोरी में कितना रुपया जमा है; आपकी दुकान कहाँ है : इससे प्रयोजन नहीं है स्मृति का। स्मृति से इस बात का प्रयोजन है कि 'मैं कौन हूँ'। सेल्फ रिमेम्बरिंग। मेमोरि नहीं—आत्म-बोध, कि मैं कौन हूँ?

आप दुकानदार हैं, यह आत्मबोध नहीं है। क्योंकि दुकानदार होना सांयोगिक है; कोई आपका स्वभाव नहीं है। लेकिन हम उसको भी स्वभाव की तरह पकड़ लेते हैं।

दुकानदार को दुकान से हटाओ, उसको लगता है : उसकी आत्मा जा रही है। नेता को पद से हटाओ, उसको लगता है : मरे; गये। पद के बिना वह कुछ भी नहीं है।

मैंने सुना ह : एक गाँव से चार चोर निकलते थे। उन्होंने देखा कि एक नट छलाँग लगा कर बड़ी ऊँची रस्सी पर चढ़ गया है। और रस्सी पर नाचने के कई तरह के करतब दिखाने लगा। उन चोरों ने कहा, 'यह आदमी तो काम का है! इसको उठा ले चलें। हमें बड़ी मेहनत पड़ती है मकानों में चढ़ने में रात। यह तो गजब का आदमी है! एक इशारा करो कि दूसरी मंजिल पर पहुँच जाय।'

उस नट को उन्होंने उड़ा लिया। रात उन्होंने बड़े से बड़ा जो नगर का सेठ था—उसकी हवेली चुनी; जिसको वे अब तक नहीं चुन पाये थे, क्योंकि हवेली बड़ी थी; चढ़ने में अड़चन थी।

नट को लेकर वे पहुँचे। बड़े प्रसन्न थे। उन्होंने नट से कहा, 'अब तू देर न कर भाई। एक, दो, तीन—छलाँग लगा; ऊपर चढ़।' लेकिन नट वहीं खड़ा रहा। उन्होंने फिर दुबारा कहा; नट वहीं फिर खड़ा रहा। उन्होंने फिर तीसरी बार कहा।

तीसरी बार एक चोर बिलकुल नाराज हो गया, उसने कहा, 'अभी तक तू खड़ा क्यों है? चढ़। हमारे पास ज्यादा समय नहीं है।'

नट ने कहा, 'पहले नगाड़ा बजाओ। बिना नगाड़े के कैसे नाच सकें? नगाड़ा जब बजे तब...।' उसने कहा, 'मैं...। क्योंकि मेरे पैर में गति ही नहीं है।'

कोई उपाय ही नहीं है।

अब चोर नगाड़ा तो बजा नहीं सकता। पर नट ठीक कह रहा था। लेकिन नट को भी खयाल नहीं है कि अगर वह छलाँग लगा सकता है, तो नगाड़े से कुछ लेना-देना नहीं है।

दुकानदार होना आपका, डॉक्टर होना, कि मजदूर होना, कि स्त्री होना, कि पुरुष होना—सांयोगिक है। वह कोई आपका स्वभाव नहीं है। और आप वे नहीं रहेंगे, तो सब मिट गया—एसा कुछ नहीं है। कुछ नहीं मिटता। उसकी जो स्मृति है, उसको कृष्ण नहीं कह रहे हैं कि वह मैं हूँ; नहीं आप तो आप सोचें कि कृष्ण...।

कृष्ण कह रहे हैं : आत्म-स्मरण मैं हूँ, सेल्फ रिसेम्बरॅन्स मैं हूँ। जिस दिन आप स्मरण करेंगे—इन सब संयोगों से हटकर उसे...आपका जो स्वभाव है...।

आप कौन हैं, मैं कौन हूँ—ये सारी सांयोगित बातें हैं। मेरा नाम, मेरा वर, पता—ये सब, कुछ मूल्य के नहीं है। मेरा न कोई नाम हैं; और न मेरा कोई रूप है। मेरी वह जो अरूप और अनाम स्थिति है, उसको कृष्ण कहते हैं : वह स्मृति है।

स्मृति शब्द बाद में बिगड़ा और कबीर और दादू के समय में सुरति हो गया। नानक

और दादू और कबीर 'सुरति' शब्द का उपयोग करते हैं। वे कहते हैं : 'सुरति जगाओ।' सुरति का मतलब है : जगाओ उसको—जो आपके भीतर परमात्मा है।

और जब रमण कहते हैं : जानो कि तुम कौन हो—हू एम आई; तो वे इसी कृष्ण की स्मृति की ही बात कह रहे हैं। वे यही कह रहे हैं कि पीछे पहचानो। वह जो सब संयोगों के पार है, सब स्थितियों के पार है; सभी स्थितियों से गुजरता है, फिर भी किसी स्थिति के साथ एक नहीं है; सभी अवस्थाओं से गुजरता है...।

कभी आप बच्चे हैं; कभी जवान हैं; कभी बूढ़े हैं; लेकिन आपके भीतर कोई है—जो न बच्चा है, न जवान है, न बूढ़ा है; जो तीनों से गुजरता है। जैसे तीन स्टेशनें हों और आपकी ट्रेन तीनों से गुजर जाय। वह जो यात्री भीतर बैठा है, जो सदा चल रहा है—कहीं भी ठहरता नहीं है; किसी भी अवस्था के साथ एक नहीं हो जाता है; सदा अवस्थामुक्त है—उसकी स्मृति को कृष्ण कहते हैं : मैं हूँ।

'ज्ञान मैं हूँ...।' यहाँ 'ज्ञान' से अर्थ नॉलेज नहीं है। विश्वविद्यालय जो ज्ञान देते हैं, कृष्ण उस ज्ञान की बात नहीं कर रहे हैं।

शिक्षक ज्ञान देते हैं; स्मृति इकट्ठी कर लेती है—ज्ञान को। संग्रह हो जाता है आपके पास; बड़ी सूचनाएँ इकट्ठी हो जाती हैं, कृष्ण उसको ज्ञान नहीं कह रहे हैं।

ज्ञान से अर्थ नॉलेज नहीं है। ज्ञान से अर्थ प्रज्ञा है। ज्ञान से अर्थ विसडम है। प्रज्ञा बड़ी अलग बात है। क्योंकि यह हो सकता है कि आप कुछ न जानते हों और ज्ञानी हों। और यह भी हो सकता है कि बहुत कुछ जानते हों, और निपट अज्ञानी हों। कुछ आपके 'जानने' से ज्ञान का कोई संबंध नहीं है।

एक आदमी बहुत कुछ जान सकता है। सब शास्त्र कंठस्थ हो—तोते की तरह कंठस्थ हो; जरा भी भूल न करे। यंत्रवत स्मृति हो। और फिर भी जीवन में व्यवहार जो करे, वहाँ अज्ञानी सिद्ध हो।

आपको वेद कंठस्थ हों; और सारी बातें याद हों; और गीता आपकी जबान पर बैठी हो; और आपको मालूम है बिलकुल, कि न तो शस्त्रों से छिदता हूँ, न अग्नि मुझे जला सकती है। और जरा-सा दुःख आ जाय और आप छाती पीट कर रो रहे हैं! सब गीता वगैरह रखी रह जाती है! वहाँ पता चलता है कि यह प्रज्ञा है या नहीं। प्रज्ञा आपके अनुभव में काम आती ह। और ज्ञान केवल बुद्धि की बातचीत है। और बुद्धि की बातचीत तो हम कुछ भी इकट्ठी कर ले सकते हैं।

मैं एक प्रोफेसर के घर मेहमान था। ऐसे अचानक मेरे कान में पति-पत्नी की बात पड़ गई। मैं अपने कमरे में बैठा था—जहाँ उनके घर में रुका था। पति बाहर से आये। पत्नी से कहा; कुछ जोर से ही कहा (बड़े प्रसन्न थे।) कि 'आज रोटरी क्लब में रात मेरा व्याख्यान है—तिब्बत के ऊपर।' पत्नी ने कहा, 'तिब्बत? लेकिन तुम तिब्बत तो कभी गये नहीं!' पति ने कहा, 'छोड़ो भी। सुननेवाले ही कान से तिब्बत हो कर आये हैं!'

यह मैं सुन रहा था, तब मुझे पता चला कि ज्ञान के लिए तिब्बत जाने की कोई जरूरत नहीं है; न सुननेवाले को, न बोलनेवाले को।

अकसर अध्यात्म के नाम पर ऐसे ही 'तिब्बत के यात्री' चलते रहे हैं। न सुनने-वालों को कुछ पता है कि ब्रह्म क्या है; न बोलनेवाले को कुछ पता है। जब दोनों को पता नहीं, तो कुछ अड़चन ही नहीं है।

यहाँ जो कृष्ण कह रहे हैं : 'ज्ञान', तो विसडम, प्रज्ञा से उसका संबंध है। अनुभव है जिसके जीवन में, जिसका बोध सधा हुआ है; कैसी भी अवस्था हो, जिसके बोध को डिगाया नहीं जा सकता—वह मैं हूँ।

स्मृति, ज्ञान और अपोहन—सब वेदों द्वारा जानने योग्य ये ही तीन बातें हैं। सारा वेदान्त इन्हीं तीन की खोज करता है।

'और न केवल सब वेदों द्वारा मैं ही जानने के योग्य हूँ, वरन् वेदान्त का कर्ता और वेदों को जाननेवाला भी मैं ही हूँ।' सारे वेद मुझे ही खोजते ह। और सारे वेद मेरे ही अनुभव से निकलते हैं।

सारे वेदों की खोज है कि वह जो अन्तर्यामी ह, वह मिल जाय। वह जो भीतर छिपा हुआ राजों का राज है, वह मिल जाय। लेकिन वेद निकलते कहाँ से हैं?

जिनको वह (अन्तर्यामी) मिल जाता है, उनकी वाणी वेद बन जाती है। जो उसे पा लेते हैं, उनकी सुगंध वेद हो जाती है।

जो वहाँ तक पहुँच जाते हैं—उस अन्तर्यामी तक, फिर वे जो भी कहते हैं, वही वेद बन जाता है। वे कुछ न कहें, तो मौन उनका वेद हो जाएगा। वे चलें-फिरें, उठें-बैठें, तो उनकी गतिविधि वेद हो जाएगी।

अगर बुद्ध को चलते हुए भी देख लो, तो भी उस चलने में समाधि है; उसमें भी इशारा है। अगर कृष्ण को बाँसुरी बजाते हुए देख लो, तो उस बाँसुरी में वेद है; उसमें सारा वेदान्त है; उसमें सारा इशारा है।

कृष्ण कहते हैं कि मैं ही हूँ सबकी खोज। और मैं ही हूँ—सब का मूल, उत्स हूँ। और यह जो 'मैं' है—वह तुम्हारे भीतर छिपा हुआ अन्तर्यामी है।

कृष्ण बाहर से बोल रहे हैं, लेकिन जिसकी तरफ इशारा कर रहे हैं, वह अर्जुन के भीतर ह।

गुरु सदा बाहर से बोल रहे हैं, लेकिन जिसकी तरफ इशारा करता है, वह शिष्य के भीतर है। इसलिए दो पड़ाव ह यात्रा के। एक तो है बाहर का गुरु; वह पहला पड़ाव है। और फिर दूसरा है : भीतर का गुरु; वह अंतिम पड़ाव है।

आज इतना ही।

एकाग्रता और साक्षी-भाव • शास्त्र और सद्गुरु पुरुषोत्तम की खोज

छठवाँ प्रवचन

बम्बई, रात्रि, दिनांक १० मार्च, १९७४

द्वौ इमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥ १६ ॥

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥ १७ ॥

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥ १८ ॥

हे अर्जुन, इस संसार में क्षर अर्थात् नाशवान और अक्षर अर्थात् अविनाशी—यह दो प्रकार के पुरुष हैं, उनमें संपूर्ण भूतप्राणियों के शरीर तो क्षर अर्थात् नाशवान् और कूटस्थ जीवात्मा अक्षर अर्थात् अविनाशी कहा जाता है।

तथा उन दोनों से उत्तम पुरुष तो अन्य ही है कि जो तीनों लोकों में प्रवेश करके सबका धारण-पोषण करता है एवं अविनाशी ईश्वर और परमात्मा—ऐसे कहा गया है।

क्योंकि मैं नाशवान् जड़वर्ग क्षेत्र से तो सर्वथा अतीत हूँ और माया में स्थित अक्षर, अविनाशी जीवात्मा से भी उत्तम हूँ, इसलिए लोक में और वेद में पुरुषोत्तम नाम से प्रसिद्ध हूँ।

पहले कुछ प्रश्न।

● पहला प्रश्न : कल एकाग्रता का आपने भारी मूल्य बताया है, परन्तु आप अपने ध्यान प्रयोगों में एकाग्रता की अपेक्षा साक्षी-भाव पर अधिक जोर देते हैं, ऐसा किस कारण है?

एकाग्रता शक्ति को उपलब्ध करने की विधि है। साक्षीभाव शांति को उपलब्ध करने की विधि है। शक्ति उपलब्ध करने से जरूरी नहीं है कि शांति उपलब्ध हो। लेकिन शांति उपलब्ध करने से शक्ति अनिवार्यरूपेण उपलब्ध हो जाती है।

जो व्यक्ति शक्ति की खोज में है, उसका रस एकाग्रता में होगा। जैसे सूरज की किरणें इकट्ठी हो जायँ, तो अग्नि पैदा हो जाती है। वैसे ही मन के सारे विचार इकट्ठे हो जायँ, तो शक्ति पैदा हो जाती है। थोड़े से प्रयोग करें, तो समझ में आ सकेगा।

जब भी मन एक-जुट हो जाता है, तब आपके जीवन की पूरी ऊर्जा एक दिशा में बहने लगती है। और जितना संकीर्ण प्रवाह हो, उतनी ही शक्तिशाली हो जाती है। जितने विचार बिखरे हों, ऊर्जा उतने अनेक मार्गों से बहती है; तब क्षुद्र शक्ति हाथ में रह जाती है।

जिस विचार के प्रति भी आप एकाग्र हो जाते हैं, वह विचार शीघ्र ही यथार्थ में परिणत हो जाएगा। जिस विचार में मन डाँवाडोल होता है, उसके यथार्थ में परिणत होने की कोई संभावना नहीं है।

एकाग्रता तो सांसारिक मनुष्य भी चाहता है। और सांसारिक मनुष्य को भी अगर कहीं सफलता मिलती है, तो एकाग्रता के कारण ही मिलती है।

वैज्ञानिक भी एकाग्रता के माध्यम से ही खोज कर पाता है। संगीतज्ञ भी एकाग्रता के माध्यम से ही संगीत की गहरी कुशलता को उपलब्ध होता है। लेकिन साक्षी-भाव में केवल धार्मिक व्यक्ति उत्सुक होता है।

सांसारिक व्यक्ति की साक्षी-भाव में कोई भी उत्सुकता नहीं होती। और अगर साक्षी-भाव उसे कहीं रास्ते पर पड़ा हुआ भी मिल जाय, तो भी वह उसे चुनना पसंद न करेगा। क्योंकि साक्षी-भाव का परिणाम शांति है। और साक्षी-भाव का परिणाम शून्य हो जाना है। साक्षी-भाव का परिणाम मिट जाना है। वह महामृत्यु जैसा है।

एकाग्रता से तो आपका ही मन मजबूत होता है और अहंकार प्रबल होगा। साक्षी-भाव से मन शांत होता है, समाप्त होता है, अन्ततः मिट जाता है और अहंकार विलीन हो जाता है।

साक्षी-भाव मन के पीछे छिपी आत्मा की अनुभूति है। और एकाग्रता मन की ही बिखरी शक्तियों को इकट्ठा कर लेना है। इसलिए एकाग्रता को उपलब्ध व्यक्ति जरूरी नहीं है कि धार्मिक हो जाय। लेकिन साक्षी-भाव को उपलब्ध व्यक्ति अनिवार्यरूपेण धार्मिक हो जाता है।

एकाग्रता परमात्मा तक नहीं ले जाएगी। और अगर आप परमात्मा की खोज एकाग्रता के माध्यम से कर रहे हों, तो एक न एक दिन आपको एकाग्रता भी छोड़ देनी पड़ेगी। क्योंकि परमात्मा तभी मिलता है, जब आप ही बचे। इसे थोड़ा समझ लें।

अगर दो माजूद हों—आप और आपका परमात्मा—तो परमात्मा की उपलब्धि नहीं होने वाली है। जब आप ही बचे, तब ही परमात्मा की उपलब्धि होने वाली है। या परमात्मा ही बचे, आप न बचें, तो उसकी उपलब्धि हो सकती है।

एकाग्रता में तो सदा दो बने रहते हैं। एक आप—जो एकाग्र हो रहा है; और एक वह जिसके ऊपर एकाग्र हो रहा है। एकाग्रता में द्वैत नहीं नष्ट होता; दुई तो बनी ही रहती है। साक्षी-भाव में द्वैत नष्ट होता है, अद्वैत की उपलब्धि होती है। इसलिए मेरा जोर तो साक्षी-भाव पर ही है। और अगर कोई व्यक्ति एकाग्रता में उत्सुकता भी रखता है, तो भी मैं उसे साक्षी-भाव की तरफ ही ले जाने की कोशिश करता हूँ।

एकाग्रता के माध्यम से भी साक्षी-भाव की तरफ जाया जा सकता है। क्योंकि जिसका मन बिखरा है, उसे साक्षी-भाव भी साधना कठिन होगा। जिसका मन एक-जुट है, उसे साक्षी-भाव भी साधना आसान हो जाएगा। इसलिए कुछ धर्मों ने भी एकाग्रता का उपयोग साक्षी-भाव की पहली सीढ़ी की तरह किया है। लेकिन वह सीढ़ी ही है। साधन ही है—साध्य नहीं है।

और ध्यान रहे : साक्षी-भाव साधन भी है और साध्य भी। साक्षी-भाव साधना भी है और साक्षी-भाव पाना भी है। साक्षी-भाव के पार कुछ भी नहीं है। इसलिए साक्षी-भाव की साधना पहले चरण से ही मंजिल की शुरूआत है। एकाग्रता मंजिल की शुरूआत नहीं है। वह एक साधन है, एक रास्ता है। वह रास्ता वहाँ तक पहुँचा

देगा, जहाँ से असली रास्ता शुरू होता है। और वह भी तभी पहुँचाएगा, जब आपको ध्यान न हो। अन्यथा खतरा है। एकाग्रता में भटक जाने की पूरी सुविधा है।

ऐसा हुआ : विवेकानंद एकाग्रता की साधना करते थे। शक्तिशाली व्यक्ति थे और मन को इकट्ठा कर लेना शक्तिशाली व्यक्तियों के लिए बड़ा आसान है। सिर्फ कमजोरी के कारण ही हम मन को इकट्ठा नहीं कर पाते हैं। कमजोरी के कारण मन यहाँ-वहाँ भागता है; हम उसे खींच नहीं पाते। हाथ कमजोर हैं, लगाम कमजोर है, घोड़े कहीं भी भागते हैं। और इसलिए कमजोरी में हमसे सब भूलें होती हैं।

एक आदमी पर मुकदमा चल रहा था। उसने पहले आदमी को मारा; फिर दूसरे आदमी को धक्का देकर छत से नीचे गिरा दिया और तीसरे आदमी की हत्या कर दी। एक पन्द्रह मिनट के भीतर तीन काम उसने किये।

जज उससे पूछ रहा था कि 'तू इतने भयंकर काम पन्द्रह मिनट में कैसे कर पाया?' उस आदमी ने कहा, 'क्षमा करें, कमजोरी के क्षण में ऐसा हो गया। कमजोरी के क्षण में—इन द मोमेन्ट्स ऑफ वीकनेस!'

आप जिनको 'कमजोरी के क्षण' कहते हैं, वहीं आपकी ताकत दिखाई पड़ती है। आपकी ताकत गलत में ही दिखाई पड़ती है। और गलत में इसलिए दिखाई पड़ती है कि वहाँ आपको ताकत दिखानी नहीं पड़ती। मन ही आपको खींच कर ले जाता है। मन के विपरीत जहाँ भी आपको ताकत दिखानी पड़े, वहीं आप कमजोर हो जाते हैं। वहीं फिर आपसे कुछ बनता नहीं है।

अगर आपसे कोई कहे कि पाँच मिनट शांत होकर बैठ जायँ, तो बड़ी कठिन हो जाती है बात। पचास साल अशांत रह सकते हैं; उसमें जरा भी अड़चन नहीं है। पाँच क्षण शांत होना कठिन ह!

जन्मों-जन्मों तक विचारों की भीड़ चलती रहे, आपको कोई कठिनाई नहीं है। लेकिन एक विचार पर मन को क्षण भर को लाना हो, तो बस, कठिनाई हो जाती है।

पर विवेकानन्द शक्तिशाली व्यक्ति थे। एकाग्रता के प्रयोग करते थे। एकाग्रता सध भी गई। जैसे ही एकाग्रता सधी, जो खतरा होना चाहिए, वह हुआ। क्योंकि एकाग्रता के सधते ही आपको लगता है कि मैं महाशक्तिशाली हो गया।

रूस में एक महिला है जो पाँच मिनट तक अपने को एकाग्र कर लेती है, तो फिर आस-पास की वस्तुओं को प्रभावित कर सकती है। बीस फीट के घेरे में पत्थर पड़ा हो, तो उसको अपने पास खींच ले सकती है—सिर्फ विचार से। टेबल रखी हो, तो सिर्फ विचार से हटा दे सकती है। टेबल पर सामान रखा हो, तो सिर्फ विचार से नीचे गिरा दे सकती है।

रूस में उसके बड़े वैज्ञानिक परीक्षण हुए। और उन्होंने अनुभव किया कि जब विचार बिलकुल एकाग्र हो जाता है, तो जैसे विद्युत के धक्के लगते हैं—वस्तुओं को, ऐसे ही विचार के धक्के भी लगने शुरू हो जाते हैं। उस महिला के फोटोग्राफ भी लिए गये हैं, और उस पर वैज्ञानिक प्रयोग भी किये गये हैं। और सभी प्रयोगों से वह सिद्ध हुआ कि उस स्त्री से कोई वैद्युतिक शक्ति प्रवाहित होती है, जो वस्तुओं को हटा देती है या पास खींच लेती है।

पन्द्रह मिनिट के प्रयोग में उस स्त्री का तीन पाउंड वजन कम हो जाता है। इतनी शक्ति प्रवाहित होती है कि उसका तीन पाउंड शरीर से वजन नीचे गिर जाता है।

दिखाई न पड़ती हो, लेकिन फिर भी शक्ति भौतिक है। नहीं तो तीन पाउंड वजन कम होने का कोई कारण नहीं है। अदृश्य हो, लेकिन मैटीरिअल है, पदार्थगत है। इसलिए तीन पाउंड शरीर का वजन नीचे गिर जाता है। और वह स्त्री कोई एक सप्ताह तक अस्वस्थ अनुभव करती है। एक सप्ताह के बाद फिर प्रयोग कर सकती है, उसके पहले नहीं।

जब भी कोई चित्त को एकाग्र करता है, तो बड़ी शक्ति प्रगट होती है। अगर उसका उपयोग किया जाय, तो शक्ति क्षीण हो जाती है। अगर उसका उपयोग न किया जाय और सिर्फ उसका साक्षी रहा जाय, तो वह शक्ति स्वयं में लीन हो जाती है। और वह जो स्वयं में शक्ति की लीनता है, वह साक्षी का आधार बनने लगती है।

विवेकानंद ने एकाग्रता साधी और जैसा सभी को होगा, उनको भी हुआ : लगा कि मैं परम शक्तिशाली हो गया हूँ। और कोई भी काम करना चाहूँ, तो केवल विचार से हो सकता है।

रामकृष्ण के आश्रम में एक बहुत सीधा-साधा आदमी था। कालू उसका नाम था—कालीचरण; वह भक्त आदमी था। अपने छोटे से कमरे में उसने कम से कम नहीं तो सौ-पचास देवी-देवता रख छोड़े थे। सब तरह के देवी-देवताओं को नमस्कार करना...! उसको कोई तीन घंटे से लेकर छह घंटे तक पूजा में लग जाते। क्योंकि सभी को थोड़ा-थोड़ा राजी करना पड़ता। इतने देवी-देवता हैं!

विवेकानंद उससे अकसर कहते थे...। क्योंकि विवेकानंद का मन वस्तुतः नास्तिक का मन था। शुरूआत से ही विचार और तर्क उनकी पकड़ थी। तो उस पर वे हँसते थे और उससे कहते थे, 'कालीचरण, फेंक; यह क्या कचरा इकट्ठा कर रखा है! और इन पत्थरों के पीछे तू तीन-तीन, छह-छह घंटे खराब करता है!'

जैसे ही विवेकानन्द को एकाग्रता का पहला अनुभव हुआ, उनको खयाल आया कालीचरण का—वह पूजा कर रहा है—बगल के कमरे में। तो उन्होंने अपने मन में ही सोचा कि 'कालीचरण, बस, अब बहुत हो गया। सारे देवी-देवताओं को एक कपड़े में बाँध और गंगा में फेंक आ।'

कालीचरण पूजा कर रहा था; अचानक उसे भाव आया कि सब बेकार है। सारे देवी-देवता उसने कपड़े में बाँधे और गंगा की तरफ चला।

रामकृष्ण अपने कमरे में बैठे थे। उन्होंने कालीचरण को बुलाया; पूछा, 'कहाँ जा रहे हो?' उसने कहा, 'सब व्यर्थ है; कर चुके पूजा-पाठ बहुत; उससे कुछ होता नहीं। ये सब देवी-देवताओं को गंगा में फेंकने जा रहा हूँ!'

कालीचरण को रामकृष्ण ने कहा, 'एक-दो मिनट रुक'। और आदमी भेजा कि विवेकानंद को उनकी कोठरी से निकाल कर बाहर ले आओ। कालीचरण को कहा कि 'यह तू नहीं जा रहा है।'

विवेकानंद घबड़ाये हुए आये। रामकृष्ण ने कहा कि 'देख, यह तूने क्या किया? और अगर यही करना है एकाग्रता से, तो तेरी कुंजी सदा के लिए मैं रखे लेता हूँ। अब मरने के तीन दिन पहले ही तुझे कुंजी वापस मिलेगी।'

विवेकानंद मरने के तीन दिन पहले तक फिर एकाग्रता न साध सके।

विवेकानंद जैसा व्यक्ति भी अगर शक्ति का ऐसा क्षुद्र उपयोग करने को तैयार हो जाय, तो किसी दूसरे व्यक्ति के लिए तो बिलकुल स्वाभाविक है। इसलिए एकाग्रता पर मेरा जरा भी जोर नहीं है। पहले आपको एकाग्रता सधवायी जाय, फिर चाबी रखी जाय, इस सब अड़चन में पड़ने की कोई जरूरत नहीं है।

साक्षी-भाव सहज मार्ग है। और उससे शक्ति सीधी उपलब्ध नहीं होती, बल्कि शांति उपलब्ध होती है। जैसे-जैसे साक्षी सधता है, वैसे-वैसे आप परम शांत होते जाते हैं। उस परम शांति के कारण ऐसे उपद्रवी खयाल आपमें उठेंगे ही नहीं। और दूसरे को कुछ कर के दिखना है, दूसरे के साथ कुछ करना है—अपनी शक्ति से—ऐसी वासना नहीं जगेगी। अन्यथा सभी तरह की शक्तियाँ भटकाव बन जाती हैं।

धन की शक्ति से ही लोग बिगड़ते हैं, ऐसा मत सोचना आप; सभी तरह की शक्ति से बिगड़ते हैं। पद की शक्ति से लोग बिगड़ते हैं, ऐसा आप मत सोचना। सभी तरह की शक्ति से बिगड़ते हैं।

सचाई तो यह है कि बिगड़ने की तो आपकी मनोदशा सदा ही है, सिर्फ आप कमजोर हैं और बिगड़ने के लायक आपके पास शक्ति नहीं है।

मेरे पास अकसर लोग आते हैं, वे कहते हैं, 'फलाँ आदमी इतना भला सेवक था; भूदान में काम करता था; गरीबों के चरण दबाता था; मरीजों का इलाज करता था; विधवाओं के लिए आश्रम खोलता था; वह जब से राजपद पर चला गया है—कि मिनिस्टर हो गया ह—तब से बिलकुल बदल गया है! शक्ति ने उसे खराब कर दिया।'

शक्ति क्यों खराब करेगी? उस आदमी के भीतर खराबी के सारे मार्ग थे, लेकिन

उन पर बहने की हिम्मत न थी; और कोई उपाय न था। जैसे ही हिम्मत मिली, उपाय मिला, साधन जुटे, वह आदमी बिगड़ गया।

लोग कहते हैं, 'फलाँ आदमी कितना भला था—जब गरीब था। जब से उसके पास पैसा आया है, तब से वह पागलपन कर रहा है।' पागलपन सभी करना चाहते हैं, लेकिन पागलपन करने को भी तो सुविधा चाहिए।

पाप सभी करना चाहते हैं, लेकिन पाप करने के लिए भी तो सुगमता चाहिए। बुरा सभी करना चाहते हैं, लेकिन आपकी सामर्थ्य भी तो बुरा करने की होनी चाहिए। जब भी सामर्थ्य मिलती है, बुराई तत्क्षण पकड़ लेती है।

पर मैं आपसे कहता हूँ कि धन और पद की ही शक्तियाँ नहीं हैं, एकाग्रता की शक्ति भी बुराई के रास्ते पर ले जाएगी। क्योंकि बुरे तो आप होना ही चाहते हैं। वे बीज वहाँ पड़े हैं, वर्षा की जरूरत है। शक्ति की वर्षा हो जाय, अंकुर फूट आयेंगे। और जो बीज आप में छिपे हैं, वे प्रगट होने लगेंगे। और हम सब जहर के बीज लिए चल रहे हैं।

इसलिए मेरी पूरी चेष्टा रहती है—निरंतर—कि आपको शक्ति की दिशा में जाने का खयाल ही न पकड़े। आप मौन, शांति और शून्यता की दिशा में जायँ। क्योंकि जैसे-जैसे आप शांत होंगे, वे जहर के बीज जो आपके भीतर पड़े हैं, उनके अंकुरित होने का कोई उपाय न रहेगा। आपके शांत होते-होते वे बीज दग्ध होने लगेंगे, वे जल जाएँगे। शक्ति आपको भी उपलब्ध होगी, लेकीन वह तभी उपलब्ध होगी, जब शांति इतनी घनी हो जाएगी कि सारे रोग के बीज जल चुके होंगे; तब आपको शक्ति उपलब्ध होगी, लेकिन उसका फिर कोई दुरुपयोग नहीं हो सकता है। और उस शक्ति का सच पूछिए तो आप उपयोग भी नहीं करेंगे।

और जब कोई व्यक्ति शक्तिशाली हो जाता है और शक्ति का उपयोग नहीं करता, तब परमात्मा उस शक्ति का उपयोग करता है। इस कीमिया को ठीक से समझ लें।

जब तक 'आप' उपयोग करने वाले हैं, तब तक परमात्मा आपका उपयोग नहीं करता। जब तक आप कर्ता हैं, तब तक परमात्मा के लिए आप उपकरण नहीं बनते हैं; निमित्त नहीं बनते हैं। जैसे ही आपको खयाल ही मिट जाता है कि कुछ करना है, और शक्ति आपके पास होती है, उस शक्ति का उपयोग परमात्मा के हाथ में चला जाता है।

कृष्ण का पूरा जोर गीता में अर्जुन से यही है कि तू कर्तापन छोड़ दे। और जैसे ही तेरा कर्तापन छूट जाएगा, वैसे ही परमात्मा तेरे भीतर से प्रवाहित होने लगेगा; तब तू निमित्त-मात्र है।

तो साक्षी का मार्ग और एकाग्रता का मार्ग बड़े भिन्न-भिन्न हैं।

पर आपकी आकांक्षा क्या है? अगर आप अपने अहंकार को और बड़ा करना चाहते हैं, उसको और महिमाशाली करना चाहते हैं, तो साक्षी की बात आपको न जमेगी। तब आप चाहेंगे कि एकाग्रता, कन्सेन्ट्रेशन, सिद्धियाँ, शक्तियाँ आपको उपलब्ध हो जायँ। पर ध्यान रहे : वैसी खोज धार्मिक नहीं है। जहाँ भी आपको यह खयाल होता है कि मैं कुछ हो जाऊँ, आप धर्म से हट रहे हैं। इस बात को आप कसौटी बना लें।

यह भावना आपकी रोज गहरी होती जाय—कि 'मैं मिट रहा हूँ; मैं ना-कुछ हो रहा हूँ। और अन्ततः मुझे उस जगह जाना है, जहाँ मैं खो जाऊँगा, जहाँ बूँद को खोजने से भी न खोजा जा सकेगा; बूँद पूरी सागर में एक हो गई होगी; तो मुझे शक्ति की जरूरत भी क्या है?"

शक्ति परमात्मा की है और मैं परमात्मा में खो जाऊँगा, तो सारा परमात्मा मेरा है; मुझे अलग से शक्ति की खोज की जरूरत क्या है?

अलग से शक्ति की खोज का अर्थ है : आप अपने अहंकार को बचाने में लगे हैं। और अहंकार ही संसार है।

● **दूसरा प्रश्न : सब को शास्त्र पढ़ कर गुरु की खोज में निकलना पड़ता है; क्या शास्त्रों को पढ़ने की कष्ट-साध्य प्रक्रिया से गुजरना अनिवार्य है? क्या सीधे ही गुरु की खोज में नहीं निकला जा सकता?**

असंभव है; क्योंकि गुरु की खोज शास्त्र की असफलता से शुरू होती है। जब आप शास्त्र में खोजते हैं—खोजते हैं—खोजते हैं—और नहीं पाते हैं, तभी गुरु की खोज शुरू होती है।

जहाँ बाइबिल, कुरान, गीता और वेद हार जाते हैं, वहीं से गुरु की खोज शुरू होती है। ऐसा क्यों? और सीधे गुरु की तलाश में जाना क्यों असंभव है?

पहली बात : शास्त्र मुरदा है। उससे आपके अहंकार को चोट नहीं लगती है। गीता को सिर पर रखना बिलकुल आसान है। कुरान पर सिर झुकाना बिलकुल आसान है। लेकिन किसी जीवित व्यक्ति को सिर पर रखना बहुत कठिन है; किसी जीवित व्यक्ति के चरणों पर सिर रखना बहुत मुश्किल है।

किताब तो मुरदा है। मरे हुए से आपके अहंकार को कोई खतरा नहीं है। एक जिन्दा व्यक्ति खतरनाक है। और उसके चरणों में सिर झुकाते वक्त पीड़ा होती है। आपका अहंकार बल मारता है। इसलिए व्यक्ति पहले शास्त्र से खोज करता है—कि अगर किताब से मिल जाय तो क्यों झंझट में पड़ना।

फिर किताब आप खरीद सकते हैं, गुरु आप खरीद नहीं सकते। किताब दुकान-दुकान पर मिल जाती है। गुरु को बेचनेवाली कोई दुकानें नहीं हैं।

किताब के अर्थ आप अपने मतलब से निकालेंगे। किताब की व्याख्या करने के आप ही मालिक होंगे; क्या मतलब निकालते हैं, यह आप पर ही निर्भर होगा। और हमारा जो अचेतन है, वह अपने ही हिसाब से अर्थ निकालता है। इसलिए कोई किताब आपको बदल नहीं सकती। कोई किताब आपको रूपांतरित नहीं कर सकती। क्योंकि किताब का अर्थ कौन करेगा?

आप गीता पढ़ेंगे—माना; लेकिन उस गीता से जो मतलब निकालेंगे, वे आपके ही होंगे, वह आपका ही अहंकार होगा; उसका ही प्रक्षेपण होगा।

और हम किताब से वही निकाल लेते हैं—उस पर ही हमारा ध्यान जाता है—जो हमारी चित्तदशा होती है।

मैंने एक घटना सुनी है। पता नहीं सच है या झूठ। बंगला देश में याह्याखान ने अपनी सारी ताकतें लगा दीं। और रोज-रोज 'सूर्यास्त' होने लगा। तो वह बहुत घबड़ाया हुआ था। और उसने अमेरिकी राजदूत को बुलाया कि 'हमें और शस्त्रास्त्रों की जरूरत पड़ेगी।'

इसके पहले की अमेरिकी राजदूत आये, उसने बाइबिल पलटनी शुरू की—इस खयाल से कि कुछ बाइबिल के दो-चार वचन याद कर ले, तो अमेरिकी राजदूत को बाइबिल के आधार पर प्रभावित करना आसान होगा।

उसने किताब पलटी। जिस वाक्य पर पहली उसकी नजर पड़ी, तो थोड़ा धक्का खाया। पहला वचन जो उसमें देखा, वह था : 'और जुदास ने अपने आपको फाँसी लगा ली।' उसकी हालत उस वक्त वही थी—फाँसी लगाने जैसी। तो वह थोड़ा डरा। उसने जल्दी से पन्ना पलटा।

दूसरे पन्ने पर उसकी नजर पड़ी; एक वचन था कि 'और तुम भी उसी का अनुसरण करो।' तब तो वह बहुत घबड़ा गया। उसने जल्दी से तीसरा पन्ना उलटा; उसकी नजर पड़ी कि 'समय क्यों खराब कर रहे हो? देर क्या है? सोच-विचार क्या है? इस पर शीघ्र अमल करो।' उसने घबड़ा कर बाइबिल बंद कर दी।

इस आधार पर कि आपका अचेतन काम करता है, चीन में एक किताब है 'आई चिंग'। यह दुनिया की अनूठी से अनूठी किताब है। और लाखों लोग हजारों वर्षों से इस किताब का उपयोग कर रहे हैं। 'आई चिंग' ज्योतिष की अनूठी किताब है। और आपका कोई भी प्रश्न हो, आई चिंग में उसके उत्तर हैं। बस, आप अपना प्रश्न तैयार कर लें और आई चिंग को उलटें। और उसके उलटने के हिसाब हैं। पासे फेंकने का हिसाब है—उसका पन्ना उलटने का—और आपको उत्तर मिल जाएगा।

आई चिंग बड़ी अद्भुत किताब है। क्योंकि एक तो चीनी भाषा में है। उसका अनुवाद भी हुआ है, तो भी चीनी भाषा अनूठी है। उसमें एक शब्द के अनेक अर्थ

होते हैं। क्योंकि शब्द होता नहीं, सिर्फ चित्र होते हैं। और 'आई चिंग' ऐसी रहस्यपूर्ण किताब है कि कोई भी वचन साफ नहीं है। किसी वचन का कोई साफ मतलब नहीं है; धुधला धुँधला है।

ऐसे ही जैसे कि आप आकाश में देखें : बादल घिरे हैं और बादलों में जो भी चित्र आप देखना चाहें, देख लें। आपको घोड़ा बनाना हो, तो घोड़ा बन जाय; हाथी बनाना हो, तो हाथी बन जाय। जो भी आपको बनाना हो। क्योंकि बादल तो...। न वहाँ हाथी है, न वहाँ घोड़ा है; सिर्फ धुआँ है—उड़ता हुआ। रेखाएँ प्रतिपल बदल रही हैं। आप उनमें कोई भी कल्पना कर लें, वह आपको दिखाई पड़ना शुरू हो जाएगा।

चाँद पर बच्चे देखते हैं—कि बुढ़िया चरखा चला रही है। वह उनको दिखाई पड़ने लगता है। एक बार खयाल में आ जाय, फिर दिखाई पड़ना शुरू हो जाता है।

आई चिंग को लोग पढ़ते हैं; उनका जो अपना प्रश्न है, उसके हिसाब से वे उत्तर निकाल लेते हैं।

उत्तर उसमें मिल जाता है। लोग सोचते हैं : बड़ी अनूठी किताब है। अनूठी सिर्फ इसलिए है कि जिसने भी रची, वह आदमी मिस्टिफिकेशन में—चीजों को धुँधला करने में—महान कारीगर रहा होगा।

किसी भी चीज का साफ रेखा में उत्तर नहीं है। इतना धुँधला है उत्तर, कि आप जो भी मतलब निकालना चाहें, निकाल सकते हैं। तो हर आदमी अपने 'मतलब' का मतलब निकाल लेता है।

सभी शास्त्र धुँधले हैं। उसका कारण है। इसलिए नहीं कि धुँधले—लोगों ने रखे हैं। लेकिन जिस सत्य की चर्चा है, शब्दों में आ कर वह सत्य धुँधला हो जाता है। सत्य को शब्द के माध्यम में डालते ही धुँधलापन पैदा हो जाता है।

फिर शास्त्र से अर्थ आप अपना निकालते हैं। तो जो आदमी पढ़ता है, वही आदमी अपने को ही शास्त्र के माध्यम से पढ़ रहा है। इसलिए कोई शास्त्र आपको आपके ऊपर नहीं ले जा सकते; आपको आपके भीतर ही रखेंगे। आपसे ज्यादा कोई शास्त्र आपको नहीं दे सकता।

शास्त्र की हालत वैसी है : मैंने सुना है : एक बूढ़ा आदमी—गाँव का ग्रामीण—आँख के डॉक्टर के पास गया। आँखों से उसको दिखना करीब-करीब बंद हो गया था। आर डॉक्टर ने कहा, 'लेकिन आँखों में कोई मूलभूत खराबी नहीं है, चश्मा लगाने से सब ठीक हो जाएगा।'

उस बूढ़े आदमी ने कहा, 'क्या आँखें इतनी ठीक हो जाएँगी कि मैं लिख-पढ़ भी सकूँ?' डॉक्टर ने कहा, 'बिलकुल। तुम लिख सकोगे, पढ़ सकोगे।' तो उसने कहा, तब तो जल्दी करो, क्योंकि लिखना-पढ़ना मुझे आता नहीं।'

अब जिसको लिखना-पढ़ना नहीं आता, वह चश्मा लगाने से भी लिख-पढ़ नहीं सकेगा। क्योंकि चश्मा उतना ही बता सकता है, जितना आपको आता हो—उससे ज्यादा नहीं।

शास्त्र में आप वह कैसे पढ़ सकते हैं, जो आपको आता ही नहीं! आप वही पढ़ सकते हैं, जो आपको आता है। इसलिए शास्त्र व्यर्थ हैं। शास्त्र आपको आपसे ज्यादा में नहीं ले जा सकता है; कोई आत्मअतिक्रमण नहीं हो सकता है।

पर शास्त्र सुविधापूर्ण है। आप जो भी मतलब निकालना चाहें—निकालें। शास्त्र झगड़ा भी नहीं करता। वह यह भी नहीं कह सकता कि आप गलत अर्थ निकाल रहे हैं; कि यह मेरा भाव नहीं है; कि ऐसा मैंने कभी कहा नहीं है!

शास्त्र कोई आज्ञा भी नहीं देता। सब आप पर निर्भर है। इसलिए पहले अहंकार शास्त्र में खोजने की कोशिश करता है। और जब नहीं पाता...। और अभागे हैं वे लोग, जो सोचते हैं कि उनको शास्त्र में मिल गया। सौभाग्यशाली हैं वे लोग, जिनमें कम से कम इतनी बुद्धि है कि वे पहचान लेते हैं कि शास्त्र में हमें नहीं मिला। यह बुद्धिमान का लक्षण है।

अनेक तो बुद्धिहीन सोच लेते हैं कि उन्हें मिल ही गया। शास्त्र के शब्द कंठस्थ कर लते हैं, और सोचते हैं : बात पूरी हो गयी!

शास्त्र से जो असफल हो जाता है, उसकी नजर व्यक्तियों की तलाश में जाती है। क्योंकि अब अहंकार एक पराजय झेल चुका। और अब वह जीवित व्यक्ति में तलाश करेगा।

जीवित व्यक्ति के साथ अड़चनें हैं। पहली तो अड़चन यह है कि उसके सामने झुकना कठिन है। और बिना झुके सीखने का कोई उपाय नहीं है।

दूसरी अड़चन यह है कि आप अपना अर्थ न निकाल सकेंगे। वह जीवित व्यक्ति अपना ही अर्थ निकालेगा, और अपने ही अर्थ से आपको चलाने की कोशिश करेगा।

जीवित आदमी को धोखा नहीं दिया जा सकता। अपनी मरजी उस पर थोपी नहीं जा सकती। और वह जीवित आदमी आपको आपके बाहर और आप से ऊपर ले जाने में समर्थ है।

शास्त्र के द्वारा आत्मक्रांति करने की कोशिश ऐसे है, जैसे कोई अपने जूते के बंधों को पकड़ कर खुद को उठाने की कोशिश करे।

आप ही पढ़ रहे हैं; आप ही अर्थ निकाल रहे हैं; आप ही साधना कर रहे हैं! अपने ही जूते के बंध पकड़े हैं और उठाने की कोशिश करते हैं। इससे कुछ परिणाम नहीं है। लेकिन एक परिणाम हो सकता है कि इससे थक जायँ और गुरु की तलाश शुरू हो जाय।

इसलिए शास्त्रों की एक ही उपयोगिता है कि वे गुरु तक आपको पहुँचा दें। मृत—जीवित तक आपको पहुँचा दे, तो काफी काम का है।

और आप सोचते हैं कि शास्त्र से बच कर हम गुरु तक पहुँच जायँ, तो बहुत कठिन है। क्योंकि वह असफलता जरूरी है। शास्त्र में भटकने की चेष्टा जरूरी है। वहाँ विषाद से, दुःख से भर जाना जरूरी है।

दोनों तरह के लोग मेरे पास आ जाते हैं। ऐसा व्यक्ति भी आता है, जो शास्त्र से थक गया है। तो मैं पाता हूँ : उसके साथ काम बहुत आसान है। क्योंकि वह व्यर्थ से ऊब चुका है। अब उसकी व्यर्थ में बहुत उत्सुकता नहीं है। अब वह सार की ही बात जानना चाहता है—जो की जा सके। अब वह व्यावहारिक है। अब वह शास्त्रीय नहीं है। अब उसकी बौद्धिक चिंता नहीं है बहुत। अब उसकी साधनागत चिंता है। शास्त्र से वह छूट चुका। अब साधना की प्यास उसमें जगी है।

जो लोग बिना शास्त्र को जाने आ जाते हैं, उनकी जिज्ञासा शास्त्रीय होती है। वे पूछते हैं : 'ईश्वर है या नहीं? संसार किसने बनाया?' यह काम तो शास्त्र ही निपटा देता, इसके लिए मेरे पास आने की जरूरत नहीं है। 'आत्मा कहाँ से आयी? ब्रह्म कहाँ है?—ये सब बकवास तो शास्त्र ही निपटा देते; इस सब के लिए किसी जीवित आदमी की कोई जरूरत नहीं है। और कोई जीवित गुरु इस तरह की व्यर्थ की बातों में पड़ेगा भी नहीं, क्योंकि समय खराब करने को नहीं है।

तो जो लोग शास्त्र से नहीं गुजरे, उनके साथ तकलीफ यह होती है कि उनकी जिज्ञासाएँ शास्त्रीय होती हैं और वे व्यर्थ समय जाया करते हैं।

शास्त्र से गुजर जाना अच्छा है। आपकी जो बचकानी—बच्चों जैसी जिज्ञासाएँ हैं, उनका या तो हल हो जाएगा या आपको समझ में आ जाएगा कि वे व्यर्थ हैं; उनका कोई मूल्य नहीं है। और आप जीवन में बदलाहट कैसे हो सके, इसकी प्यास से भर जाएँगे। प्यास बड़ी अलग है।

और शास्त्रों को आपने समझा हो, तो गुरु को समझना आसान हो जाएगा। क्योंकि जो-जो शास्त्र में छूट गया है, वही-वही गुरु में है। गुरु परिपूरक है। जहाँ-जहाँ इशारे थे, थोड़ी दूर तक यात्रा थी और फिर मार्ग छूट जाता था, वहीं से गुरु शुरू होता है। वह परिपूरक है। क्योंकि जहाँ तक शब्द ले जा सकते हैं, उसके आगे ही गुरु का काम है।

महावीर के जीवन में उल्लेख है—बड़ी हैरानी का उल्लेख है। बुद्ध के जीवन में भी वही उल्लेख है। और सांयोगिक नहीं मालूम होता। महावीर के जो बड़े शिष्य थे ग्यारह, वे ग्यारह के ग्यारह महा पंडित ब्राह्मण थे।

महावीर ब्राह्मणों के शत्रु हैं—एक लिहाज से। क्योंकि वे एक नये धर्म की उद्भावना कर रहे थे, जो ब्राह्मण और पुरोहित के विरोध में था। वे मंदिर, पुराने

शास्त्र, वेद—उन सब का खंडन कर रहे थे। ईश्वर का इनकार कर रहे थे। खुद क्षत्रिय थे, लेकिन उनके जो ग्यारह गणधर थे—जो उनके ग्यारह विशेष शिष्य थे, जिनके आधार पर सारा जैन-धर्म खड़ा हुआ—वे सब के सब महा पंडित और ब्राह्मण हैं। यह जरा हैरानी की बात है।

बुद्ध के साथ भी ठीक यही हुआ। बुद्ध क्षत्रिय हैं। उनके जो भी महा शिष्य हैं, वे सभी ब्राह्मण है। और साधारण ब्राह्मण नहीं, असाधारण पंडित हैं।

जब सारिपुत्त बुद्ध के पास आया, तो पाँच सौ ब्राह्मण उसके शिष्य थे, जो उसके साथ आये। जब मोदगल्यायन बुद्ध के पास आया, तो उसके साथ पाँच हजार उसके शिष्य थे। वह पाँच हजार शिष्यों का तो स्वयं गुरु था।

ठीक ऐसा ही महावीर के जीवन में उल्लेख है। गौतम जब आया, सुधर्मा जब आया, तो ये सब बड़े-बड़े पंडित थे। और इनके साथ बड़े शिष्यों का समूह था।

महावीर जिन्दा गुरु हैं और ये ग्यारह जो उनके गणधर हैं, वे सब शास्त्र जान चुके थे। ये सब वेद के ज्ञाता थे। पारंगत विद्वान थे। ये महावीर को समझ सके—तत्क्षण, क्योंकि जो-जो शास्त्र में छूट रहा था, वह-वह महावीर में मौजूद था। उनको पकड़ फौरन आ गई।

महाकाश्यप, सारिपुत्त, मोदगल्यायन—ये सब के सब महापंडित थे। इन्होंने सब शास्त्र तलाश लिए थे। शास्त्र में कहीं भी कुछ नहीं बचा था, जो उन्होंने न खोजा हो। फिर भी सब जगह बात अधूरी थी। बुद्ध को देखते ही सब बातें पूरी हो गईं। इस आदमी की मौजूदगी से शास्त्र में जो कमी थी, वह तत्काल भर गई। जहाँ-जहाँ शास्त्र का पात्र अधूरा था, वहाँ-वहाँ बुद्ध को देख कर पूरा हो गया। जिस तरफ शास्त्रों ने इशारा किया था—यह वही आदमी था।

तो अपने से विपरीत के प्रति भी समर्पण में कठिनाई नहीं आयी। ये ग्यारह पंडित महावीर के चरणों में सिर रख दिये। उन्होंने अपने शास्त्रों में आग लगा दी। उन्होंने कहा, 'अब उनकी कोई जरूरत नहीं। क्योंकि जिन्दा आदमी मिल गया—जिसकी हम तलाश करते थे।'

नक्शे की तभी तक जरूरत है, जब तक घर न मिल गया हो—जिसकी आप खोज कर रहे हैं; फिर आप नक्शे को फेंक देते हैं। फिर आप कहते हैं, 'मिल गई वह जगह, जिसकी ओर नक्शे में इशारा था; जहाँ हम चल रहे थे।'

तो महावीर ने जब इन गणधरों से कहा कि 'छोड़ दो वेद।' उन्होंने कहा, 'आपको देख कर ही वे छूट गये; छोड़ने को अब कुछ बचा नहीं है।'

जब बुद्ध ने कहा—महाकाश्यप को—कि 'छोड़ दो सब—कोई शास्त्र, कोई वेद, कोई ईश्वर जरूरी नहीं अब।' तो उसने कहा, 'छूट गया—आपको देखने से

छूट गया। आपकी मौजूदगी काफी है। आप उस सब के सिद्ध प्रमाण हैं—जिसका हम खोजते थे। अब तक पकड़ा था उसको, क्योंकि उसके सहारे खोज चलती थी। अब खोज पूरी हो गई। अब उनकी हमें कोई जरूरत नहीं है।'

तो आप जान कर चकित होंगे कि शास्त्र अगर ठीक से समझा जाय, तो उसे छोड़ने में जरा भी कठिनाई नहीं आती। जिन्होंने ठीक से नहीं समझा है, उन्हीं को कठिनाई आती है।

जिनको शास्त्र पचता नहीं है, उन्हीं की कठिनाई है। वे उसे पकड़े रहते हैं। जिनको शास्त्र पच जाता है, उन्हें शास्त्र छोड़ने में क्या अड़चन है? छूट ही गया; पचने में ही समाप्त हो गया। शास्त्र का काम पूरा हो गया। और जहाँ शास्त्र पूरा होता है, वहाँ गुरु की तरफ आँख उठनी शुरू होती है।

और गुरु के बिना कोई उपाय नहीं है। शास्त्र से तो कुछ होने वाला नहीं है। इतना ही हो जाय तो काफी है। इतना हो सकता है; पर वह भी आप की बुद्धिमत्ता पर निर्भर है। आप अगर अपने अर्थ निकालते रहें, तो शायद यह भी न हो पाये।

मुल्ला नसरुद्दीन गुजर रहा था, एक मंदिर के पास से। अपने बैलों को लिए जा रहा था। मंदिर में पूजा हो रही थी। आरती चल रही थी; ढोल बज रहे थे; घंटे का नाद हो रहा था। बैल बिचक गये। मुल्ला बहुत नाराज हुआ।

वह अंदर पहुँचा। उसने कहा, 'यहाँ क्या हो रहा है? यह क्या कर रहे हो?' तो लोगों ने कहा, 'हम आरती उतार रहे हैं। तो नसरुद्दीन ने कहा, 'चढ़ाई ही क्यों, जब उतारना नहीं आता?' यह अर्थ उसने निकाला!

अर्थ तो बिलकुल साफ है, कि 'जब उतारना ही नहीं आता...। इतना धूम-धड़ाका कर रहे हो, उपद्रव कर रहे हो, उतर नहीं रही है, तो चढ़ाई किस लिए? पहले उतारना सीख लो, फिर चढ़ाओ।'

आप शास्त्र पढ़ेंगे, तो क्या अर्थ निकालेंगे? वह अर्थ आपके भीतर से आयेगा। नसरुद्दीन को पता ही नहीं था कि आरती चढ़ाना क्या है; आरती उतारना क्या है। उसने समझा कोई चीज बढ़ा दी; चढ़ गई है, अब उतर नहीं रही है। अब ये इतना शोरगुल मचा रहे हैं; कूंद-फाँद रहे हैं, और इनसे उतर नहीं रही है।

शब्द कभी भी पूरा नहीं हो सकता। क्योंकि शब्द कोई वस्तु तो नहीं है। शब्द तो सिर्फ संकेत है। संकेत पूरा नहीं हो सकता। संकेत का अर्थ ही है कि वह सिर्फ इशारा है। वहाँ कुछ है नहीं, वहाँ सिर्फ तीर ही जाते हैं।

सड़क के किनारे पत्थर लगा हुआ है—दिल्ली की तरफ। उसमें लिखा है: दिल्ली। और एक तीर लगा है। वहाँ दिल्ली नहीं है। नसरुद्दीन वहीं ठहर सकते हैं, कि आ गई दिल्ली; पत्थर पर लिखा हुआ है।

आप भी अगर शास्त्र को देख कर समझते हों: आ गई 'दिल्ली', तो भूल में पड़ रहे हैं। वह सिर्फ पत्थर है, जहाँ एक तीर लगा हुआ है कि यात्रा आगे की तरफ चलती है। अभी और आगे जाना है।

जब 'दिल्ली' सच में आयेगी, तो पत्थर पर शून्य बना होगा, वहाँ तीर नहीं होगा, जीरो होगा। और जिस दिन आपके भीतर भी जीरो आ जाय, शून्य आ जाय—समझना कि दिल्ली आ गई! उस दिन आप पहुँच गये; मुकाम आ गया।

शून्य के पहले मुकाम नहीं है।

शास्त्र में खोजें। अगर समझ हो, तो शास्त्र बड़े प्यारे हैं। क्योंकि जिनसे वे निकले हैं, वे अनूठे लोग थे। उनमें उनकी थोड़ी सुवास तो है ही। जिस शब्द का उपयोग बुद्ध ने कर लिया, उसमें बुद्ध की थोड़ी सुवास तो आ ही गई। जो उनके ओठों पर रह लिया, जो इस योग्य समझा गया कि बुद्ध ने उसका अपनी वाणी से उपयोग कर लिया, उसमें बुद्ध थोड़े तो समा गये ही।

अगर आप में थोड़ी समझ हो, तो उतनी झलक उस शब्द से आपको आ सकती है। लेकिन उसके लिए बड़ा हलका, बड़ा शांत और बुद्धिमत्तापूर्ण हृदय चाहिए। अत्यंत सहानुभूति से भरा हुआ हृदय चाहिए, तब उस शब्द में से थोड़ी-सी गंध आपको पता चलेगी। अगर जोर से झपट्टा मार कर शब्द को पकड़ लिया और कंठस्थ कर लिया, तो वह मर गया।

शब्द बहुत कमजोर हैं। उनकी गरदन पकड़ने की जरूरत नहीं है। वे फूल की तरह हैं। जैसा कवि शब्दों का उपयोग करता है, वैसा ही जब कोई शास्त्र को पढ़नेवाला शब्दों का उपयोग करने लगता है; आहिस्ते चलता है; धीरे से स्पर्श करता है; शब्द को फुसलाता है, ताकि उससे अर्थ निकल आये। शब्द को निचोड़ता नहीं; पकड़ कर उसकी गरदन ही नहीं दबा देता कि इसकी जान निकाल कर देख लें।

बहुत लोग वैसे ही हैं। आपने कहानी सुनी होगी; पुरानी—यूरोप में प्रचलित कथा है। ईसप की कहानियों में एक है।

एक आदमी के घर में एक मुरगी थी जो रोज एक सोने का अंडा दे देती थी। फिर लोभ पकड़ा। पति-पत्नी ने विचार किया कि 'ऐसे हम कब तक जिन्दगी भर...। एक-एक अंडा रोज मिलता है। और जब अंडा एक-एक रोज मिलता है, तो इस मुरगी के भीतर अंडे भरे हैं। तो हम एक दफा इकट्ठे ही निकाल लें। यह रोज की चिंता, फिक्र, आशा, सपना—फिर बाजार जाओ, फिर बेचो। क्या फायदा?'

उन्होंने मुरगी मार डाली। एक भी अंडा न निकला उसमें से। तब बहुत पछताये, रोये-धोये; लेकिन फिर कोई अर्थ न था। क्योंकि मुरगी में कोई अंडे इकट्ठे नहीं हैं। मुरगी अगर जीवित हो, तो एक-एक अंडा निकल सकता है। अंडा रोज बनता है।

शास्त्रों में जो शब्द हैं, वे भी आपकी सहानुभूति से जीवित हो सकते हैं। और उनमें अर्थ भरा हुआ नहीं है कि आपने निचोड़ लिया और पी गये। वह कोई फलों का रस नहीं है कि आपने निचोड़ा और पीया!

शब्द से अर्थ निकल सकता है, अगर सहानुभूति और प्रेम से आपने शब्द को समझाया, शब्द को फुसलाया, राजी किया। इसलिए हिंदुस्तान में हम शास्त्रों का अध्ययन नहीं करते, पाठ करते हैं। पाठ और अध्ययन में यही फर्क है।

अध्ययन का मतलब होता है : निचोड़ो; तर्क से, विश्लेषण से अर्थ निकाल लो। पाठ का अर्थ होता : सिर्फ गाओ; भजो। गीत की तरह उपयोग करो; जल्दी नहीं है कुछ अर्थ की। शब्दों को भीतर उतरने दो, डूबने दो; वे तुम्हारे खून में मिल जायँ, तुम्हारे अचेतन में उतर जायँ। तुम उनके साथ एकात्म हो जाओ, तब शायद 'मुरगी' अंडा देने लगे।

अति सहानुभूति से, सिम्पैथी से शास्त्र का थोड़ा-सा अर्थ आपको मिल सकता ह। और वह अर्थ आपको गुरु की तरफ ले जाने में सहयोगी होगा। क्योंकि वह अर्थ यह कहेगा कि यह तो शास्त्र है; जिनसे शास्त्र निकला है—अब उनकी खोज करो। क्योंकि जब शास्त्र में इतना है, तो जिनसे निकला होगा, उनमें कितना न होगा!

बुद्ध के वचन पढ़े; धम्मपद बड़ा प्यारा है, लेकिन कितना ही प्यारा हो, इससे बुद्ध की क्या तुलना है। इससे बुद्ध का अनुमान भी नहीं लगता कि बुद्ध क्या रहे होंगे? धम्मपद प्यारा है, तो अब बुद्ध की खोज करो।

और बुद्ध कोई ऐसी बात थोड़े ही हैं कि एक दफा हो कर नष्ट हो गये। रोज बुद्ध होते रहते हैं। अनेक लोगों में बुद्धत्व की घटना घटती है। इसलिए कभी पृथ्वी खाली नहीं होती। बुद्ध सदा मौजूद होते हैं। तो जरूरत नहीं है कि पच्चीस सौ साल पीछे अब जाओ, तब कहीं बुद्ध मिलेंगे। धम्मपद वाले बुद्ध न मिलें, तो कोई और बुद्ध मिल जाएगा। उसी को हम गुरु कहते हैं।

धम्मपद पढ़ा; गीता पढ़ी। गीता पढ़ कर रस आया, तो अब कृष्ण की तलाश करो। कृष्ण सदा मौजूद हैं। वही गुरु का अर्थ है।

गुरु का अर्थ है : हम उसको खोजेंगे, जिनसे ऐसे शास्त्र निकले हैं। अब हम जो निकला है, उससे राजी नहीं रहेंगे। अब हम गंगोत्री की तलाश करेंगे—जहाँ से गंगा निकलती है। लोग गंगोत्री की यात्रा पर जाते हैं। पूरी गंगा का चक्कर लगा कर गंगोत्री तक पहुँचते हैं। ऐसे ही शास्त्रों की पूरी यात्रा कर के गुरु तक पहुँचना होता है।

गुरु का अर्थ है : जहाँ से शास्त्र निकलते हैं। गुरु का अर्थ है : जिसने जाना, जिसने जिया—सत्य को; और अब जिससे सत्य बहता है।

और गुरु से कभी पृथ्वी खाली नहीं होती। कहीं न कहीं कोई न कोई बुद्ध है ही। कहीं न कहीं कोई न कोई कृष्ण है ही। कहीं न कहीं, कोई न कोई क्राइस्ट है ही।

तकलीफ हमारी यह है कि हम पुराने लेबल से जीते हैं—कि उस पर 'कृष्ण' लिखा हुआ हो। वह नहीं मिलेगा। कि उस पर 'महावीर' लिखा हो, तो हम मानेंगे। 'महावीर' जिस पर लिखा था, वह एक दफा हो चुका। अब गुरु तो मिल सकता है, लेकिन पुराने नाम से नहीं मिलेगा।

नाम भर मिटते हैं। नाम बदलते चले जाते हैं। और अगर शास्त्र सहानुभूति से समझा हो, उसकी कविता को भीतर पच जाने दिया हो, उसका गीत आपमें गूँजने लगा हो, तो आप समझ जाएँगे कि नामों का कोई मूल्य नहीं है। तो फिर कृष्ण को पकड़ लेना—कहीं भी—आसान है।

और गीता अगर कृष्ण तक न ले जाय, ती गीता का कोई भी सार नहीं है। इसलिए सदियों-सदियों तक गीता की, वेद की, कुरान की, बाइबिल की हम चर्चा करते हैं। वहा चर्चा इसीलिए है। वह एक तरह का जाल है।

मुझ से लोग पूछते हैं कि 'आप क्यों गीता पर बोल रहे हैं!' वह एक तरह का जाल है।

जो मैं गीता पर बोल रहा हूँ, वह सीधे ही बोल सकता हूँ, क्योंकि मैं ही बोल रहा हूँ। गीता सिर्फ बहाना है।

आखिर गीता का बहाना लेने की जरूरत भी क्या है? तुम्हारी वजह से वह मुसीबत उठानी पड़ती है।

वह मैं सीधे ही बोल सकता हूँ। लेकिन तुम्हें पुराने नाम का मोह है; कृष्ण का मोह है। अगर 'कृष्ण मार्का' लगा हो, तो तुम को लगेगा कि 'ठीक है। बात ठीक होनी चाहिए।'

जो मैं कह रहा हूँ, वह मैं कह रहा हूँ। कृष्ण को किनारे रख कर कह सकता हूँ। क्या अड़चन है! कृष्ण को भी बीच में लूँ, तो भी जो मुझे कहना है, वही मैं कहूँगा। कृष्ण उसमें कुछ उपद्रव खड़ा नहीं कर सकते। पर उनके नाम का उपयोग तुम्हारी वजह से है।

तुम्हें पुराने जालों का मोह है; और मुझे मछलियों से मतलब है। तुम पुराने में फँसते हो, कि नये में, इससे क्या। तुम्हारा अगर पुराने जाल से ही मोह है, तो ठीक है।

गीता पर, कुरान पर, बाइबिल पर, ताओ तेह किंग पर, जो हजारों वर्ष तक चर्चा चलती है, उसका प्रयोजन यही है कि लोग पुराने के मोह में हैं। ठीक है। उनको कष्ट भी न हो और धीरे-धीरे उनको जब समझ में आ जाएगा, तो पुराने का मोह भी छूट जाएगा।

शास्त्र से गुरु—और गुरु से स्वयं—ऐसी यात्रा है।

शास्त्र ले जाएगा—गुरु तक; और गुरु पहुँच देगा—स्वयं तक। और जब तक स्वयं का शून्य न आ जाय, तब तक समझना कि अभी मंजिल नहीं आयी।

अब हम सूत्र को लें।

'हे अर्जुन, इस संसार में क्षर अर्थात् नाशवान और अक्षर अर्थात् अविनाशी—ये दो प्रकार के पुरुष हैं। उनमें संपूर्ण भूत-प्राणियों के शरीर तो क्षर अर्थात् नाशवान और कूटस्थ जीवात्मा अक्षर अर्थात् अविनाशी कहा जाता है। तथा उन दोनों से उत्तम पुरुष तो अन्य ही है, जो तीनों लोकों में प्रवेश कर के सब का धारण-पोषण करता है एवं अविनाशी ईश्वर और परमात्मा—ऐसा कहा गया है।

'क्योंकि मैं नाशवान जड़वर्ग क्षेत्र से तो सर्वथा अतीत हूँ और माया में स्थित अक्षर अविनाशी जीवात्मा से भी उत्तम हूँ, इसलिए लोक में और वेद में पुरुषोत्तम नाम से प्रसिद्ध हूँ।'

यह सूत्र पुरुषोत्तम की व्याख्या है। 'पुरुषोत्तम' शब्द हमें परिचित है। लेकिन कृष्ण का अर्थ खयाल में लेने जैसा है।

कृष्ण कह रहे हैं कि तीन स्थितियाँ हैं। एक विनाशशील जगत् है। उस विनाशशील जगत् के भीतर छिपा हुआ एक अविनाशी तत्त्व है। और इस अविनाशी और विनाशी—दोनों के पार, दोनों को अतिक्रमण करने वाला एक तीसरा तत्त्व है।

इसे हम ऐसा कहें : शरीर या संसार, तथा आत्मा, और परमात्मा। शरीर क्षर है—प्रतिपल विनिष्ट हो रहा है; प्रतिपल बह रहा है, परिवर्तन है। शरीर के भीतर छिपी हुई आत्मा अविनाशी है। इन दोनों के पार—कृष्ण कहते हैं—मैं हूँ—जो पुरुषोत्तम है। ये दो पुरुष : एक क्षर और एक अक्षर; और दोनों के पार मैं हूँ।

जो लोग भी दार्शनिक चिंतन करते हैं, उनको सवाल उठता है कि दोनों से काम हो जाता है; तीसरे की क्या जरूरत है? जैनों की यही मान्यता है। वे कहते हैं : संसार है और आत्मा है। बात खतम हो गई। जीव है और अजीव है। क्षर है और अक्षर है। यह तीसरे की क्या जरूरत है? इन दो से काम हो जाता है। दोनों अनुभव के हिस्से हैं। इसलिए जैन विचार द्वैत पर पूरा हो जाता है। लेकिन कृष्ण कहते हैं, 'मैं तीसरा हूँ।' जैन विचार में इसलिए परमात्मा की कोई जगह नहीं है। क्योंकि तीसरे की कोई जगह नहीं है।

कृष्ण का यह जोर—तीसरे के लिए क्यों है, यह समझना जरूरी है। क्योंकि अगर दो ही है, तो दोनों बराबर मूल्य के हो जाते हैं। दोनों का संतुलन हो जाता है। जैसे एक तराजू है; उस पर दो पलड़े लगे हैं। और अगर एक तीसरा काँटा नहीं हो—जो दोनों का अतिक्रमण करता हो, तो तराजू बिलकुल व्यर्थ हो जाता है।

एक 'काँटा' चाहिए—जो दोनों का अतिक्रमण करता है। और चूँकि दोनों के

पार है, इसलिए हिसाब भी बता सकता है कि किस तरफ बोझ ज्यादा है, और किस तरफ बोझ कम है। तौल संभव हो सकती है।

अगर पदार्थ है और आत्मा है, और इन दोनों के पार कुछ भी नहीं है, तब बड़ी अड़चन है। क्योंकि तब पदार्थ और आत्मा के बीच न तो कोई जोड़नेवाला है, न कोई तोड़नेवाला है। पदार्थ और आत्मा के बीच जो संघर्ष है, उससे पार जाने का भी उपाय नहीं है। इसलिए जैन चिंतन में एक पहेली सुलझती नहीं।

जैन विचारकों से पूछा जाता रहा है कि 'आत्मा इस संसार में उलझी क्यों?' तो उनकी बड़ी कठिनाई है। वे क्या बतायें कि कैसे उलझी है! अगर वे कहें कि पदार्थ ने खींच लिया, तो पदार्थ ज्यादा शक्तिशाली हो जाता है। और अगर पदार्थ ज्यादा शक्तिशाली है, तो तुम मुक्त कैसे होओगे?

अगर वे कहते हैं : आत्मा खुद ही खिंच आयी—अपनी मरजी से, तो सवाल यह उठता है कि कल हम मुक्त भी हो गये, फिर भी आत्मा खिंच आये, तो क्या करेंगे? क्योंकि कभी आत्मा अपने आप खिंच आयी—बिना किसी कारण के; तो मुक्ति फिर शाश्वत नहीं हो सकती।

मोक्ष में भी पहुँच कर क्या भरोसा। दस-पाँच दिन में ऊब जायँ और आत्मा फिर खिंच आये! इतनी मेहनत करें : तप, उपवास, तपश्चर्या, ध्यान, साधना; मोक्ष में जा कर पंद्रह दिन में ऊब जायँ, और आत्मा फिर पदार्थ में खिंच आये।

फिर पूछा जाता है : 'इन दोनों के बीच नियम क्या है? किस नियम से दोनों का मिलना और हटना चलता है?' तीसरे को चूँकि वे स्वीकार नहीं करते, इसलिए बड़ी अड़चन है।

और ध्यान रहे : गणित या तर्क की कोई भी चीज उलझ जाएगी, अगर दो के बीच तीसरा न हो। इसलिए हिंदू, ईसाई, मुसलमान—दो की जगह त्रैत में विश्वास करते हैं; ट्रिनिटी में, त्रिमूर्ति में।

जहाँ दो हैं, वहाँ तीसरा भी मौजूद रहेगा। क्योंकि दो को जोड़ना हो, तो तीसरे की जरूरत है; दो को तोड़ना हो तो, तो तीसरे की जरूरत है। दो के पार जाना हो, तो तीसरे की जरूरत है।

दो के बीच जो नियम है, जो शाश्वत व्यवस्था चल रही है, उसके लिए भी तीसरे की जरूरत है। इसलिए कृष्ण कहते हैं : 'मैं तीसरा हूँ।' और गहरे अनुभव से भी यही सिद्ध होता है।

एक तो शरीर है, जो दिखाई पड़ता है हमें। एक हमारा मन है, हमारी तथाकथित चेतना है, जो हमने अभी तक नहीं देखी। लेकिन अगर हम थोड़ा भीतर पीछे हटें और शांत हों, तो हमें मन भी दिखाई पड़ेगा, तब हम तीसरे हो जाएँगे।

तब एक तो शरीर होगा—पदार्थ से निर्मित, और एक मन होगा चेतन कणों से निर्मित, और एक हम होंगे; और यह हमारा होना सिर्फ साक्षी का भाव होगा, द्रष्टा का भाव होगा। हम सिर्फ देखने वाले होंगे। उन दोनों (शरीर और मन) का खेल चल रहा होगा, हम सिर्फ देखनेवाले होंगे।

यह जो तीसरा है, यह पुरुषोत्तम है। यह पुरुषोत्तम प्रत्येक में छिपा है। पर्त—शरीर की—ऊपर है। फिर पर्त मन की ऊपर है। इन दोनों परतों को हम तोड़ देते हैं, तो पुरुषोत्तम हमें उपलब्ध हो सकता है।

अब हम कृष्ण के सूत्र को खयाल में लें।

'इस संसार में क्षर अर्थात् नाशवान और अक्षर अर्थात् अविनाशी—ये दो प्रकार के पुरुष हैं। उनमें संपूर्ण भूत-प्राणियों के शरीर तो क्षर अर्थात् नाशवान और कूटस्थ जीवात्मा अक्षर अर्थात् अविनाशी कहा जाता है। तथा उन दोनों से उत्तम पुरुष तो अन्य ही है, जो कि तीनों लोकों में प्रवेश कर के सबका धारण-पोषण करता है, एवं अविनाशी ईश्वर और परमात्मा—ऐसा कहा गया है।

'क्योंकि मैं नाशवान जड़वर्ग क्षेत्र से तो सर्वथा अतीत हूँ और माया में स्थित अक्षर अविनाशी जीवात्मा से भी उत्तम हूँ, इसलिए लोक में और वेद में पुरुषोत्तम नाम से प्रसिद्ध हूँ।'

ये तीन परतें दार्शनिक सिद्धांत नहीं हैं। ये तीन परतें आपके भीतर अनुभव की परतें हैं। जैसे-जैसे आप भीतर जाएँगे वैसे-वैसे पर्त उखड़नी शुरू हो जाएगी।

अधिक लोग पहली पर्त पर ही रुके हैं, जो अपने को मान लेते हैं कि 'मैं शरीर हूँ।' जिस व्यक्ति ने अपने को मान लिया कि 'मैं शरीर हूँ,' वह अपने भीतरी खजानों से अपने ही हाथ वंचित रह जाता है। उसका तर्क ही गलत नहीं है, उसका पूरा जीवन ही अधूरा—अध-कचरा हो जाएगा। क्योंकि जो वह हो सकता है, जो उसके बिलकुल हाथ के भीतर है, उसके लिए उसने ही द्वार बंद कर दिये। जैसे अपने ही घर के बाहर आप बैठे हैं—ताला लगाकर; और कहते हैं कि 'यही घर है'। बाहर की जो छपरी है, उसको घर समझे हुए हैं। पोर्च में जी रहे हैं और उसको घर समझे हुए हैं।

नास्तिक की, शरीरवादी की भूल—तार्किक नहीं है, जीवनगत है, एग्जिस्टेंशियल है। और एक दफा आप पक्का जड़ पकड़ लें, कि यही मेरा घर है, तो खोज बंद हो जाती है। फिर आप डरते हैं; फिर आप आँख भी नहीं उठाते; फिर प्रयत्न भी नहीं करते हैं।

आस्तिक के साथ संभावना खुलती है। क्योंकि आस्तिक कहता है, 'तुम जहाँ हो, उतना ही सब कुछ नहीं है और भीतर जाया जा सकता है।' इसलिए नास्तिक बंद हो जाता है। आस्तिक सदा खुला है। और खुला होना शुभ है।

अगर आस्तिक गलत भी हो, तो भी खुला होना शुभ है, क्योंकि खोज हो सकती है। जो छिपा है, उसको हम प्रगट कर सकते हैं।

नास्तिक अगर ठीक भी हो, तो भी गलत है, क्योंकि खोज ही बंद हो गई; आदमी जड़ हो गया। उसने मान लिया : जो मैं हूँ, बस, यहीं बात समाप्त हो गयी।

जैसे एक बीज समझ ले कि बस, बीज ही सब कुछ है; तो फिर अंकुरण होने का कोई कारण नहीं है। फिर अंकुरित हो, जमीन की पर्त को तोड़े, कष्ट उठाये; आकाश की तरफ उठे; सूरज की यात्रा करे—यह सब बंद हो गया। बीज ने मान लिया कि म बीज हूँ।

जो व्यक्ति मान ले कि मैं शरीर हूँ, उसने अपने ही हाथ से अपने पैर काट लिए।

पोर्च भी हमारा है, लेकिन घर के और भी कक्ष हैं। और जितने भीतर हम प्रवेश करते हैं, उतने ही सुख, उतनी ही शांति, उतने ही आनंद में प्रवेश होता है। क्योंकि उतने ही हम घर के भीतर प्रविष्ट होते हैं। उतने ही विश्राम में हम प्रविष्ट होते हैं।

कृष्ण कहते हैं, शरीर है क्षर, आत्मा है अविनाशी—शरीर के साथ जुड़ा हुआ; और इन दोनों के पार साक्षी-आत्मा है—दोनों से मुक्त।

आत्मा और साक्षी-आत्मा में इतना ही फर्क है। वे दो नहीं हैं। एक ही चेतना की दो अवस्थाएँ हैं।

आत्मा का अर्थ है : शरीर से जुड़ी हुई चेतना। आत्मा का अर्थ है : जिसे खयाल है—'मैं' का। 'आत्मा' शब्द का भी अर्थ होता है : मैं—अस्मिता। जिस आत्मा को खयाल है शरीर से जुड़े होने का, उसको खयाल होता है : मैं का। शरीर से मैं भिन्न हूँ, तो मैं भी खो जाता है। और मैं के खोते ही सिर्फ शुद्ध चैतन्य रह जाता है। वहाँ यह भी खयाल नहीं है कि 'मैं हूँ'। उस शुद्ध चैतन्य का नाम पुरुषोत्तम है।

ये आपके ही जीवन की तीन परतें हैं। और पहली पर्त से तीसरी पर्त तक यात्रा करनी ही सारी आध्यात्मिक खोज और साधना है।

और इस तीसरे का लक्षण है कि वह दोनों के पार है। न तो वह देह है, न वह मन है। न वह पदार्थ है, न अपदार्थ है। वह दो से भिन्न—तीसरा है।

आप अपने भीतर कभी-कभी उसकी झलक पाते हैं; और चेष्टा करें, तो कभी-कभी उसकी झलक आयोजन से भी पा सकते हैं।

भोजन कर रहे हैं, तब एक क्षण को देखने की कोशिश करें : भोजन शरीर में जा रहा है; भोजन क्षर है और क्षर में जा रहा है। लेकिन जो उसे शरीर में पहुँचा रहा है, वह आत्मा है। और आत्मा मौजूद न हो, तो शरीर भोजन न तो कर सकेगा, न पचा सकेगा।

भूख शरीर में लगती है, लेकिन जिसको पता चलता है, वह आत्मा है। आत्म

न हो, तो शरीर को भूख लगेगी नहीं, पता भी नहीं चलेगा। भूख शरीर में पैदा होती है, लेकिन जिसको एहसास होता है, वह आत्मा है।

भूख और भूख की प्रतीति—ये दो हुए तल। क्या आप तीसरे को भी खोज सकते हैं, जो देख रहा है दोनों को—कि शरीर में भूख लगी है और आत्मा को भूख का पता चला और मैं दोनों को देख रहा हूँ। इस तीसरे की थोड़ी-थोड़ी झलक पकड़ने की कोशिश करनी चाहिए।

कोई भी अनुभव हो, उसमें तीनों मौजूद रहते हैं। इन तीन के बिना कोई भी अनुभव निर्मित नहीं होता। लेकिन तीसरा छिपा है पीछे। इसलिए अगर आप बहुत संवेदनशील न हों, तो आपको उसका पता नहीं चलेगा। वह गुप्ततम है।

वह जो पुरुषोत्तम है, वह गुप्ततम भी है। जितनी संवेदना आपकी बढ़ेगी, धीरे-धीरे उसकी प्रतीति होनी शुरू होगी।

कोई आदमी आपको गाली दे रहा है। तत्क्षण गाली देनेवाला और आप—गाली सुननेवाले—दो हो गये; गाली और आप दो हो गये। अगर थोड़ी संवेदना को और जगायें, तो आपको वह भी भीतर दिखाई पड़ जाएगा—जो दोनों को देख रहा है। गाली दी गई, तो गाली भौतिक है; कान पर चोट पड़ी; मस्तिष्क में शब्द घूसे; मस्तिष्क ने व्याख्या की; यह सब भौतिक है। मस्तिष्क ने कहा, 'यह गाली बुरी है।'

मुल्ला नसरुद्दीन को उसका पड़ोसी एक दिन कहा रहा था, 'तुम्हारा लड़का जो है फजलू—बहुत भद्दी और गंदी गालियाँ बकता है।' नसरुद्दीन ने कहा, 'बड़े मियाँ, कोई फिक्र न करो; छोटा है, बच्चा है, ना-समझ है। जरा बड़ा होने दो, अच्छी-अच्छी गालियाँ भी बकने लगेगा।'

व्याख्या की बात है। कभी-कभी गाली अच्छी भी लगती है, जब मित्र देता है। सच में मित्रता की कसौटी यह है कि गाली अच्छी लगे। अगर मित्र एक दूसरे को गाली न दें, तो समझते हैं कि कोई मित्रता में कमी है। मिठास नहीं है।

शत्रु भी गाली देते हैं—वही गाली; मित्र भी गाली देते हैं—वही गाली; शत्रु के के मुँह से सुन कर बुरी लगती है; मित्र के मुँह से सुन कर भली लगती है—प्यारी लगती है।

तो नसरुद्दीन एकदम गलत नहीं कह रहा है। अच्छी गालियाँ भी हैं ही। व्याख्या पर निर्भर है।

शरीर पर चोट पड़ती है गाली की; कान पर झंकार जाती है। मस्तिष्क व्याख्या करता है। यह सब भौतिक घटना है। व्याख्या जो करता है, वह चेतना है, इसलिए वही गाली भली लग सकती है कभी; वही गाली बुरी भी लग सकती है कभी। वह जो व्याख्या करनेवाली है—वह चेतना है।

क्या आपके पास कोई तीसरा तत्त्व भी है, जो दोनों को देख सके? इस घटना को भी देखे, इस बड़े यंत्र की प्रक्रिया को : गाली, कान में जाना, मस्तिष्क में चक्कर—शब्दों का व्याघात, उहापोह; फिर आत्मा का अर्थ निकालना। और क्या इनके पीछे दोनों को देख रहा हो कोई—ऐसी कभी आपको प्रतीति होती है? तो वही पुरुषोत्तम है। न प्रतीति होती हो, तो उसकी तलाश करनी चाहिए। और हर अनुभव में क्षण भर रुक कर उसकी तरफ खयाल करना चाहिए।

लेकिन हमारी मुसीबत यह है कि जब भी कोई अनुभव होता है, हम बाहर दौड़ पड़ते हैं। किसी ने गाली दी; हमने व्याख्या की—हम बाहर गये। उस आदमी पर नजर पड़ जाती है, जिसने गाली दी। क्यों दी गाली? या उसको कैसे हम बदला चुकाएँ? तो जब हमें भीतर जाना था और तीसरे को खोजना था, तब हम बाहर चले गये। वह क्षण भर का मौका था, खो गया। रोज ऐसे अवसर खो जाते हैं।

तो जब भी आपसे भीतर कोई घटना घटे, बाहर न दौड़ कर भीतर दौड़ने की फिक्र करें। तत्क्षण—ध्यान बाहर न जाय, भीतर चला जाय। और भीतर अगर ध्यान जाय, तो आप पायेंगे—साक्षी को खड़ा हुआ। और अगर साक्षी आपके खयाल में आ जाय, तो पूरी स्थिति बदल जाएगी, पूरी स्थिति का अर्थ बदल जाएगा।

किसी ने गाली दी हो; आत्मा व्याख्या करती है कि बुरा या भला है। कोई प्रतिक्रिया करती है। अगर उसी वक्त तीसरा भी दिखाई पड़ जाय, तो भी आत्मा फिर व्याख्या करेगी। अब यह तीसरे की व्याख्या करेगी—जो भीतर छिपा है। और हो सकता है, आपको हँसी आ जाय। शायद आप खिल-खिलकर हँस पड़ें।

वह जो बाहर गाली आयी थी, वह भी मस्तिष्क में आयी; उसकी व्याख्या आत्मा ने की। फिर आपने पीछे लौटकर देखा और साक्षी का अनुभव हुआ—यह भी अनुभव मस्तिष्क में आयेगा और आत्मा इसकी भी व्याख्या करेगी।

अगर आपको साक्षी दिखाई पड़ जाय, तो आपकी मुसकुराहट धीरे-धीरे सतत हो जाएगी। हर अनुभव में आप हँस सकेंगे। क्योंकि हर अनुभव लीला मालूम पड़ेगा; और हर अनुभव एक गहरी मजाक भी मालूम पड़ेगा—कि यह क्या चल रहा है; क्या हो रहा है! और इतनी क्षुद्र बातों को मैं इतना मूल्य क्यों दे रहा हूँ।

मैंने सुना है कि एक स्त्री ने अपने घर के भीतर झाँक कर अपने पति को कहा कि 'बाहर एक आदमी पड़ा है। पागल मालूम होता है। सामने सड़क पर लेटा है।' पति ने भीतर से ही पूछा, 'लेकिन उसे पागल कहने का क्या कारण है?' पत्नी ने कहा, 'पागल कहने का कारण यह है कि वह एक केले के छिलके पर फिसल कर गिर पड़ा है। उठ नहीं रहा है। केले को पड़ा-पड़ा गाली दे रहा है।'

कोई भी सामान्य आदमी होता, तो पहला काम वह यह करता कि किसी ने देख

तो नहीं लिया है—यह पता लगाता। फिर कपड़े झाड़ कर खड़ा हो जाता, जैसे कुछ भी नहीं हुआ है। केले को गाली भी देता, तो भीतर, और बाद में।

पत्नी ने कहा, 'आदमी बिलकुल पागल मालूम होता है। लेटा है वहीं, जहाँ गिर गया है; और सामने केले का छिलका पड़ा है, उसको गाली दे रहा है!'

पति ने कहा, 'एक बात तय है : पागल हो या न हो, सामान्य नहीं है। मैं आया।' वह बाहर जा कर देख रहा है। वह आदमी गाली भी दे रहा है, मुसकुरा भी रहा है। तो उसने उस आदमी को पूछा कि 'यह क्या कर रहे हो?' उसने कहा 'बाधा मत हो।'

वह एक सूफी फकीर था। वह केले पर से गिर पड़ा है। एक घटना घटी है; एक भौतिक घटना। उसके मस्तिष्क में खबर पहुँची, जो सामान्य आदमी के—सभी के—पहुँचेगी। और जो केले पर नाराजगी आयेगी, वह भी आयी। लेकिन वहाँ से भागा नहीं वह। क्योंकि वह चूक जाएगा क्षण। वह वहीं लेट गया। क्योंकि यह मौका खो देने जैसा नहीं है।

एक केले का छिलका क्या कर रहा है? भीतर क्या हो रहा है? तो मस्तिष्क जो भी करना चाहता है...। वह गाली भी दे रहा है। लेकिन एक तीसरी घटना वहाँ घट रही है। वह इन दोनों को देख भी रहा है : अपनी इस पागलपन की अवस्था को इस पड़े हुए छिलके को। इस पूरी घटना के पीछे वह धीमे-धीमे मुसकुरा भी रहा है। इसलिए अकसर सन्त पागल मालूम पड़ सकते हैं।

एक बात तो पक्की है कि वे सामान्य नहीं हैं। एबनॉर्मल तो हैं ही। असाधारण तो हैं ही। आप यह नहीं कर सकेंगे; मगर अगर कर सकें, तो जो हँसी आयेगी भीतर...।

आप कभी एक बात को सोचते हैं कि जब दूसरा आदमी कुछ करता है, उसमें आपको हँसी आती है।

जैसे एक आदमी केले के छिलके से फिसला और गिर पड़ा। ऐसा आदमी खोजना कठिन है, जिसे यह देख कर हँसी न आ जाय।

अगर दूसरे को देख कर आपको इतनी हँसी आती है, कभी आपने खुद फिसल कर गिर कर और फिर हँस कर देखा? तब आपको तीसरे तत्त्व का थोड़ा-सा अनुभव होगा। क्योंकि उस वक्त गिरने वाले आप होंगे; गिरने वाले की जो प्रतिक्रिया है, वह भी आप होंगे; और देखने वाले भी आप होंगे।

दूसरे को गिरते देख कर आप हँसते हैं, क्योंकि स्थिति पूरी की पूरी मजाक जैसी मालूम पड़ती है। पर कभी आपने इस पर विचार किया कि ऐसा होता क्यों है? आखिर केले में, उसके छिलके पर से गिर जाने में ऐसा क्या कारण है, जिससे हँसी आती है? इसमें हँसने योग्य क्या है?

मनोवैज्ञानिक बड़ी खोज करते हैं, क्योंकि इसमें हँसी सभी को आती है—सारी दुनिया में आती है। इसका कारण क्या है? इसमें ऐसी कौन-सी बात है, जिसको देख कर हँसी आती है?

मेरी जो दृष्टि है, मुझे जो कारण दिखाई पड़ता है, वह यह है कि आदमी के अहंकार को केले का छिलका भी गिरा देता है—उसे देख कर हँसी आती है।

वह आदमी अकड़ कर चला जा रहा था, हेट-वेट लगाये था; टाई वगैरह सब—ऐसा बिलकुल शक्तिशाली आदमी—अचानक एक केले का छिलका उसे जमीन पर चारों खाने चित्त कर देता है। उसकी सब सामर्थ्य खो जाती है—अकड़ खो जाती है। क्षण भर में पाता है कि दीन है, सड़क पर पड़ा है। इस दीनता से एकदम हँसी आती है। आदमी की इस असहाय अवस्था पर हँसी आती है।

उसके अकड़पन की स्थिति...। और फिर एकदम जमीन पर पड़े होने में इतना अंतराल है, इतना फर्क है कि यह आप पहचान ही नहीं सकते थे कि यह आदमी—और केले के छिलके पर गिरने वाला है। यह एक सम्राट् हो सकता है।

इसलिए आप खयाल रखें : अगर एक भिखारी गिरेगा, तो कम हँसी आयेगी। अगर एक सम्राट् गिरेगा, तो ज्यादा हँसी आयेगी।

आप सोचें : एक भिखारी गिर पड़े; आप देखें। एक छोटा बच्चा गिरेगा, तो शायद हँसी न भी आये; क्योंकि बच्चे को हम समझते हैं : बच्चा ही है, इसकी अकड़ ही क्या है? लेकिन अगर एक सम्राट् गिरेगा, तो आप बिलकुल पागल हो जाएँगे—हँस-हँस कर। जिस-जिस स्थिति में हँसी आती है आपको, कभी-कभी उस स्थिति में अपने को देखें। तब भी एक हँसी आयेगी, और उस हँसी से आपको साक्षी की झलक मिलेगी।

कोई भी अनुभव हो, तीसरे को पकड़ने की कोशिश करें। पुरुषोत्तम की तलाश जारी रखें। और हर अनुभव में वह मौजूद है। इसलिए वह न मिले, तो समझना कि अपनी ही कोई भूल-चूक है। मिलना चाहिए ही। क्षुद्र अनुभव हो, कि बड़ा अनुभव हो—कैसा भी अनुभव हो, पुरुषोत्तम भीतर खड़ा है।

स्वामी राम को कुछ लोगों ने गाली दी, तो वे हँसते हुए वापस लौटे। लोगों ने कहा, 'इसमें हँसने की क्या बात है? लोगों ने अपमान किया है!'

राम ने कहा कि 'मैं देख रहा था; और जब राम को गाली पड़ने लगी, और राम भीतर-भीतर की तरफ कुनमुनाने लगे, तो मुझे हँसी आने लगी। मैं भीतर कहने लगा कि ठीक हुआ, अब भुगतो राम। अब भोगो फल!'

यह जो भीतर से अपने को भी दूर खड़े होकर देखना है, यही पुरुषोत्तम तत्त्व है। और जिस व्यक्ति को धीरे-धीरे यह सध जाय, वह जीवन-मुक्त है।

कृष्ण का इतना जो जोर है अर्जुन को, वह इसीलिए कि 'यह जो युद्ध हो रहा है—यह क्षर है। इसमें जो मरेगा, मिटेगा, वह मरनेवाला ही है। उसमें तू परेशान मत हो। इसमें एक अक्षर भी छिपा है, वह जो यहाँ आत्माएँ छिपी हैं लोगों में, वही अक्षर तेरे भीतर बेचैन हो रहा है। वही सोच रहा है कि इतनी हत्या मैं करूँ ? हिंसा होगी, पाप लगेगा, भटकूंगा; और फल क्या है ? फायदा क्या है ? परिणाम क्या है ? राज्य मिल गया, तो क्या लाभ है ? इतनों को मार कर लिये गये राज्य में इतना खून सन जाएगा कि इसमें सुख तो रहेगा ही नहीं। यह तेरे भीतर जो बात कर रहा है, सोच रहा है, विचार कर रहा है, यह जो तेरा चेतन है, यह दूसरा तत्त्व है। मैं तीसरा हूँ।

तो वहाँ अर्जुन के रथ पर सब मौजूद है। वहाँ क्षर तत्त्व मौजूद है—वह जो अर्जुन का रथ है, वे जो घोड़े हैं। वहाँ अर्जुन मौजूद है; वह चिंतनशील है, जो बुद्धि है, आत्मा है। और वहाँ पुरुषोत्तम मौजूद है—वह जो दोनों के पीछे साक्षी है। और वह हर 'रथ' पर मौजूद है।

हर शरीर रथ है। और हर शरीर के भीतर यह सवाल उठते ही हैं, कि ऐसा करो तो क्या होगा ? वैसा करो तो क्या होगा ? करना उचित है या अनुचित है ? शुभ है या अशुभ है ? यह चिंतना उठती है। यह आत्मा का लक्षण है। लेकिन यह आखिरी तत्त्व नहीं है। इसलिए आत्मा जो भी निर्णय लेगी, वह अंतिम नहीं है। अंतिम निर्णय तो तभी उठ सकता है, जब पुरुषोत्तम खयाल में आ जाय। और तब बड़े मजे की बात है, तब कोई निर्णय लिया नहीं जाता।

जैसे ही पुरुषोत्तम खयाल में आया, आदमी जिन्दगी में बहना शुरू कर देता है; फिर निर्णय नहीं लेता। क्योंकि वह जानता है कि 'जो मिटने वाला है, वह मिटेगा। जो नहीं मिटने वाला है, वह नहीं मिटेगा।' और जो देखने वाला है, वह इस पूरे खेल को देखे चला जाता है।

तब यह सारा जीवन—सारे जीवन का चक्कर—परदे पर चलती फिल्म से ज्यादा नहीं रह जाता। और वह जो देखने वाला है, वह देख रहा है।

इस तीसरे की खोज करें। तीसरा ज्यादा दूर नहीं है—बहुत पास है। जरा-सी चेष्टा से उसका स्वर सुनाई पड़ने लगता है। और एक बार उसका स्वर सुनाई पड़ जाय, तो फिर आप वही आदमी नहीं हैं, जो कल तक थे।

तब आपकी हालत ऐसी हो गई, जैसे कल तक आप भिखारी थे; और अचानक खीसे में हाथ डाला और हीरे पा गये। दुनिया भला देखती रहे कि अभी भी भिखारी हो। क्योंकि दुनिया को कुछ पता नहीं है कि आपके खीसे में क्या है। लेकिन आप भिखारी नहीं रहे। आप सम्राट् हो गये।

पुरुषोत्तम की प्रतीति एक मात्र साम्राज्य है, जो पाने जैसा है। और उसकी प्रतीति के बिना हम सब भिखमंगे हैं।

मैंने सुना है : एक भिखमंगा भीख माँग रहा था एक द्वार पर। गरमी के दिन थे, मकान का मालिक भीतर खस की टट्टियों की आड़ में आराम कर रहा था। उस भिखारी ने कहा, 'कुछ मिल जाय।' भीतर से आवाज आयी, 'आगे बढ़ो।' उसने कहा, 'दो-चार आने से भी चलेगा।' भीतर से आवाज आयी, 'कुछ भी नहीं है आने-वाने। कहीं और जाओ।' उसने कहा, 'तो कुछ कपड़ा-लत्ता ही मिल जाय।' भीतर से और नाराजगी की आवाज आयी कि 'कह दिया बार-बार कि आगे बढ़ो। कपड़ा-लत्ता यहाँ कुछ भी नहीं है।'

भिखारी भी जिद्दी था। और आदमी जिद्दी न हो, तो भीख माँगने की नौबत भी न आये। पर जिसको भीख माँगना है, उसको जिद्द रखनी ही चाहिए, नहीं तो भीख मिले ही नहीं।

तो उसने कहा, 'कपड़ा ना सही, रोटी ही मिल जाय—रोटी का टुकड़ा ही मिल जाय।' अंदर से आदमी बहुत ज्यादा तेजी से चिल्लाया कि 'कह दिया : कुछ भी नहीं है।' तो उसने कहा, 'जब कुछ भी नहीं है, तो अंदर बैठे क्या कर रहे हो ? चलो, मेरे साथ ही हो जाओ। जो मिलेगा आधा-आधा कर लेंगे।'

जब तक पुरुषोत्तम का स्वर न हो, तब तक पूछने जैसा है कि 'भीतर छिपे क्या कर रहे हो ?' तब तक अवस्था भिखमंगे की है; चाहे खस की टट्टी में ही छिपे आप बैठे हो। कुछ है नहीं आपके पास। उसका स्वर मिलते ही सब मिल जाता है। क्योंकि फिर कुछ पाने की चाह भी नहीं रह जाती।

एक जवान लड़का एक लड़की के प्रेम में था। उसकी सोलहवीं वर्षगाँठ थी, तो वह बड़ी चिंता में था—रात भर से—कि क्या भेंट करे। सब सोचा, कुछ जँचता नहीं था। प्रेमी को कभी नहीं जँचता कि प्रेमिका को भेंट देने योग्य कुछ भी हो सकता है। ताजमहल भी भेंट कर रहे हों, तो भी लगेगा क्या है ? कुछ भी नहीं है।

सब सोचा, लेकिन कुछ समझ में नहीं आया; और वक्त करीब आने लगा—जब जाना है—और वर्षगाँठ का भोज होनेवाला है, तो उसने सोचा कि अपनी माँ से पूछूँ। अपनी माँ से पूछा कि 'माँ, एक बात पूछूँ ? जिस लड़की से मेरा प्रेम है, उसकी सोलहवीं वर्षगाँठ है और मुझे कुछ भेंट देने जाना है। मैं तुझसे पूछता हूँ कि अगर तेरी उम्र सोलह साल हो जाय, तो फिर तू क्या पसंद करेगी ?'

उसकी माँ ने आँख बंद कर ली। उसके चेहरे पर समाधि का भाव आ गया। उसने कहा, 'बेटे, अगर सोलह साल की हो जाऊँ, तो फिर कुछ चाहने को बचता भी नहीं। उतना काफी है। उतना बहुत है; फिर कुछ चाहने को बचता नहीं है।'

जैसे ही किसी को भीतर के पुरुषोत्तम का स्वर सुनाई पड़ता है, फिर कुछ चाहने को बचता नहीं है। वह पा लेना सब पा लेना है। लेकिन उसकी तलाश करनी होगी। पास ही है बहुत, फिर भी खोदना पड़ेगा। और जितनी त्वरा से खोदेंगे, जितनी तीव्रता से—उतना ही निकट उसे पायेंगे। अगर तीव्रता परिपूर्ण हो, सौ प्रतिशत हो, तो बिना खोदे भी मिल सकता है।

धीरे-धीरे बे-मन से खोदेंगे, तो बहुत दूर है। ऐसे ही खोदेंगे—कि 'चलो, देख लें। शायद हो।' तो कभी न मिलेगा। क्योंकि खोदने की भावना क्या है—इस पर सब निर्भर है।

अगर कोई तीव्रता से, पूर्ण तीव्रता से चाहे, तो किसी भी क्षण उसके द्वार खुल जाते हैं।

और हमें अगर जन्मों-जन्मों से नहीं मिला पुरुषोत्तम, तो उसका कारण यह नहीं है कि वह दूर है। उसका एक ही कारण है कि हमने इसको खोजा ही नहीं। कभी खोजा भी तो बे-मन से खोजा। कभी गहरी प्यास से न पुकारा। कभी पुकारा भी तो ऐसा कि लोगों को दिखाने के लिए पुकारा। प्रार्थना भी की, तो वह हार्दिक न थी; ऊपर-ऊपर थी; शब्दों की थी।

अगर इतना स्मरण रहे, तो उसे किसी भी क्षण पाया जा सकता है। हाथ बढ़ाने भर की बात है।

आज इतना ही।

गुरु-भाव का उदय • अनुभव की यात्रा • प्यास और धैर्य समर्पण की स्वतंत्रता • पुरुषोत्तम की पहचान

सातवाँ प्रवचन

बम्बई, रात्रि, दिनांक ११ मार्च, १९७४

यो मामेवसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम्।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत ॥ १९ ॥

इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ।
एतद् बुद्ध्वा बुद्धिमान्स्यात्कृतकृत्यश्च भारत ॥ २० ॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे पुरुषोत्तमयोगो नाम पन्चदशोऽध्यायः ॥

हे भारत, इस प्रकार तत्त्व से जो ज्ञानी पुरुष मेरे को पुरुषोत्तम जानता है, वह सर्वज्ञ पुरुष सब प्रकार से निरन्तर मुझ परमेश्वर को ही भजता है।

हे निष्पाप अर्जुन, ऐसे यह अति रहस्ययुक्त गोपनीय शास्त्र मेरे द्वारा कहा गया, इसको तत्त्व से जानकर मनुष्य ज्ञानवान और कृतार्थ हो जाता है।

पुरुषोत्तम योग नामक पन्द्रहवाँ अध्याय समाप्त।

पहले कुछ प्रश्न।

• पहला प्रश्न : कल आपने कहा कि बिना शास्त्रों को पढ़ गुरु की तलाश नहीं करनी चाहिए, मगर मैंने कभी शास्त्रों का अध्ययन नहीं किया और आपको सुन कर ही गुरु मान लिया है, तो क्या मेरा रास्ता गलत है? कल से मुझे सूझ नहीं पड़ता; क्या मैं सदा ही भटकता रहूँगा?

बहुत-सी बातें समझनी जरूरी है। पहली बात : यह जन्म आपका पहला नहीं है। आप जमीन पर नये नहीं हैं। बहुत बार हुए हैं; बहुत बार खोजा है; बहुत बार शास्त्रों में भी खोजा है; बहुत बार गुरुओं के चरणों में भी बैठे हैं। सारे जन्मों का सार संचित आपके साथ है।

यदि कभी ऐसा घटित होता हो कि किसी के निकट गुरु-भाव पैदा हो जाता हो, तो उसका केवल एक ही अर्थ है कि पिछले जन्मों की अनंत यात्रा में, गुरु के प्रति समर्पित होने की पात्रता अर्जित की है। अगर वैसा न हो, तो गुरु-भाव पैदा होना संभव नहीं है।

जैसे फूल तो तभी लगेंगे वृक्ष पर, जब वृक्ष बड़ा हो गया हो, शाखाएँ फैल गई हों; पत्ते लग गये हों, और फूल लगने का समय आ गया हो। बीज से सीधे फूल कभी नहीं लगते।

तो पहली बात तो यह खयाल में रखना चाहिए कि यदि सच में गुरु-भाव पैदा हुआ हो, तो शास्त्रों की खोज पूरी हो गई होगी। वह चाहे ज्ञात न भी हो; चाहे आपके चेतन मन को उसका पता भी न हो।

और अगर गुरु-भाव भ्रांत हो, मिथ्या हो—सिर्फ खयाल हो—पैदा न हुआ हो, तो ज्यादा देर टिकेगा नहीं। उसका कोई बहुत मूल्य नहीं है। वह ऐसे है, जैसे फूल को किसी ने बीज के ऊपर रख दिया हो; बीज से निकला न हो।

यदि गुरु-भाव वस्तुतः पैदा हुआ है, तो जीवन बदलना शुरू हो जाएगा। वही लक्षण है कि गुरु-भाव वास्तविक है या नहीं। क्योंकि गुरु-भाव एक बड़ी क्रांतिकारी घटना है।

किसी के प्रति समर्पण की भावना जीवन को आमूल बदलना शुरू कर देती है। समर्पित होते ही आप दूसरे होने शुरू हो जाते हैं। वह जो व्यक्ति समर्पित हुआ था —मर ही जाता है। नये व्यक्ति का ही उद्‌भव हो जाता है।

अगर समर्पण की—शरण जाने की भावना वास्तविक हो—और वास्तविक का अर्थ यह है कि पिछले जन्मों के अनुभव से निकली हो—तो आपके जीवन में क्रांति शुरु हो गयी। वह अनुभव में आने लगेगी।

आपकी वृत्तियों में फर्क होगा; आपके लोभ में, क्रोध में, काम में फर्क होगा। आपकी करुणा गहन होगी, मैत्री बढ़ेगी। सुख-दुःख के प्रति उपेक्षा आनी शुरू होगी। भविष्य बहुत मूल्यवान नहीं मालूम होगा; वर्तमान ज्यादा मूल्यवान मालूम होगा। और जो दिखाई पड़ता है, उससे भी ज़्यादा, जो नहीं दिखाई पड़ता है, उसकी तरफ आँखें उठनी शुरू हो जाएँगी। ऐसे जीवन में सब तरफ से फर्क पड़ने शुरू होंगे।

अगर गुरु-भाव—गुरु के प्रति समर्पण का भाव अतीत के अनुभवों से निकला हो, वो पहचानने में अंतर नहीं पड़ेगा, कठिनाई नहीं पड़ेगी। लेकिन अगर ऐसे ही पैदा हो गया हो...। ऐसे भी कभी पैदा हो जाता है...। तब आपमें गुरु के प्रति भाव पैदा नहीं होता; गुरु के प्रभाव में आपके ऊपर फूल रख जाता है।

प्रभावशाली व्यक्ति हैं; उनके व्यक्तित्व में प्रभाव हो सकता है; उनकी वाणी में प्रभाव हो सकता है; उनके अस्तित्व में प्रभाव हो सकता है; उस प्रभाव की छाया में आपको लग सकता है कि आप समर्पित हो रहे हैं, लेकिन वह ज्यादा देर टिकेगा नहीं। वह सम्मोहन से ज्यादा नहीं है। जल्दी ही—वर्षा—एक वर्षा भी उसे धो देने के लिए काफी होगी।

तो यही कसौटी है कि अगर समर्पण आपको बदल रहा हो, टिकता हो और धीरे-धीरे स्थिर भाव बनता हो, तो समझना कि शास्त्रों की कोई जरूरत नहीं है; शास्त्रों का काम पूरा हो चुका होगा।

और समर्पण-भाव कई बार आता हो, अनेक के प्रति आता हो, टिकता न हो; आता हो, चला जाता हो; जरा-सा पानी और सब बह जाता हो, तो समझना कि वह व्यक्तियों के प्रभाव में आपको लगता है कि समर्पण हो रहा है।

वह समर्पण आपका नहीं है। उससे कोई रद्दोबदल—कोई क्रांति कभी भी नहीं होगी। आप जैसे थे, वैसे ही रहेंगे। नुकसान भी हो सकता है। क्योंकि जो व्यक्ति स्वयं बिना बदले प्रभावित हो जाता है, उसके जीवन की सारी व्यवस्था ऊपर-ऊपर—

सतह पर होने लगती है। वह किसी से भी प्रभावित हो सकता है। वह जहाँ जाएगा, वहीं प्रभावित हो जाएगा। लेकिन प्रभाव होगा ऊपर—लहरों पर; उसके प्राणों की गहराई में कुछ भी नहीं।

प्राणों की गहराई में तो घटना घटती है, वह आपके ही अनुभव से घटती है।

आपका अनुभव तैयार हो और गुरु का मिलन हो जाय, तो समर्पण, शरणागति पैदा होती है।

आपका अनुभव भीतर न हो, और गुरु का मिलना हो जाय, तो प्रभाव पैदा होता है, लेकिन प्रभाव क्षण में आता है, क्षण में चला जाता है; उसका कोई बहुत मूल्य नहीं है।

वह प्रभाव वैसे ही है, जैसे आप चित्र देखने गये; फिल्म देखी और थोड़ी देर को प्रभावित हो गये हैं। और बाहर निकलते ही बात समाप्त हो गई है।

यह भी हो सकता है कि फिल्म देखते क्षण में करुणा उमड़ आयी हो, आँख आँसुओं से भर गयी हो, लेकिन जैसे ही परदे पर प्रकाश होता है, घंटी बजती है, स्मरण आ जाता है कि सिर्फ फिल्म थी, प्रकाश-छाया का खेल था; रोने जैसा कुछ भी न था; और आप हँसते हुए बाहर आ जाते हैं। हो सकता है: अभी भी आँखें गीली हों, लेकिन वह सब ऊपर-ऊपर था; भीतर उसके कोई परिणाम नहीं थे।

मुझे सुन कर भी प्रभाव हो सकता है। मेरी बात अच्छी लग सकती है, तर्कयुक्त मालूम हो सकती है। मेरी बात का काव्य मन को पकड़ ले सकता है। लेकिन उसका बहुत मूल्य नहीं है; मनोरंजन से ज्यादा मूल्य नहीं है। बाहर आप जाएँगे, वह सब खो जाएगा; धुआँ धुआँ हो जाएगा। लेकिन अगर आपके भीतर अनुभव भी पका हो और फिर मेरी बात का उससे मेल हो जाय; बीज भी पड़ा हो जमीन में और वर्षा हो, तो अंकुरण होगा। बीज आपको अपने साथ लाना है।

कोई भी गुरु आपको अनुभव नहीं दे सकता। गुरु वर्षा बन सकता है। अनुभव का बीज भीतर हो, तो अंकुरित हो सकता है। गुरु की मौजूदगी माली का काम कर सकती है। लेकिन कोई भी गुरु बीज नहीं बन सकता—आपके लिए। उसका कोई उपाय नहीं है।

इसकी भी जाँच निरंतर रखनी चाहिए कि हम केवल प्रभावों से तो नहीं जीते हैं? अपने भीतर भी खोज करते रहना चाहिए कि हम सिर्फ सम्मोहित तो नहीं हैं। हमारे भीतर कुछ अंतर हो रहा है या नहीं?

रोज लोग मंदिर में जाते हैं। मंदिर में उनके चेहरे देखें; भक्ति-भाव से भरे हुए मालूम पड़ते हैं! मंदिर से बाहर निकलते ही चेहरे बदल जाते हैं। मंदिर को वे जन्मों से जा रहे होंगे, लेकिन मंदिर कहीं भी उनको बदल नहीं पाता। वे वही के वही हैं।

मंदिर में जा कर एक चेहरा ओढ़ लेते हैं। उसकी भी आदत हो गयी है! तो मंदिर में प्रवेश करते ही से भक्ति का भाव धारण कर लेते हैं।

लेकिन धारण किए हुए भाव का कोई मूल्य नहीं है।

भाव भीतर से आना चाहिए। और अगर भीतर से आयेगा, तो मंदिर में ही क्यों, मंदिर के बाहर भी रहेगा, मंदिर के भीतर भी रहेगा।

तो जब आप मुझे सुनते हैं, तभी अगर ऐसा लगता हो कि समर्पण कर दें, तो उसका बहुत मूल्य नहीं है। जब मुझे सुन कर चले जाते हैं, और अगर वह भाव आपके भीतर गूँजता ही रहता हो—उठते-बैठते, सोते-जागते उसकी धुन आपके भीतर बजती रहती हो, वह आपका पीछा करता हो; न केवल पीछा करता हो, बल्कि उसकी मौजूदगी के कारण आपके जीवन में फर्क पड़ रहा हो; कि आप किसी की जेब में हाथ डाल कर रुपया निकालने ही वाले थे, कि वह जो भाव आपके भीतर उठा था, वह आपको रोक देता हो; कि गाली बस निकलने को ही थी मुँह से—कि वह जो भाव भीतर उठा है, बाधा बन जाता हो; कि कोई गिर पड़ा था, उसको उठाने के लिए हाथ बढ़ जाता हो; वह भाव कृत्य बनता हो, तो समझना कि वह आपके भीतर है।

अगर भाव कृत्य बनने लगे, तो उसका अर्थ है कि वह आचरण को बदलेगा। अगर भाव कृत्य न बने, तो आप तो वही रहेंगे। हो सकता है: बुद्धि में थोड़ी अच्छी बातें संगृहीत हो जायँ। अच्छी बातों का कोई भी मूल्य नहीं है। अच्छी बातें अच्छे सपनों जैसी हैं। सपना कितना ही अच्छा हो, तो भी सपना है। और सपने में आप सम्राट् भी हो जायँ, तो सुबह आप पाते हैं कि आप भिखारी हैं। उससे कुछ अंतर नहीं पड़ता।

तो मैं अगर कहूँ कि 'आप स्वयं ब्रह्म हैं; और भीतर छिपा है अविनाशी अंतर्यामी'; और मेरी बात सुनकर आपको लगे कि 'ठीक'; और इससे जीवन में, कृत्य में कहीं कोई अंतर न पड़ता हो, तो इसका कोई भी मूल्य नहीं है; और इसे आप धोखा समझना। और इस धोखे से जितने जल्दी आप बाहर हो जायँ, उतना अच्छा है। क्योंकि इस धोखे में आपने न मालूम कितना समय गँवाया होगा।

लोग हैं, जो एक गुरु से दूसरे गुरु की यात्रा करते हैं; एक आश्रम से दूसरे आश्रम में चलते रहते हैं। कोई आश्रम उनको बदल नहीं पाता। और तब वे सोचते हैं कि 'सभी आश्रम बेकार हैं; कहीं कोई सार नहीं है।'

कोई गुरु उनको नहीं बदल पाता, तब वे सोचते हैं कि 'सब गुरु बेकार हैं। सद्गुरु कोई है ही नहीं।' कठिनाई सद्गुरु की नहीं है, कठिनाई आपकी है। आप बदलने को तैयार हों, तो एक छोटा बच्चा भी आपको बदल दे सकता है। और आप बदलने को तैयार न हों; तो खुद कृष्ण भी आपके पास खड़े रहें, तो कुछ भी करने में समर्थ नहीं हैं। इसे खयाल रखें।

जो भी प्रभाव हो, वह आपका कृत्य बनने लगे : इसका स्मरण रखें। और मौका दें कि वह कृत्य बने। जहाँ भी अवसर मिले; तत्क्षण जो आपका भाव है, उसे कर्म में रूपांतरित होने दें। जब भी कोई भाव कर्म बनता है, तो उसकी लकीर आपके भीतर गहरी हो जाती है।

जो आप सोचते हैं, उसका बहुत मूल्य नहीं है। जो आप करते हैं, उसी का मूल्य है। क्योंकि जो आप करते हैं, वह आपके अस्तित्व से जुड़ता है। जो आप सोचते हैं, वह बुद्धि में भटकता रहता है।

बहुत लोग हैं—जिनके पास अच्छे-अच्छे विचार हैं। उन अच्छे विचारों का कोई भी मूल्य नहीं है। समय पर काम नहीं आते। और जो वे करते हैं, उस करने से उनके विचारों का कोई संबंध नहीं जुड़ता।

मैं जो भी आपसे बोलता हूँ, उसका प्रयोजन आपको प्रभावित करना नहीं है। बच्चों का खेल है—प्रभावित करना। आप तो मदारी से प्रभावित हो जाते हैं, इसलिए उसका कोई मूल्य भी नहीं है।

सड़क पर एक मदारी डमरू बजा रहा है। आप वहीं पर खड़े हो जाते हैं। तो आपको प्रभावित करने का कोई मूल्य नहीं है, न कोई अर्थ है। आप तो किसी से भी प्रभावित हो जाते हैं!

आपके भीतर जीवन का संचरण शुरू हो जाय, आपकी जीवन-धारा नई गति ले ले, यह महत्वपूर्ण है।

तो न शास्त्रों की फिक्र करें, न प्रभावों की फिक्र करें; फिक्र इस बात की करें कि आपके भीतर क्या घटित हो रहा है। इसका सतत निरीक्षण चाहिए। और आपके भीतर जो घटित होगा, वही संपदा बनेगी।

मरते क्षण में न तो आप शास्त्र ले जा सकेंगे, न गुरु को साथ ले जा सकेंगे; न गुरु के वचन काम आयेंगे; न आपने जो प्रभाव इकट्ठे किये हैं, वे काम आयेंगे। मरते क्षण में आपने क्या किया जीवन भर, वही बस, आपके साथ होगा।

मरते क्षण में आपके कृत्यों का सार-निचोड़ आपके साथ यात्रा पर निकलेगा। मरते क्षण में सिर्फ आप ही बचेंगे; और आपके अपने सारे कृत्यों का संग्रह...जो-जो आपने किया, उसकी सब लकीरें आपके ऊपर हैं।

तो निरंतर यह सोचें कि आपके जीवन की धारा कैसी चल रही है? वही पहचान है।

● दूसरा प्रश्न : इतने दिन से आपको बड़ी उत्कंठा से सुन कर भी मैं अपने आपको वहीं पा रहा हूँ—जहाँ मैं था! फिर मैं क्या आशा रख सकता हूँ?

किससे आप आशा रख रहे हैं! मुझसे या अपने से? प्रश्न से ऐसा लगता है कि मुझसे कुछ आशा रख रहे हैं। जैसे मुझे सुन कर आप वहीं के वहीं हैं, तो कसूर मेरा

है! मैंने कहा कब—आपको—कि आप सुन कर कुछ और हो जाएँगे? काश, इतना आसान होता—कि लोग सुन कर बदल जाते, तो इस दुनिया में बदलाहट कभी की हो गई होती!

लोग सुन कर नहीं बदलते हैं, यह तो साफ ही है। और सच तो यह है कि जितना ज्यादा सुनते हैं, उतना ही जड़ हो जाते हैं। क्योंकि सुनने की उनको आदत हो जाती है। तो पहली दफे सुन कर शायद थोड़ी-बहुत उनकी बुद्धि में गति भी आयी हो; बार-बार सुनने से उतनी गति भी खो जाती है! फिर सुनने के आदी हो जाते हैं! फिर उनको लगता है : यह तो सब परिचित ही है।

फिर सुनना भी एक नशा हो जाता है। तो उसकी तलप होती है।

अगर आप मुझे सुनते हैं—उत्कंठा से और कोई फर्क नहीं हो रहा तो...। आठ बजे—कि आप चले। वह तलप है। जैसे किसी को सिगरेट पीने की तलप है—कि आठ बजे और सिगरेट न पीये, तो उसको तकलीफ होती है। तो यह एक व्यसन हुआ, नशा हुआ।

नशे का एक मजा है : करो, तो कुछ मिलता नहीं; न करो, तो तकलीफ होती है। जाओ सुनने, कुछ फायदा नहीं; न जाओ, तो बेचैनी होती है! जब भी ऐसा हो, तो समझना कि यह व्यसन हो गया। यह रोग है। इस रोग से कुछ उपलब्धि होने वाली नहीं है।

पर निराश किससे होना है? यह सोच कर सुनना बंद कर दें, तो भी कुछ फर्क नहीं हो जाएगा। सुनने से नहीं हुआ, तो सुनना बंद करने से कैसे होगा! फर्क करने को कुछ आपको अपनी तरफ सोचना पड़ेगा।

सुनने में बड़ी सुगमता है, क्योंकि आपको कुछ करना ही नहीं है; सिर्फ बैठे हैं!

मेरे पास लोग आते हैं, वे कहते हैं कि 'आपकी किताब पढ़ने से तो आपको सुनने में ज्यादा आनंद आता है!' क्योंकि पढ़ने में कम से कम आपको थोड़ी मेहनत करनी पड़ती है। पढ़ना पड़ता है! उतना कष्ट...! सुनने में वह भी कष्ट नहीं है। और सुनने में मन लीन हो जाता है, तो उतनी देर को आपको शांति भी मिलती है। उतनी देर को कम से कम दूसरे उपद्रव आप नहीं कर पाते हैं। कम से कम उतनी देर को आपका मन व्यस्त हो जाता है। तो मन की जो निरंतर की चलती धारा है, वह नहीं चल पाती। यह सब ठीक है, लेकिन इससे आप बदल नहीं जाएँगे।

और कोई सोचता हो कि सुनने से बदल जाएँगे, तो गलती सोचता है। वह तो कभी बदलेगा ही नहीं। अगर बदलना है, तो सुनने से सूत्र खोजे जा सकते हैं, जो बदलने के काम आ जाएँगे।

सिर्फ सुनने से कोई नहीं बदलेगा। वह करीब-करीब बात निश्चित है। पुरानी कहावत

है कि आप घोड़े को जा कर पानी दिखा सकते हैं, पिला नहीं सकते। घोड़े को ले जा कर नदी के किनारे खड़ा कर दो; पिलायेंगे कैसे? पानी तो घोड़े को ही पीना होगा।

वही मैं कर सकता हूँ : 'घोड़े' को नदी के किनारे खड़ा कर सकता हूँ; पिला नहीं सकता।

अब आप कहें कि 'घोड़े की तरह मैं खड़ा हूँ—इतनी देर से और प्यास मेरी अभी तक नहीं बुझी है।

नदी बह रही है; घोड़ा खड़ा है। अब क्या करना है? और करना किसको है? वह जो घोड़े को नदी तक ले आया, उसको कुछ करना है; कि घोड़े को कुछ करना है?

जन्मों तक खड़े रहें। 'नदी' बहती रहेगी। नदी हर पल बह रही है। लेकिन थोड़ा झुकना पड़ेगा 'घोड़े' को। थोड़ी गरदन झुकाकर पानी तक मुँह को ले जाना पड़ेगा।

तो मैं जब बोल रहा हूँ, कुछ कह रहा हूँ, तो नदी आपके पास बह रही है। आप बैठे रहें किनारे पर। कितने ही दिन तक बैठे रहें। नदी को देखने का मजा लेते रहें! नदी के बहने की ध्वनि आ रही है, उसका संगीत सुनते रहें। नदी पर सूरज की किरणें बिछीं हैं, नदी सुंदर है, उसके सौंदर्य को देखते रहें। नदी के पास पक्षी उड़ रहे हैं; वृक्ष खड़े हैं—उनको देखते रहें, लेकिन प्यास न बुझेगी।

और नदी कुछ भी नहीं कर सकती—आपकी प्यास बुझाने को। आप झुकें; चुल्लू से पानी भरें—और पीयें। और आपकी तैयारी हो, तो पीने की क्या बात है! नदी में डूब सकते हैं—नदी के साथ एक हो सकते हैं। लेकिन सिर्फ नदी की मौजूदगी से यह नहीं हो जाएगा; आपको कुछ करना पड़ेगा।

आप कहते हैं, यहाँ आप सुनते हैं—उत्कंठा से सुनते हैं। यह कुछ 'करना' नहीं है। इस नदी की धारा में से कुछ चुनना पड़ेगा, जो आप पीयें। कोई विचार—जो आपको लगता है, सार्थक है, उसको सार्थक ही मत लगने दें। उसको सार्थक बनायें।

कोई विचार आपको लगता है : कीमती है, तो सिर्फ ऐसा सोचते ही मत रहें कि कीमती है। अगर कीमती है, तो उसका उपयोग करें; उसको चखें, उसका स्वाद लें। उसको पी जायँ; वह आपके खून में बहने लगे, आपकी हड्डियों के साथ एक हो जाय।

अगर विचार इतना प्रीतिकर लगता है, तो जिस दिन वह आपका अंतस् बन जाएगा, उस दिन कितनी मधुरिमा पैदा होगी, इसकी आप कल्पना भी नहीं कर सकते हैं।

जो मैं कह रहा हूँ, अगर वह प्रीतिकर लगता है, तो जहाँ से वह कहना निकलता है, उस स्रोत पर जब आप डूब जाएँगे, एक हो जाएँगे, तो आपके जीवन में प्रकाश ही प्रकाश हो जाएगा।

लेकिन खतरा यही है कि बात अच्छी लगे, तो हम उसे स्मरण कर लेते हैं, वह हमारी बुद्धि में समा जाता है। उसका हम उपयोग भी करते हैं, तो एक ही उपयोग—किसी और से बात करने के लिये उपयोग करते हैं। किसी और को बता देंगे! किसी और को समझा देंगे; बस, इतना ही उपयोग है।

तो जो सुना है—उसे, आप ज्यादा से ज्यादा अगर कुछ करेंगे, तो वाणी बना लेंगे। वह आपका जीवन नहीं बनेगा। और जीवन न बने, तो सुनने का कोई सार नहीं। वह व्यर्थ ही गया।

तो अगर आपको लगता हो कि सुनते हैं और कहीं जा नहीं रहे...। कैसे जाएँगे? जाना आपको पड़ेगा। जाना शुरू करें।

और एक कदम भी उठायें, तो भी बड़ा है। क्योंकि पहला कदम उठ जाय, तो दूसरे के उठने में आसानी हो जाती है। और एक कदम से ज्यादा तो एक समय में कोई उठा नहीं सकता। एक कदम उठा लिया, तो पूरी मंजिल भी एक अर्थ में हल हो गई। क्योंकि एक-एक ही कदम उठा कर हजारों मील की यात्रा पूरी हो जाती है। लेकिन कदम उठायें।

इसे नियम बना लें कि जो प्रीतिकर लगे, उसके अनुभव की कोशिश करें। जो मन को आच्छादित कर लें, उसके अनुभव की कोशिश करें। फिक्र करें कि इसे मैं भी जानने की कोशिश करूँ : क्या है?

मेरे पास एक युवक आते थे। ध्यान पर बड़ी उत्सुकता रखते थे। ध्यान के शिविरों में भी आते थे। लेकिन कभी मैंने उनको ध्यान करते नहीं देखा। दो-चार शिविर में देखा; अनेक बार मुझसे मिलने आये; अनेक प्रश्न ले कर आये; प्रश्न भी अच्छे लाते थे। सुनते भी बड़ी उत्सुकता से।

मैंने पूछा कि 'कर क्या रहे हो?' उन्होंने कहा, 'मैं ध्यान पर शोध कर रहा हूँ, रिसर्च कर रहा हूँ। एक थीसिस लिखनी है।'

यह व्यक्ति ध्यान को समझने की बड़ी चेष्टा कर रहा है, लेकिन ध्यान से इसे कोई प्रयोजन नहीं है। ध्यान से इसका निजी कोई संबंध नहीं है। थीसिस लिख कर बात समाप्त हो जाएगी। कोई युनिवर्सिटी इसको डिग्री दे देगी। बात खतम हो गई!

ध्यान एक विषय है, जिस पर एक बौद्धिक व्यायाम करना है! लेकिन प्रयोग नहीं करना है।

यह करीब-करीब ऐसी हालत है, जैसे कहीं अमृत का सरोवर भरा हो, और कोई आदमी उस सरोवर के आसपास खोज-बीन करता रहे कि अमृत पर उसको एक थीसिस लिखनी है और उसे पीये ना! उस आदमी को हम महा मूढ कहेंगे। क्योंकि थीसिस लिखने का काम तो पी कर भी हो सकता था; और पी कर ज्यादा ढंग से

होता। क्योंकि जिसे खुद नहीं जाना, उसके संबंध में हम क्या कहेंगे? जो भी कहेंगे, वह उधार होगा। और जो भी कहेंगे, वह बासा और बाहर-बाहर का होगा। वह भीतर की प्रतीति नहीं है।

एक वैज्ञानिक हुआ मैक्स प्लांक—उसने अपना एक संस्मरण लिखा है। उसने लिखा है कि वह जीव-शास्त्र का अध्ययन कर रहा था और मनोविज्ञान का भी अध्ययन कर रहा था; और कोशिश कर रहा था जानने की कि मनोविज्ञान में और जीव-शास्त्र में क्या भीतरी संबंध है। और जब मन प्रभावित होता है, तो शरीर कैसा प्रभावित होता है।

एक युवती से उसका प्रेम था। लेकिन एक दिन युवती एक झटके के साथ खड़ी हो गई। उसके पास बठी थी; चाँद था आकाश में; वे दोनों बड़े प्रेम की बातें कर रहे थे। अचानक वह झटके से खड़ी हो गई। उसने कहा, 'क्षमा करो; यह बात खतम; अब मुझसे दुबारा मत मिलना।' मैक्स प्लॉंक ने कहा, 'बात क्या है?' उसने कहा, 'मैं कई दिन से अनुभव कर रही हूँ कि जब भी तुम मुझसे प्रेम की बात करते हो, तो तुम अपना हाथ मेरी नाड़ी पर रखते हो!'

वह जाँच करता था कि जब मैं प्रेम की बात करता हूँ, तो उसकी नाड़ी में कोई फर्क पड़ता है कि नहीं! प्रेम भी थीसिस की बात थी! उसे कुछ प्रेम में उतरने का कोई कारण नहीं था; सिर्फ जाँच रहा था कि जब मन प्रभावित होता है, तो शरीर प्रभावित होता है कि नहीं! होता तो जरूर है। क्योंकि जब आप गहरे प्रेम में हो, तो आपकी नाड़ी तेजी से चलेगी।

जिसको आप प्रेम करते हैं, जब आप उसके पास होते हैं, तो आपका पूरा शरीर ज्यादा ज्वलंत हो जाता है। खून तेजी से बहता है। नाड़ी तेजी से चलती है। हृदय तेजी से धड़कता है। आप जीवंत हो जाते है। और जब आपका प्रेमी आपसे दूर हटता है, तो आप मुरदा हो जाते हैं, कुम्हला जाते हैं; सब चीजें शिथिल हो जाती हैं।

यह तो ठीक है, लेकिन उस लड़की ने ठीक ही किया, उसने कहा, 'यह बात खतम हो गयी।' क्योंकि प्रेम कोई वैज्ञानिक जिज्ञासा की बात नहीं है। और उसने कहा, 'शक तो मुझे कई बार होता था। क्योंकि तुम बात करते-करते कुछ और भी कर रहे होते हो। लेकिन आज मैंने बिलकुल साफ देख लिया कि तुम मेरी नाड़ी पकड़े बैठे हो।'

पहले वह लड़की समझती रही होगी कि मेरा हाथ प्रेम से पकड़े हुए हैं, और वह उसकी नाड़ी की जाँच कर रहा था!

अब यह आदमी जरूर ही खोज लेगा संबंध—मन के और शरीर के बीच, लेकिन एक अनूठे अनुभव से वंचित रह जा सकता है—प्रेम से वंचित रह जा सकता है।

आप ध्यान में उत्सुक हो सकते हैं—एक बौद्धिक ऊहापोह की तरह। तब आप छिलके लेकर लौट आये—जहाँ कि आपको फल मिल सकते थे।

मेरी बात जब आप सुनते हैं और आपको अच्छी लगती है, और प्रीतिकर लगती है, और उत्कंठा जगती है; इतना काफी नहीं है। इतना जरूरी तो है, क्योंकि इसके बाद कुछ और हो सकता है; लेकिन इतना काफी नहीं है। यह केवल प्राथमिक है। दूसरा कदम उठायें।

विचार से अनुभव की तरफ चलें। विचार पर मत ठहर जायँ, नहीं तो आप सोचते ही रहेंगे—सोचते ही रहेंगे—और समाप्त हो जाएँगे।

और सोचने पर जो समाप्त हो गया, उसने जीवन को जाना ही नहीं। एक अपूर्व सम्पदा पास थी, उसे खो दिया—अपने ही हाथों से। और विधि आपके पास भी रखी रही, तो भी आप उपयोग न कर सके!

एक रात मुल्ला नसरुद्दीन अपने घर वापस लौटा : बद-हवास, पसीने से तर-बतर, घबड़ाया हुआ। जल्दी से भीतर घुस कर दरवाजा बंद कर लिया।

पत्नी ने कहा, 'इतने घबड़ाये हुए! बात क्या है? कहाँ से आ रहे हो?' उसने कहा, 'दुकान से ही लौट रहा हूँ। लेकिन एक बदमाश मिल गया। उसने मेरा चश्मा भी छीन लिया। फाउन्टन पेन भी खीसे से निकाल ली; रुपये भी खीसे से ले लिए; कोट भी उतार लिया। यहाँ तक कि मेरे जूते उतार लिए।'

उसकी पत्नी ने कहा, 'और तुम तो पिस्तौल रखे हुए हो!' तो नसरुद्दीन ने कहा, 'वह तो भाग्य की बात कहो कि बदमाश की नजर पिस्तौलपर नहीं पड़ी; नहीं तो क्या वह छोड़ देता?'

अब पिस्तौल किस लिए रखे हुए ह वे!

आपको ध्यान की विधि पता है। वह रखी रह जाएगी ऐसी—जैसे पिस्तौल रखी है। उसको भी बचाने में लग जाएँगे और उसका उपयोग तो कभी कर ही न पायेंगे।

आप क्या जानते हैं—इसका मूल्य नहीं है, क्योंकि जाना हुआ तो पड़ा रह जाएगा। जिस-जिस ज्ञान को आपने जीवन बना लिया, वही बस, आपके हाथ है।

मैंने सुना है : एक बहुत पुरानी यहूदी कथा है, कि परमात्मा ने जब संसार बनाया, तो उसने हिंदुओं के नेता से पूछा—शायद कृष्ण से पूछा हो—कि कुछ नियम हैं मेरे पास। ये उपयोगी होंगे। अगर तुम चाहो, तो मैं तुम्हें नियम दे दूँ। तो कृष्ण ने, या हिंदुओं के नेता ने पूछा कि 'जरा नमूने के लिए; कौन से नियम हैं?' तो उसने कहा, 'जैसे, व्यभिचार पाप है।' तो हिंदुओं के नेता ने कहा, 'यह बात तो ठीक होगी, लेकिन संसार से सब रस चला जाएगा।' कोई उत्सुकता न दिखाई नियम लेने की।

मुसलमानों के नेता से पूछा; शायद मोहम्मद से पूछा होगा; उन्होंने भी कहा, 'लेकिन पहले मैं जान लूँ कि कौन से नियम हैं, फिर लूँ।' तो ईश्वर ने यह सोच कर कि पहला नियम तो पसंद नहीं किया गया, तो उसने दूसरा नियम बताया—कि 'हत्या मत करो।' तो मोहम्मद ने कहा, 'यह बात तो बिलकुल ठीक है। लेकिन अगर हत्या बिलकुल न की जाय, तो दूसरे हमारी हत्या कर देंगे। और दुष्टों के हाथ में संसार चला जाएगा। और फिर बिना युद्ध के शांति कैसे स्थापित हो सकती है?'

ऐसा ईश्वर घूमता रहा। आखिर में वह मूसा को मिला—यहूदिओं के नेता को मिला। और जैसे कि यहूदी होते हैं—व्यापारी; ईश्वर भी चौंका। क्योंकि उसने और लोगों से पूछा था; सब ने नमूने माँगे। मूसा ने पूछा, 'हाऊ मच इट कॉस्ट्स—इसकी कीमत कितनी है; वह जो नियम आप देते हो, उसका मूल्य कितना है?' ईश्वर भी चौंका; क्योंकि वह यह पूछ ही नहीं रहा है कि नियम क्या है! वह कहता है : मूल्य कितना है! तो ईश्वर ने कहा, 'मूल्य तो बिलकुल नहीं है; मुफ्त दे रहे हैं!' तो उसने कहा, 'देन आई विल टेक टेन।' मूसा ने कहा, 'तो फिर हम दस ले लेंगे। और जब मुफ्त ही दे रहे हैं, तो क्या...!' इसलिए टेन कमान्डमेंट्स—दस आज्ञाएँ ईश्वर की! मगर वे किताब में रखी हैं।

आप भी मुफ्त कुछ मिल रहा हो, तो एक की जगह दस ले लेंगे। कुछ करना न पड़ रहा हो; कुछ आपके जीवन में रूपांतरण न होता हो—कोई क्रांति न होती हो; बैठे-ठाले कुछ मिल जाता हो, तो एक की जगह दस ले लेंगे! लेकिन वह किताब में रखा रह जाएगा; उसका कोई मूल्य नहीं है।

आप यहाँ बैठ कर सुन रहे हैं। आपको कुछ करना नहीं पड़ रहा है। बल्कि घंटे, डेढ़ घंटे के लिए कुछ करना पड़ता, उससे भी आप बच गये। राहत है! सुख लगता है। इस सुख को आप व्यसन मत बना लें।

अगर सुख लगता है—बातों में, तो जहाँ से ये बातें आती हों—उस दिशा में यात्रा शुरू करें। और जो मैं कह रहा हूँ, वह अगर आपको भी किसी दिन दिखाई पड़ सके, तभी रुकें, तभी समझें कि मंजिल आयी। इसके पहले रुकना उचित नहीं है। और यह मैं न कर सकूँगा; यह आपको खुद ही करना पड़ेगा।

कोई दूसरा आपके लिए नहीं चल सकता। कोई दूसरा आपके लिए देख नहीं सकता। कोई दूसरा आपके लिए अनुभव नहीं कर सकता। आर अच्छा ही है कि कोई दूसरा आपके लिए अनुभव नहीं कर सकता, अन्यथा आप सदा के लिए वंचित रह जाते; आप पंगु रह जाते।

अगर दूसरा आपके लिए चले, तो आपके पैर नष्ट हो जाएँगे। और दूसरा आपके लिए अनुभव करे, तो आपका हृदय नष्ट हो जाएगा। और दूसरा आपके लिए देख

सके, तो आपकी आँखों की कोई जरूरत न रह जाएगी। और दूसरा अगर आपके लिए आत्म-अनुभव कर सके, तो आपकी आत्मा सदा के लिए खो जाएगी।

इसलिए परमात्मा के गहरे नियमों में से एक नियम यह है कि दूसरा आपके लिए, जो भी मूल्यवान है, वह नहीं कर सकता। वह आपको ही करना पड़ेगा। क्योंकि करने से ही विकास होता है। करने से ही आप निर्मित होते हैं। करने से ही आपका वास्तविक जीवन और जन्म होता है।

● तीसरा प्रश्न : आपने कहा कि प्राण यदि प्रभु के लिए समग्ररूपेण आतुर हो जायँ, तो एक क्षण में मिलन घटित हो सकता है। और आप यह भी कहते हैं कि इस मिलन के लिए अनंत धैर्य अपेक्षित है। क्या ये दोनों अति स्थितियाँ हैं?

नहीं; ये दोनों एक ही स्थिति के दो रूप हैं। या एक ही स्थिति के दो चरण हैं। समझें :

निरंतर मैं कहता हूँ कि उसे पाने के लिए अनंत धैर्य चाहिए। और निरंतर यह भी कहता हूँ कि उसे एक क्षण में पाया जा सकता है। दोनों बातें विपरीत मालूम पड़ती हैं। क्योंकि अगर उसे एक ही क्षण में पाया जा सकता है, तो अनंत धैर्य की जरूरत क्या? तब तो क्षण भर भी धैर्य रखने की जरूरत नहीं है। जिसे एक क्षण में पाया जा सकता है, उसे हम अभी ही पा लें।

और जब मैं कहता हूँ कि उसको—अनंत धैर्य रखें, तो ही पा सकेंगे, तब आपको लगता है कि अनंत धैर्य रखने का मतलब ही यह हुआ कि एक क्षण में पाना तो संभव नहीं; अनंत जन्म में भी पा लें, तो जल्दी पाया।

दोनों बातें विपरीत लगती हैं, पर ये दोनों बातें विपरीत नहीं हैं। और जीवन का गणित पहेली जैसा है। ये दोनों बातें परिपूरक हैं। समझने की कोशिश करें :

उसे एक क्षण में पाया जा सकता है—अगर आप में अनंत धैर्य हो। और अगर आप में धैर्य की कमी हो, तो उसे अनंत काल में भी नहीं पाया जा सकता। क्योंकि आपका धैर्य ही उसे पाने की योग्यता है। तो जितना धैर्य हो, उतने जल्दी वह घटित होता है।

अनंत धैर्य का अर्थ है : एक ही क्षण में घटित हो जाएगा, क्योंकि कोई कमी नहीं रही; आप पूरा धैर्य रखे हुए हैं। अनंत धैर्य का अर्थ है कि अगर वह कभी भी न घटे, तो भी मैं धीरज खोने वाला नहीं हूँ।

अनंत धैर्य का मतलब है कि वह कभी भी न घटे—कभी भी—तो भी मैं प्रतीक्षा करूँगा। ऐसा जिसका मन है, उसके लिए इसी क्षण घट जाएगा। क्योंकि इसको अब प्रतीक्षा कराने का कोई प्रयोजन ही न रहा। बात ही खतम हो गई। यह तैयार है। और जो इतने धैर्य के लिए तैयार है, क्या वह अशांत होगा? क्योंकि अशांति तो

अधैर्य के साथ जुड़ी है। इतना धैर्य वाला व्यक्ति परिपूर्ण शांत होगा, तभी इतना धैर्य रख सकेगा। और जो इतने धैर्य के लिए राजी है, क्या वह दुःखी होगा? क्योंकि दुःखी तो अधीर होता है।

दुःखी जल्दी में होता है। सिर्फ जो आनंद में है, वह धीरे चलता है। सम्राट जब चलता है, तो तेजी से नहीं चलता है। सम्राट अगर तेजी से चले, तो उससे पता चलता है कि सम्राट होने की कला उसे नहीं आती।

तेजी से तो वह भागता है, जिसको कुछ पाना है। जिसके पास सब है, वह क्यों भागे?

भाग-दौड़ कमी की खबर देता देती है। अनंत धैर्य का अर्थ है कि मेरे पास सब है; जल्दी कुछ भी नहीं है। अगर प्रभु भी मिलेगा, तो वह अतिरिक्त है। इसे थोड़ा समझ लें।

मेरे पास सब था और अगर प्रभु मिलेगा, तो वह अतिरिक्त है। वह न मिलता, तो कोई कमी न थी। वह मिल गया, तो मैं पूरे से भी ज्यादा पूरा हो जाऊँगा। लेकिन पूरा मैं था, क्योंकि मुझे कोई जल्दी न थी; न कोई प्रयोजन था; न कोई भाग दौड़ थी।

पूरे धैर्य का अर्थ यह होता है कि आप जैसे हैं, उससे राजी हैं। वह तथाता की घड़ी है। आप पूरी तरह राजी हैं—कि ठीक—सब ठीक है। और यह 'सब ठीक' किसी सांत्वना के लिए नहीं है, यह अपने को समझाने के लिए नहीं है।

ऐसा नहीं कि—ठीक तो कुछ भी नहीं है, लेकिन अपने को समझा रहे हैं कि सब ठीक है। जानते हैं : ठीक कुछ भी नहीं है। लेकिन कह रहे हैं कि सब ठीक है, ताकि मन माना रहे। नहीं तो, वैसे सब ठीक नहीं है।

नहीं; ऐसा नहीं। कुछ भी गैर-ठीक मालूम नहीं होता। सब ठीक है। कहीं कोई असंतोष नहीं है। और कुछ पाने की दौड़ भी नहीं है। और प्रभु जब मिले, तब उसकी मरजी पर हम छोड़ सकते हैं—समय वो। हमारी तरफ से हम समय देते नहीं हैं। आज न मिले, तो हम साँझ को पश्चात्ताप न करेंगे, रोयेंगे न, धोयेंगे न, चिल्लायेंगे न—कि दिन निकल गया और आज तक...! एक दिन खराब हुआ।

कल फिर राह देखेंगे। उस राह देखने में कहीं भी घूमिलता न आयेगी; उस प्रतीक्षा में हम कहीं भी चाह को न जुड़ने देंगे, जल्दबाजी न जुड़ने देंगे, अधैर्य न जुड़ने देंगे। ऐसा अनंत धैर्य हो, तो परमात्मा क्षण भर में मिल जाता है।

मेरे पास लोग आते हैं; वे कहते हैं : 'आप कहते हैं, क्षण भर में मिल जाता है, लेकिन मिलता क्यों नहीं?' उनका जो कहना है : 'मिलता क्यों नहीं?' वही बाधा है।

अगर क्षण भर में मिल जाता है, तो अभी मिलना चाहिए! और जो इतनी जल्दी में है कि 'अभी मिलना चाहिए', उसका मन इतने तनाव से भरा है—वह इतने

दुःख से भरा है, वह इतने असंतोष से भरा है—इतनी अशांति से भरा है कि परमात्मा से मिलना हो कैसे सके?

और जो कहता है : 'अभी मिलना चाहिए', वह परमात्मा को बहुत मूल्य भी नहीं दे रहा है। वह कह रहा है : 'मिलना हो, तो अभी मिल जाओ : नहीं तो दूसरे काम हजार पड़े हैं। और अगर देरी हो, तो पहले हम उनको निपटा लें।' परमात्मा उसके लिए कोई बहुत मूल्य की बात नहीं कि वह उसके लिए समय देने को तैयार हो!

जितनी मूल्यवान चीज हो, आप उतना ज्यादा समय देने को तैयार होते हैं। मौसमी फूल हम लगाते हैं, तो वे महीने भर में आ जाते हैं, लेकिन महीने भर में समाप्त भी हो जाते हैं।

अगर आकाश को छूने वाले वृक्ष हमें लगाने हैं, तो प्रतीक्षा करनी पड़ेगी—वर्षों तक। एक पीढ़ी लगाती है, दूसरी पीढ़ी उनके फल पाती है। अगले जनम में आपको फल मिलेगा—इस जनम में नहीं मिल सकता। बड़ा वृक्ष...!

परमात्मा का जिनकी नजर में मूल्य है, वे तो कभी भूल कर भी यह न कहेंगे कि 'अभी मिल जाय।' क्योंकि वे जानते हैं कि यह बात ही बेहूदी है। यह बात ही मुँह से निकालनी अधार्मिक है। यह सोचना भी—कि अभी मिल जाय—अधार्मिक है।

इतनी बड़ी घटना, इतना विराट विस्फोट—प्रतीक्षा से होगा। और जब इतनी बड़ी घटना है, तो जब भी घटेगी, मानना कि वह जल्दी घटी, क्योंकि देर का तो कोई कारण नहीं है। जब भी घटे, तभी भक्त कहेगा कि जल्दी घट गई; अभी मेरी पात्रता न थी और घट गई। इतनी बड़ी घटना, इतनी जल्दी घट गई! अपात्र कहता है: 'अभी घटे। और अभी नहीं घटती, तो फिर छोड़ो।'

मेरे पास लोग आते हैं, वे कहते हैं: 'शाम की ट्रेन से हम जा रहे हैं। कुछ ऐसा बता दें कि बस, जीवन बदल जाय!'

पता नहीं वे जीवन का क्या मूल्य समझते हैं। कोई मूल्य भी है जीवन का या नहीं! भागे हुए हैं! और ऐसा पूरा जीवन खो जाएगा, कुछ भी उनको मिलेगा नहीं।

बुद्ध के पास कोई आता, तो बुद्ध कहते थे, 'एक साल तो बिना पूछे मेरे पास बैठ जाओ। एक साल बाद तुम पूछना शुरू करना।' जो जल्दी में होता, वह कहता: 'तो फिर मैं एक साल बाद ही आ जाऊँगा!' बुद्ध कहते, 'तब तुझे दो साल बिठाऊँगा। क्योंकि एक साल तो यह जो तूने गँवाया है, और एक तो बाकी रहा ही।'

झेन फकीर रिन्झाई के पास कोई आया, और उसने कहा कि, 'मेरा पिता बूढ़ा है; और ज्यादा समय मेरे पास नहीं है। मैं अकेला ही बेटा हूँ और बाप बूढ़ा है; उसकी सेवा करनी जरूरी है। लेकिन ध्यान मुझे सीखना है।' रिन्झाई ने कहा, 'कोई-तीस साल लगेंगे, क्योंकि तुम इतनी जल्दी में हो!' वह युवक कुछ समझ नहीं पाया।

उसने कहा, 'जल्दी में हूँ, तो जल्दी करवाइए। न कि तीस साल! मेरे पिता तब तक चल ही बसे होंगे।'

उस युवक ने कहा कि 'अगर मैं दुगुनी मेहनत करूँ, तो क्या होगा?' रिन्झाई ने कहा, 'तब साठ साल लग जाएँगे। क्योंकि मैं मानता था कि तू पहले ही पूरी मेहनत करने को तैयार है। तू कह रहा है : दुगुनी करूँगा; मतलब तूने आधी पहले ही बचा रखी थी। तू आदमी भी बेईमान है। वह तीस तो मैंने सोच कर बताये थे कि तू अगर पूरी मेहनत करे...। तू कहता है : अगर मैं दुगुनी मेहनत करूँ। साठ लग जाएँगे।'

उस युवक ने कहा, 'अब मैं आगे नहीं पूछता। क्योंकि यही ठीक है—साठ ही ठीक है। पता नहीं, तुम एक सौ बीस कर दो!'

और वह युवक रुक गया। तीन वर्ष तक वह रिन्झाई के पास था। रिन्झाई ने उससे पूछा ही नहीं कि तुम कैसे आये; क्या सीखना है?

कई दफा उस युवक को भी खयाल उठा कि 'उठा कि 'क्या करना? क्या नहीं करना? साल निकले जा रहे हैं! बाप बूढ़ा हुआ जा रहा है। और अभी तो कुछ शुरू भी नहीं हुआ!' पर उसने सोचा : पूछना खतरनाक है। यह आदमी तो बड़ा उपद्रवी है! अगर पूछा और कहीं यह कहने लगे कि 'सौ साल लगेंगे।'...इसलिए उसने सोचा : चुप हो रहो। देखें, क्या होता है।

तीन साल बाद रिन्झाई ने कहा, 'अब तेरा पहला पाठ शुरू होता है। तू योग्य है। अगर तू तीन साल में पूछता, तो मैंने तेरे एक सौ बीस साल कर दिये थे। फिर मुझसे यह काम पूरा होने वाला नहीं था। क्योंकि मैं भी बूढ़ा हो रहा हूँ। आधी ही मैं करता, आधा मेरे शिष्य करते। लेकिन तूने तीन साल नहीं पूछा; अब मैं काम शुरू करता हूँ।'

पाँचवें वर्ष रिन्झाई का शिष्य समाधि को उपलब्ध हो गया। जब वह समाधि को उपलब्ध हुआ, तो उसने रिन्झाई को कहा, 'इतने जल्दी! मैं तो सोच भी नहीं सकता था!' रिन्झाई ने कहा, 'चूँकि तू साठ के लिए राजी हो गया; वह तेरा राजीपन—साठ साल के लिए। तेरी प्रतीक्षा की तैयारी है।'

साठ साल का मतलब होता है : पूरा जीवन गँवाने की तैयारी।

वह युवक कम से कम पच्चीस साल का था—जब आया था। साठ साल का मतलब है कि मरेगा अब; अब लौटने का कोई उपाय नहीं। 'साठ साल के लिए तैयारी...।'

अनंत प्रतीक्षा का अर्थ ही यह होता है कि हमारी तैयारी इतनी है कि कभी भी न घटे, तो भी हम शिकायत न करेंगे।

भक्त का अर्थ ही यह होता है : जो शिकायत न करे। और जिसकी शिकायत है, वह भक्त नहीं है।

पर आप हैरान होंगे जान कर कि नास्तिक तो मिल जाएँगे आपको, जिनकी कोई शिकायत नहीं है; आस्तिक खोजना मुश्किल है—बिना शिकायत के। और आस्तिक का लक्षण यह है कि उसकी कोई शिकायत न हो।

तो दुनिया में दो तरह के नास्तिक हैं। एक तो नास्तिक हैं कि जो घोषणा किये हैं ईश्वर नहीं है। इसलिए शिकायत करने का उपाय भी नहीं है; किससे शिकायत करें? इसलिए जो है—ठीक है।

दूसरे नास्तिक वे हैं, जो माने हुए हैं कि ईश्वर है। लेकिन माने सिर्फ इसलिए हैं, ताकि शिकायत करने को कोई हो। बस, उनका ईश्वर सिर्फ शिकायत के लिए है—कि वे कह सकें : 'देखो यह नहीं हो रहा; यह नहीं हो रहा; यह नहीं हो रहा। यह करो; यह क्यों नहीं किया? इतनी देर क्यों हो रही है?' बिना ईश्वर के किससे शिकायत करियेगा?

आपका ईश्वर सिर्फ आपकी शिकायतों का पुंजीभूत रूप है। और भक्त का शिकायत से कोई संबंध नहीं है।

यह जो मैं कह रहा हूँ : अनंत प्रतीक्षा—यह शिकायत-शून्य, शर्तरहित धैर्य है। इसे जरा सोचें। अगर ऐसी आपके पास चित्त की दशा हो, तो कोई कारण नहीं है कि अभी क्यों घटना न घट जाय!

अनंत धैर्य—खुले आकाश की तरह हो जाता है। फिर हृदय के कहीं कोई द्वार—सीमाएँ—कुछ भी न रहीं। सब खुला है; कुछ बंद न रहा। अब और ज्यादा परमात्मा को उतरने के लिए चाहिए भी क्या? इतना ही चाहिए।

इसलिए इन दोनों में कोई विरोध नहीं है—पहली बात। ये दोनों एक ही साधना के हिस्से हैं।

रह गई दूसरी बात : निश्चित ही ये दोनों अतियाँ हैं, एक्सट्रीम्स हैं। लेकिन एक ही रेखा की दो अतियाँ हैं। और इस जगत् में कोई भी रेखा रेखा नहीं है—सीधी। सभी रेखाएँ वर्तुलाकार हैं। सभी रेखाएँ बड़े वर्तुल का हिस्से हैं।

युक्लिड कहता था—जिसने ज्यामिति खोजी—कि सीधी रेखा होती है। लेकिन फिर आइन्स्टीन और बाद के खोजियों ने सिद्ध किया कि सीधी रेखा होती नहीं—स्ट्रैट लाइन होती ही नहीं। क्योंकि जिस जमीन पर आप बैठे हैं, वह गोल है; आप उस पर कोई भी रेखा खीचें, अगर आप उसको बढ़ाये चले जायँ, तो वह पूरे जमीन को घेर लेगी, बड़े वर्तुल का हिस्सा हो जाएगी। तो सभी रेखाएँ किसी बहुत बड़े वर्तुल के हिस्से हैं। इसलिए कोई रेखा सीधी नहीं है। सभी रेखाएँ तिरछी हैं—घूमती हुई हैं; वर्तुल का अंग हैं।

सीधी रेखा जैसी कोई चीज है ही नहीं जगत् में। इसलिए सभी चीजें गोल घूमती

हैं। चाँद, पृथ्वी, तारे, सूरज, मौसम, आदमी का जीवन—सब वर्तुलाकार घूमता ह। और जब दो अतियाँ—एक रेखा की—करीब आती हैं, तो वर्तुल पूरा होता है। किसी भी रेखा को—उसकी अतियों को—पास ले आयें; जहाँ दोनों अतियाँ मिलती हैं, वहीं वर्तुल पूरा होता है।

अनंत धैर्य रेखा का एक कोना है। और 'क्षण में घट सकती है घटना'—सडन—यह रेखा का दूसरा कोना है। जहाँ ये दोनों कोने मिलते हैं, वहाँ वर्तुल पूरा होता है। और इन दोनों के बीच जरा-सा भी फासला नहीं है। ये अतियाँ जरूर हैं, लेकिन अतियाँ मिलती हुई अतियाँ हैं।

और यह भी ध्यान रहे कि जीवन में जो भी छलाँग लगती है, वह हमेशा अति से लगती है—मध्य से नहीं लगती। इस कमरे से बाहर जाना हो, तो या तो इस तरफ की खिड़की खोजनी पड़े या उस तरफ की खिड़की खोजनी पड़े। लेकिन यहाँ कमरे के मध्य में खड़े हो कर बाहर जाने का कोई उपाय नहीं है।

मध्य से कोई द्वार जाता ही नहीं है। मध्य का मतलब ही यह हुआ कि द्वार से दूरी है।

परिधि पर जाना पड़ेगा। अति को पकड़ना पड़ेगा। इसलिए दुनिया की सभी साधना पद्धतियाँ अतियाँ हैं। अति का मतलब है : आखिरी छोर। वहाँ से छलाँग लग सकती है। मध्य से कहाँ कूदियेगा? कमरे में ही उछलते रहेंगे! किनारे पर जाना पड़े।

एक अति है—कि क्षण में घटना घट सकती है। सडन एनलाइटन्मेंट (तत्कालिक सम्बोधि) को मानने वाला वर्ग है। विशेषकर जापान में झेन फकीर, तत्क्षण को मानते हैं—कि घटना घट सकती है—एक क्षण में घट सकती है। और इसी के लिए तैयार करते हैं साधक को कि वह एक क्षण के लिए तैयार हो। तैयारी में वर्षों लगते हैं। घटना एक ही क्षण में घटती है, लेकिन तैयारी में वर्षों लगते हैं; कभी-कभी जन्म भी लगते हैं। ऐसे ही जैसे हम पानी को गरम करते हैं, तो पानी भाप तो एक क्षण में बन जाता है। सौ डिग्री पर पहुँचा कि भाप बनना शुरू हुआ। लेकिन सौ डिग्री तक पहुँचने में घंटों लग जाते हैं। और यह इस पर निर्भर करता है कि कितना ताप नीचे है, कितनी आग नीचे है।

अगर आप राख रखे बैठे हों, तो कभी सौ डिग्री पर नहीं पहुँचेगा। अंगारे हों, लेकिन राख से ढँके हों, तो बड़ी देर लगेगी। ज्वलित अग्नि हो, भभकती हुई लपटें हों, तो जल्दी घटना घट जाएगी।

तो कितनी त्वरा है भीतर; कितनी अभीप्सा है; कितनी आग है—घटना को घटाने की—उतने जल्दी घट जाएगी। लेकिन घटना एक ही क्षण में घटेगी।

पानी गरम होता रहेगा, गरम होता रहेगा, निन्यानबे डिग्री पर पानी पानी ही है। अभी भाप नहीं बना। एक सैकेंड में सौ डिग्री—और पानी छलाँग लगा लेगा। छलाँग कीमती है।

जब तक पानी था—पानी नीचे की तरफ बहता है। जैसे ही भाप बना, ऊपर की तरफ उठना शुरू हो जाता है। सारी दिशा बदल जाती है।

जब तक पानी था, तब तक दिखाई पड़ता था, पदार्थ था। जैसे ही छलाँग लगती है, अदृश्य हो जाता है; वायवीय हो जाता है; आकाश में खो जाता है।

जब तक दिखाई पड़ता था, जमीन उसको नीचे की तरफ खींच सकती थी। गुरुत्वाकर्षण का प्रभाव था। जैसे ही भाप बना, गुरुत्वाकर्षण के बाहर हो जाता है; आकाश की तरफ उठने लगता है। कोई दूसरे जगत् के नियम काम करने शुरू कर देते हैं।

एक क्षण में घटना घटती है, लेकिन तो भी झेन फकीरों को जन्मों-जन्मों तक और एक जीवन में भी वर्षों तक गरमी पैदा करने के उपाय करने पड़ते हैं।

दूसरे फकीर है—सूफियों का एक समूह है इसलाम में, वे अनंत प्रतीक्षा में मानते हैं। वे क्षण की बात ही नहीं करते हैं। वे कहते हैं : अनंत प्रतीक्षा करनी है। बैठे रहो; प्रतीक्षा करो। जागते रहो—और प्रतीक्षा करो। कभी अनंत जन्म में घटेगी।

अब यह बड़े मजे की बात है; ये दोनों बिलकुल विपरीत साधना पद्धतियाँ हैं; लेकिन झेन फकीर भी पहुँच जाता है और सूफी फकीर भी पहुँच जाता है। और मजे की बात यह है कि झेन फकीर जब पहुँचता है, तो उसको भी वर्षों तक श्रम कर क्षण भर की घटना पर पहुँचना पड़ता है। और जब सूफी फकीर पहुँचता है, तो वह भी अनंत प्रतीक्षा कर के क्षणभर की घटना पर पहुँचना है। घटना तो वही है।

तो दो बातें हो गईं। पानी को हम गरम करते हैं; सौ डिग्री पर पानी भाप बन जाता है; एक। और पानी को गरम करना पड़ता है; दो। इनमें से जिस पर आप जोर देना चाहें।

अगर आपको गरमी पर जोर देना है, तो आप कह सकते हैं : लम्बी यात्रा है। बड़ी प्रतीक्षा करनी पड़ेगी। पानी गरम होगा—गरम होगा—गरम होगा; कभी अंत में भाप बनेगा। प्रॉसेस—प्रक्रिया पर जोर दें। और अगर अंत पर जोर देना हो, तो कहें कि पानी कभी भी भाप बने; कितनी ही देर लगे, इससे कोई फर्क नहीं पड़ता, भाप तो क्षण भर में बन जाती है। पानी छलाँग लगा लेता है।

पर ये दोनों एक ही प्रक्रिया के हिस्से हैं। इसलिए मैं दोनों को जोड़ कर इकट्ठा कहता हूँ। अनंत हो प्रतीक्षा, तो क्षण भर में घट जाता है। क्षण में घटाना हो, तो अनंत प्रतीक्षा की तैयारी चाहिए। और इनमें विरोध नहीं है।

● चौथा प्रश्न : क्या गुरु के जाल में फँसना, तड़पना, मर जाना—रूपांतरण की प्रक्रिया के अनिवार्य अंग हैं?

निश्चित ही। फँसना पड़े, तड़पना भी पड़े और मरना भी पड़े। लेकिन जिस अर्थ में आपने पूछा है, उस अर्थ में नहीं। पूछने वाले को तो—ऐसा लगता है कि बेचैनी है, भय है। फँसने से भय है; डर है।

डर किस बात का है? डर किसको है? वह जो अहंकार है हमारे भीतर, वह सदा डरता है कि कहीं फँस न जायँ। और यह जो अहंकार है, कहीं भी नहीं फँसने देता। लेकिन तब हम पूरे जीवन से वंचित रह जाते हैं।

एक युवक ने मुझे आ कर कहा कि 'प्रेम तो मुझे करना है, लेकिन फँसना नहीं है। कोई झझंट में नहीं पड़ना चाहता।' प्रेम करना हो, तो फँसना ही पड़े। क्योंकि वह प्रेम घटेगा ही तब, जब जब आप डूबेंगे। आप ऐसे दूर अपने को सम्हाल कर खड़े रहें—संतरी की तरह, तो वह घटना ही घटनेवाली नहीं है।

और बचेगा भी क्या! बचाने को है भी क्या आपके पास? यह जो बचने की तलाश चल रही है—यह कौन है, जो बचना चाहता है? यह जो इतना डरा हुआ प्राण है, इसको बचा कर भी क्या करियेगा? इसको स्वतंत्र रख कर भी क्या प्रयोजन है? और जो स्वतंत्रता इतनी भयभीत हो, वह स्वतंत्रता है भी नहीं।

मुल्ला नसरुद्दीन एक रात देर से घर लौटा। पत्नी ने शोरगुल शुरू कर दिया। और उसने कहा कि 'फिर देर से आये? और हजार बार कह दिया कि देर से आना बंद करो! कहाँ थे? 'तो नसरुद्दीन ने कहा कि 'समझदार 'पत्नियाँ इस तरह के प्रश्न नहीं पूछतीं।'

पत्नी आग-बबूला थी; उसने कहा, 'और समझदार पति?' वह आगे कुछ कहे, उसके पहले नसरुद्दीन बोला कि, 'ठहर! समझदार पति सदा कुँआरे रहते हैं।'

वह जो डरा हुआ व्यक्ति है, वह कितना ही समझदार मालूम पड़ता हो, लेकिन जीवन के अनुभव से वंचित रह जाएगा।

प्रेम एक अनुभव है और उसमें उतरने से ही पता चलता है। और उसमें फँसना उपयोगी है। क्योंकि उस फँसने के भीतर भी अगर तुम बिना फँसे रह सको, तो तुम्हारे जीवन में अमृत बरस जाएगा। उस कारागृह में प्रवेश कर के भी तुम्हारी मुक्ति नष्ट न हो; तुम्हारी भीतरी मुक्ति तुम कायम रख सको, वही कला है।

तो एक तो प्रेम है जीवन में। फिर गुरु और शिष्य का संबंध भी प्रेम का आखिरी संबंध है। वह और भी बड़ा फँसाव है, क्योंकि पत्नी के साथ रह कर स्वतंत्र रहना आसान है। गुरु के साथ रह कर स्वतंत्र रहना और भी मुश्किल है, और भी जटिल है, क्योंकि उसका जाल और भी बड़ा है। वह हृदय तक ही नहीं जाता, उसका जाल आत्मा तक चला जाता है। पर वहाँ भी स्वतंत्र रहने की संभावना है। और मजा यही है कि वहाँ जितने पूरे मन से कोई अपने को छोड़ देगा, उतना ही स्वतंत्र रहेगा।

परतंत्रता पैदा होती है, क्योंकि तुम छोड़ नहीं पाते। अगर तुम छोड़ दो, तो परतंत्र रहने का कोई अर्थ ही नहीं।

जेलखाना जेलखाना मालूम पड़ता है, क्योंकि तुम जेलखाने में रहना नहीं चाहते। और अगर तुम जेलखाने में रहना ही चाहते हो, तब जेलखाना समाप्त हो गया। फिर अगर जेल के लोग तुम्हें बाहर निकालने लगें, तो वह परतंत्रता होगी।

जिस बात से हमारा प्रतिरोध है, विरोध है, रेसिस्टेंस है वहीं फँसना मालूम होता है।

अगर एक युवक एक युवती को सच में ही प्रेम करता है, तो फँसना मालूम होता ही नहीं। युवती अगर सच में प्रेम करती है, तो फँसना मालूम नहीं होता; तब प्रेम मुक्ति मालूम होता है। और अगर प्रेम न हो—डर हो, भय हो—बचाव की चेष्टा हो, तो फँसना मालूम होता है; तो बंधन और कारागृह मालूम होता है।

मैं यह कह रहा हूँ आपसे कि वही आपको बंधन मालूम होता है, जहाँ आप लड़ते हैं।

भूमिदान आन्दोलन असफल हुआ, तो सारे मुल्क में भूमि हथियाओ आन्दोलन चला। तो मैंने एक घटना सुनी है कि उसकी नकल पर एक गाँव में...निश्चित ही गाँव गुजरात में रहा होगा...'पत्नियाँ हथियाव आन्दोलन' लोगों ने चला दिया। और उन्होंने कहा कि समाजवाद में जबकि सभी के पास एक-एक पत्नी नहीं है, तो कुछ लोगों के पास दो-दो है, यह नहीं हो सकता। यह बरदाश्त के बाहर है। तो जिन युवकों के पास पत्नियाँ नहीं थीं, उन्होंने एक जुलूस निकाला और कहा कि, 'पत्नियाँ हथियाव। जिनके पास दो हैं, उनसे एक छीनो, और उनको दो—जिनके पास एक भी नहीं हैं, और यह समाजवाद के लिए बिलकुल जरूरी है।'

मुल्ला नसरुद्दीन बाहर गया था; उसकी दो पत्नियाँ थीं। वह घर पहुँचा, तो हाय-तोबा मची थी। जुलूस इसकी एक पत्नी को ले कर आगे बढ़ गया था। मुल्ला भागा; जा कर नेता के हाथ पकड़ लिए और कहा कि, 'अन्याय मत करो।' उस नेता ने कहा, 'अन्याय कौन कर रहा है। तुम अन्याय कर रहे हो जानता पर—कि हम? जबकि गाँव में सौ आदमी मौजूद हैं, जिनके पास एक भी पत्नी नहीं और तुम दो-दो पर कब्जा जमाये बैठे हो? तुम दो-दो का सुख ले रहे हो? और ज्यादा हमारे पास समय नहीं। अभी हमें और कोई पचास पत्नियाँ हथियानी हैं।' उसने घड़ी देखी; उसने कहा; 'हटो रास्ते से।'

नसरुद्दीन ने फिर भी हाथ पकड़ लिया और बिलकुल कँपने लगा, 'नहीं, ऐसा अन्याय मत करो।' भीड़ को भी दया आ गयी और नेता ने कहा, 'मर्द जैसे मर्द हो कर भी इस तरह रिरिया रहे हो—औरतों की तरह! ले जा अपनी पत्नी को!'

नसरुद्दीन एकदम जमीन पर गिर पड़ा और पैर पकड़ लिए और कहा, 'आप समझे नहीं; दूसरी को भी ले जाइये।' बंधन...!

जहाँ प्रेम समाप्त हुआ, वहाँ विवाह बंधन बन जाता है—परतंत्रता बन जाता है। जहाँ श्रद्धा खो गई, वहाँ गुरु जेलखाना हो जाता है। श्रद्धा हो, तो गुरु मुक्ति है।

प्रेम हो, तो प्रेम का संबंध स्वतंत्रता है। और प्रेमी एक दूसरे को और स्वतंत्र कर देते हैं—जितने अकेले हो कर वे कभी भी नहीं हो सकते थे। क्योंकि दो स्वतंत्रताएँ मिलती हैं।

और गुरु तो परम मुक्त है। उसके मोक्ष से जब आपका मिलना होता है या उसके जाल में जब आप फँसते हैं—अगर आपका विरोध न हो—तो आप परम मुक्त हो जाएँगे। और अगर विरोध हो, तो ही आपको लगेगा कि जाल में फँसे हैं।

जाल में फँसा हुआ होना—जाल के कारण नहीं लगता; 'मुझे फँसना नहीं है'—इसलिए लगता है।

नदी में एक आदमी तैर रहा है, तो उसको लगता है: 'नदी मेरे खिलाफ बह रही है!' क्योंकि वह नदी से उलटा जाने की कोशिश कर रहा है। उसको लगता है: 'नदी मेरी दुश्मन है' और एक आदमी नदी में बह रहा है; जहाँ नदी जा रही है, उसी में बह रहा है। उसको लगता है: 'नदी मेरी मित्र है, नदी मेरी नाव है। और नदी मुझे ले जा रही है; जरा भी श्रम नहीं करना पड़ रहा है।'

अगर गुरु के साथ आप उलटी धारा में बह रहे हों, तो फँसना लगेगा। और अगर गुरु के साथ बह रहे हों, तो मुक्ति अनुभव होगी।

आप पर निर्भर है—शिष्य पर निर्भर है कि गुरु परतंत्रता बन जाएगा कि स्वतंत्रता।

तड़पना भी पड़ेगा। क्योंकि यह खोज बड़ी है और यह खोज गहन है। और मिलने के पहले बहुत पीड़ा है। पानी मिले, उसके पहले गहन प्यास से गुजरना होगा। और जैसे ही आप किसी गुरु के पास पहुँचेंगे आपकी तड़प बढ़ेगी—घटेगी नहीं। अगर घट जाय, तो समझना कि यह गुरु आपके काम का नहीं है। क्योंकि घटने का मतलब यह हुआ कि आग ठंडी हो रही है।

गुरु के पास पहले पहुँच कर तो प्यास बढ़ेगी, क्योंकि गुरु को देख कर आपको पहली दफा पता चलेगा कि पानी पीये हुए लोग किस आनन्द में हैं! पहली दफा तुलना पैदा होगी; तकलीफ पैदा होगी। पहली दफा तृष्णा गहन होगी। और पहली दफा लगेगा कि 'ऐसा मैं भी कब हो जाऊँ? कैसे हो जाऊँ? यह मुझे भी कब हो?'

आनन्द की पहली झलक आपके दुःख को बहुत गहन कर जाएगी। ऐसे ही जैसे रास्ते से आप गुजर रहे हों—अँधेरे रास्ते से, लेकिन अँधेरे में ही गुजर रहे हों, तो अँधेरे में भी दिखने लगता है। फिर एक कार गुजर जाय—तेज प्रकाश को फेंकती

हुई, तो कार के गुजरने के बाद रास्ता और भी भयंकर अंधकारपूर्ण मालूम होता है। तुलना पैदा होगी।

गुरु के पास आ कर पहली दफा तुलना पैदा होगी; पहली दफा आपको लगेगा: आप कहाँ हैं, किस नरक में हैं? किस पीड़ा में हैं!

तो तड़प तो पैदा होगी। और गुरु की कोशिश होगी कि और जोर से तड़पाये। क्योंकि जितने जोर से आप तड़पें, उतनी ही आग पैदा होगी; उतना ही उबलने का बिंदु करीब आयेगा। और जितने आप तड़पें, उतनी ही खोज जारी होगी—सरोवर के निकट पहुँचना आसान होगा। अगर आप पूरी तरह तड़प उठें, तो सरोवर उसी क्षण प्रगट हो जाता है।

इसलिए तड़पना भी होगा और मरना भी होगा। क्योंकि वह आखिरी है। गुरु का काम ही वही है। गुरु यानी मृत्यु। जो आपको मार न सके, वह गुरु नहीं; जो आपको मिटा न सके, वह गुरु नहीं। गुरु आपको काटेगा ही। और जब आप बिलकुल समाप्त हो जाएँगे, तभी आपको छोड़ेगा कि 'बस, अब काम पूरा हुआ।'

बिना मिटे परमात्मा को पाने की कोई व्यवस्था नहीं है। बिना खोये उसकी खोज पूरी नहीं होती। इसलिए पुराने सूत्रों में कहा है: 'आचार्य—गुरु—मृत्यु है।' और वह जो कठोपनिषद में नचिकेता को भेजा है यम के पास, वह गुरु के पास भेजा है। यम गुरु का प्रतीक है। वहाँ जा कर आप मर जाएँगे।

इसलिए गुरु से लोग बचते हैं। और पच्चीस तरह की युक्तियाँ खोजते हैं कि कैसे बच जायँ; रेशनलाइजेशन खोजते हैं कि कैसे बच जायँ। गुरु को सुन भी लेते हैं, तो कहते हैं: 'बात अच्छी है, लेकिन अभी अपना समय नहीं आया! करेंगे कभी—जब समय आयेगा!' हजार तरकीब आदमी करता है—अपने को बचाने की।

जैसे आप मृत्यु से बचते हैं, वैसे ही आप गुरु से बचते हैं। और जिस दिन आप ठीक से समझ लेंगे...। गुरु के पास जाने का मतलब ही यह है कि मैं गलत हूँ और गलत को जला डालना है। और मैं भ्रांत हूँ और भ्रांत को मिटा देना है, और मैं जैसा अभी हूँ, मरणधर्मा हूँ; इस मरणधर्मा को मर जाने देना है, ताकि अमृत का उदय हो सके।

मृत्यु द्वार है अमृत का। और जो मिटने को राजी है, वह उसको उपलब्ध हो जाता है, जो कभी नहीं मिटता है।

एक तरफ गुरु मारेगा और दूसरी तरफ जिलायेगा। वह मृत्यु भी है और पुनर्जन्म भी; वह नव-जीवन है।

'क्या गुरु के जाल में फँसना, तड़पना, मर जाना रूपांतरण की प्रक्रिया का अनिवार्य अंग है?'—बिलकुल अनिवार्य अंग है। और इसके पहले कि फँसो—या तो भाग खड़े होना चाहिए; फिर लौट कर नहीं देखना चाहिए।

गुरु खतरनाक है। जरा भी रुके, तो डर है कि फँस जाओगे। और फँस गये, तो फिर तड़पना पड़ेगा। तड़पे, तो फिर मरना पड़ेगा। वे एक ही मार्ग की सीढ़ियाँ हैं। लेकिन जो व्यक्ति स्वयं का रूपांतरण चाहता है, वह चाहता क्या है? वह चाहता यही है कि 'मैं गलत हूँ—जैसा हूँ। जो मुझे होना चाहिए, वह मैं नहीं हूँ। और जो मुझे नहीं होना चाहिए—वह मैं हूँ।' तो वह मिटने के लिए तैयार है; वह बिखरने के लिए तैयार है; वह शून्य होने को राजी है। और जो व्यक्ति शून्य होने को राजी है, उसी का गुरु से मिलन हो पाता है।

अब हम सूत्र को लें।

'हे भारत, इस प्रकार तत्त्व से जो ज्ञानी पुरुष मेरे को पुरुषोत्तम जानता है, वह सर्वज्ञ पुरुष सब प्रकार से निरन्तर मुझ परमेश्वर को ही भजता है।

'हे निष्पाप अर्जुन, ऐसे यह अति रहस्ययुक्त गोपनीय शास्त्र मेरे द्वारा कहा गया; इसको तत्त्व से जान कर मनुष्य ज्ञानवान और कृतार्थ हो जाता है।'

एक एक शब्द समझें।

'इस प्रकार से जो ज्ञानी पुरुष मेरे को पुरुषोत्तम जानता है, वह सर्वज्ञ पुरुष सब प्रकार से निरन्तर मुझ परमेश्वर को ही भजता है।'

जिसको भी यह स्मरण आ गया कि परिधि पर शरीर है, मध्य में चेतना है और अंत में केन्द्र पर अन्तर्यामी पुरुषोत्तम है; जिसको भी यह स्मरण आ गया कि केन्द्र परमात्मा है, फिर उसकी परिधि भी परमात्मा के ही गुणगान करने लगती है। फिर उसकी परिधि पर भी परमात्मा का ही स्वर गूँजने लगता है। फिर उसके बाहर भी वही प्रगट होने लगता है, जो भीतर है। फिर वह उठता भी है, तो परमात्मा में; बैठता भी है, तो परमात्मा में। फिर परमात्मा उसके लिए कुछ पृथक् नहीं रह जाता—उसके अपने होने का अभिन्न अंग हो जाता है। फिर वह जो भी करता है, सब परमात्मा में ही घटित होता है। जैसे मछली सागर में होती है, ऐसा फिर वह परमात्मा में होता है। भजने का यही अर्थ है।

भजने का यह अर्थ नहीं कि आप बैठे हैं—कभी कभी राम-राम, राम-राम कर लिया। भजने का यह अर्थ है कि आपके जीवन की कोई भी गतिविधि परमात्मा से शून्य न हो। आप जो भी करें, जो भी न करें—सब में परमात्मा का स्मरण सतत भीतर बना रहे।

आपके जीवन के कृत्य माला के मनके हो जाय और परमात्मा आपके भीतर का धागा हो जाय। हर मनके में दिखाई पड़े या न दिखाई पड़े—वह धागा भीतर समाया रहे। सभी मनके उसी धागे से बँध जायँ; भजन का यह अर्थ है।

पर हम तो हर चीज को विकृत कर लेते हैं। तो हम काम करते जाते हैं और

सोचते हैं : भीतर राम-राम करते जाओ। लोग अभ्यास कर लेते हैं उसका। तो वे कार ड्राईव करते रहेंगे और भीतर राम-राम करते रहेंगे! वह अभ्यस्त हो जाता है।

मन जो है, आटोमैटिक किया जा सकता है। तो मन स्वचलित यंत्र बन जाता है। आप अपना काम करते रहें, वहाँ राम-राम, राम-राम, राम-राम चलता रहे। उसका कोई मूल्य नहीं है। वह मन का एक कोना दोहराता रहता है।

भजन का अर्थ है : आपके जीवन में डूब जाय स्मृति परमात्मा की। कैसे यह हो?

किसी मित्र की आँख में झाँकें, तब आपको मित्र तो दिखाई पड़े; वह परिधि रहे, लेकिन उसमें पुरुषोत्तम भी दिखाई पड़े, तो वह भजन हो जाएगा। फूल को देखें; फूल तो परिधि रहे और फूल में जो सौंदर्य प्रगट हुआ है, वह जो खिलावट है, वह जो जीवन की अभिव्यक्ति हुई है, वह जो पुरुषोत्तम वहाँ मौजूद है, उसका स्मरण आ जाय।

चाहे फूल देखें, चाहे आँख देखें, चाहे आकाश देखें—जो भी देखें वहाँ आप को पुरुषोत्तम की स्मृति बनी रहे। ऐसा नहीं कि फूल देखें, तो भीतर राम-राम, राम-राम, करने लगें। उसमें तो फूल भी चूक जाएगा। राम-राम करने की शाब्दिक बात नहीं है। फूल के अनुभव में पुरुषोत्तम का अनुभव मौजूद रहे। भोजन करें—पुरुषोत्तम का अनुभव मौजूद रहे। स्नान करें—पुरुषोत्तम का अनुभव मौजूद रहे।

लोग नदी में स्नान करने जाते हैं...। मेरे गाँव में नियम से लोग सुबह नदी में स्नान करने जाते हैं। सर्दी के दिनों में भी जाते हैं। सर्दी के दिनों में वे ज्यादा भजन करते हैं। और राम-राम, जय शिव शंकर...! पानी में ठण्ड लगती है, उसे भुलाने के लिए वे जोर से भगवान् का नाम लेते हैं। इधर मन भगवान् के नाम में लग जाता है, एक डुबकी लगाई और बाहर निकल आये। फिर वे भगवान् का नाम नहीं लेते। जैसे ही बाहर हुए, वे भूले। तो वे जब भगवान् का नाम ले रहे हैं, तो ऐसा लगेगा कि सुबह नदी के किनारे बड़े भक्त आये हुए हैं। वह सिर्फ ठण्ड से बचने का उपाय है।

वह ऐसा ही है कि जैसे आप अकेले गली में जा रहे हों, तो जोर से सीटी बजाने लगें; उससे ऐसा लगता है कि अकेले नहीं हैं। सीटी सुनाई पड़ती है—अपनी ही सीटी! जो नहीं हैं धार्मिक, वे फिल्मी गाना गाकर भी स्नान कर लेते हैं। इसमें भी फर्क नहीं पड़ता।

भजन का अर्थ कोई शब्दों से राम की स्मृति नहीं है; क्योंकि वह धोखा भी हो सकती है; दुःख से बचने का उपाय हो सकती है; ठण्ड से बचने का उपाय हो सकती है; अकेलेपन से बचने का उपाय हो सकती है। वह एक तरह की व्यस्तता हो सकती है।

नहीं; भगवान् को अनुभव में जानना है—अनुभव से पलायन कर के नहीं। उससे बचना नहीं है; उससे भागना नहीं है।

जैसा भी जीवन है—जहाँ भी जीवन ले जाय—वहाँ मेरी आँख परिधि पर ही न रहे, केंद्र पर सदा पहुँचती रहे। जो भी मैं देखूँ उसमें मुझे केंद्र की प्रतीति बनी रहे; वह धारा भीतर बहती रहे, कि पुरुषोत्तम मौजूद है। ऐसी अगर प्रतीति हो जाय, तो आपका पूरा जीवन भजन हो जाएगा।

'वह सर्वज्ञ पुरुष सब प्रकार से निरन्तर मुझ परमेश्वर को भजता है।' तभी निरंतर भजन हो सकता है। अगर राम-राम जपेंगे तो निरंतर तो हो ही नहीं सकता। क्योंकि दो नाम के बीच में भी जगह छूट जाएगी। एक दफा कहा : 'राम'; दूसरी दफा कहा : 'राम'; बीच में खाली जगह छूट गई; तो निरंतर तो हो ही नहीं पाया। फिर कब तक कहिये! जब तक होश रहेगा—कहिये; रात नींद लग जाएगी, वह चूक जाएगा। कोई डंडा सिर पर मार देगा, क्रोध आ जाएगा; सातत्य चूक जाएगा। वह निरंतर नहीं रह पायेगा।

कितनी ही तेजी से कोई राम-राम जपे, तो भी दो 'राम' के बीच में जगह छूटती रहेगी; उतनी खाली जगह में परमात्मा चूक गया।

निरन्तर तो तभी हो सकता है कि जो भी हो रहा हो, उसी में परमात्मा हो। जो डंडा मार रहा है सिर पर, अगर उसमें भी पुरुषोत्तम दिखे, तो भजन निरंतर हो सकता है। और जो राम-राम के बीचे में खाली जगह छूट जाता है, उस खाली जगह में भी पुरुषोत्तम दिखें, तभी पुरुषोत्तम निरंतर हो सकता है।

और जब तक भजन निरंतर न हो जाय, सतत न हो जाय, तब तक वह ऊपर-ऊपर है; तब तक चेष्टित है; तब तक वह हमारी सहज आत्मा नहीं बनी है।

'हे निष्पाप अर्जुन, ऐसे यह अति रहस्यमय—रहस्ययुक्त गोपनीय शास्त्र मेरे द्वारा कहा गया, इसको तत्त्व से जान कर मनुष्य ज्ञानवान और कृतार्थ हो जाता है।'

कृष्ण निरंतर अर्जुन को निष्पाप कहते हैं। कहे चले जाते हैं—'निष्पाप'! क्योंकि यह हिंदू धारणा है और बड़ी मूल्यवान है—कि निष्पापता हमारा स्वभाव है। उससे वंचित होने का उपाय नहीं है। पाप कर के भी आपके निष्पाप होने में कोई फर्क नहीं पड़ता। यह हिंदू विचार की बड़ी गहन धारणा है।

पश्चिम में विशेष कर ईसाइयत इसको समझने में बिलकुल असमर्थ होती है। क्योंकि जब पाप किया, तो निष्पाप कैसे रहे? पाप किया, तो पापी हो गये। यहीं हिंदू चिंतन बड़ा कीमती है। हिंदू चिंतन कहता है : क्या तुम 'करते' हो, यह ऊपर ही ऊपर रह जाता है। जो तुम 'हो', उसे तुम्हारा कोई भी 'करना' नष्ट नहीं कर पाता। तुम्हारी निर्दोषता तुम्हारा स्वभाव है।

तो जिस दिन भी तुम यह समझ लोगे कि कृत्य से मैं दूर हूँ, उसी दिन से पुनः अपनी निष्पाप स्थिति को उपलब्ध हो जाओगे।

उसे तुमने कभी खोया नहीं है, चाहे तुम भूल गये हो। तो ज्यादा से ज्यादा पाप अपनी निष्पाप दशा का विस्मरण है।

हमने उसे खोया नहीं है; हम उसे खो भी नहीं सकते। हमारी निर्दोषता—हमारी जो इनोसेंस है, वह हमारी सहज अवस्था है, वह सांयोगिक नहीं है। उसे नष्ट करने का उपाय नहीं है।

जैसे आग गरम है, ऐसे हम निष्पाप हैं। चेतना का निष्पाप होना धर्म है। अर्जुन को इसीलिए कृष्ण निष्पाप कहते हैं : 'हे निष्पाप अर्जुन।'

अर्जुन को स्मरण नहीं है—इस निष्पाप स्थिति का, इसलिए वह भयभीत है। वह डरा हुआ है कि पाप हो जाएगा। 'युद्ध में लड़ूँगा, काटूँगा, मारूँगा—पाप हो जाएगा। फिर इस पाप के पीछे भटकूँगा अनंत जन्मों तक।' और कृष्ण कह रहे हैं : तू निष्पाप है।

जैसे ही कोई व्यक्ति पहली पर्त से पीछे हटेगा, वैसे ही निष्पापता की धारा शुरू हो जाती है। और तीसरी पर्त पर सब निष्पाप है।

इसे मैं ऐसा समझ पाता हूँ : पहली पर्त पर सभी पाप हैं; शरीर के पर्त पर सभी पाप है। वह शरीर का स्वभाव है। पुरुषोत्तम के पर्त पर सभी निष्पाप है। वह पुरुषोत्तम का स्वभाव है—केन्द्र का स्वभाव है। और दोनों के बीच में हमारा जो मन है—वहाँ सब मिश्रित है; पाप, निष्पाप—सब वहाँ मिश्रित है। इसलिए मन सदा डाँवाडोल है। वह सोचता है : यह करूँ, न करूँ? पाप होगा, कि पुण्य होगा? अच्छा होगा—कि बुरा होगा? अर्जुन वहीं खड़ा है—दूसरे बिंदु पर।

कृष्ण तीसरे बिंदु से बात कर रहे हैं। अर्जुन दूसरे बिंदु पर खड़ा है। भीम और दूसरे योद्धा पहले बिंदु पर खड़े हैं। उनका सवाल भी नहीं है।

उस महाभारत के युद्ध में तीन तरह के लोग मौजूद थे। पहली पर्त पर सभी लोग खड़े हैं। वह पूरे युद्ध में जो सैनिक जुटे हैं, योद्धा इकट्ठे हुए हैं, वे पहली पर्त में हैं। उनका सवाल ही नहीं है कि क्या गलत है और क्या सही है? इतना भी उनको विचार नहीं है कि जो हम कर रहे हैं, वह ठीक है या गलत है? और शरीर के तल पर कोई विचार होता भी नहीं। शरीर मूर्च्छित है, वहाँ सभी पाप है।

अर्जुन बीच में अटका है। उसके मन में संदेह उठा है। उसके मन में चिंतना जग गई है; विमर्श पैदा हुआ है। वह सोच रहा है। सोचने से दुविधा में पड़ गया है। स्मरण रखें : वे वह जो पहली पर्त में खड़े लोग हैं, उनकी कोई दुविधा नहीं है। वे निःसंदिग्ध लड़ने को खड़े हैं। उनके मन में कोई संदेह, कोई सवाल नहीं है। लड़ने आये हैं; लड़ना उनका धर्म है। लड़ना नियति है; उसमें कोई विचार नहीं है।

अर्जुन दुविधा में पड़ा है। उसकी बुद्धि अड़चन में है। बुद्धि सदा अड़चन में होगी, क्योंकि वह मध्य में खड़ी है। वह पाप के जगत् की तरफ भी जा सकती है और निष्पाप के जगत् की ओर भी जा सकती है। अर्जुन दोनों तरफ देख रहा है। और पीछे कृष्ण हैं; वे पुरुषोत्तम हैं; वहाँ सभी निष्पाप है।

एक बात मजे की है कि जो पाप के तल पर खड़े हैं, उन्हें भी कोई संदेह नहीं। जो निष्पाप के तल पर खड़ा है, उसे भी कोई संदेह नहीं है। क्योंकि वहाँ सभी निष्पाप है। कुछ पाप हो ही नहीं सकता। जो पाप के तल पर खड़े हैं, उन्हें निष्पाप का कोई पता नहीं है, इसलिए तुलना का कोई उपाय नहीं है। अर्जुन मध्य में खड़ा है।

'अर्जुन' शब्द का अर्थ भी बड़ा कीमती है। अर्जुन शब्द बनता है, 'ऋजु' से। ऋजु का अर्थ होता है : सीधा। अऋजु का अर्थ होता है : तिरछा—डाँवाडोल, कँपता हुआ। अर्जुन का अर्थ है : कँपता हुआ, लहरों की तरह डाँवाडोल, इरछा-तिरछा। कुछ भी सीधा नहीं है। और दोनों तरफ उसके कंपन हैं। वह तय नहीं कर पा रहा है।

कृष्ण निष्पाप पुरुषोत्तम हैं। वहाँ कोई कंपन नहीं है। इसलिए अर्जुन कृष्ण से पूछ सकता है। और इसलिए कृष्ण अर्जुन को उत्तर दे सकते हैं। कृष्ण की पूरी चेष्टा यह है कि अर्जुन पीछे सरक आये, निष्पाप की जगह खड़ा हो जाय; वहाँ से युद्ध करे। यही गीता का पूरा का पूरा सार है। कैसे अर्जुन सरक आये निष्पाप की दशा में और वहाँ से युद्ध करे?

दो हालतों में युद्ध हो सकता है। एक तो अर्जुन सरक जाय शरीर के तल पर—जहाँ भीम और दुर्योधन खड़े हैं—वहाँ; वहाँ युद्ध हो सकता है। और या वह कृष्ण के तल पर सरक आये, तो युद्ध हो सकता है।

पहले तल पर सरक जाय अर्जुन, तो युद्ध साधारण होगा। जैसा रोज होता रहता है। तीसरे तल पर सरक जाय, तो युद्ध असाधारण होगा—असाधारण होगा, जैसा कभी-कभी होता है। सदियों में कभी कोई एक आदमी तीसरे तल पर खड़े हो कर युद्ध में उतरता है। और अगर वह बीच में खड़ा रहे, तो वह कुछ भी न कर पायेगा; युद्ध होगा ही नहीं। वह सिर्फ दुविधा में नष्ट हो जाएगा। वह संदेह में डूबेगा और समाप्त हो जाएगा। अधिक लोग संदेह में ही डूबते-उतरते रहते हैं।

'हे निष्पाप अर्जुन, ऐसे यह अति रहस्ययुक्त गोपनीय शास्त्र मेरे द्वारा कहा गया है। इसको तत्त्व से जानकर मनुष्य ज्ञानवान और कृतार्थ हो जाता है।' सुन कर नहीं; क्योंकि सुन तो अर्जुन ने लिया। और सुन कर ही होता तो अर्जुन कहता कि 'बात खतम हो गई—कृतार्थ हो गया।' सुन आपने भी लिया... !

'तत्त्व से जान कर'—ऐसा कृष्ण ने कहा है; जब अर्जुन ऐसा स्वयं जान ले; जब

यह उसकी अनुभूति बन जाय; जब यह उसकी प्रतीति हो जाय; जब वह कह सके : 'हाँ, पुरुषोत्तम मैं हूँ', तो कृतार्थ हो जाता है। तो फिर जीवन में अर्थ आ जाता है। फिर प्रत्येक क्रिया अर्थवान हो जाती है। फिर व्यक्ति जो भी करता है, सभी में फल और फूल लग जाते हैं। फिर व्यक्ति जो भी, जिस भाँति भी जीता है, सभी तरह के जीवन से सुगंध आनी शुरू हो जाती है। उस व्यक्ति में पुरुषोत्तम के फल लगने शुरू हो जाते हैं, पुरुषोत्तम के फूल आने शुरू हो जाते हैं।

और कृष्ण कहते हैं : 'इस रहस्यमय गोपनीय शास्त्र को मैंने तुझसे कहा।' यह रहस्यमय तो बहुत है, और गोपनीय भी है। रहस्यमय इसलिए है, कि जब तक आपने नहीं जाना, तब तक इससे बड़ी कोई पहेली नहीं हो सकती—कि पाप करते हुए कैसे निष्पाप ! संसार में खड़े हुए कैसे पुरुषोत्तम ! दुःख में पड़े हुए कैसे अमृत का धाम ! इससे ज्यादा पहेली और क्या होगी ? स्पष्ट उलझन है। इसलिए रहस्यमय।

और गोपनीय इसलिए कि इस बात को—कि तुम पुरुषोत्तम हो, कि तुम निष्पाप हो—अत्यंत गोपनीय ढंग से ही कहा जाता रहा है। क्योंकि पापी भी इसको सुन सकता है। और पापी यह मान ले सकता है कि जब वह निष्पाप है ही, तो फिर पाप करने में हर्ज क्या है ? और जब पाप करने से निष्पाप होने में कोई अंतर ही नहीं पड़ता, तो किये चले जाओ। इसलिए कृष्ण कहते हैं : गोपनीय भी, गुप्त रखने योग्य भी।

हम सब इसी तरह के लोग हैं। हम अपने मतलब का अर्थ निकाल लेते हैं। हम सोच सकते हैं : 'जब निष्पाप हैं, तो बात खत्म हो गई। अब हम चोरी करें, बेईमानी करें, डाका डालें, हत्या करें—कोई हर्ज नहीं, क्योंकि भीतर का निष्पाप तो निष्पाप ही बना रह सकता है। पुरुषोत्तम को तो कोई अंतर पड़ता नहीं है ?' इसलिए बात गोपनीय है। उन्हीं से कहने योग्य है, जो सोचने को, बदलने को तैयार हुए हों। उन्हीं को समझाने योग्य है, जो उसे ठीक से समझेंगे; जो उसे सम्यकरूपेण समझेंगे; जो उसका विपरीत अर्थ निकाल कर अपने को नष्ट न कर लेंगे।

सभी कुंजियाँ—ज्ञान की—खतरनाक हैं। उनसे आप नष्ट भी हो सकते हैं। जरा-सा गलत उपयोग, और जो अग्नि आपके जीवन को बदलती, वही अग्नि आपको भस्मिभूत भी कर दे सकती है। इसलिए कृष्ण कहते हैं : यह गोपनीय है शास्त्र, रहस्यमय है। क्योंकि जब तक तू अनुभव न कर ले, तब तक यह पहेली बना रहेगा।

और 'इसको तत्त्व से जान कर ही मनुष्य ज्ञानवान् और कृतार्थ हो जाता है।' सुन कर नहीं, समझ कर नहीं; अनुभव कर के।

आपने भी सुना। उसमें से थोड़ा कुछ सोचना, पकड़ना—थोड़ा-सा, एक रंचमात्र। और उस रंचमात्र के आसपास जीवन को ढालने की कोशिश करना। एक छोटा-सा

बिंदु भी इसमें से पकड़ कर अगर आपने जीवन को बसाने की कोशिश की, तो वह छोटा-सा बिंदु आपके पूरे जीवन को बदल देगा।

छोटी-सी चिनगारी पूरे पर्वत को जला डालती है। चिनगारी असली हो—चिनगारी जीवंत हो। 'चिनगारी' शब्द जंगल को न जला देगा—चिनगारी जलायेगी।

बहुत-सी चिनगारियाँ कृष्ण ने अर्जुन को दी ह। अगर मनःपूर्वक सहानुभूति से समझा हो, तो उसमें से कोई चिनगारी आपके मन में भी बैठ सकती है—आग बन सकती है।

लेकिन सिर्फ मुझे सुन लेने से यह नहीं होगा। करने का खयाल मन में जगायें।

जल्दी परिणाम न आयें—घबड़ायें मत। आपने शुरू किया, इतना ही काफी है। परिणाम आयेंगे; परिणाम सदा ही आते हैं। परमात्मा की तरफ उठाया गया कोई भी कदम व्यर्थ नहीं जाता।

आज इतना ही।

श्रीमद्भगवद्गीता

सोलहवाँ अध्याय

दैव असुर सम्पद विभाग योग

(आठ प्रवचन)

विषय अनुक्रम

हैं / पूजा चित की एक दशा है / बिना भगवान् का बौद्ध-धर्म / प्रेमपूर्ण हृदय हो, तो सब में प्रेमी का दर्शन / भगवान् नहीं—भगवत्ता / हमारी प्रार्थना—माँग है / हमारी प्रार्थनाएँ—नियम तोड़ने का प्रयास हैं / माँग-पूर्ति पर टिकी आस्था / प्रार्थना—अहंकार को मिटाने की कीमिया / कर्ताभाव को तोड़ने की तरकीब / अकड़ने से दुःख, झुकने से सुख / प्रार्थना की कला / धर्म अर्थात् नियम के अनुकूल चलना / निराधार भाव में कठिनाई / अकारण सुखी है संत / धर्म परम विज्ञान है / परम नियम को बाहर खोजना विज्ञान है / परम नियम को भीतर खोजना धर्म है / सत्य —निकटतम—स्वयं के भीतर है / जीवन का सभी विस्तार भीतर से बाहर की तरफ / • जीवेषणा मुक्ति की सम्यक् विधि क्या है ? / जीने की अंधी दौड़ / पौधों और पशुओं में भी गहन जीवेषणा / हम किसलिए जीना चाहते हैं ! / सुख पाने की आशा / आशा की व्यर्थता का बोध / मृत्यु की अनिवार्यता का बोध / मृत्योन्मुख जीवन कामना-योग्य नहीं है / जीवेषणा-मुक्ति द्वार है—वास्तविक जीवन का / जीवेषणा मुक्ति पर ही मृत्यु का अतिक्रमण / जीवन एक विरोधाभास है / ...नरक के तीन द्वार—काम, क्रोध और लोभ / जीवेषणा इन तीन में फैलती है / भूख से शरीर की सुरक्षा और यौन से संतति की / उपवास में काम-वासना का अस्थाई रूप से क्षीण होना / समृद्ध समाज में काम-ऊर्जा अधिक / लोभ काम-वासना का विस्तार है / वासना में बाधा आने पर क्रोध / काम से मुक्त हुए बिना—क्रोध और लोभ से मुक्ति नहीं / लोभ और क्रोध की सतत् अन्तर धारा / कंजूस आदमी—कब्जियत का शिकार / कंजूस हँसने तक से डरता है / बाँटने से आनन्द बढ़ता है / परमात्मा परम आनन्द है, क्योंकि अपने को पूरा ही बाँट दिया है / भले लोगों का विस्तार शुभ / बुरे लोगों का यात्रा न करना शुभ / केवल काम-मुक्त व्यक्ति से ही कल्याण-कार्य संभव / जो तुम देते हो, वही तुम्हें मिलता है / शास्त्र हैं सिद्ध पुरुषों के वचन / शास्त्र नक्शे हैं / नक्शों से भटकाव में कमी / आज की कठिनाई : अज्ञानी और पागल भी शास्त्र लिख रहे हैं / आज तो जीवित सद्गुरु ही सहायक / शास्त्र द्वारा निश्चित कर्तव्य—व्यक्ति के वर्णानुसार / अनेक जन्मों में क्रमबद्ध आत्मिक विकास / अर्जुन सुदृढ क्षत्रिय है—अनेक-अनेक जन्मों से / वह अचानक ब्राह्मण हो नहीं सकता / क्षत्रियत्व से ही उसके लिए मोक्ष का द्वार / युद्ध में ही समाधि / अकर्ता-भाव से युद्ध करना / तलवार चले, लेकिन

चलाने वाला कोई न हो / या परमात्मा ही तलवार चलाए / योद्धा निमित्त-मात्र रह जाय / जापान के अद्‌भुत क्षत्रिय : समुराई / गीता में अर्जुन के बहाने सभी प्रकार के व्यक्तियों के लिए मार्ग-दर्शन / गीता में अपने प्रश्न का उत्तर खोज लेना।

दैवी सम्पदा का अर्जन

पहला प्रवचन

श्री रजनीश आश्रम, पूना, रात्रि, दिनांक ३० मार्च, १९७४

अथ षोडशोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ॥ १ ॥

उसके उपरान्त श्रीकृष्ण भगवान् फिर बोले कि हे अर्जुन, दैवी संपदा जिन पुरुषों को प्राप्त है तथा जिनको आसुरी संपदा प्राप्त है, उनके लक्षण पृथक्-पृथक् कहता हूँ।

दैवी संपदा को प्राप्त हुए पुरुष के लक्षण हैं : अभय, अन्तःकरण की अच्छी प्रकार से शुद्धि, ज्ञानयोग में निरन्तर दृढ स्थिति और दान तथा इंद्रियों का दमन, यज्ञ, स्वाध्याय तथा तप एवं शरीर और इंद्रियों के सहित अन्तःकरण की सरलता।

मनुष्य एक दुविधा है—एक द्वैत। मनुष्य के पास इकहरा व्यक्तित्व नहीं है; जो भी है, बँटा हुआ और द्वन्द्व में है। जैसे प्रकाश और अँधेरा दोनों साथ-साथ मनुष्य में जुड़े हों। पशु और परमात्मा दोनों मनुष्य में साथ-साथ मौजूद हैं।

मनुष्य जैसे एक सीढ़ी है : एक छोर नरक में, और दूसरा छोर स्वर्ग में; और यात्रा दोनों ओर हो सकती है; और प्रत्येक के हाथ में है कि यात्रा कहाँ होगी, कैसे होगी, क्या अन्तिम परिणाम होगा। यात्रा के रुख को किसी भी क्षण बदला भी जा सकता है, क्योंकि सिर्फ रुख बदलने की बात है, दिशा बदलने की बात है। नरक जाने में जो शक्ति लगती है, वही शक्ति स्वर्ग जाने के लिए कारण बन जाती है। बुरे होने में जितना श्रम उठाना पड़ता है, उतने ही श्रम से भलाई भी फलित हो जाती है। शैतान होना जितना आसान या कठिन, उतना सन्त होना भी आसान या कठिन है। और एक बात ठीक से समझ लें : एक ही ऊर्जा दोनों दिशाओं में यात्रा करती है।

ऐसा मत सोचें कि बुरा आदमी तपश्चर्या नहीं करता; बुरे आदमी की भी तपश्चर्या है; उसकी भी बड़ी साधना है; उसे भी बड़ा श्रम उठाना पड़ता है। शायद भले की साधना से उसकी साधना ज्यादा दुस्तर है, क्योंकि मार्ग में दोनों को कष्ट मिलते हैं। परन्तु भले आदमी को अन्त में आनन्द भी मिलता है, जो बुरे आदमी को अन्त में नहीं मिलता है।

मार्ग दोनों बराबर चलते हैं; भला कहीं पहुँचता है, बुरा कहीं पहुँच भी नहीं पाता। एक अर्थ में बुरे आदमी की साधना और भी कठिन है। जितनी बड़ी बुराई हो, उतना ही ज्यादा दुःख है।

ऊर्जा एक, यात्रा की लम्बाई एक, समय और जीवन का व्यय एक जैसा; फिर अन्तर क्या है ? अन्तर केवल दिशा का है। इस जगह तक आने के लिए भी आप

उसी रास्ते को चुन कर आये हैं, लौटते समय भी उसी रास्ते से लौटेंगे; उतना ही फासला होगा, सिर्फ आपकी दिशा बदली होगी। यहाँ आते समय मुँह मेरी तरफ था, जाते समय पीठ मेरी तरफ होगी। बस, इतना ही फर्क होगा। यात्रा वही की वही है।

जिसे हम शुभ कहते हैं, वह परमात्मा की तरफ मुँह करके चलने वाली यात्रा है। जिसे हम अशुभ कहते हैं, वह परमात्मा की तरफ पीठ करके चलने वाली यात्रा है। वे ही पैर चलते हैं, वे ही प्राण चलते हैं; जरा भी यात्रा में भेद नहीं है।

और यात्रा के ये जो दो पथ हैं; ये अगर आपके बाहर होते, तो बहुत आसानी हो जाती। ये दोनों पथ आपके भीतर हैं। चलने वाले भी आप हैं; जिस रास्ते से चलेंगे; वह भी आप हैं; और जिस मंजिल पर पहुँचेंगे, वह भी आप हैं।

आपके भीतर मूर्ति को बनाने वाला, मूर्ति बनने वाला पत्थर, मूर्ति को निखारने वाली छेनी—सभी कुछ आप हैं, इसलिए दायित्व भी बहुत गहन है। और दोष किसी और को दिया नहीं जा सकता। जो भी फल होगा, सिवाय आपके अकेले के कोई और उसके लिए जिम्मेवार नहीं है।

इसके पहले कि हम कृष्ण के सूत्र में प्रवेश करें, दो-तीन बातें खयाल में ले लें।

पहली बात : जिन नरकों की चर्चा है—शास्त्रों में, जिन स्वर्गों का उल्लेख है, वे दो भौगोलिक स्थितियाँ नहीं हैं, मानसिक दशाएँ हैं। नरक भी प्रतीक है, स्वर्ग भी प्रतीक है।

शास्त्रों में भगवान् और शैतान की जो चर्चा है, वे केवल आपके ही दो छोर हैं। न तो शैतान कहीं खोजने से मिलेगा और न भगवान् कहीं खोजने से मिलेगा। भगवान् आपसे अलग होता, तो खोजने से मिल सकता था। शैतान भी अलग होता, तो खोजने से मिल जाता। वे दोनों ही आपकी सम्भावनाएँ हैं। चाहें तो शैतान हो सकते हैं—कोई भी रुकावट नहीं है; और चाहें तो भगवान् हो सकते हैं—कोई भी रुकावट नहीं है। और जिस दिन आप शैतान हो जाएँगे, तो कोई शैतान आपको नहीं मिलेगा; आप ही अपने से मिलेंगे। जिस दिन आप भगवान् हो जाएँगे, तो भी कोई साक्षात्कार नहीं होगा; कोई परमात्मा की प्रतिमा नहीं होगी; आप ही परमात्मा हो गये होंगे।

शैतान और भगवान् आपकी सम्भावनाएँ हैं। और जो बुरा आदमी है, उसके भीतर परमात्मा की सम्भावना उतनी ही सतेज है, जितनी भले से भले आदमी के भीतर शैतान होने की सम्भावना है। परम साधु एक क्षण में परम असाधु हो सकता है। विपरीत भी सही है : परम असाधु के लिए क्षणभर में क्रान्ति घटित हो सकती है, क्योंकि दोनों बातें दूर नहीं हैं; हमारे भीतर मौजूद हैं।

जैसे हमारे दो हाथ हैं—और जैसे हमारी दो आँखें हैं, ऐसे ही हमारे दो यात्रा पथ हैं; और उन दोनों के बीच हम हैं, हमारा फैलाव है।

दूसरी बात: शास्त्र को समझते समय ध्यान रखना जरूरी है कि शास्त्र कोई विज्ञान नहीं है; शास्त्र तो काव्य है; वहाँ गणित नहीं है; वहाँ प्रतीक हैं, उपमाएँ हैं। और अगर आप गणित की तरह शास्त्र को पकड़ लेंगे, तो भ्रान्ति होगी—भटकेंगे। काव्य की तरह समझने की कोशिश करें। इसलिए इस ग्रन्थ को श्रीमद् भगवद्गीता कहा है।

यह एक गीत है भगवान् का; यह एक काव्य है। टीकाकारों ने उसे विज्ञान समझ कर टीकाएँ की हैं।

कविता और विज्ञान में कुछ बुनियादी फर्क है। विज्ञान में तथ्यों की चर्चा होती है; शब्द बहुत महत्त्वपूर्ण नहीं होते; शब्द के पीछे तथ्य महत्त्वपूर्ण होता है। काव्य में तथ्यों की चर्चा नहीं होती; काव्य में अनुभूतियों की चर्चा होती है।

अनुभूतियाँ हाथ में पकड़ी नहीं जा सकतीं—तराजू पर तौली नहीं जा सकतीं—कसौटी पर कसी नहीं जा सकतीं।

विज्ञान के तथ्य तो प्रयोगशाला में पकड़े जा सकते हैं। कोई कहे कि 'आग जलाती है', तो हाथ डाल कर देखा जा सकता है। लेकिन 'प्रार्थना परमात्मा तक पहुँचा देती है'—अब इसका क्या करें? इस तथ्य को कैसे पकड़ें? प्रार्थना को हाथ में पकड़ने का उपाय नहीं, जाँचने का कोई उपाय नहीं, कोई कसौटी नहीं; लेकिन प्रार्थना है।

प्रार्थना काव्य का सत्य है, अनुभूति का सत्य है।

अनुभूति के सत्य के सम्बन्ध में कुछ बातें समझ लेनी जरूरी है।

एक: जब तक आपको अनुभव न हो, तब तक बात हवा में रहेगी; तब तक कोई लाख सिर पटके और समझाए, आपकी समझ में आयेगी नहीं। स्वाद मिले, तो ही कुछ बने; और स्वाद अकेली बुद्धि की बात नहीं है। स्वाद के लिए तो हृदय से—अपनी समग्रता से ही डूबना जरूरी है। जब तक कोई ऐसा न घुल जाय कि अनुभूति में और स्वयं में रत्ती भर का फासला न हो...। जब तक आप प्रार्थना न हो जायँ, तब तक प्रार्थना समझ में न आयेगी।

प्रार्थना कोई कृत्य नहीं है कि आपने कर लिया और मुक्त हुए। प्रार्थना तो जीवन की एक शैली है। एक बार जो प्रार्थना में गया—वह गया!; फिर लौटने का कोई मार्ग नहीं। और गहरे तो जाना हो सकता है, लौटने की कोई सुविधा नहीं है।

और जिस दिन प्रार्थना पूरी होगी, जिस दिन भक्ति परिपूर्ण होगी, उस दिन आप भक्त नहीं होंगे—आप भक्ति होंगे। उस दिन आप प्रार्थी नहीं होंगे—आप प्रार्थना ही होंगे। उस दिन आप ध्यानी नहीं होंगे—आप ध्यान हो गये होंगे। उस दिन

आपको योगी कहने का कोई अर्थ नहीं है, क्योंकि योग कोई क्रिया नहीं है; आप योग हो गये होंगे। योग एक अनुभव है, और अनुभव ऐसा—जहाँ अनुभोक्ता खो जाता है और एक हो जाता है।

गीता काव्य है, इसलिए एक-एक शब्द को, जैसे काव्य को हम समझते हैं—वैसे समझना होगा; कठोरता से नहीं, काटपीट से नहीं—बड़ी श्रद्धा और बड़ी सहानुभूति से—एक दुश्मन की तरह नहीं, एक प्रेमी की तरह—तो ही रहस्य खुलेगा—और तो ही आप उस रहस्य के साथ आत्मसात् हो पायेंगे।

जो भी कहा है, वे केवल प्रतीक हैं। उन प्रतीकों के पीछे बड़े लम्बे अनुभव का रहस्य है। प्रतीक को आप याद कर ले सकते हैं; गीता कंठस्थ हो सकती है; पर जो कंठ में है, उसका कोई भी मूल्य नहीं, क्योंकि कंठ शरीर का ही हिस्सा है। जब तक आत्मस्थ न हो जाय, जब तक ऐसा न हो जाय कि आप गीता के अध्येता न रह जायँ—गीता का वचन न रहे, बल्कि आपका वचन हो जाय; जब तक आपको ऐसा न लगने लगे कि कृष्ण मैं हो गया हूँ, और जो बोला जा रहा है, वह मेरी अन्तर अनुभूति की ध्वनि है, वह मैं ही हूँ, वह मेरा ही फैलाव है—तब तक गीता पराई रहेगी, तब तक दूरी रहेगी—द्वैत बना रहेगा; और जो भी समझ होगी गीता की, वह बौद्धिक होगी। उससे आप पंडित तो हो सकते हैं, लेकिन प्रज्ञावान नहीं।

अब इस सूत्र को समझने की कोशिश करें।

'उसके उपरान्त श्री कृष्ण फिर बोले कि हे अर्जुन, दैवी सम्पदा जिन पुरुषों को प्राप्त है तथा जिनको आसुरी सम्पदा प्राप्त है, उनके लक्षण पृथक्-पृथक् कहता हूँ।

'दैवी सम्पदा को प्राप्त हुए पुरुष के लक्षण हैं—अभय, अन्तःकरण की अच्छे प्रकार से शुद्धि, ज्ञान-योग में निरन्तर दृढ स्थिति, और दान तथा इन्द्रियों का दमन; यज्ञ, स्वाध्याय तथा तप एवं शरीर और इन्द्रियों के सहित अन्तःकरण की सरलता।'

कृष्ण दो सम्पदाओं की बात करते हैं; दो तरह के धन मनुष्य के पास हैं। धन का—सम्पदा का— अर्थ होता है: शक्ति। धन का अर्थ हो सकता है: जिसे हम उपयोग में ला सकें, जिससे हम कुछ खरीद सकें। जिससे हम कुछ पा सकें। धन का अर्थ है: विनिमय का माध्यम—मीडियम ऑफ इक्सचेंज। आपके खीसे में एक नोट पड़ा है। नोट एक प्रतीक है। नोट को न तो आप खा सकते हैं, न पी सकते हैं, लेकिन नोट से विनिमय हो सकता है। नोट से खाने की चीज खरीदी जा सकती है। नोट भोजन बन सकता है; नोट जहर बन सकता है। नोट से कुछ खरीदा जा सकता है। नोट एक शक्ति है—विनिमय की।

कृष्ण कहते हैं: मनुष्य के पास दो तरह की सम्पदाएँ हैं—विनिमय के दो माध्यम हैं। एक से आदमी खरीद सकता है—और शैतान हो सकता है; और एक से आदमी

खरीद सकता है—और परमात्मा हो सकता है।

और जब तक उन दोनों सम्पदाओं को हम ठीक से न समझ लें, तब तक बड़ी भ्रांति रहेगी। क्योंकि बहुत बार ऐसा होता है, कि जिस सम्पदा से केवल शैतान खरीदा जा सकता है, उससे हम परमात्मा को खरीदने निकल पड़ते हैं। तब हम धोखा खायेंगे। तब जो भी हम खरीद के लायेंगे, वह शैतान ही होगा।

जैसे, जिस धन से हम संसार में सब कुछ खरीदते—बेचते हैं, उसी धन से हम धर्म को भी खरीदने चल पड़ते हैं। तो कोई सोचता है : एक बड़ा मंदिर बनाये, धर्मशाला बनाये, दान कर दे, तो धर्म उपलब्ध हो जाय। लेकिन संसार जिससे खरीदा जाता है, उसे अध्यात्म के खरीदने का कोई उपाय नहीं। उनके मार्ग ही अलग हैं, बाजार अलग हैं। जो धन संसार में चलता है, वह धन अध्यात्म में नहीं चलता; उस जगत् से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है।

कृष्ण कहते हैं—दो सम्पदाएँ हैं। एक को वे कहते हैं : आसुरी सम्पदा; और एक को दे वे कहते हैं : दैवी सम्पदा। दैवी सम्पदा से अर्थ है : जिससे दिव्यता खरीदी जा सके। तो ठीक से पहचान लेना जरूरी है कि मैं जिस सम्पदा का उपयोग कर रहा हूँ, उससे दिव्यता खरीदी भी जा सकती है? नहीं तो मैं श्रम भी करूँगा, भटकूँगा भी; समय भी व्यय होगा और कहीं पहुँचूंगा भी नहीं।

इन दोनों का विभाजन बहुत जरूरी है।

बहुत बार आप आसुरी सम्पदा से दिव्यता को खरीदने निकलते हैं; और न केवल आपको भ्रान्ति हो सकती है, आपको देखने वालों तक को भ्रान्ति हो सकती है।

इधर मेरा अनुभव है कि अगर कोई क्रोधी व्यक्ति है, तो उसके क्रोध का उपयोग बड़ी शीघ्रता से साधना में किया जा सकता है। क्रोधी व्यक्ति जल्दी से साधक हो जाता है; क्योंकि क्रोध का लक्षण है : नष्ट करना, तोड़ना, कब्जा करना, मालकियत जमाना। क्रोध दूसरे पर निकलता है, अपने पर भी निकल सकता है; इससे कोई फर्क नहीं पड़ता है। आप दूसरों का सिर तोड़ सकते हैं, अपना सिर भी दिवाल में मार सकते हैं।

क्रोधी व्यक्ति खुद को सताने में लग जाता है। उसे वह साधना समझता है। तो काँटों पर सोए हुए लोग हैं; धूप में खड़े हुए लोग हैं; उपवास करके भूख से मरते हुए लोग हैं। और आपको भी लगेगा कि बड़ी तपश्चर्या हो रही है। तपश्चर्या निश्चित हो रही है, लेकिन जानना जरूरी है कि तपश्चर्या के पीछे सम्पदा कौन-सी है? नहीं तो हम जानते हैं—दुर्वासा और उस तरह के ऋषियों को; उनकी तपश्चर्या बड़ी थी, फिर भी तपश्चर्या की मौलिक सम्पदा आसुरी रही होगी—तप के पीछे जो अग्नि है, वह आसुरी रही होगी। इसलिए तप अभिशाप बन गया, तप हिंसा बन गया!

अक्सर दिखाई पड़ेगा—तपस्वी की आँखों में—एक तरह का अहंकार; तपस्वी में एक तरह की अकड़, न झुकने का भाव, स्वयं को 'कुछ' समझने की वृत्ति। तप तो विनम्र करेगा, तप तो मिटा देगा, तप तो सारी अकड़ को जला देगा, लेकिन दिखाई पड़ता है कि तपस्वी की अकड़ बढ़ती है, तो निश्चित ही सम्पदा आसुरी उपयोग की जा रही है।

एक आदमी धन इकट्ठा करता है, तो पागल की तरह इकट्ठा करता है, जैसे जीवन धन के इकट्ठा करने को है। फिर यह भी हो सकता है कि धन के इस लोभी को किसी दिन त्याग का खयाल आ जाय। त्याग के खयाल का एक ही अर्थ होगा की इसको त्याग का लोभ पकड़ जाय। यह कहीं शास्त्र में पढ़ ले—किसी गुरु से सुन ले—कि जब तक धन न छोड़ेगा, तब तक स्वर्ग न मिलेगा। तो यह सौदा कर सकता है, यह धन छोड़ सकता है; लेकिन छोड़ेगा लोभ के कारण ही। तो यह सारे धन को लात मार कर सड़क पर नग्न भिखारी की तरह खड़ा हो जाय, लेकिन अगर धन इसने लोभ के लिए छोड़ा है—स्वर्ग पाने को छोड़ा है, तो जिस सम्पदा का यह उपयोग कर रहा है, वह आसुरी है। आसुरी सम्पदा से स्वर्ग का कोई सम्बन्ध नहीं है—इसे ठीक से समझ लें।

आपकी अच्छी से अच्छी चर्या के पीछे भी आसुरी सम्पदा हो सकती है, तो सब विकृत हो जाएगा। तो आप महल तो बनायेंगे, लेकिन रेत पर उसकी नीव होगी, और वह महल गिरेगा और आपको भी गिरायेगा और डुबायेगा।

मेरा निरन्तर अनुभव है कि गलत तरह का आदमी बड़ी शीघ्रता से अच्छे काम करने में लग सकता है। जो पागलपन गलत के करने में था, वही अच्छे में लग सकता है, लेकिन उसकी मौलिक सम्पदा नहीं बदलती। उसका क्रोध, उसका लोभ, उसका मान—नहीं बदलता; नया नियोजन हो जाता है। मौलिक स्वर पुराना ही रहता है।

इसलिए इसके पहले कि साधक यात्रा पर निकले, उसे ठीक से पहचान लेना जरूरी है कि क्या आसुरी है, क्या दैवी है। स्पष्ट विभाजन भीतर साफ हो, तो यात्रा बड़ी सुगम हो जाती है। क्योंकि गलत साधन से ठीक साध्य तक पहुँचने का कोई उपाय नहीं है। अकेली आपकी मरजी काफी नहीं है; आकांक्षा काफी नहीं है, प्रार्थना काफी नहीं है; ठीक साधन ही ठीक साध्य तक पहुँचाएगा। और ठीक साधन का अर्थ है: दैवी सम्पदा का उपयोग।

दोनों सम्पदाएँ प्रत्येक के पास हैं; उन्हें कमाना नहीं पड़ता, उन्हें हम लेकर ही पैदा होते हैं। जन्म के साथ ही हम दोनों सम्पदाएँ ले कर पैदा होते हैं। और प्रत्येक व्यक्ति बराबर ले कर पैदा होता है; उस अर्थ में बिलकुल साम्यवाद है, उस अर्थ में जरा भी भेद नहीं है। गरीब से गरीब, अमीर से अमीर, बुद्धिमान या मूढ, बराबर

ले कर पैदा होते हैं। प्रकृति सबको समान देती है। और अगर इस जगत् में इतने भेद दिखाई पड़ते हैं, तो हम उनका कैसा उपयोग करते हैं, इस पर वे भेद निर्भर करते हैं।

अगर इस जगत् में साधु दिखाई पड़ता है और दुष्ट दिखाई पड़ता है, तो प्रकृति किसी को साधु नहीं बनाती है और न दुष्ट बनाती है। परमात्मा बिलकुल कोरा चेक ही आपको देता है; उस पर कुछ आँकड़े लिखे नहीं होते। लिखना हम करते हैं; और हम जो लिखते हैं, वे हम बन जाते हैं।

ध्यान रहे—प्रत्येक व्यक्ति बराबर सम्पदा लेकर पैदा होता है—दोनों सम्पदाएँ बराबर लेकर पैदा होता है, इसलिए बच्चे इतने भोले मालूम पड़ते हैं। बच्चे के भोलेपन का राज यही है कि वह दोनों सम्पदाएँ बराबर लेकर पैदा होता है। सम्पदा बराबर होने के कारण न तो वह साधु होता है, न असाधु होता है। दोनों सम्पदाएँ संतुलित होती हैं। इसलिए बच्चा भोला होता है।

बच्चे के भोलेपन में और साधु के भोलेपन में बड़ा फर्क है। बच्चे का भोलापन अज्ञान से भरा हुआ है, साधु का भोलापन ज्ञान से भरा हुआ है। साधु का भोलापन दैवी सम्पदा का पूरा उपयोग है। बच्चे का भोलापन अनुपयोग है; अभी उसने कुछ उपयोग किया नहीं; अभी स्लेट खाली है; उस पर दोनों अक्षर लिखे जा सकते हैं, दोनों की क्षमता लेकर वह पैदा हुआ है।

इसलिए परम साधु की आँखें बच्चों जैसी हो जाती हैं। एक पुनर्जन्म हो जाता है। फिर से सब सरल हो जाता है। लेकिन यह सरलता बड़ी गहरी है; बच्चे की सरलता बड़ी उथली है।

बच्चे की सरलता दो विपरीत शक्तियों का संतुलन है; दोनों बराबर मात्रा में हैं; और अभी यात्रा नहीं हुई है। जल्दी ही यात्रा शुरू होगी, और बच्चा एक तरफ झुकना शुरू हो जाएगा। जैसे-जैसे झुकेगा, वैसे-वैसे जटिलता बढ़ेगी, जैसे-जैसे झुकेगा; वैसे-वैसे भीतर कलह स्वभावतः टूटेगा, निर्मित होगा; दो हिस्से होने शुरू हो जाएँगे और जो भी फिर बच्चा करेगा—दो आवाजें होंगी। चोरी करेगा, तो दो आवाजें होंगी; किसी को दान देगा, तो दो आवाजें होंगी। दोनों सम्पदाएँ पुकारेंगी।

हर क्षण, जब भी आप कुछ निर्णय लेते हैं, तो दोनों शक्तियाँ आवाज देती हैं—कि मेरी तरफ। चोरी करने जायँ, तो कोई भीतर से कहता है : 'बुरा है; मत करो।' और प्रार्थना करने जायँ, तो कोई भीतर से कहता है : 'क्यों फिजूल समय खराब कर रहे हो; इतनी देर में कुछ कमा लेते!' अच्छा करें, तो भीतर से कोई कहता है : 'रुको।' बुरा करें, तो भीतर से कोई कहता है : 'रुको।' भीतर दो आवाजें हैं।

बच्चे की दोनों आवाजें अभी शान्त हैं। अभी बच्चे ने चुनाव नहीं किया है। इसलिए बच्चा निर्दोष है। लेकिन यह निर्दोषता टिकेगी नहीं; टूटेगी ही। क्योंकि

आज नहीं कल ये आवाजें उठेंगी। आज नहीं कल बच्चा संसार में जाएगा—विकल्प खड़े होंगे, चुनाव करना पड़ेगा। सलिए बच्चा तो विकृत होगा।

साधु या परम साधु का अर्थ यह है कि वह सारी विकृतियों को पार करके संतुलन को उपलब्ध हुआ है। यह संतुलन किसी अज्ञान के कारण नहीं है; यह संतुलन परिपूर्ण जानकारी और परिपूर्ण होश में साधा गया है।

बच्चा भोला है—बिना अपने कारण। यह भोलापन कोई उपलब्धि नहीं है। इसलिए सभी बच्चे भोले हैं।

यह जानकर हैरानी होगी कि सभी बच्चे प्यारे लगते हैं; कुरूप बच्चा वस्तुतः होता ही नहीं। जो भी बच्चा है, प्यारा लगता है। लेकिन सारे प्यारे बच्चे फिर कहाँ खो जाते हैं! मुश्किल से कोई सुन्दर आदमी बाद में बचता है। सभी बच्चे सुन्दर पैदा होते हैं; बच्चों को देख कर सभी को सौन्दर्य का भाव होता है। लेकिन फिर यही सारे बच्चे बड़े होते हैं, फिर बड़ी कुरूपता प्रगट होती है; शायद ही कभी कोई बच पाता है, जो बाद में भी सुन्दर होता है। कहाँ खो जाता है यह सारा सौंदर्य?

बच्चे का सौंदर्य भी उसी सन्तुलन के कारण था। जैसे ही चुनाव हुआ, सौंदर्य खोना शुरू हो जाता है।

फिर परम संत को एक सौन्दर्य उपलब्ध होता है, जिसके खोने का कोई उपाय नहीं; क्योंकि वह उपलब्धि है। वह स्वयं पाई गई बात है—वह प्रकृति का दान नहीं, अपनी अर्जित क्षमता है। और जो आपने कमाया है—वही केवल आपका है; जो आपको मिला है, वह आपका नहीं है।

ये दोनों सम्पदाएँ बराबर प्रत्येक व्यक्ति के भीतर हैं।

'उसके उपरान्त कृष्ण बोले कि हे अर्जुन, दैवी सम्पदा जिन पुरुषों को प्राप्त है, तथा जिनको आसुरी सम्पदा प्राप्त है, उनके लक्षण पृथक्-पृथक् कहता हूँ।' लक्षण इसीलिए ताकि आप पहचान सकें, ताकि अर्जुन पहचान सके। और यह पहचान अत्यन्त बुनियादी है।

दैवी सम्पदा को प्राप्त हुए पुरुष के लक्षण हैं : अभय—फियरलेसनेस...। 'अभय' शब्द सुनते ही हमें जो खयाल उठता है, वह उठता है—निर्भयता का। लेकिन अभय निर्भयता नहीं है, क्योंकि निर्भय तो आसुरी सम्पदा वाले लोग भी होते हैं; अकसर ज्यादा निर्भय होते हैं। अपराधी निर्भय होते हैं, नहीं तो अपराध करना मुश्किल था। और एक दफा जेल से लौटते हैं, तो भी भयभीत नहीं होते; दुबारा और तैयारी करके अपराध में उतरते हैं।

मनोवैज्ञानिकों का कहना है कि कारागृह से तो किसी अपराधी को कभी ठीक किया ही नहीं जा सकता, क्योंकि उसकी निर्भयता और बढ़ती है। उसने यह भी देख लिया;

वह इससे भी गुजर गया; यह तकलीफ भी बहुत ज़्यादा नहीं है। यह भी सही जा सकती है। इसलिए जो आदमी एक बार कारागृह जाता है, वह फिर बार-बार जाता है!

दुनिया में जितने कारागृह बढ़ते हैं, उतने अपराधी बढ़ते चले जाते हैं। जितनी ज़्यादा सजा हम देते हैं, उतना अपराधी निर्भय होता है। यह थोड़ा समझ लेने जैसा है।

बहुत से लोग इसीलिए अपराधी नहीं हैं, क्योंकि उनमें निर्भयता की कमी है; और कोई कारण नहीं है। अपराध तो वे भी करना चाहते हैं; भयभीत हैं।

चोरी आप भी करना चाहते हैं, लेकिन भय पकड़ता है। चोरी के लोभ से ज़्यादा चोरी का जो परिणाम हो सकता है—कारागृह हो सकता है, बदनामी होगी, प्रतिष्ठा खो जाएगी, पकड़े जाएँगे—वह भय ज्यादा मजबूत है। लोभ से भय बड़ा है; वही आप पर अंकुश है। हत्या आप भी करना चाहते हैं; कई बार मन में सोचते हैं, सपने देखते हैं; कई बार तो हत्या मन में कर ही लेते हैं। ऐसा आदमी खोजना मुश्किल है, जिसने जीवन में दो-चार बार मन में किसी की हत्या न कर दी हो।

मनसविद कहते हैं कि हर आदमी अपने लम्बे जीवन में—अगर वह सौ साल जीये तो—कम से कम दस बार खुद की आत्म-हत्या करने का विचार करता है—औसत। करते नहीं हैं आप, उसका कारण यह नहीं है कि आप करना नहीं चाहते हैं। उसका कारण सिर्फ इतना है कि उतना निर्भय भाव नहीं जुटा पाते हैं। भय पकड़े रहता है।

मैंने सुना है कि मुल्ला नसरुद्दीन बड़ा नाराज था पत्नी से, और कलह कुछ ज़्यादा ही बढ़ गई, तो आधी रात उठा और उसने कहा, 'बहुत हो चुका; जितना सह सकता था, सह लिया। हर चीज की सीमा आती है; और सीमा आ गई। मैं मरने जा रहा हूँ—इसी समय—झील में डूब के।' दरवाजा खोल कर बाहर निकला। पत्नी ने कहा, 'लेकिन नसरुद्दीन, तैरना तो तुम जानते ही नहीं!' तो वह वापस लौट आया; उदास बैठ गया। उसने कहा, 'तो फिर मुझे कोई और उपाय सोचना पड़ेगा।'

वे मरने जा रहे थे झील में, लेकिन तैरना नहीं आता तो कोई और उपाय सोचना पड़ेगा!

करना आप भी वही चाहते हैं, जो अपराधी करता है, लेकिन फर्क केवल निर्भयता का है।

कृष्ण अभय को दैवी संपदा का पहला लक्षण गिनाते हैं; और सिर्फ कृष्ण ही नहीं महावीर भी अभय को बुनियादी आधार बनाते हैं। बुद्ध भी।

महावीर ने कहा है कि अहिंसक तो कोई हो ही नहीं सकता, जब तक अभय न हो, क्योंकि भय से हिंसा पैदा होती है।

लेकिन ध्यान रहे, हिंसक निर्भय हो सकता है, होता है। आखिर युद्ध के मैदान में जाता हुआ सिपाही निर्भय तो होता ही है, लेकिन हिंसक होता है। और महावीर कहते हैं : अभय का अन्तिम परिणाम अहिंसा है; तो हमें निर्भयता और अभय में थोड़ा फर्क समझ लेना चाहिए।

निर्भय का अर्थ है, जिसके भीतर भय तो है, लेकिन उस भय से जो भयभीत नहीं होता, और टिका रहता है। कायर है—उसके भीतर भी भय है, लेकिन वह भय से प्रभावित होकर भाग खड़ा होता है। कायर में और बहादुर में फर्क भय का नहीं है, भय दोनों में है। बहादुर भय के बावजूद भी खड़ा रहता है। कायर भय के पकड़ते ही भाग खड़ा होता है। भय दोनों के भीतर है, लेकिन कायर भय को स्वीकार कर लेता है। और जिसको हम बहादुर कहते हैं, वह अस्वीकार करता है, लेकिन भय भीतर मौजूद है।

निर्भयता का अर्थ है, भय तो भीतर है, लेकिन हम उसे स्वीकार नहीं करते; हम उसके विपरीत खड़े हैं। अभय का अर्थ है : जिसके भीतर भय नहीं है। इसलिए अभय को उपलब्ध व्यक्ति न तो कायर होता है, और न बहादुर होता है; वह दोनों नहीं हो सकता। दोनों के लिए भय का होना एकदम जरूरी है। भय हो, तो आप कायर हो सकते हैं, या बहादुर हो सकते हैं। भय न हो, तो आप अभय को उपलब्ध होते हैं।

अभय को कृष्ण कहते हैं, पहला लक्षण, दैवी सम्पदा का। क्यों? अगर अभय दैवी सम्पदा का पहला लक्षण है, तो भय आसुरी सम्पदा का पहला लक्षण हो गया।

भय किस बात का है? और जब आप निर्भयता भी दिखाते हैं, तो किस बात की दिखाते हैं? थोड़ा-सा ही सोचेंगे तो पता चल जाएगा कि मृत्यु का भय है। बहाना कोई भी हो, ऊपर से कुछ भी हो, लेकिन भीतर मृत्यु का भय है : मैं मिट न जाऊँ, मैं समाप्त न हो जाऊँ। दूसरी चीजों में भी—जिनमें मृत्यु प्रत्यक्ष नहीं है, वहाँ भी गहरे में मृत्यु ही होती है। आपका धन कोई छीन ले, तो भय पकड़ता है। मकान जल जाय, तो भय पकड़ता है। पद छिन जाय, तो भय पकड़ता है। लेकिन वह भय भी मृत्यु के कारण है; क्योंकि पद के कारण जीवित होने में सुविधा थी; पद सहारा था। धन पास में था; तो सुरक्षा थी। धन पास में नहीं, तो असुरक्षा हो गई। मकान था, तो साया था; मकान जल गया, तो खुले आकाश के नीचे खड़े हो गये।

जिन-जिन चीजों के छिनने से भय होता है, उन-उन चीजों के छिनने से मौत करीब मालूम पड़ती है। और जिन-जिन चीजों को हम पकड़ रखना चाहते हैं, वे वे ही चीजें हैं, जिनके कारण मौत और हमारे बीच में परदा हो जाता है। धन

का ढेर लगा हो, तो हमारी आँखों में धन दिखाई पड़ता है, मौत उस पार छूट जाती है।

प्रतिष्ठा हो, पद हो, तो शक्ति होती है पास में, हम लड़ सकते हैं। बीमारी आये, मौत आये, तो कुछ उपाय किया जा सकता है। पास कुछ भी न हो, तो कोई उपाय नहीं है, हम असुरक्षित मौत के हाथ में पड़ जाते हैं।

भय तो मृत्यु का है, सभी भय मृत्यु से उद्भूत होता है। इसलिए उसको हम बहादुर कहते हैं, जो मौत के सामने भी अकड़ कर खड़ा रहता है। कोई बन्दूक लेकर आपकी छाती पर खड़ा हो और आप भाग खड़े हुए, तो लोग कायर कहते हैं; 'पीठ दिखा दी!'

पश्चिम में युवकों का आन्दोलन है—हिप्पी। 'हिप्पी' शब्द बहुत महत्त्वपूर्ण है। हिप्पी शब्द का वही मतलब होता है, जो रणछोड़दास का होता है—जिसने हिप दिखा दिया, जिसने पीठ दिखा दी, जो भाग खड़ा हुआ। जो युवक हिप्पी कहे जा रहे हैं पश्चिम में, उनका एक फलसफा है, उनका एक दर्शन है। वे कहते हैं : 'लड़ना फिजूल है और लड़ना किस लिए? और लड़ने से मिलता क्या है?' इसलिए पीठ दिखाई है जानबूझ कर। ये जो बहादुर और कायर हैं, इन दोनों की समस्या एक है। कायर पीठ दिखा कर भाग जाता है। बहादुर पीठ नहीं दिखाता; खड़ा रहता है, चाहे मिट जाय; लेकिन दोनों के भीतर भय है।

अभय उस व्यक्ति को हम कहेंगे, जिसके भीतर भय नहीं है। लेकिन यह तभी हो सकता है, जब मृत्यु के सम्बन्ध में हमारी समस्या हल हो गई हो। जब हमें किसी भाँति यह प्रतीति हो गई हो कि मृत्यु है ही नहीं है; जब हमने किसी अनुभव से यह रहस्य पहचान लिया हो कि भीतर अमृत छिपा है—कि मैं मरण-धर्मा नहीं हूँ।

आत्मभाव जगा हो, तो अभय पैदा होगा। इसलिए अभय आत्मा का नाम है। जिसने आत्मा को जरा-सा भी पहचाना, उसके जीवन में अभय हो जाएगा।

इसे कृष्ण पहला आधार बना देते हैं। क्यों सत्य की यात्रा पर, ब्रह्म की यात्रा पर, दिव्यता के आरोहरण में अभय पहला आधार है; क्यों? अभय की सम्भावना बनती है—अमृत की थोड़ी-सी प्रतीति हो तो। और अमृत की प्रतीति हो, तो आदमी छलाँग ले सकता है ब्रह्म में; नहीं तो छलाँग नहीं ले सकता। अगर भीतर डर समाया हो कि मैं मिट तो न जाऊँगा, तो ब्रह्म तो मृत्यु से भी ज़्यादा भयानक है, क्योंकि मृत्यु में तो शायद शरीर ही मिटता होगा—आत्मा बच जाती होगी। ब्रह्म में आत्मा भी नहीं बचेगी। वह महामृत्यु है; उस विराट में तो मैं ऐसे खो जाऊँगा, जैसे बूँद सागर में खो जाती है, कोई नाम-रूप नहीं बचेगा।

तो जिसको हम मृत्यु कहते हैं, यह तो अधूरी मृत्यु है; आत्मा बच जाएगी, नये शरीर ग्रहण करेगी, नई यात्राओं पर निकलेगी; लेकिन जो व्यक्ति ब्रह्म-ज्ञान को उपलब्ध हुआ, फिर उसकी कोई यात्रा नहीं है, फिर वह महाशून्य में खो गया। इसलिए हम कहते हैं; परमज्ञानी वापस नहीं आता।

बुद्ध से लोग बार-बार पूछते हैं, कि मृत्यु के बाद, बुद्धत्व को प्राप्त व्यक्ति का क्या होता है? तो बुद्ध कहते हैं, 'जैसे दीये की ज्योति को कोई फूँक कर बुझा दे, तो फिर तुम पूछते हो या नहीं कि दीये की ज्योति का क्या हुआ, कहाँ गई? ऐसा ही बुद्ध पुरुष खो जाता है; जैसे दीये को कोई फूँक कर बुझ दे, ऐसे ही बुद्ध पुरुष खो जाता है।

तो बुद्धत्व महामृत्यु हुई। हमारी ज्योति तो थोड़ी बहुत बचेगी, नये दीये में जलेगी; और नये दीये खोजेगी, नये घर—नये शरीर ग्रहण करेगी; लेकिन बुद्ध की ज्योति? दीया भी मिट गया, ज्योति भी खो गई।

कृष्ण अभय को पहला आधार बनाते हैं—दैवी सम्पदा का, क्यों दिव्यता में जिसे भी प्रवेश करना हो, उसे अपने को पूरी तरह मिटाने का साहस चाहिए। कौन अपने को पूरा मिटा सकता है?—वही जिसको पूरा भरोसा है कि मिटने का कोई उपाय नहीं है। यह बात विपरीत मालूम पड़ेगी, विरोधाभासी लगेगी।

वही व्यक्ति अपने को मिटा सकता है, जिसे भरोसा है कि मिटने का कोई उपाय नहीं है; वह सहजता से छलाँग ले सकता है। वह अग्नि में उतर सकता है, क्योंकि वह जानता है कि अग्नि जलायेगी नहीं। वह शस्त्रों से छिद सकता है, क्योंकि वह जानता है कि शस्त्र छेदेंगे नहीं। इस आस्था पर ही अभय विकसित होगा।

'अभय, अन्तःकरण की अच्छी प्रकार से शुद्धि...।' अन्तःकरण के साथ बड़ी भ्रांतियाँ जुड़ी हैं। समाज ने अन्तःकरण का बड़ा उपयोग किया है। समाज की पूरी धारणा ही अन्तःकरण के शोषण पर निर्भर है। समाज सिखा देता है बचपन से ही हर बच्चे को—क्या करने योग्य नहीं है। और इस बात को इतने जोर से स्थापित करता है, हृदय में इस बात को इतनी बार पुनरुक्त किया जाता है कि कण्डिशनिंग हो जाती है—संस्कारबद्ध धारणा बैठ जाती है। फिर जब भी आप उसके विपरीत जाने लगते हैं, तो यह समाज का सिखाया हुआ अन्तःकरण फौरन विरोध खड़ा करता है। इसलिए हर समाज के पास अलग-अलग तरह के अन्तःकरण हैं।

अगर आप एक शाकाहारी घर में पैदा हुए, तो उस घर ने आपको शाकाहारी का अन्तःकरण दिया। अगर मांस आपके सामने आ जाय, तो आप सिर्फ ग्लानि से भरेंगे। आपकी जीभ से पानी और रस नहीं बहेगा, सिर्फ ग्लानि होगी; वमन हो सकता है, उल्टी आ सकती है। यही मांस—किसी दूसरे के सामने, जो मांसाहारी घर में पैदा हुआ है—बड़े स्वाद को जगा सकता है। इसी मांस को देख कर उसकी

सोई हुई भूख जग सकती है; भूख न भी हो, तो भी भूख लग सकती है। एक दूसरे शाकाहारी घर में पैदा व्यक्ति को इसी मांस को देख कर बड़ी जुगुप्सा, बड़ी घृणा पैदा होती है।

निश्चित ही यह अन्तःकरण असली अन्तःकरण नहीं है। यह अन्तःकरण सिखाया हुआ, शिक्षित अन्तःकरण है। यह समाज द्वारा उपयोग किया हुआ है। गलत और सही का सवाल नहीं है। समाज को एक बात समझ में आ गई, कि अगर व्यक्तियों को नियंत्रण में रखना हो, तो इसके पहले कि उनका वास्तविक अंतःकरण बोलना शुरू हो, हमें जो-जो धारणाएँ डालनी हों, उनमें डाल देनी चाहिए।

मनोवैज्ञानिक कहते हैं कि सात वर्ष की उम्र तक आपका आधा मस्तिष्क निर्मित हो जाता है; आधा—पचास प्रतिशत—सात वर्ष में। फिर पूरी जिन्दगी में शेष पचास प्रतिशत निर्मित होता है। और यह जो पचास प्रतिशत सात वर्ष में निर्मित होता है, यह आधार है। इसके विपरीत जाना कठिन है। फिर पूरी जिन्दगी इसके अनुकूल ही ले जाना आसान है। और अगर इसके विपरीत आप ले गये, तो बड़ी दुविधा, और बड़ी कलह में जिन्दगी बीतेगी। इसलिए सभी तथाकथित धार्मिक संप्रदाय बच्चों का शीघ्रता से शोषण करने को उत्सुक होते हैं। जो धर्म भी अपने बच्चों को धार्मिक शिक्षा नहीं देता, फिर बाद में आशा नहीं रख सकता। सात वर्ष के पहले ही धारणाएँ प्रविष्ट हो जानी चाहिए; धारणाएँ मजबूत भीतर बैठे जायँ, तो वास्तविक अंतःकरण की आवाज सुनाई ही नहीं पड़ती; समाज के द्वारा दिया गया अंतःकरण ही बीच में बोलता रहता है।

कृष्ण जब कहते है : 'अंतःकरण की अच्छे प्रकार से शुद्धि', तो वे यही कह रहे हैं कि समाज ने जो धारणाएँ दी हैं, उनसे जब तक छुटकारा न हो अंतःकरण का, तब तक वास्तविक आपकी आत्मा न बोल पायेगी। हिन्दू बोल सकता है भीतर, मुसलमान बोलेगा, जैन बोलेगा, ईसाई बोलेगा, आस्तिक-नास्तिक बोलेगा, लेकिन आप जो लेकर पैदा हुए हैं, वह जो दैवी स्वर आपके भीतर है, वह छिपा रहेगा। उसके प्रगट होने के लिए अंतःकरण की सारी परतें अलग हो जानी चाहिए।

क्यों कृष्ण अर्जुन से ऐसा कह रहे है—क्योंकि अर्जुन जो ज्ञान की बातें कर रहा है, वे उसके अन्तःकरण से नहीं आ रही हैं; वे सामाजिक धारणाएँ हैं। वह कह रहा है कि यह मेरे गुरु हैं, तो जिस गुरु के मैंने चरण छुए, उसकी मैं हत्या कैसे करूँ! कि ये मेरे सगे भाई, कि मेरे बन्धु-बान्धव, ये मेरे मित्र, प्रियजन हैं। यह जो उस तरफ खड़े हैं युद्ध में, इसमें अनेक मेरे सम्बन्धियों के सम्बन्धी या सम्बन्धी हैं। भीष्म पितामह हैं उस तरफ, वे मेरे आदर योग्य हैं। इन सबके साथ मैं कैसे युद्ध करूँ? ये मेरे अपने हैं, ये सगे-सम्बधी हैं।

कौन आपका अपना है?

जीसस एक भीड़ में खड़े थे और उन्होंने एक बड़ा कठोर वचन उपयोग किया है। जिसकी निरन्तर आलोचना की गई है। क्योंकि जीसस जैसे व्यक्ति से ऐसे शब्द की आशा नहीं थी। किसी ने भीड़ में आवाज दी कि 'जीसस, तुम्हारी माँ मरियम तुमसे मिलने बाहर आई है।' तो जीसस ने कहा, 'मेरी न कोई माँ है, न मेरा कोई पिता है।'

कठोर वचन हैं। और जीसस जैसे अत्यन्त करुणावान, महा करुणावान व्यक्ति से ऐसे बात की आशा नहीं है। निश्चित ही उनका प्रयोजन कुछ भिन्न है।

जीसस यह कह रहे हैं कि 'कौन माँ है, कौन पिता है!' जहाँ तक शुद्ध अन्तःकरण का सवाल है, न कोई पिता है, न कोई माता है; न कोई भाई है, न कोई बन्धु है। जहाँ तक समाज के द्वारा दिये गये अन्तःकरण का सम्बन्ध है, माँ है, पिता है, भाई-बन्धु हैं। ये सब सिखावन हैं, ये सब संस्कार हैं।

अर्जुन कह रहा है : 'यह बुरा है;' और कृष्ण कह रहे हैं कि 'यह तेरे अन्तःकरण की आवाज नहीं; तुझे जो-जो बुरा बताया गया है, उसे-उसे तू बुरा कह रहा है। यह तेरी अपनी प्रतीति नहीं है, तेरी अंतःप्रज्ञा नहीं है, तेरा बोध नहीं है। यह तू नहीं कह रहा है, तेरे भीतर से समाज की धारणाएँ बोल रही हैं।' और जब तक समाज की धारणाओं को हम हटा न सकें, तब तक शुद्ध अन्तःकरण का कोई पता नहीं चलता।

शुद्ध अन्तःकरण का मतलब यह नहीं है कि भले आदमी का अन्तःकरण। क्योंकि जिसको हम भला आदमी कहते हैं, वह तो समाज की ही मान्यताओं को मान कर चलनेवाला आदमी है; उसको हम भला कहते हैं। बुरा हम उसको कहते हैं, जो समाज की मान्यताओं को नहीं मानता। मगर यह धारणा रोज बदल जाती है।

जीसस जिस जमाने में पैदा हुए, लोगों ने उन्हें बुरा कहा, क्योंकि जिस यहूदी समाज में वे पैदा हुए, उसकी मान्यताएँ उन्होंने नहीं मानीं; तो जीसस को लोगों ने आवारा, उपद्रवी, अपराधी समझा, इसलिए यहूदियों ने जीसस को सूली लगाई। सूली लगाते वक्त उन्होंने खयाल रखा कि जीसस को अपराधियों के साथ सूली लगाई जाय। तो दोनों तरफ दो चोरों को सूली पर लटकाया, बीच में जीसस को, ताकि समाज समझ ले कि एक अपराधी की तरह हम जीसस को सजा दे रहे हैं। इस आदमी ने समाज की धारणाओं का विरोध किया, यह बुरा आदमी है। लेकिन फिर जीसस के मानने वाले लोगों का समाज धीरे-धीरे निर्मित हुआ और जीसस उनके लिए सबसे अच्छे आदमी हो गये; तो जीसस से कोई अच्छा आदमी हुआ ही नहीं ईसाइयों के लिए। बड़ी कठिनाई है।

यहूदियों के लिए यह आदमी बुरा है, सूली लगाने योग्य है। ईसाइयों के लिए यह आदमी भला है, परमात्मा का एकलौता बेटा है, पूजने योग्य है। यही एक मात्र सहारा है—मुक्ति का। यही मार्ग है, द्वार है; इसके बिना कोई द्वार नहीं है। इतनी भिन्न धारणा!

अन्तःकरण का सवाल नहीं है। यहूदी के पास एक सामाजिक धारणा है, उससे तौलता है। ईसाई के पास दूसरी सामाजिक धारणा है, उससे तौलता है। इस मुल्क में ऐसा निरन्तर हुआ है; हर मुल्क में होगा—हर मुल्क में होता रहा है। जो आज हमें बुरा दिखाई पड़ता है, कल भला हो सकता है। समाज की धारणा बदल जाय, तो मापदण्ड बदल जाता है। जो आज हमें अच्छा लगता है, वह कल बुरा हो सकता है। धारणा बदल जाय, तराजू बदल जाता है, तौलने के उपाय बदल जाते हैं।

अन्तःकरण की शुद्धि से अर्थ अच्छे आदमी का अन्तःकरण नहीं है। अन्तःकरण की शुद्धि का अर्थ है, शुद्ध अन्तःकरण। शुद्ध अन्तःकरण का अर्थ 'अच्छा' नहीं है। शुद्ध अन्तःकरण का अर्थ है: जिसमें कुछ और मिलाया हुआ नहीं है। और ध्यान रहे, दो शुद्ध चीजें भी मिल जायँ तो अशुद्धि पैदा होती है। शुद्ध पानी और शुद्ध दूध को मिला दें, तो दोहरी शुद्धि पैदा नहीं होती। पानी भी अशुद्ध हो जाता है, दूध भी अशुद्ध हो जाता है।

अशुद्ध का मतलब है: कुछ अन्य मिला दिया गया, कुछ विजातीय मिला दिया गया। शुद्ध का अर्थ है: कुछ भी मिलाया नहीं, खालिस—जैसा था वैसा। जैसा अन्तःकरण हम लेकर पैदा हुए हैं, जो किसी ने हमें दिया नहीं, समाज ने जिसे निर्मित नहीं किया, जो हमारी भीतरी सम्पदा है, उस शुद्ध अन्तःकरण को—कृष्ण कहते हैं—अगर हम निखार लें, समाज की धारणाओं के रूखे-सूखे पत्ते अलग कर दें, भीतर छिपी पानी की धार नजर में आ जाय, तो यह दैवी सम्पदा का दूसरा लक्षण है। फिर उसके सहारे—उस अन्तःकरण के सहारे दिव्यता तक पहुँचा जा सकता है।

जिसको आप भी अच्छा और बुरा कहते हैं, वह सिर्फ सामाजिक मान्यता है। किसी दूसरे समाज में मान्यताएँ बदल जाती हैं, तो दूसरी मान्यताएँ हो जाती हैं। जमीन पर कोई हजारों तरह के समाज हैं। ऐसी कोई मान्यता नहीं है, जो किसी न किसी समाज में अच्छी न मानी जाती हो; और ऐसी भी कोई मान्यता नहीं है, जो किसी न किसी समाज में बुरी न मानी जाती हो। सब तरह की बातें अच्छी मानी जाती हैं, सब तरह की बातें बुरी मानी जाती हैं।

ऐसे समाज हैं जहाँ सगी बहन से विवाह करना अच्छा माना जाता है। ऐसे समाज हैं, जहाँ पिता मर जायँ, तो बड़े बेटे का माँ से विवाह करना अच्छा माना जाता है। ऐसे समाज हैं, जहाँ पिता बूढ़ा हो जाय, वृद्ध हो जाय, तो जीवित

पिता को अग्नि-संस्कार दे देना बड़े बेटे का कर्तव्य माना जाता है। और इन सबकी अपनी धारणाएँ हैं, और अपनी धारणाओं के तर्क हैं। और अगर उनके तर्क को सहानिभूति से समझें, तो उनकी बात भी सही मालूम पड़ सकती है।

जिन समाजों में भाई और बहन का विवाह प्रचलित है—अफ्रीका के कुछ कबीलों में—उनका कहना यह है कि 'भाई और बहन ही पत्नी और पति बन सकते हैं क्योंकि उनमें इतना सामीप्य है, इतनी निकटता है; उन दोनों के पास एक-सा स्वभाव है। किसी भी दूसरी स्त्री से विवाह करना—दो विपरीत संस्कारों में पले, दो विपरीत परिवारों में पले व्यक्तियों को कठिनाई होगी, अड़चन होगी, उपद्रव होगा। और भाई और बहन के बीच एक स्वाभाविक नैसर्गिक प्रेम है, इसी प्रेम को रूपान्तिरित किया जाय।' उनकी बात में भी बल मालूम पड़ता है।

जिन मुल्कों में विरोध है, उनकी बात में भी बल मालूम पड़ता है, क्योंकि वे कहते हैं: अगर भाई-बहन में विवाह हो, तो फिर भाई और बहन के बीच प्रारंभ से ही कामुक सम्बधों को रोकने का कोई उपाय नहीं। तो परिवार प्राथमिक रूप से ही कामुक सम्बन्धों में उलझ जाएगा। कामुक सम्बन्ध अगर बचपन से इस भाँति खुले छोड़ दिये जायँ, तो जीवन प्राथमिक आधार से विलास की ओर बढ़ेगा, और प्रेम की एक पवित्र धारणा विकसित न हो पायेगी। और प्रेम का एक पवित्र रूप भी है, जहाँ यौन का कोई सम्बन्ध नहीं है। अगर भाई बहन में वह विकसित न हुआ, तो फिर कहाँ विकसित होगा? उस पवित्र प्रेम की लकीर फिर सदा के लिए खो जाएगी।' उनकी बात में भी बल है।

यह मैं कह रहा हूँ कि जिस समाज ने जो भी धारण मानी है, उसके कारण हैं, उसके ऐतिहासिक विकास में आधार है; कुछ वजह से मानी है। उस धारणा को ही मान कर जो चलता है, वह अच्छा आदमी हो सकता है, बुरा आदमी हो सकता है। लेकिन जिसको शुद्ध अन्तःकरण का आदमी कहें, वह, उन धारणाओं को मान कर कोई नहीं हो सकता। इसका यह अर्थ नहीं कि शुद्ध अन्तःकरण का आदमी सारी धारणाओं को तोड़ दे, समाज का दुश्मन हो जाय।

यह अर्थ नहीं कि समाज की बगावत करे; उच्छृंखल हो जाय। शुद्ध अन्तःकरण का आदमी अपने भीतर अन्तःकरण को धारणाओं से मुक्त करने में लगेगा; और उस बिन्दु पर अपने अन्तःकरण को ले आयेगा, जहाँ समाज की कोई छाप नहीं हैं; जहाँ उसका अन्तःकरण दर्पण की भाँति शुद्ध है, जैसा वह जन्म के साथ ले कर पैदा हुआ था—जब समाज ने कुछ भी लिखा नहीं था—खाली, शून्य—उस अन्तःकरण के माध्यम से ही दैवी सम्पदा को खोजा जा सकता है, दिव्यता को खोजा जा सकता है, क्योंकि उस अन्तःकरण में जो स्वर उठते हैं, वे दिव्यता के स्वर हैं। साधारणतः जिसे हम अन्तःकरण मानते हैं, उसमें जो स्वर उठते हैं, वे समाज के स्वर हैं।

'ज्ञान-योग में निरन्तर दृढ स्थिति...।'

एक तो हमारा जीवन है—जिसे हम मूर्च्छा में दृढ स्थिति कह सकते हैं। जो भी हम करते हैं, सोये हुए करते हैं। हमें कुछ पक्का पता नहीं कि हम क्यों कर रहे ह; क्यों हमने क्रोध किया, क्यों हमने प्रेम किया, क्यों हमने जीवन ऐसा बिताया—जैसा हमने बिताया—कुछ साफ नहीं है। अँधेरे में शराब पीये हुए जैसे कोई आदमी चलता हो, और कहीं भी पहुँच जाय; न रास्ते का कुछ पता है, न दिशा का कोई पता है; यह हो सकता है कि गोल घेरे में चक्कर ही लगाता रहे और सोचे कि बड़ी यात्रा हो रही है। ऐसी हमारी दशा है। मूर्च्छा में हमारी दृढ स्थिति है।

ज्ञान-योग में दृढ स्थिति का अर्थ है—जागरूकता में दृढ स्थिति—अवेरनेस में, होश में। उठूँ, बैठूँ, चलूँ—जो भी व्यवहार हो, आचरण हो, जो भी परिणमन हो, वह मेरे पूरे होश में हो। मेरे ज्ञान का दीया जलता रहे। क्यों कर रहा हूँ—इसकी मुझे पूरी प्रतीति हो। बिना गहरे प्रत्यक्ष होश के कुछ भी मुझसे न निकले।

जिसको कृष्णमूर्ति अवेयरनेस कहते हैं; महावीर ने जिसको सम्यक् ज्ञान कहा है; बुद्ध ने जिसको सम्यक् स्मृति कहा है; कबीर, नानक, दादू जिसको सुरति-योग कहते हैं—ज्ञान-योग में दृढ स्थिति का वही अर्थ है।

मूर्च्छित न हो व्यवहार; अचेतन शक्तियाँ मुझसे कुछ न करवा लें; मेरा कृत्य चेतन हो, कॉन्शस हो।

किसी आदमी ने आपको धक्का दिया। इधर धक्का नहीं दिया कि उधर क्रोध की लपक भभक उठती है। यह क्रोध का भभकना वैसे ही है, जैसे किसी ने बटन दबाई और बिजली जली। बटन दबाने के बाद बिजली का बल्ब सोचता नहीं कि 'जलूँ, या न जलूँ'; यह भी नहीं सोचता कि 'इस आदमी ने जलाया, तो मैं कोई परवश तो नहीं हूँ। चाहूँ तो जलूँ, चाहूँ तो न जलूँ।' कोई उपाय नहीं है। यंत्रवत् है; यंत्र ही है। तो बिजली का बल्ब जल जाता है।

जब कोई आपको धक्का देता हो, तो क्रोध भी आप में अगर ऐसा ही पैदा होता हो, जैसे बटन दबाने से बल्ब जलता है, तो आप भी यंत्रवत् हो गए; तो जिस आदमी ने आपको धक्का दिया, उसने आपको परिचालित कर लिया, वह आपका मालिक हो गया, स्वामित्व उसके हाथ में चला गया; उसने आप में क्रोध पैदा करवा लिया। और शायद आप कई दफा कसम खा चुके हैं कि अब क्रोध न करूँगा; कई दफा निर्णय लिया है कि क्रोध दुःख देता है!

शास्त्र के शब्द स्मरण हैं कि क्रोध अग्नि है, जहर ह—वह सब है। लेकिन किसी ने धक्का दिया तो वह सब एकदम हट जाता है। भीतर से क्रोध उठ आता है। यह क्रोध मूर्च्छित है। बुद्ध को कोई धक्का दे तो क्रोध ऐसे ही नहीं उठता; क्रोध उठता ही

नहीं। बुद्ध धक्के को देखते हैं कि धक्का दिया गया और अपने भीतर देखते हैं कि धक्के से क्या हो रहा है; और निर्णय करते हैं कि मुझे क्या करना है।

आपका धक्का निर्णायक नहीं है। आपके धक्के के बाद भी बुद्ध ही निर्णायक हैं; वे निर्णय करते ह कि मुझे क्या करना है।

आप जब क्रोध करते हैं, तो निर्णय आपका नहीं है। दूसरा आपसे निर्णय करवा लेता है। एक खुशामदी आ जाता है और आपकी प्रशंसा करता है और आपसे काम करवा लेता है। आप भी जानते हैं कि यह खुशामदी है और आप भी जानते हैं कि किसी की स्तुति में पड़ना ठीक नहीं; लेकिन बस, कोई स्तुति करता है तो फिर स्मरण नहीं रह जाता; फिर कुछ बल्ब जल जाते हैं। फिर भीतर कुछ काम शुरू हो जाता है, जो दूसरे ने चालित किया।

जो व्यक्ति अपने निर्णय से प्रतिपल नहीं जी रहा है, जिससे दूसरे लोग निर्णय करवा रहे हैं, जिसे दूसरे लोग धक्के दे रहे हैं, मेनिपुलेट कर रहे हैं, जो दूसरों से परिचालित है, ऐसा व्यक्ति मूर्च्छा में दृढ ठहरा हुआ है।

होश में ठहरे हुए व्यक्ति का लक्षण है कि वह स्वयं चल रहा है, स्वयं उठ रहा है; और जो भी कर रहा है, वह उसका अपना निर्णय है, वह उसने सचेतन रूप से लिया है! किन्हीं अचेतन शक्तियों ने उससे निर्णय नहीं करवाया है।

चौबीस घंटे आपके भीतर बड़ा हिस्सा अचेतन है, जिसको फ्रायड ने बड़ी कोशिश की विश्लेषित करने की। फ्रायड के हिसाब से—जैसे हम बरफ के टुकड़े को पानी में डाल दें, तो नौ हिस्सा पानी में डूब जाता है, और एक हिस्सा ऊपर होता है—ऐसा आपका एक हिस्सा केवल होशपूर्ण है, नौ हिस्से नीचे डूबे हुए है पानी में—अचेतन में और उनका आपको कुछ भी पता नहीं है। और वे नौ हिस्से आपसे चौबीस घण्टे काम करवा रहे हैं। वे काम आपको करने ही पड़ते हैं। और आप निर्णय भी ले लें कि नहीं करूँगा, तो भी कोई फर्क नहीं पड़ता। क्योंकि निर्णय एक हिस्सा लेता है, उनसे नौ गुनी ताकत के मन के विचार भीतर दबे पड़े हैं, वे उसकी सुनते भी नहीं।

आप तय कर लेते हैं...। सुनते हैं ब्रह्मचर्य पर एक व्याख्यान। पढ़ते हैं कोई किताब; जँचती है बात बुद्धि को—वह जो एक हिस्सा पानी के ऊपर तैर रहा है—उसे आप तय कर लेते हैं। लेकिन वे नौ हिस्से, जो पानी के नीचे दबे हैं, उनको आपकी किताब का कोई पता नहीं, ब्रह्मचर्य का कोई पता नहीं; उन्होंने यह बात सुनी नहीं कभी, वे अपनी धारणा से चल रहे हैं। वे मिले हैं—नौ हिस्से—आपको जन्मों-जन्मों की लंबी यात्रा में। अनन्त संस्कार—पशुओं, पौधों, वृक्षों से गुजर कर—उनको आपने इकट्ठा किया है। वे अब भी वही हैं, उनको कुछ पता भी नहीं है, वे अपने ही ढंग से चलते हैं; उनकी ताकत नौ गुनी ज़्यादा है।

जब भी कामना मन को पकड़ेगी, तो वह जो एक हिस्सा है—नपुंसक सिद्ध होगा। वे हिस्से जो नौ गुने ताकतवर हैं, वे शक्तिशाली सिद्ध होंगे और वे आपको मजबूर कर लेंगे। और उनकी मजबूरी इतनी शक्तिशाली है कि वे आपके इस एक हिस्से को भी तर्क देंगे और यह एक हिस्सा भी रेशनालाइज करेगा। यह भी कहेगा कि छोड़ो यह सब—ब्रह्मचर्य वगैरह में कुछ सार नहीं है। और यह भी कहेगा कि ब्रह्मचर्य साधना है, तो जल्दी क्या है; अभी जिन्दगी बहुत पड़ी है!

हजार तर्क...! वे नौ हिस्से धक्के दे कर एक हिस्से को राजी करवा लेंगे। जब वे नौ हिस्से अपना काम पूरा करावा लेंगे, तब फिर एक हिस्सा बातें सोचने लगेगा—भली-भली। फिर ब्रह्मचर्य वापस लौटेगा। लेकिन यह हमेशा कमजोर सिद्ध होगा—नौ के मुकाबले में।

यह अड़चन है प्रत्येक मनुष्य की! जो भी मनुष्य थोड़ा जीवन को बदलने की कोशिश में लगा है, उसकी यह कठिनाई है कि वह तय करता है, लेकिन पूरा नहीं हो पाता।

कृष्ण कहते हैं: दैवी सम्पदा तभी सक्रिय होगी, जब कोई व्यक्ति ज्ञानयोग में निरन्तर दृढ़ स्थित हो। होश इतना सधा हुआ हो...जितना ज्यादा होश सधा हो, उतना ही पानी के ऊपर बर्फ आना शुरू हो जाता है। जितना ज्यादा आप होश का प्रयोग करते हैं, उतना ज्यादा आपका अचेतन कम होने लगता है; चेतन बढ़ने लगता है।

और एक ऐसी स्थिति भी है—टोटल अवेरनेस की, परिपूर्ण प्रज्ञा की —जब आपका पूरा का पूरा मन प्रकाशित होता है, होश से भरा होता है। उस स्थिति में जो भी निर्णय लिए जाते हैं, उनका कोई विरोध नहीं है। उस स्थिति में जो भी आप तय करते हैं, वह होगा ही, क्योंकि उससे विपरीत आपके भीतर कोई स्वर नहीं है। उस स्थिति में जो भी जीवन है, वहाँ कोई पश्चात्ताप नहीं। उस जीवन में सभी कुछ अद्वैत है।

सारी साधना प्रक्रियाएँ ज्ञान-योग में दृढ स्थिति के ही उपाय ह। सारे ध्यान, सारी प्रार्थनाएँ, सारी विधियों की खोज है कि कैसे आप ज्यादा होश में जीने लगें, मूच्छा टूटे, अमूर्च्छा बढ़े।

'और दान तथा इन्द्रियों का दमन, यज्ञ, स्वाध्याय तथा तप एवं शरीर और इन्द्रियों के सहित अन्तःकरण की सरलता...।'

दान—देने का भाव—बहुत आधारभूत है। आसुरी सम्पदा है—लेने का भाव, छीनने का भाव—जो दूसरों के पास है, वह मेरा कैसे हो जाय; सब मेरा कैसे हो जाय—पजेशन—सारी दुनिया का मैं मालिक कैसे हो जाऊँ। और दैवी सम्पदा—देने की भावना है; जो भी मेरे पास है, वह बँट जाय; जो मैं भी हूँ, उसे मैं साझीदारी कर लूँ; जो मेरे पास है, वह दूसरा भी उसमें रस ले पाये, वह दूसरे का भी हो सके।

कृष्ण यह नहीं कहते : क्या दान है। कि धन का दान, कि संपत्ति का दान, कि भूमि का दान—यह सवाल नहीं ह। सिर्फ दान का भाव। तो महावीर अपने ज्ञान को बाँट रहे हैं; कि बुद्ध अपनी करुणा को बाँट रहे ह; कि जीसस अपनी सेवा को। यह सवाल नहीं है कि क्या? बहुत गहरे में दान का अर्थ है कि जो भी मैं हूँ, वह मेरा न रहे, वह सबका हो जाय; जो भी मैं हूँ, मैं बिखर जाऊँ और सबमें चला जाऊँ; मेरा अपना कुछ बचे न। इसके स्वाभाविक बड़े गहरे परिणाम होंगे।

जितना ही मैं छीनने को सोचता हूँ, उतना ही मेरा अहंकार बढ़ता है। इसलिए जितनी मेरे पास सम्पदा होगी, जितनी मेरे पास सुविधा—साधन होंगे, उतना अहंकार होगा। जितना ही मैं बँटता हूँ, उतना ही मैं पिघलता हूँ; जितनी ही मैं साझेदारी करता हूँ—जितना ही मेरा अस्तित्व दूसरे के अस्तित्व में लीन होता है, उतना ही मेरा अहंकार शून्य होगा।

दैवी सम्पदा के पास अस्मिता नहीं बचेगी, और आसुरी सम्पदा के पास सिर्फ अस्मिता ही बचेगी।

अहंकार शैतान की आखिरी उपलब्धि है। निरअहंकारिता परमात्म-भाव है।

तो दान का अर्थ है—देना, और देने की वृत्ति को विकसित करना और उस घड़ी की प्रतीक्षा करना, जब मेरे पास कुछ भी न होगा देने को। इसका यह अर्थ नहीं है कि आपके पास कुछ भी न होगा। सब कुछ होगा; जितना आप देंगे, उतना बढ़ेगा। जितना आप बाँटेंगे, उतना ज्यादा होगा। जितना आप अपने को शून्य करेंगे, उलीचेंगे, उतना ही आप पायेंगे कि सम्राज्य बड़ा होता जाता है। देने का अर्थ यह नहीं है कि आपके पास कुछ बचेगा नहीं, लेकिन 'देने का भाव'—कि कुछ भी न बचे।...

दान—प्रेम का सार है। छीनना—घृणा का आधार है। तो अगर प्रेम में भी आप दूसरे से कुछ लेना चाहते हैं, तो वह प्रेम नहीं है। वहाँ सिर्फ प्रेम के नाम पर शोषण है। जहाँ माँग है, वहाँ प्रेम की कोई सम्भावना नहीं है। प्रेम, निपट दान है—बेशर्त। वह कुछ पाने की आकांक्षा से नहीं है, देना ही आनन्द है। और जिसने लिया, उसके प्रति अनुग्रह है। दान तथा इन्द्रियों के दमन को कृष्ण ने एक साथ कहा। यह भी थोड़ा विचारणीय है, क्योंकि जितना ही आप देंगे, उतनी ही इन्द्रियाँ अपने आप विसर्जित हो जाती हैं। जितना ही आप लेंगे, इकट्ठा करेंगे, उतनी ही इन्द्रियाँ मजबूत होती चली जाती हैं। इन्द्रियाँ छीनना चाहती हैं; और जो देने को राजी है, उसकी इन्द्रियाँ धीरे-धीरे शून्य हो जाती हैं।

इन्द्रियों का दमन इन्द्रियों से लड़कर नहीं उपलब्ध होता ह। दान तथा इंद्रियों का दमन स्वयं की निजता को पूरी तरह बाँट देने से उपलब्ध होता है। जो अपने भीतर अपने लिए बचाता नहीं, उसकी इन्द्रियाँ अपने आप शान्त हो जाती हैं।

यह जो इन्द्रियों की शान्ति है, जो दान से या प्रेम से फलित होती है, इस शान्ति में और इन्द्रियों को दबा लेने में बड़ा फर्क है, बुनियादी विरोध है। कोई व्यक्ति अगर इन्द्रियों को जोर से दबा ले, तो भीतर अशान्ति पैदा होगी—शान्ति पैदा नहीं होगी। आप किसी भी इन्द्रिय को दबा कर देखें और आप पायेंगे कि उस दबाने से और अशान्ति पैदा होती है, क्योंकि इन्द्रिय निकलना चाहती है, बाहर आना चाहती है, भोग में जाना चाहती है। इन्द्रिय आपको कहीं ले जाना चाहती है।

जो इन्द्रियों को दबाएगा, वह तो और अशान्त हो जाएगा। लेकिन अगर कोई अपने को बाँटने को राजी है, तो उसकी इन्द्रियाँ अपने आप शांत होती चली जाएँगी।

इस फर्क को आप ऐसा समझें : आप उपवास करें एक दिन, तो क्या करेंगे? उपवास करेंगे, तो दबाएँगे भूख को। भूख रोज लगी है, आज भी लगेगी, उसे दबाएँगे; दबाएँगे तो भूख और फैलेगी—रोएँ-रोएँ के भीतर। और चौबीस घण्टे सिर्फ भोजन का स्मरण आपका स्मरण होगा! लेकिन घर में एक मेहमान आया है और घर में इतना ही भोजन है कि या तो आप कर लें या मेहमान को करा दें। और आप प्रसन्न हैं कि मेहमान घर में आया, और आप आनन्दित हैं। तो आपने मेहमान को भोजन कराया। वह उपवास बड़े और ढंग का होगा। इस उपवास में एक खुशी होगी, एक प्रफुल्लता होगी। भूख अब भी लगी है, लेकिन आपने भूख को दबाया नहीं, आपने भोजन को बाँटा, आपने दान किया।

माँ अगर बेटा भूखा हो, तो उसे खिला देगी, खुद भूखी सो जाएँगी। इस उपवास का मजा और है; इस उपवास में जो आनन्द है, वह किसी साधारण साधु के, संन्यासी के उपवास में नहीं होता, क्योंकि वह केवल भूख को दबा रहा है। इसने भूख को दबाया नहीं; इसने भोजन को बाँटा है। यहाँ बुनियादी फर्क है। इसने किसी और की भूख को पूरा किया है। और उसकी भूख को पूरा किया है—जिसके प्रति प्रेम है।

दान, अगर जीवन के सब पहलुओं में समा जाय, तो सभी इन्द्रियाँ अपने आप शान्त हो जाती हैं। और दान से ही दमन आये, तो दमन में एक उत्सव है। बिना दान के दमन आये...। लोभ से भी दमन आता है, तब एक तरह की विकृति और कुरूपता है।

यह फर्क बारीक है, नाजुक है। और इसको आप प्रयोग करेंगे, तो ही खयाल में आ सकता है।

अपने को वंचित करना—किसी को देने के लिए, तब उस वंचित करने में एक सुख है। सिर्फ अपने को वंचित करना—बिना किसी के देने के खयाल से, उसमें कोई रस नहीं है। कोई सुख नहीं है। उसमें पीड़ा होगी।

तो आप भूखे रह सकते हैं, और जो पैसा बचे, वह बैंक में जमा कर सकते हैं। उस भूख में सिर्फ भूख ही होगी। भूखे रहना प्राथमिक न हो, किसी का पेट भरना प्राथमिक हो—और अगर उसके पीछे भूखे रहना पड़े, तो भूखे रहने को स्वीकृति हो। दान से सारी इन्द्रियाँ रूपान्तरित हो सकती हैं।

आप नग्न खड़े हो जायँ सड़क पर, यह एक बात है। यह नग्नता अधूरी है, और इस नग्नता में अहंकार है; लेकिन कोई नग्न खड़ा हो और अपना वस्त्र उसे ओढ़ा दें, उस नग्नता का रस और है। उस नग्नता में न अहंकार है, न तप का कोई भाव है। उस नग्नता की पवित्रता और है—पूर्णता और है। उसके गुण-धर्म और हैं।

लेकिन अकसर यह हुआ है कि जो भी धर्म दान के माध्यम से जीवन को रूपान्तरित करने को पैदा हुए, उनमें दान तो भूल गया, वह जो दान का आधा हिस्सा था, वह भीतर रह गया। उस आधे हिस्से का कोई अर्थ नहीं है।

आप खूब उपवास कर सकते हैं, लेकिन आपका उपवास किसी के पेट भरने का हिस्सा होना चाहिए। आप बिलकुल दरिद्र हो सकते हैं, उसका कोई मूल्य नहीं है। आपकी दरिद्रता किसी को समृद्ध करने का हिस्सा होना चाहिए, तब बात पूरी होगी और तब जीवन में इन्द्रियों का उत्पात जिस भाँति शान्त होता है, उस भाँति कोई भी दमन करके कभी उन्हें शान्त नहीं कर पाया।

'यज्ञ, स्वाध्याय, तप, शरीर और इन्द्रियों के सहित अन्तःकरण की सरलता...।'

यज्ञ एक वैज्ञानिक प्रक्रिया का नाम है। उसके बाह्य रूप से तो हम परिचित हैं। लेकिन बाह्यरूप तो सिर्फ प्रतीक है। बाहर के प्रतीक से कुछ भीतर की बात कहने की कोशिश की गई है। यज्ञ एक तकनीक है, एक विधि कि भीतर कैसे अग्नि प्रज्वलित हो, और उस अग्नि में मैं कैसे भस्मीभूत हो जाऊँ।

सारा जीवन अग्नि का खेल है। आप भी अग्नि के एक रूप हैं। भोजन पच रहा है, खून दौड़ रहा है, हृदय गति करता है, श्वास चलती है—सब अग्नि का खेल है। शरीर से अग्नि खो जाय, सब खो जाता है। आप ठंडे हुए, कि मौत आ गई। मौत सदा ठंडी है। जीवन सदा गरम है। जीवन एक उष्णता है। हिन्दुओं ने इस उष्णता के बड़े गहरे प्रयोग किये हैं। उन गहरे प्रयोगों का नाम यज्ञ है।

यह जो जीवन की उष्णता है, जिससे साधारण काम चल रहा है, भोजन पच रहा है। आप सोच भी नहीं सकते, वैज्ञानिक भी अभी तक राज को पूरा खोल नहीं पाये। इस छोटे से शरीर में बड़ा विराट कार्य चल रहा है। भोजन आप करते हैं, पचता है, खून बनता है। मांस-मज्जा बनती है। वैज्ञानिक कहते हैं कि अगर एक आदमी के शरीर के भीतर जितना काम होता है—एक रोटी को हम डालते हैं, खून और मांस-मज्जा बन जाती हैं—अभी तक रोटी को मशीन में डालकर खून, मांस-मज्जा बनाने

की कोई हम व्यवस्था नहीं खोज पाये हैं। वैज्ञानिक सोचते हैं : कभी यह संभव होगा। पक्का नहीं कहा जा सकता, कब, लेकिन कभी सम्भव होगा। तो एक आदमी का शरीर जितना काम करता है, उतना काम करने के लिए कम से कम चार वर्ग मील की यान्त्रिक व्यवस्था करनी पड़ेगी। इतनी बड़ी फैक्टरी चार वर्ग मील के क्षेत्र पर फैले, तब हम आदमी के शरीर के भीतर जो काम चल रहा है पूरा, इतना काम उसमें कर पायेंगे। बड़ा अद्भुत काम चल रहा है, और बड़े चुपचाप चल रहा है।

लेकिन सबके भीतर—जैसा हिन्दुओं की धारणा है, योग की धारणा है कि सबके भीतर एक अग्नि प्रज्वलित है; अग्नि सारा काम कर रही है। प्रदीप्त अग्नि है भीतर। श्वास हम लेते हैं, वह भी अग्नि ही है। दीया जलता है, वह भी अग्नि ही है। वैज्ञानिक उसे आक्सी-डाइजेशन कहते हैं। एक दीया जल रहा हो, और एक हवा का झोंका आये, आप डर जाएँगे कि कहीं बुझ न जाय; बर्तन से ढँक दें, काँच के बर्तन से ढँक दें; थोड़ी देर—क्षण भर दीया जलता रहेगा, फिर बुझ जाएगा। तूफान शायद न बुझा पाता, लेकिन ढँके हुए बर्तन से बुझ जाएगा, क्योंकि प्रतिपल जलने के लिए आक्सीजन चाहिए। वह जितनी आक्सीजन भीतर है, उतनी देर जल जाएगा, फिर बुझ जाएगा।

चौबीस घण्टे हम श्वास ले रहे हैं, उससे आक्सीजन भीतर जा रही है, वह अग्नि है, सूक्ष्म अग्नि है। श्वास बन्द हुई कि आदमी मरा। श्वास ठीक से न ली, तो जीवन क्षीण हो जाता है।

तो योग की विधियाँ भीतर की इस अग्नि को धू-धू करके प्रज्वलित करने की प्रक्रियाएँ हैं। उनका नाम यज्ञ है। और जब यह धू-धू करके भीतर की अग्नि पूरी जलती है, तो इससे सिर्फ भोजन ही नहीं पचता, शरीर ही नहीं चलता, जीवन के साधारण दैनंदिन कार्य नहीं होते, धू-धू कर जब अग्नि जलती है, तो उसमें हमारा अहंकार जल जाता है। और इस अग्नि से गुजर कर हमें पहली दफा पूरी दिव्यता का अनुभव होता है। अहंकार के जलने से कचरा जल जाता है और स्वर्ण निखर के बाहर आता है।

स्वाध्याय का अर्थ है : अपना सदा अध्ययन करते रहना। स्वाध्याय का अर्थ गीता पढ़ना नहीं है; वह गौण अर्थ है। वेद पढ़ना नहीं है; वह गौण अर्थ है। स्वाध्याय का अर्थ है—स्वयं का निरन्तर अध्ययन; स्वयं को निरन्तर देखते रहना। एक-एक छोटी-छोटी गतिविधि को पहचानते रहना, परखते रहना, विश्लेषण करते रहना। क्या मैं कर रहा हूँ, क्यों कर रहा हूँ, क्या छिपे कारण हैं—उन सबकी पूरी जाँच-परख करते रहना। स्वयं को एक अध्ययन की जीवंत प्रक्रिया बना लेना। स्वप्न भी भीतर पैदा हो, तो उसका भी अध्ययन करना कि वह क्यों घटा; कोई स्वप्न ऐसे ही नहीं घटता।

आप रात स्वप्न देखते हैं, किसी की हत्या कर देते हैं। ऐसे ही हत्या नहीं होती। स्वप्न में भी ऐसे नहीं होती। कहीं कुछ छिपा राज़ है; कुछ होना चाहता है, स्वप्न में उसको अभिव्यक्ति मिली। स्वप्न से लेकर कृत्यों तक सभी कुछ अध्ययन करते रहना। स्वयं को एक शास्त्र बना लेना और उससे सीखना कि क्या हो रहा है।

'स्वाध्याय तथा तप...।' जो स्वयं के अध्ययन से निष्कर्ष निकले हो, उन निष्कर्षों के अनुसार चलने का नाम तप है।

तप का मतलब इतना ही नहीं कि अपने को अकारण सताना, परेशान करना, कि अपने को दुःख देना। तप का अर्थ है : जो मेरे अध्ययन से नतीजे निकले हैं, उन नतीजों के अनुसार जीवन को चलाना।

कठिन होगा, और दुःख झेलना पड़ेगा, संकल्प का उपयोग करना पड़ेगा, क्योंकि पुरानी आदतें हैं, वे सुगम हैं। चाहे उनसे दुःख मिलता हो अन्त में, लेकिन वे सुगम हैं। उन्हें बदलना दुर्गम होगा। दुःख उठाना पड़ेगा, लेकिन एक बार वे बदल जायँ, तो आनन्द की मंजिल उनसे उपलब्ध होती है।

सम्यक्‌रूप से स्वयं के निरीक्षण से नतीजे हाथ आये हों, उन नतीजों को लिख कर रख देना नहीं, वरन् उनके अनुसार जीवन को चलाना तपश्चर्या है।

'और शरीर और इन्द्रियों के सहित अन्तःकरण की सरलता...।'

और जीवन के सब पहलुओं पर जटिलता के बजाय सरलता को जगह देना। जो भी जटिल हो, उससे बचने की कोशिश करना। जो भी सरल हो, उसको स्थापित करना।

आमतौर से हम उलटा करते हैं; जो भी जटिल हो, वह हमें आकर्षित करता है। अगर एक पहेली सामने रखी हो, जो बहुत उलझनवाली हो, तो हम पच्चीस काम छोड़ कर उसको हल करने में लग जाएँगे। जटिल हमें आकर्षित करता है। जटिल क्यों आकर्षित करता है? एव्हरेस्ट है वहाँ, तो आदमी का मन चढ़ने को होता है। एडमण्ड हिलेरी से किसी ने पूछा कि 'तुम एव्हरेस्ट पर चढ़ने के लिए इतने पागलपन से क्यों भरे रहे?' तो उसने कहा, 'चूँकि एव्हरेस्ट है, इसलिए चढ़ना ही पड़ेगा; चुनौती है।'

तो जितनी जटिल हो चीज...। अब चाँद पर जाने की कोई जरूरत नहीं है, पर जाना पड़ेगा। मंगल पर जाने की भी कोई जरूरत नहीं, लेकिन जाना पड़ेगा, क्योंकि मंगल है, और हमारा मन बेचैन है। हालाँकि आप चाँद पर पहुँच जायँ, कि मंगल पर—आप आप ही रहेंगे; जो उपद्रव आप यहाँ कर रहे हैं, वहाँ करेंगे। मंगल आप में कोई फर्क ला नहीं सकता है। और यहाँ दुःखी है, तो वहाँ दुःखी होंगे! पहुँच के कुछ भी होगा नहीं, लेकिन जटिल आकर्षित करता है, क्योंकि जटिल में चुनौती है। चुनौती से अहंकार भरता है। तो जितना कठिन काम हो, उतना करने जैसा लगता

है। जितना सरल काम हो, उतना करने जैसा नहीं लगता, क्योंकि सरलता से कोई अहंकार को भरती नहीं मिलती।

कृष्ण कहते हैं : 'शरीर, इन्द्रियों और अन्तःकरण की सभी आयामों में सरलता।' जो सरल हो, उसको चुनें और धीरे-धीरे आप पाएँगे आपका अहंकार जाने लगा। जो कठिन है, उसको चुनें और आप पाएँगे : आपका अहंकार बढ़ने लगा।

आदमी खुद भी अपने लिए कठिनाइयाँ पैदा करता है, क्योंकि कठिनाइयाँ पैदा करके जब उनको वह पार कर लेता है, तो वह दुनिया को कह सकता है : 'देखो, इतनी कठिनाइयों को मैंने पार किया!' सरलता को आप किसको बताने जाइयेगा—कि पार किया! उसमें पार करने जैसा कुछ था ही नहीं।

आप जीवन में सरलता को नियम बना लें और जब भी कोई विकल्प सामने हो, तो सरल को चुनें। बहुत कठिन है यह—सरल को चुनना, क्योंकि अहंकार को इसमें कोई रस नहीं आता। सिर के बल खड़े हो जायँ रास्ते पर, तो पचास लोग भीड़ लगाकर खड़े हो जाते हैं। आप दोनों पैर के बल खड़े हों, फिर कोई भीड़ लगाके खड़ा नहीं होता। सिर के बल खड़े होने से ही भीड़ लग जाती है, क्योंकि आप कुछ कर रहे हैं, जो कठिन है; हालाँकि सिर के बल खड़े होने से कुछ मिलता नहीं, लेकिन भीड़ इकट्ठी होती है—और भीड़ इकट्ठी हो, तो हमें रस आता है।

काफ्का, एक बहुत प्रसिद्ध कथाकार, उसने एक छोटी-सी कहानी लिखी है। एक आदमी उपवास करता था—उपवास का प्रदर्शन करता था। वह चालीस दिन तक उपवास कर लेता था। बड़े लोग प्रभावित होते थे। गाँव-गाँव वह जाता था और चालीस दिन के उपवास करता था। फिर एक सरकस गाँव में थी—जहाँ वह उपवास कर रहा था, तो सरकस वाले लोगों को जँच गई बात, उन्होंने उसको सरकस में ले लिया। सरकस में भी उसे देखने को बड़ी भीड़ इकट्ठी होती थी। लेकिन यह धीरे-धीरे...। अगर आप रोज ही सिर के बल खड़े रहें, तो फिर भीड़ इकट्ठी नहीं होगी, फिर लोग कहते हैं : 'वह खड़ा ही रहता है; ठीक है।'

वह जो आदमी उपवास करता था, वह करता ही था, तो पहले तो लोगों को कठिन लगा—चालीस दिन...! इधर करता, तो कठिन भी नहीं लगता उनको। हमारे मुल्क में कई लोग कर रहे हैं। जर्मनी में कर रहा था, तो बहुत बड़ी बात थी; चालीस दिन बहुत बड़ी बात थी। पर धीरे-धीरे लोगों को लगा, 'यह करता ही है, अभ्यासी है।' लोगों ने उसकी झोपड़ी का टिकट लेना ही बन्द कर दिया। फिर सरकस के लोगों को लगा कि अब ज्यादा उसकी कोई टिकट भी नहीं खरीदता, तो फिजूल उसको क्यों ढोना। तो उन्होंने उसको कहा कि 'अब तुम जाओ।' पर उसने कहा कि 'अब मैं जा नहीं सकता, क्योंकि मैं बिना उपवास किये रह नहीं सकता। मुझे रहने दो।' तो उन्होंने सबके पीछे जहाँ

जंगली जानवरों के कटघरे थे, वहाँ उसका भी एक कटघरा बना दिया। लोग आते थे। फिर भी कोई शेर को देखने आता, कोई हाथी को देखने आता, तो उसके कटघरे से निकलते थे। वह इससे भी रस लेता था। वह अपने मन में सोचता था : 'चलो, मुझको भी देखने आते हैं।' हालाँकि उसको लगता था : यहाँ मुझे कोई देखने आता नहीं।

जब चालीस दिन का कोई परिणाम न रहा, तो उसने घोषणा की कि 'अब मैं सदा के लिए उपवास कर रहा हूँ।' कोई अस्सी दिन वह टिक गया, जब अस्सी दिन की खबर पहुँची, तो लोग आने शुरू हुए। नब्बे दिन के करीब पहुँच गया, तो एक पत्रकार ने उसके कान के पास जाकर पूछा, (क्योंकि उसकी आवाज अब बिलकुल क्षीण हो गई थी) कि 'तू यह किसलिए कर रहा है?' तो उसने बिलकुल क्षीण आवाज में कहा कि 'मैं सब रिकॉर्ड तोड़ देना चाहता हूँ; मर जाऊँ भला, मगर रिकॉर्ड तोड़ देना है। मुझसे ज्यादा बड़ा उपवास करनेवाला दुनिया में कभी भी नहीं हो।'

जटिल में एक रस है, रिकॉर्ड तोड़ने का रस है। सरल में कोई रिकॉर्ड ही नहीं, सभी लोग उसको करते ही रहे हैं।

कृष्ण कहते हैं : दिव्यता की तरफ जिसे जाना है, उसे सरलता का जीवन सब पहलुओं पर...। जब भी चुनाव हो—सरल का, सरलता का करना। और आप धीरे-धीरे पायेंगे : अहंकार बचा ही नहीं—जिसको मिटाना है। और अहंकार खो जाय, तो आसुरी सम्पदा की जड़ कट गई। निरहंकारिता आ जाय, तो दैवी सम्पदा का द्वार खुल गया।

आज इतना ही।

मौन सीखना होगा • प्रार्थना : जीवन शैली • द्वैत के पार
दैवीय लक्षण

दूसरा प्रवचन
श्री रजनीश आश्रम, पूना, रात्रि, दिनांक ३१ मार्च, १९७४

अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम् ॥ २ ॥

तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता।
भवन्ति संपदं दैवीमभिजातस्य भारत ॥ ३ ॥

दैवी संपदायुक्त पुरुष के अन्य लक्षण हैं : अहिंसा, सत्य, अक्रोध, त्याग, शांति और किसी की भी निन्दादि न करना तथा सब भूतप्राणियों में दया, अलोलुपता, कोमलता तथा लोक और शास्त्र के विरुद्ध आचरण में लज्जा और व्यर्थ चेष्टाओं का अभाव; तथा तेज, क्षमा, धैर्य और शौच अर्थात् बाहर भीतर की शुद्धि एवं अद्रोह अर्थात् किसी में भी शत्रुभाव का न होना और अपने में पूज्यता के अभिमान का अभाव— यह सब तो, हे अर्जुन, दैवी संपदा को प्राप्त हुए पुरुष के लक्षण हैं।

पहले कुछ प्रश्न।

• पहला प्रश्न : आश्चर्य है कि जब आप बोलते हैं, तभी वाणी के माध्यम से हमें अपना शिखर थोड़ा दिखाई पड़ता है। ऐसा क्यों?

स्वभावतः शब्द समझ में आते हैं; मौन समझ में नहीं आता। शब्द तो बुद्धि से भी पकड़ लिए जाते हैं, मौन को पकड़ने के लिए तो हृदय चाहिए। बुद्धि का शिक्षण है आपके पास; बुद्धि की धारणाओं की, बुद्धि के तर्क की, बुद्धि की भाषा की पकड़ है। मौन, शून्य, ध्यान की कोई पकड़ नहीं है।

जिसे आप समझ सकते हैं, उसे आप समझ लेते हैं; उसे भी पूरा समझते हैं: कहना कठिन है, क्योंकि जो केवल शब्द को ही समझता है और शून्य को नहीं, वह शब्द को भी पूरा नहीं समझ पायेगा।

साधारण बोलचाल के शब्द, साधारण जीवन और काम और चर्या के शब्द तो वस्तुओं के प्रतीक हैं। शास्त्रों के शब्द अनुभूतियों के प्रतीक हैं, और अनुभूतियाँ तो बड़ी सूक्ष्म हैं, आकार में उन्हें बाँधा नहीं जा सकता; नाम देना सम्भव नहीं; परिभाषाएँ बनती नहीं; फिर भी शब्द आपको सुनाई पड़ते हैं और सुनाई पड़ने से आपको लगता है कि समझ में आ गया।

थोड़ी-सी झलक मिलती है, तो उससे मुझसे सम्बन्ध बनता है। अगर मैं चुप बैठा हूँ, तो फिर कोई सम्बन्ध नहीं बनता है। सेतु खो जाता है। फिर जब मैं चुप बैठता हूँ, तब आप अपनी ही बातों को सोचते हैं; मुझसे सम्बन्ध नहीं बनता, आपका अपने से ही सम्बन्ध रहता है।

जब मैं बोल रहा हूँ, तब थोड़ी देर को आपका मन बन्द हो जाता है। आपका अपने मन से सम्बन्ध टूट जाता है और मुझसे सम्बन्ध जुड़ जाता है। इसलिए आपको

सुन कर जितनी शान्ति मिलती है, उतनी अगर मैं शान्त बैठा हूँ, तो मेरे पास शान्त बैठ कर न मिलेगी। मिलनी चाहिए ज्यादा।

जब मैं मौन हूँ, तब आप मेरे पास हैं ही नहीं। तब आप अपने पास हैं। आपका मन भीतर चल रहा है; आपका जो निरन्तर का उपद्रव है, उसमें आप डूबे हैं। जब मैं बोल रहा हूँ, तब बीच-बीच में आपका मन छिटक जाता है; आप थोड़े मेरे पास आ जाते हैं, उस क्षण में कुछ प्रतीतियाँ आपको होती हैं।

लेकिन ध्यान रहे : जो मैं कह रहा हूँ, वह शब्दों में कहा जाने योग्य नहीं, इसलिए शब्द से ही जो मुझे समझेंगे, वे नहीं समझ पायेंगे, और उनकी समझ अधकचरी होगी; ना-समझी ज्यादा होगी—समझदारी कम।

मौन में ही मुझे समझने की कोशिश करनी होगी।

स्वभावतः शब्द की तैयारी है; जीवन भर शब्द आपने सीखा है, मौन आपने कभी सीखा नहीं; उसे भी सीखना होगा, उसके प्रशिक्षण से भी गुजरना होगा। ध्यान उसी का प्रशिक्षण है। इसलिए आधा जोर मेरा मैं जो बोलता हूँ उस पर है, और आधा जोर मेरा इस पर है कि आपके भीतर बोलने की प्रक्रिया बन्द हो, आप ध्यानस्थ हों।

जैसे-जैसे आप ध्यानस्थ होंगे, वैसे-वैसे ही मेरा न बोलना आपकी ज्यादा समझ में आयेगा। और बोलने में जो भी आप समझेंगे, वह शब्दों के पार है, उसकी झलक मिलनी शुरू हो जाएगी।

शब्द भी शून्य के संकेत बन जाते हैं, लेकिन उसके लिए हृदय की तैयारी चाहिए। और हम, एक ही तरह का सम्बन्ध जानते हैं, एक ही कम्युनिकेशन, एक ही संवाद का रास्ता जानते हैं कि बोलें। भाषा के अतिरिक्त हमारे बीच कोई सम्बन्ध नहीं है। भाषा न हो, तो हमारे सब सम्बन्ध खो जायँ।

पश्चिम के मनसविद् पति-पत्नियों को सलाह देते हैं कि जैसा प्राथमिक क्षणों में पति और पत्नी ने एक दूसरे से प्रेम के शब्द बोले थे, उनको जारी रखना चाहिए। स्वभावतः पति-पत्नी उन्हें छोड़ देते हैं। उनकी जरूरत नहीं रह जाती।

जब आप पहली बार किसी के प्रेम में पड़ते हैं, तो कुछ शब्द बोलते हैं, जो कि निरन्तर साथ रहने पर, विवाहित हो जाने पर, फिजूल मालूम पड़ेंगे। लेकिन मनोवैज्ञानिक कहते हैं, उन्हें दोहराते रहना चाहिए अन्यथा प्रेम समाप्त हो जाएगा। क्योंकि शब्द ही हमारा कुल सम्बन्ध है। तो चाहे वह बीस वर्ष से पत्नी के साथ हो, तो भी उसे रोज दोहराना चाहिए कि मैं तेरे प्रेम में पागल हूँ।

मनोवैज्ञानिक कहते हैं: चाहे यह सत्य न भी मालूम पड़े, चाहे यह प्रतीति न भी होती हो, लेकिन प्रेम की भाव-भंगिमा, प्रेम के शब्द, प्रेम की मुद्राएँ जारी रखनी चाहिए अन्यथा सम्बन्ध टूट जाएगा।

अधिक पति-पत्नियों का जीवन उदासी और ऊब से भर जाता है, उसका बहुत कारण यह नहीं है कि उनका प्रेम समाप्त हो गया। प्रेम था, तो समाप्त होता भी नहीं। शब्द थे पहिले, और अब वे शब्द छूट गये। और निरन्तर उन्हीं शब्दों को दोहराना बेहूदा मालूम पड़ता है। शब्द छूट गए, सम्बन्ध छूट गया।

मौन को तो कोई समझता नहीं। अगर कोई आपको प्रेम करता हो, और कहे ना, तो आप पकड़ ही नहीं पायेंगे कि प्रेम करता है। किसी तरह प्रगट न करे—भाव-भंगिमा से, आँख के इशारे से, शब्दों से—ये सभी शब्द हैं; चुप रहे, तो आप कभी-भी न पहचान पाएँगे कि कोई आपको प्रेम करता है। कहना पड़ेगा, प्रगट करना पड़ेगा।

और तब एक मजे की घटना घटती है : प्रेम न भी हो, और कोई कुशल हो प्रगट करने में, तो आपको लगेगा कि प्रेम है। बहुत बार जो अभिव्यक्ति में कुशल है, वह प्रेमी बन जाता है। जरूरी नहीं है कि प्रेम हो, क्योंकि प्रेम को आप समझते नहीं, आप सिर्फ शब्दों को समझते हैं।

पति-पत्नी उदास होने लगते हैं, क्योंकि उन्हीं-उन्हीं शब्दों को क्या बार-बार कहना। फिर उनमें कुछ रस नहीं मालूम पड़ता। शब्दों के खोते ही सम्बन्ध खो जाता है।

मैंने सुना है कि मुल्ला नसरुद्दीन एक नौकरी के लिए इन्टरव्यू दे रहा था! और इन्टरव्यू लेनेवाले आफिसर ने कहा कि 'क्या आप शादी-शुदा हैं?' उसने कहा, 'नहीं; मैं वैसे ही दुःखी हूँ।

शादी-शुदा आदमी की शकल दूर से ही पहचानी जा सकती है। एक ऊब घेर लेती है। और इस ऊब का कुल कारण इतना है कि जिन शब्दों के कारण प्रेम प्राथमिक रूप से संवादित हुआ था, वह शब्द आपने छोड़ दिए।

प्रेम भी समझ में नहीं आता—शब्द के बिना, तो प्रार्थना तो कैसे समझ में आयेगी, परमात्मा तो कैसे समझ में आएगा! क्योंकि प्रेम पहला चरण है, प्रार्थना दूसरा चरण है, परमात्मा अन्तिम चरण है। फिर और गहरे चरण हैं—प्रेम, प्रार्थना, परमात्मा—एक से ज्यादा गहरे हैं! परमात्मा को तो समझना बहुत ही कठिन है। उसके लिए भी हमें शब्दों का प्रयोग करना पड़ता है।

इसलिए जब मैं बोलता हूँ, तो आपको किसी शिखर की प्रतीति हो सकती है, लेकिन वह शिखर वास्तविक शिखर नहीं है। जिस दिन मैं चुप बैठा हूँ आपके पास, और आपको कुछ अनुभूति हो, उसी दिन जानना कि किसी वास्तविक की प्रतीति का पहला आघात, पहला संघात हुआ, पहली बिजली आपके भीतर कौंधी।

मेरे बोलने का सारा प्रयोजन ही इतना है कि कुछ लोगों को उस घड़ी के लिए तैयार कर लूँ, जब मैं न बोलूँ, तब भी वे समझ पायें। और अगर कुछ लोग उसके लिए तैयार नहीं हो पाते; तो बोलता व्यर्थ गया जानना चाहिए।

बोलने की अपनी कोई सार्थकता नहीं है, सार्थकता तो मौन की ही है। बोलना ऐसे ही है, जैसे छोटे, बच्चे को हम सिखाते हैं : ग—गणेश का। ग का गणेश से कुछ लेना-देना नहीं है। ग गधे का भी उतना ही है। गणेश प्रतीक हैं; उसके सहारे हम ग को समझते हैं। फिर समझ जाने के बाद गणेश को याद रखने की जरूरत नहीं है। और जब भी आप पढ़ें तो बार-बार दोहराने की जरूरत नहीं कि ग—गणेश का और अगर यह दोहराना पड़े तो आप पढ़ ही न पायेंगे। तब तो कुछ पढ़ना सम्भव न होगा; तब आप पहली कक्षा के बाहर कभी जा ही न पायेंगे।

तो जो भी मैं कह रहा हूँ, वह ग—गणेश का है। सब कहा हुआ प्रतीक है। तैयारी इसकी करनी है कि वह छूट जाय और आप चुप होने में समर्थ हो जायँ, तब जो दर्शन होगा, वह दर्शन वास्तविक शिखर का है।

● दूसरा प्रश्न : रात आपने कहा कि प्रार्थना परमात्मा तक पहुँचा देती है और यह भी कहा कि प्रार्थना जीवन की शैली है। क्या इस विषय पर थोड़ा और प्रकाश डालेंगे? धर्म-साधना में प्रार्थना का क्या स्थान है?

प्रार्थना परमात्मा तक पहुँचा देती है, शायद यह कहना बिलकुल ठीक नहीं है। ज्यादा ठीक होगा कहना कि प्रार्थना परमात्मा बना देती है। प्रार्थना करते-करते ऐसा नहीं होता कि आप परमात्मा को पा लेते हैं; प्रार्थना करते-करते ऐसा होता है कि आप खो जाते हैं और परमात्मा बचता है।

प्रार्थना की परिपूर्ण उपलब्धि आपके भीतर परमात्मा का आविष्कार है। प्रार्थना एक विधि है, जिससे हम अपने भीतर को निखारते हैं; वह एक छेनी है, जिससे हम 'पत्थर' को तोड़ते हैं और पत्थर में मूर्ति छिपी है। सिर्फ व्यर्थ पत्थर को तोड़ कर अलग कर देना है—मूर्ति प्रगट हो जाएगी।

मूर्तिकार मूर्ति को बनाता नहीं, केवल उघाड़ता है। अनगढ़ पत्थर में छिपी जो पड़ी थी, मूर्तिकार उसे बाहर ले आता है। अनगढ़ पत्थर में जो-जो अंग व्यर्थ थे, गैर-जरूरी थे, उनको अलग करता है। इसे थोड़ा ठीक से समझें।

मूर्तिकार मूर्ति को बनाता नहीं है, केवल उघाड़ता है, निर्वस्त्र करता है; वह जो ढँका था, उसे अनढँका कर देता है। मूर्ति तो थी ही, उस पर कुछ अनावश्यक भी जुड़ा था, उस अनावश्यक को तोड़ता है।

प्रार्थना आप में जो अनावश्यक है, उसको तोड़ती है; जो अनिवार्य है, उसको बचाती है; जो आत्यन्तिक है, वही शेष रह जाता है; और जो भी संयोगिक है, वह हट जाता है।

आपके जीवन के सारे सम्बन्ध सांयोगिक है—कि आप पिता हैं, कि पति हैं, या पत्नी हैं या बेटे हैं; कि अमीर हैं कि गरीब हैं; कि आप बच्चे हैं, कि जवान हैं, कि

बूढ़े हैं—सब सांयोगिक है। यह आपका होना वास्तविक होना नहीं है—कि आप गोरे हैं, कि काले हैं; सुन्दर हैं, कुरूप हैं—यह सब सांयोगिक है; यह ऊपर-ऊपर है; यह आपकी वास्तविकता नहीं है। यह सब छाँट देगी प्रार्थना। केवल वही बच जाएगा, जो नहीं छाँटा जा सकता; केवल वही बच जाएगा, जो आप जन्म के साथ हैं; केवल वही बच जाएगा, जो मृत्यु के बाद भी आपके साथ रहेगा।

तो प्रार्थना मृत्यु की तरह है, वह आपके भीतर छाँट डालेगी—जो व्यर्थ है, कचरा है, जो संयोग था, जो स्वभाव नहीं है।

ये दो शब्द समझ लेने जैसे हैं : संयोग और स्वभाव। संयोग वह है, जो आपको रास्ते में मिल गया है। एक दिन आपके पास नहीं था, आज है, एक दिन फिर नहीं होगा।

स्वभाव वह है, जो आपको रास्ते में नहीं मिला; जिसको लेकर ही आप रास्ते पर उतरे हैं। जो जीवन के पहले था, वह स्वभाव है; जो जीवन के बाद भी होगा, वह स्वभाव है। जो जन्म और मृत्यु के बीच में मिलता है, वह संयोग है। प्रार्थना की कला संयोग को काटना, स्वभाव को बचाना है।

जापान में झेन फकीर अपने शिष्यों को कहते हैं : एक ही चीज खोजने जैसी है, वह है—ओरिजिनल फेस—तुम्हारा मौलिक चेहरा। शिष्य सदियों से पूछते रहे हैं—गुरुओं से—कि क्या अर्थ है आपका; मौलिक चेहरे का क्या अर्थ है? तो गुरुओं ने कहा है, जब तुम पैदा नहीं हुए थे, तब तुम्हारा जो चेहरा था, या जब तुम मर जाओगे, तब जो शेष बचेगा, वह तुम्हारा मौलिक चेहरा है, वह स्वभाव है, ओरिजिनल फेस है। प्रार्थना उसको बचा लेती है। और वही परमात्मा है।

जो स्वभाव है, वही परमात्मा है; जिसे हमने कभी पाया नहीं, जिसे हमने कभी अर्जित नहीं किया और जिसे हम चाहें भी, तो खो नहीं सकेंगे; जिसे खोने का कोई उपाय नहीं है; जो मेरी निजता है, जो मेरा होना है, मेरा बीईंग है—वही परमात्मा है और प्रार्थना उसकी तलाश है।

इसलिए मैंने कहा कि प्रार्थना परमात्मा को पहुँचने का मार्ग है। और यह भी कहा कि प्रार्थना जीवन की शैली है।

निश्चित ही, प्रार्थना किसी एक कोने में नहीं हो सकती। ऐसा नहीं हो सकता कि सुबह आप प्रार्थना कर लें और भूल जायँ। ऐसा नहीं हो सकता कि एक दिन रविवार को चर्च में प्रार्थना कर लें—कि धार्मिक उत्सव के दिन प्रार्थना कर लें—और फिर विस्मरण कर दें। प्रार्थना कोई खण्ड नहीं हो सकती, प्रार्थना जीवन की शैली हो सकती है।

जीवन की शैली का अर्थ यह है कि आप प्रार्थनापूर्ण होंगे, तो आपके चौबीस

घंटे प्रार्थनापूर्ण होंगे। प्रार्थना अगर होगी, तो श्वास जैसी होगी। आप ऐसा नहीं कह सकते कि सुबह श्वास लूँगा, दोपहर विश्राम करूँगा; कि जब फुरसत होगी, तब श्वास ले लूँगा। बाकी काम बहुत हैं।

प्रार्थना श्वास जैसी बन जाय, तो शैली बनी। उसका अर्थ यह हुआ कि प्रार्थना करने की बात न हो, प्रार्थना आपके होने का ढंग हो जाय। उठें—तो प्रार्थनापूर्ण हों; बैठें तो प्रार्थनापूर्ण हों; भोजन करें—तो प्रार्थनापूर्ण हों।

हिन्दू सदियों से भोजन के पहले ब्रह्म को स्मरण करता रहा है। वह भोजन को प्रार्थनापूर्ण बनाना है। स्वयं को भोजन दे, इसके पहले परमात्मा को देता रहा है। उसका अर्थ है : संयोग के पहले स्वभाव स्मरणीय है। मैं गौण हूँ; मेरे भीतर छिपा, सबके भीतर छिपा जो परमात्मा है, वह प्रथम है; तो सबसे पहले उसका स्मरण।

आप पूछेंगे कि उठना-बैठना कैसे प्रार्थनापूर्ण हो सकता है।

एक महाकवि रिल्के का जीवन मैं पढ़ता था। रिल्के के जीवन में उनके मित्रों ने उल्लेख किया है कि रिल्के अपना जूता भी उतारता था, तो इतने मैत्रीभाव से कि आप अगर देखते, तो लगता कि रिल्के अपने जूते के साथ प्रेम में है। वह कपड़े भी उतारता, तो इस भाव से, जैसे कपड़े जीवंत हों, जैसे कपड़ों की आत्मा हो। ऐसा नहीं कि कपड़े उतारे और फेंक दिये। वह कपड़ों को सम्हालता। वह घर में पैर रखता, तो ऐसे जैसे कि जीवन्त घर में प्रवेश कर रहा हो; जैसे जरा भी बेहूदे ढंग से चलेगा, तो घर को चोट पहुँचेगी।

रिल्के फूल को पौधे से तोड़ नहीं सकता था। फूलों का प्रेमी था। फूलों के पास जाता और उनसे दो शब्द कहता, उनसे नमस्कार कर लेता, उनसे दो बातें भी कर लेता, लेकिन तोड़ना असम्भव था।

हमें यह आदमी पागल लगेगा, क्योंकि जूते को क्या सद्व्यवहार की जरूरत है! हम पूछेंगे कि जूते को क्या सद्व्यवहार की जरूरत है? जूते को उतार कर फेंका जा सकता है। मकान में प्रवेश करते समय, मंदिर में प्रवेश कर रहे हों, ऐसा भाव रखने की क्या जरूरत है? मकान, मकान है; मन्दिर, मन्दिर है।

लेकिन ध्यान रहे, हम जो भी करते हैं, वह हमें निर्मित करता है। और जिन्दगी में बड़े-बड़े काम ज्यादा नहीं हैं। चौबीस घण्टे तो छोटे-छोटे काम हैं। जूता उतारना है, भोजन करना है, कपड़े पहनना है, स्नान करना है, मकान में आना है, दूकान में जाना है। मन्दिर में तो आप कभी कभी जाते हैं। और ध्यान रहे, जो अपने मकान में निरंतर गैर-प्रार्थनापूर्ण ढंग से गया है वह मन्दिर में—लाख कोशिश करे—प्रार्थनापूर्ण ढंग से नहीं जा सकेगा; उसकी आदत नहीं है। और जिसने अपने मकान को मकान समझा है, वह मन्दिर को भी मकान से ज्यादा कैसे समझ सकता है! वस्तुतः

मन्दिर भी मकान ही है; नाम भर मन्दिर है। अगर मन्दिर को मन्दिर बनाना हो, तो हर मकान को मन्दिर बनाना होगा, तभी यह सम्भव है। तब मकान मिट जाएँगे, तब सभी मकान मंदिर हो जाएँगे। और जब हर मकान में मंदिर की तरह प्रवेश करेंगे, यह प्रवेश आपकी वृत्ति को बदलेगा। यह प्रवेश आपके भाव को बदलेगा। यह प्रवेश आपको निर्मित करेगा। फिर आप जहाँ भी जाएँगे वह मन्दिर हो, मसजिद हो कि गुरुद्वारा हो कि साधारण मकान हो, कि झोपड़ा हो, कि महल हो—इससे कोई फ़र्क नहीं पड़ता। सवाल मकानों का नहीं है, सवाल आपका है। सवाल कहाँ आप प्रवेश करते हैं—इसका नहीं; कौन प्रवेश करता है, इसका है।

अगर आपने जूते प्रेम से उतारे हैं, कपड़े सद्भाव से रखे हैं, वस्तुओं से भी मैत्री का व्यवहार किया है—यह सारा व्यवहार आपको रूपान्तरित करेगा। यह आपकी शैली बन जाएगी।

जीवन के प्रति प्रेम का जो व्यवहार है, उस शैली को मैं प्रार्थना कहता हूँ। और अगर हम चौबीस घण्टे उसमें डूब सकें, तो ही जीवन में क्रान्ति हो सकती है। इसलिए प्रार्थना कोई खण्ड नहीं है, कोई अंश नहीं है कि आपने किया और निपट गये।

लोग प्रार्थना कर रहे हैं, पर उनके जीवन में प्रार्थना का कोई सुर सुनाई नहीं पड़ता, क्योंकि प्रार्थना को उन्होंने एक काम बना लिया है। वे सुबह पाँच मिनट बैठ कर प्रार्थना कर लेते हैं। अगर जल्दी हो, तो पाँच मिनट की प्रार्थना वे दो मिनट में कर लेते हैं। अगर फुरसत हो, कोई काम न हो, तो दस मिनट भी कर लेते हैं। लेकिन प्रार्थना उनके जीवन की आधारशिला नहीं है, हजार कामों में एक काम है। और अगर प्रार्थना हजार कामों में एक काम है, तो प्रार्थना हो ही नहीं सकती। और परमात्मा अगर हजार खोजों में एक खोज है, तो उस खोज का कोई उपाय नहीं है। जिस दिन प्रार्थना ही जीवन की विधि हो जाय...।

कबीर को किसी ने पूछा कि 'अब तुम सिद्ध हो गये, अब तुम यह कपड़ा बुनना बन्द कर दो। (क्योंकि कबीर जुलाहे थे और जुलाहे बने रहे।) और तुम कपड़ा बुनने में लगे रहते हो, फिर कपड़ा बुन कर बेचने जाते हो बाजार में, तुम्हें समय कहाँ मिलता है—प्रार्थना-पूजा के लिए!' तो कबीर ने कहा, 'जो भी मैं कर रहा हूँ, वह प्रार्थना है; जो भी मैं कर रहा हूँ, वह पूजा है! जब मैं कपड़ा बुनता हूँ, तो परमात्मा को बुन रहा हूँ। जब मैं कपड़ा बेचता हूँ, तो मैं परमात्मा को बेच रहा हूँ। जब मैं बाजार जा रहा हूँ, तो राम की तलाश में जा रहा हूँ, जिसको कपड़े की जरूरत है। इसलिए अलग से प्रार्थना करने का क्या अर्थ?'

जब तक अलग से प्रार्थना करनी पड़े, तब तक जानना कि प्रार्थना का स्वाद आपको

लगा नहीं। जिस दिन प्रार्थना जीवन की शैली हो जाय, आप जो करें, वह प्रार्थनापूर्ण हो, प्रेयरफ़ुल हो; जो करें, उसमें से परमात्मा की तरफ आपका बहाव हो; जो करें, उसमें परमात्मा का स्मरण हो, कुछ न भी कर रहे हों, तो उस न-करने के क्षण में भी परमात्मा की मौजूदगी हो—ऐसी सुरति से जो जियेगा, वह एक दिन परमात्मा तक पहुँच जाता है—ऐसा नहीं; वह एक दिन परमात्मा हो जाता है।

यह प्रार्थना का सतत प्रवाह है, जैसे पानी गिरता हो प्रपात से, पत्थरों को काट देता है। कोमल सा जल, सख्त से सख्त पत्थर को तोड़ देता है और बहा देता है। ऐसे ही कोमल-सी प्रार्थना सतत बहती रहे जीवन में, तो आपका जो भी पथरीला हिस्सा है, जो भी व्यर्थ है, संयोगिक है, और जो भी कूड़ा-कचरा जन्मों-जन्मों से इकट्ठा किया है, वह चाहे कितना ही कठोर हो, पाषाणवत् हो—वह सब—प्रार्थना की धार उसे बहा देगी और केवल वही बच रहेगा जो आपकी वास्तविकता है, जो आपकी आत्मा है; इसे पा लेना ही परमात्मा को पा लेना है।

● तीसरा प्रश्न : रात आपने कहा कि परम साधु एक क्षण में असाधु हो सकता है, लेकिन आपने यह भी कहा है कि अस्तित्व में पीछे लौटने का कोई उपाय नहीं। क्या इसे स्पष्ट करियेगा?

अद्वैत स्थित से पीछे लौटने का कोई उपाय नहीं है। पर द्वैत स्थित से पीछे लौटने का सदा उपाय है। अद्वैत स्थिति अस्तित्व की स्थिति है; द्वैत स्थिति माया की स्थिति है। इसे थोड़ा समझ लें।

साधु हम किसे कहते हैं?—वह जो असाधु से उलटा है। साधु की परिभाषा कौन करेगा? साधु की परिभाषा असाधु से होगी। अगर असाधु हिंसक है, तो साधु अहिंसक है। अगर असाधु चोर है, तो साधु अचोर है। अगर असाधु बुरा है, तो साधु भला है। अगर जगत् में कोई असाधु न हो, तो साधु के होने की कोई जगह नहीं होगी। असाधु चाहिए—साधु होने के लिए। द्वन्द्व जरूरी है।

इसलिए साधुता और असाधुता दोनों ही माया के अंग हैं। अच्छा आदमी भी माया से भरा है, बुरा आदमी भी; दोनों ही अंधे हैं, क्योंकि दोनों ने एक हिस्से को चुना है—दूसरे के विपरीत; और जिसके विपरीत हम लड़ते हैं, उसमें गिर जाने का डर सदा है। अगर आपके भीतर चोरी है...सबके भीतर चोरी है; सबके भीतर छीनने का मन है; सबके भीतर उसके मालिक हो जाने का मन है, जिसके हम मालिक नहीं हैं। तो चोरी की भावना सबके भीतर है; सबके भीतर चोर छिपा है; इस चोर से अगर आप राजी हो जायँ, इस चोर के साथ आप चलें, तो आप असाधु हो जाएँगे। इस चोर से आप लड़ें, इसकी आप न मानें, इसके विपरीत आप चलें, इससे उलटा चलना आपका ढंग हो जाय, तो आप साधु हो जाएँगे। अगर आप साधु हो जाएँगे, तो

भी चोर आपके भीतर छिपा है, मिट नहीं गया। सिर्फ आपने उसे दबाया है, उसकी मानी नहीं है। अगर आप चोर हो गये, तो भी आपके भीतर अचोर छिपा है।

तो कृष्ण कह रहे हैं, दैवी सम्पदा, आसुरी सम्पदा—वे दोनों आपके भीतर हैं। तो जो चोरी कर रहा है, उसके भीतर भी अचोर छिपा ह, वह अभी नष्ट नहीं हो गया है, उसने उसे दबाया है। जब-जब चोर चोरी करने गया है, तब-तब उसके भीतर छिपे साधु ने कहा है 'मत कर, बुरा है, पाप है। छोड़; इससे बच।' लेकिन, इन आवाजों को उसने अनसुना किया है; इन आवाजों के प्रति उसने अपने को बधिर बना लिया है; इन आवाजों को उसके दबाया है; इन आवाजों की उसने उपेक्षा की है, पर ये वहाँ भीतर मौजूद हैं। जो साधु हो गया है, अचोर हो गया है—चोर को दबा कर—उसके भीतर भी चोर मौजूद है। वह भी कह रहा है कि 'कहाँ तू उलझा है?' क्या तू कर रहा है! जीवन हाथ से जा रहा है। आत्मा परमात्मा का पक्का नहीं है। स्वर्ग है या नहीं, निश्चित नहीं है। मृत्यु के बाद कोई बचता है, किसी ने लौट कर कहा नहीं है। यह सब कपोल-कल्पित हो सकता है। यह सब एक जागतिक गप हो सकती है। जिन्होंने कहा है, उन्होंने भी जीते-जी कहा है कि आत्मा अमर है। मर कर लौट कर उन्होंने भी नहीं कहा है। उनकी बात का भरोसा क्या है? और उनकी बातों में उलझ कर जीवन का रस खो रहा है। ये लाख रुपये सामने पड़े हैं, कोई देखने वाला नहीं है। इन्हें तू उठा ले, इन्हें तू भोग ले।'

साधु के भीतर भी अचोर खड़ा है, असाधु के भीतर साधु खड़ा है; ये मिट नहीं गये। और जो गणित की बात समझने की है, जो गहरे विज्ञान की बात समझने की है, वह यह कि जिसका हमने उपयोग किया है, वह थक जाता है। जैसे मेरे दो हाथ हैं; अगर मैं बायें हाथ का उपयोग करूँ दिन भर, तो बायाँ हाथ थक जाएगा। और दायाँ हाथ दिन भर विश्राम करेगा, ज्यादा शक्तिशाली होगा।

किसान जानते हैं कि अगर हमने इस वर्ष फसल एक जमीन पर ले ली, तो वह थक गई जमीन। जो जमीन बंजर पड़ी रही, जिसका हमने उपयोग नहीं किया, वह थकी नहीं है, वह ऊर्जा से भरी है। तो अगर आपने अपने भीतर के साधु का उपयोग किया है, तो असाधु शक्तिशाली है, साधु थक गया है।

जिसका उपयोग करेंगे, वह थकेगा। जो नहीं थका है, जो बैठा विश्राम कर रहा है, वह शक्तिशाली है।

इसलिए मैं कहता हूँ कि परम साधु एक क्षण में परम असाधु हो सकता है। परम असाधु एक क्षण में परम साधु हो सकता है। दोनों तरह की घटनाएँ घटती रही हैं। घटने के पीछे विज्ञान है, क्योंकि जिसको आपने पकड़ा है, वह थक गया, ऊब गया। उससे आप बेचैन हो गये हैं। उसको कर करके भी कुछ बहुत पाया नहीं है।

इसलिए बड़े मजे की बात है : भले लोग रात सपने बुरे देखते हैं; बुरे लोग बुरे सपन नहीं देखते हैं, भले सपने देखते हैं। जो थका है, वह रात सोता है; जो नहीं थका है, वह सक्रिय होता है। ब्रह्मचारी रात कामुकता के सपने देखता है; कामी रात सपने देखता ह कि वह बुद्ध से दीक्षा लेकर ब्रह्मचर्य को उपलब्ध हो गया है, वह संन्यस्थ हो रहा है!

आपका सपना बताएगा आपको कि कौन-सा हिस्सा अनथका है, जो नींद में भी नहीं सोता, उसका मतलब है : बहुत सजग है। तो जो सजग है, शक्तिशाली है, उसका खतरा है, वह किसी भी क्षण में आपको पकड़ ले सकता है।

लेकिन निरन्तर मैं कहता हूँ कि अस्तित्व में लौटने की कोई विधि, कोई व्यवस्था नहीं है। कोई पीछे नहीं लौटता अस्तित्व में। माया में तो पीछे लौटता है, क्योंकि द्वन्द्व है।

इसलिए हमारे पास एक और शब्द है, वह शब्द साधु का पर्यायवाची नहीं है। वह शब्द है : सन्त। सन्त का अर्थ है, जो न साधु है, न असाधु। जिसने दोनों का ही उपयोग करना बन्द कर दिया है, जो दोनों में से किसी को भी नहीं चुनता; जो चुनावरहित, चोइसलेस है। जो न बायें को चुनता है, न दायें को। जो दोनों का साक्षीमात्र है। उसके भीतर चोर भी बोलता है, तो उसको भी सुनता है। उसके भीतर साधु बोलता है, उसको भी सुनता है। मानता किसी की भी नहीं। द्वन्द्व को खड़ा नहीं होने देता। क्योंकि जब आप एक की मानेंगे तो द्वन्द्व खड़ा होगा। जब आप दोनों सुनते हैं, मानते किसी की भी नहीं, जब आप दोनों के साक्षी बने रहते हैं, विटनेस बने रहते हैं, और आप कहते हैं : दोनों द्वन्द्व हैं, खेल हैं, और इन दोनों की साजिश है, और ये दोनों साथी हैं...।

मैंने सुना है : एक सड़क पर एक आदमी बर्तन बेच रहा था। जो बर्तन बाजार में दो रुपये के मिलते हैं, वह उनके चार-चार रुपये दाम माँग रहा था। एक ठेले पर जोर से आवाज लगा रहा था कि 'बिलकुल सस्ते लुटा दिये—चार रुपये में।' कोई आ भी नहीं रहा था, तभी अचानक बगल की गली से एक दूसरा आदमी आया—एक ठेले पर बर्तन लिए और उसने कहा, 'क्यों लूट रहे हो लोगों को; चार रुपये? बर्तन तीन रुपये के हैं।' लोग ठहर गये। एक चिल्ला रहा था : 'चार रुपये।' दूसरा कह रहा था कि 'लूटो मत; बर्तन तीन रुपये के हैं।' भीड़ तीन रुपयेवाली दुकान पर लग गई। सब बर्तन थोड़ी ही देर में खाली हो गये। दूसरा चिल्ला रहा है कि 'तू अपने समव्यवसायी को धोखा दे रहा है। तू क्यों मेरे पीछे पड़ा? तू क्यों मेरे ग्राहक बिगाड़े दे रहा है?'

थोड़ी ही देर बाद जब दूसरे के बर्तन समाप्त हो गये, वह ठेले को लेकर अन्दर एक गली में चला गया। दूसरा भी पहुँचा और उसने कहा, 'तूने तो कमाल कर

दिया भाई।' फिर जिसके बर्तन बिलकुल नहीं बिके थे, आधे-आधे फिर उन्होंने ठेले पर रख लिये। वे दोनों सहयोगी हैं, साझेदार हैं। फिर दूसरी सड़क पर वही शुरू हो गया शोरगुल। एक चार रुपये चिल्ला रहा है। दूसरा कह रहा है, 'तीन रुपये! मत लूटना लोगों को।' वे तीन रुपये वाले बर्तन बिक रहे हैं, बाजार में दाम दो रुपये हैं।

वह जो आपके भीतर चोर है, और जो आपके भीतर अचोर है। उन दोनों की कान्सपिरेसि है, वे दोनों साझीदार हैं। उनमें से किसी भी एक की आपने सुनी, तो दूसरे के जाल में भी आप गिरे।

यह जरा समझना कठिन है। और यहीं से धर्म की यात्रा शुरू होती है। नीति और धर्म का यही फर्क है।

नीति कहती है, 'भीतर जो साधु है, उसकी सुनो।' धर्म कहता है, 'दोनों की मत सुनो; सुनो भी तो साक्षी रहो।' दोनों की मानो मत, क्योंकि उन दोनों की साँठगाँठ है। वे दोनों एक ही धन्धे में साझीदार हैं। एक की सुनी, तो दूसरे के चक्कर में तुम पड़े। जब तक एक तुम्हें चूसेगा, तब तक दूसरा विश्राम करेगा। जब तुम एक से थक जाओगे, दूसरा तुम पर हावी हो जाएगा। और, दिन और रात की तरह अनन्त जन्मों तक चल सकती है यह प्रक्रिया। यह रोज चल रही है।

सुबह आप भले आदमी होते हैं, दोपहर बुरे आदमी हो जाते हैं। साँझ भले आदमी हो जाते हैं। आप गलती में है : अगर आप सोचते हैं कि दुनिया में साधु अलग हैं और असाधु अलग हैं। ऐसा नहीं है। सभी के साधु क्षण हैं, सभी के असाधु क्षण हैं। सुबह-सुबह आप उठे हैं, तब साधु क्षण आप पर भारी होता है; भोर होती है, जीवन ताजा होता है, रात भर का विश्राम होता है, उपद्रव इतनी देर शान्त रहे होते हैं, साधु क्षण होता हैं। भिखमंगे सुबह भीख इसीलिए माँगने आते हैं। साँझ को कोई उन्हें भीख देने वाला नहीं है। सुबह साधु-क्षण को फुसलाया जा सकता है।

सुबह-सुबह एक आदमी उठा है, उसके सामने कोई भीख माँगता है, तो इनकार करना मुश्किल है। साँझ एक आदमी दिन भर दुकान में बेईमानी करके लौटा है। उससे दया पाने की आशा करनी कठिन है।

आपके भी क्षण होते हैं। दिन में आप कई बार साधु और कई बार असाधु होते हैं। और यह रूपान्तर चलता ही रहता है। इस द्वन्द्व के बाहर जाने का एक ही उपाय है कि हम दोनों में चुनना बन्द कर दें।

सन्तत्व अस्तित्व है; साधुता, असाधुता माया है। सन्तत्व से कोई पीछे नहीं गिरता, क्योंकि जिसका साक्षी सध गया, उसके पीछे कुछ बचता ही नहीं, जहाँ गिर सके। द्वन्द्व खो गया; स्वप्न टूट गया। वह जो षड्यन्त्र था—द्वैत का—वह शेष न रहा।

गिरने की कोई जगह नहीं है। सन्त को, गिरने की कोई जगह नहीं है। कुछ बचा

नहीं, जहाँ वह गिर सके। साधु गिर सकता है, इसलिए साधुता कोई बड़ी उपलब्धि नहीं है। खेल से ज्यादा नहीं है। सन्तत्व उपलब्धि है, लेकिन बड़ी दूभर है, क्योंकि पहली ही शर्त—चुनना नहीं है। पहली ही शर्त—ज्ञान में ठहरना, जागरूकता में रुकना है। पहली ही शर्त साक्षी हो जाना है।

अब हम सूत्र कों लें।

'दैवी संपदायुक्त पुरुष के अन्य लक्षण हैं : अहिंसा, सत्य, अक्रोध, त्याग, शान्ति और किसी की निंदादि न करना तथा सब भूत-प्राणियों में दया, अलोलुपता, कोमलता तथा लोक और शास्त्र के विरुद्ध आचरण में लज्जा, व्यर्थ चेष्टाओं का अभाव तथा तेज, क्षमा, धैर्य और शौच अर्थात् बाहर भीतर की शुद्धि एवं अद्रोह अर्थात् किसी में भी शत्रु-भाव का न होना और अपने में पूज्यता के अभिमान का अभाव—यह सब तो, हे अर्जुन, दैवी सम्पदा को प्राप्त हुए पुरुष के लक्षण हैं।

एक-एक लक्षण को समझें।

'अहिंसा'...। अहिंसा का अर्थ है : दूसरे को दुःख पहुँचाने की वृत्ति का त्याग। हम सबको दूसरे को दुःख पहुँचाने में रस आता है। दूसरे को दुःखी देख कर हममें सुख का जन्म होता है। यह जरा कठिन लगेगा, क्योंकि हम कहेंगे, 'नहीं, ऐसा नहीं। दूसरे में दुःख देखकर हममें सहानुभूति जनमती है।' लेकिन अगर आप अपनी सहानुभूति को भी थोड़ा-सा खोजेंगे—तो पायेंगे, उसमें रस है।

किसी के मकान में आग लग गई है, तब आप अपना स्वाध्याय करना। जब आप जा कर उसके प्रति सहानुभूति प्रगट करते हैं कि बहुत बुरा हुआ, ऐसा नहीं होना चाहिए, तब अपने आपका निरीक्षण करना कि भीतर कोई रस तो नहीं आ रहा है कि अपना मकान नहीं जला, दूसरे का जला! भीतर कोई रस तो नहीं आ रहा है कि हम सहानुभूति बताने की स्थिति में हैं और तुम सहानुभूति लेने की स्थिति में हो, कि अच्छा मौका मिला कि आज हमारा हाथ ऊपर है। और वह आदमी अगर आपकी सहानुभूति न ले, तो आपको पता चल जाएगा। वह कह दे, 'कुछ हर्जा नहीं, बड़ा ही अच्छा हुआ कि मकान जल गया; सर्दी के दिन थे, ताप मिल रहा है; बड़ा आनन्द आ रहा है', तो आप दुःखी घर लौटेंगे, क्योंकि उस आदमी ने मौका नहीं दिया—आपको ऊपर चढ़ने का। एक मुफ्त अवसर मिला था, यहाँ आप दान कर लेते—बिना कुछ दिये; जहाँ बिना बाँटे, आप सहानुभूति का सुख ले लेते, वह मौका उस आदमी ने नहीं दिया। आप उस आदमी के दुश्मन होकर घर लौटेंगे।

ध्यान रहे, अगर आप किसी को सहानुभूति दें और वह सहानुभूति न ले, तो आप सदा के लिए उसके दुश्मन हो जाएँगे, आप उसको कभी माफ न कर सकेंगे। इसको पहचानना हो, तो दूसरे छोर से पहचानना आसान है।

सभी को लगता है कि 'नहीं, यह बात ठीक नहीं। दूसरे के दुःख में हमें दुःख होता है।' इसे छोड़ कर दूसरे छोर से पहचानें : दूसरे के सुख में क्या आपको सुख होता है? अगर दूसरे के सुख में सुख होता हो, तो ही दूसरे के दुःख में दुःख हो सकता है। और अगर दूसरे के सुख में पीड़ा होती है, तो गणित साफ है कि दूसरे के दुःख में आपको सुख होगा, पीड़ा नहीं हो सकती।

अगर दूसरे का सुख देख कर आप जलते हैं, तो दूसरे का दुःख देख कर आप प्रफुल्लित होते होंगे। चाहे आपको भी पता न चलता हो, चाहे आप अपने को भी धोखा दे लेते हों, लेकिन भीतर आपको मजा आता होगा...।

अखबार सुबह से उठा कर आप देखते हैं, अगर कोई उपद्रव न छपा हो, कहीं कोई हत्या न हुई हो, गोली न चली हो, तो आप थोड़ी देर में उसको ऐसा उदास पटक देते हैं। कहते हैं : कुछ भी नहीं है, कोई खबर ही नहीं है।

आप किस चीज की तलाश में हैं? आप कहीं दुःख खोज रहें हैं, तो आपको लगता है : यह समाचार है, कुछ खबर है।

जब भी आप दुःखी आदमी को देखते हैं, तो तुलनात्मक रूप से अनुभव करते हैं कि आप सुखी हैं। और न केवल साधारणजन, बल्कि नैतिक शिक्षक लोगों को समझाते हैं कि अगर तुम्हारा एक पैर टूट गया है, तो दुःखी मत होओ। देखो ऐसे लोग भी हैं, जिनके दो पैर टूटे हुए हैं। उनको देखो, तो निश्चित ही अगर आपका एक पैर टूट गया है, तो दो पैर टूटे आदमी को देख कर आपके जीवन में अकड़ आ जाएगी; लगेगा कि कुछ हरजा नहीं, ऐसा कुछ ज्यादा नहीं बिगड़ गया है; दुनिया में और भी बुरी हालतें हैं।

नैतिक शिक्षक लोगों को समझाते हैं कि 'अपने से पीछे देखो; अपने से ज्यादा दुःखी को देखो, तो तुम हमेशा सुखी अनुभव करोगे। अपने से सुखी को देखोगे, तो हमेशा दुःखी अनुभव करोगे।' पर यह बात ही बुरी है। इसका मतलब हुआ कि दूसरे को दुःखी देखकर आपको कुछ सुख मिल रहा है। यह कोई बड़ी नैतिक शिक्षा न हुई। और यह कोई भला सन्देश न हुआ।

कृष्ण कहते हैं, दैवी सम्पदायुक्त व्यक्ति का लक्षण होगा : अहिंसा। अहिंसा का अर्थ है : दूसरे को दुःख न पहुँचाने की वृत्ति। और यह तभी हो सकता है, जब दूसरे के दुःख में हमें सुख न हो। और यह तभी होगा, जब दूसरे के सुख में हमें सुख की थोड़ी-सी भाव दशा बनने लगे।

तो अहिंसा कहाँ से शुरू करियेगा? पानी छान के पी जिएगा, तो अहिंसा शुरू होगी? मांसाहार छोड़ने से अहिंसा शुरू होगी? वे सब गौण बातें हैं। छोड़ दें तो अच्छा है, लेकिन उतने से अहिंसा शुरू नहीं होती।

अहिंसा शुरू होती है, जब कोई सुखी हो, तो वहाँ सुख अनुभव करें। दूसरे के सुख को अपना उत्सव बनाएँ। और जब कोई दुःखी होता हो, तो दुःख अनुभव करें; और दूसरे के दुःख में समानुभूति में उतरें। दूसरे की जगह पर अपने को रखें—चाहे सुख हो, चाहे दुःख हो। दूसरे की जगह स्वयं को रखने की कला अहिंसा है। कोई सुखी है, तो उसकी जगह अपने को रखें, और उसके सुख को अनुभव करें, और प्रफुल्लित हो जायँ। कोई दुःखी है, तो उसकी जगह अपने को रखें और उसके दुःख में लीन हो जायँ, जैसे वह दुःख आप ही पर टूटा हो, तब आप पाएँगे जीवन में अहिंसा आनी शुरू हुई।

पानी छान कर पीना और मांसाहार छूट जाना बड़ी सरल बातें हैं, जो इस भावदशा के बाद अपने आप घट जाएँगी। लेकिन कोई कितना ही छान कर पानी पीये—सात बार छान कर पीये—तो भी अहिंसा नहीं होने वाली। मांसाहार बिलकुल न करे, तो भी अहिंसा होने वाली नहीं। ये सिर्फ आदतें हो जाती हैं। आदतों का कोई बड़ा मूल्य नहीं है। बोधपूर्वक अहिंसा के सार-तत्त्व को पकड़ने की बात है।

मैं रोज देखता हूँ, तो जीवन बड़े विरोधों से भरा हुआ मालूम पड़ता है।

एक क्वेकर साधु पुरुष था, क्वेकर ईसाइयों का एक संप्रदाय है, जो अहिंसा में पक्का भरोसा करता है। जैनों जैसा संप्रदाय है—ईसाइयों का। किसी को मारना नहीं, तो क्वेअर अपने हाथ में बन्दूक या अस्त्र-शस्त्र भी नहीं रखते, अपने घर में भी नहीं रखते। लेकिन यह क्वेकर्स की मान्यता है कि जब किसी को मरना है, किसी की घड़ी आ गई है, तो परमात्मा उसे खुद उठा लेगा, किसी को उसे मारने की जरूरत नहीं है। अगर अपनी घड़ी मरने की आ गई, तो परमात्मा हमें उठा लेगा। तो अस्त्र-शस्त्र का क्या प्रयोजन है!

लेकिन यह साधु पुरुष जब भी चर्च जाता—चर्च दूर था इसके गाँव से—तो वह एक पिस्तौल लेकर जाता और वह जाहिर अहिंसक था। मित्रों ने पूछा, 'तुम भाग्य को मानते हो, अहिंसा को मानते हो, तुम किसी को मारना भी नहीं चाहते, तुम यह भी जानते हो कि जब तक परमात्मा की मरजी न हो, तब तक कोई तुम्हें मार नहीं सकता। तो तुम पिस्तौल लेकर किस लिए जा रहे हो?' उस क्वेकर ने क्या कहा? उसने कहा कि 'मैं अपने बचाव के लिए पिस्तौल लेकर नहीं जा रहा हूँ। लेकिन इस पिस्तौल से अगर परमात्मा को किसी को मारना हो, तो यह मौजूद रहनी चाहिए। अगर मेरा उपयोग करना हो परमात्मा को...।'

इस क्वेकर के घर में एक रात एक चोर घुस गया, तो उसने अपनी पिस्तौल उठा ली। चोर एक कोने में दबा हुआ खड़ा है। उस कोने की तरफ धीमा-सा प्रकाश है; रात का नीला प्रकाश थोड़ा-सा, पाँच कैण्डल का बल्ब है। चोर कोने में छिपा

खड़ा है। इसने कोने की तरफ पिस्तौल की और कहा कि 'मित्र, तुम्हें मैं नहीं मार रहा हूँ; लेकिन जहाँ मैं गोली चला रहा हूँ, तुम वहीं खड़े हो!'

हमें यह हँसी-युक्त बात लगती है, लेकिन सारी दुनिया के अहिंसक इसी तरह के तर्क देते हैं, क्योंकि हिंसा तो बदलती नहीं है, ऊपर से आचरण थोप दिया जाता है!

क्वेकर पक्के अहिंसक हैं। दूध भी नहीं पीते। कहते हैं : दूध खून है—आधा खून है, इसलिए पाप है। दूध से बनी कोई चीज नहीं लेते। क्योंकि वह एनिमल फुड है।

ये जो सोचने के ढंग है, इनमें से तरकीबें निकल आती हैं। क्वेकर अंडा खाते हैं, क्योंकि वे कहते हैं : अंडा—जब तक बच्चा उसके बाहर नहीं आ गया, तब तक उसमें कोई जीवन नहीं है। अंडे को खाने में कोई पाप नहीं है। दूध पीने में पाप है, क्योंकि वह खून है।

जीवन की सारी व्यवस्था हम इस ढंग से कर ले सकते हैं कि ऊपर से लगे कि सब अहिंसा है और भीतर सारी हिंसा जारी रहे।

जैनों ने अहिंसा का बड़ा प्रयोग किया, लेकिन उनकी सारी हिंसा धन को जुटाने में जुट गई। तो उन्होंने खेती-बाड़ी छोड़ दी, क्योंकि उसमें हिंसा है। पौधा काटेंगे, तो हिंसा है; इसलिए जैनों ने खेती-बाड़ी छोड़ दी। क्षत्रिय होने का उपाय न रहा उनका, क्योंकि वहाँ युद्ध में हिंसा होगी। तो उनके व्यक्तित्व की सारी हिंसा, जो युद्ध में निकल सकती थी, खेती-बाड़ी में निकल सकती थी...।

आप जानकर हैरान होंगे कि किसान, माली—भले लोग होते हैं, क्योंकि हिंसा निकल जाती है। एक किसान दिन भर काट रहा है जंगल में—लकड़ी काट रहा है, पौधे उखाड़ रहा है, तो उसकी जितनी क्रोध की वृत्ति है, वह इस उखाड़ने, तोड़ने में निकल जाती है। वह भला आदमी होता है। किसान सरल आदमी होता है।

क्षत्रिय भी सरल आदमी होता है, क्योंकि युद्ध के मैदान पर लड़ लेता है। कुछ भी बचता नहीं, सब निकल जाता है। इसलिए क्षत्रिय भोले होते है। क्षत्रियों को आप जितनी आसानी से धोखा दे सकते हैं, दुकानदार को नहीं दे सकते। होना चाहिए था उलटा; क्योंकि वह हिंसक है, दुष्ट है, उसको धोखा देना मुश्किल होना चाहिए। लेकिन ऐसी बात नहीं है। उसको धोका देना बिलकुल आसान है।

मैंने सुना है : राजस्थान की एक कथा है कि एक गाँव का एक क्षत्रिय राजपूत बड़ा अकड़ीला आदमी था। वह अपने गाँव में किसी को मूँछ सीधी नहीं करने देता; सिर्फ अकेली अपनी मूछ सीधी रखता था। दूसरा अगर उसके घर के सामने, दूसरे गाँव का आदमी भी निकले, तो कहता था : 'मूँछ नीची कर।' इस पर झगड़े तक हो जाते थे, तलवारें खिंच जाती थीं।

एक नया बनिया आया, जवान था। वह भी मूँछ सीधी रखने का शौकीन था।

क्षत्रिय के घर के सामने से गुजरा और क्षत्रिय ने कहा, मूँछ नीची कर; नहीं चल सकती। इस गाँव में एक ही मूँछ सीधी रह सकती है; दो तलवारें एक म्यान में नहीं चलेंगी; तू मूँछ नीची कर ले।' बनिये ने कहा, 'क्यों? मूँछ नीची नहीं होगी।' तलवारें खिंच गईं। बनिये ने कहा, एक-दो मिनट रुक जाओ, क्योंकि मैं घर लौट के जाकर अपने बच्चे और पत्नी को समाप्त कर आऊँ; हो सकता है मैं मर जाऊँ; मेरे कारण मेरे बच्चे और मेरी पत्नी भूखे मरें, यह मैं बरदाश्त नहीं कर सकता। और मैं तुझे भी सलाह देता हूँ, तू भी घर जा; बच्चे और पत्नी को खत्म कर आ, क्योंकि हो सकता है, तू मर जाय।'

क्षत्रिय ने कहा, 'बात बिलकुल ठीक है।' वह घर गया। वह साफ करके आ गया। बनिया घर गया, वापस लौट कर उसने कहा, 'मैंने इरादा बदल दिया है; मैंने मूँछ नीची कर ली है।'

यह जो बनिया है, हिंसक तो नहीं है, लेकिन इसकी हिंसा चालाकी बन जाएगी।

तो जैनों की सारी हिंसा धन को इकट्ठा करने में लगी; सब उपाय बन्द हो गये। और धन सबसे सुविधापूर्ण साधन है—दूसरे को दुःख देने का। इससे ज्यादा आसान कोई तरकीब नहीं है। किसी की छाती में छुरा मारो, वह भी उपद्रव है, क्योंकि उसमें खुद को छुरा भोंका जाय, इसका डर सदा है। लेकिन धन चूस लो, दूसरा वैसे ही मर जाता है—बिना छुरा मारे। और दूसरे को इससे ज्यादा दुःखी करने की कोई सुविधापूर्ण व्यवस्था नहीं है कि तुम धन इकट्ठा कर लो। तुम धन इकट्ठा करते जाओ, दूसरा निर्धन होता जाय। वह मरता जाता है अपने आप। तो उसे इकट्ठा जहर देने की जरूरत नहीं है। एक-एक बूँद उसमें जहर उतरता जाता है। चारों तरफ सब सूख जाता है। सारा जीवन तुम शोषित कर लेते हो।

तो जैन ने बड़ी अहिंसा साधी है, लेकिन वह अहिंसा चूँकि ऊपर-ऊपर है, नैतिक है; वह अहिंसा मौलिक आधार से नहीं जन्मी। वह महावीर की अहिंसा नहीं थी। इस जैन की, पीछे चलने वाले अपने मन की, गणित की, अपनी बुद्धि की खोज थी। तो जटिल हो गया। और शोषण के रूप में अहिंसा दब गई, और हिंसा व्यापक हो गई।

अहिंसा लक्षण है, इस अर्थ में कि आप अपने मन से दूसरे को दुःख देने का भाव विसर्जित कर दें। शुरू करना होगा—दूसरे के सुख में सुख लेने से, क्योंकि सुख लेना आसान है, दुःख लेना कठिन है।

अपना ही दुःख झेलना मुश्किल होता है, दूसरे का दुःख झेलना तो और मुश्किल हो जाएगा। आप अपने ही दुःख से काफी परेशान हैं, अगर हर एक का दुःख लेने लगें और हर एक का दुःख झेलने लगें; हर घर में आदमी मरेगा, अगर आप हर

घर में बैठ कर रोने लगें, जैसा आपका कोई मर गया हो—यह कठिन होगा। इससे शुरुआत नहीं हो सकती।

इसलिए शुरुआत का सूत्र है—दूसरे के सुख से शुरू करें। जब दूसरे के जीवन में फूल खिलें, तो आपके जीवन में नाच आये। यह आसान होगा, हालाँकि बहुत कठिन लगेगा, क्योंकि अभी हमें सुख देख कर तो बड़ी पीड़ा होती है; दुरूहतम् मालूम होगा। लेकिन साधना दुरूह है। वह ऊँचे पहाड़ चढ़ने जैसा प्रयोग है; और यह ऊँचे से ऊँचा पहाड़ है—दूसरे के सुख में सुख अनुभव करना।...तो आपका जीवन एक तरफ उत्सव से भर जाएगा।

और तब दूसरा प्रयोग है : दूसरे के दुःख में दुःख अनुभव करना, तब आपके जीवन में अन्धकार भी भर जाएगा—प्रकाश और अन्धकार दोनों। लेकिन चूँकि दूसरे के दुःख में आप दुःखी हो रहे हैं और दूसरे के सुख में आप सुखी हो रहे हैं, आपका साक्षी भाव दोनों में निर्मित हो सकेगा। आप दोनों अनुभव में डूब कर भी बाहर रह सकेंगे।

जब आपका खुद का दुःख आता है, तो आप एकदम भीतर हो जाते हैं, आप उस दुःख में लीन हो जाते हैं। जब आप दूसरे के दुःख में डूबेंगे, तो आप कितने ही लीन हो जायँ, आपका आन्तरिक आत्यंतिक हिस्सा बाहर खड़ा देखता रहेगा। जब आप पर सुख आता है, तो आप उसमें उत्तेजित हो जाते हैं। दूसरे के सुख में आप कितने ही डूबें, उत्तेजित न हो पायेंगे। वह एक धीमा, सौम्य उत्सव होगा, और आपके भीतर का साक्षी जगा रहेगा।

और ध्यान रहे, जो व्यक्ति दूसरे के सुख-दुःख में साक्षी हो गया, वह धीरे-धीरे अपने सुख-दुःख में साक्षी हो सकेगा, क्योंकि थोड़े ही समय में उसे पता चलेगा: सुख-दुःख न तो मेरे हैं, न दूसरे के हैं। सुख-दुःख घटनाएँ हैं, जिनका 'मेरे' और 'तेरे' से कुछ लेना-देना नहीं है। सुख-दुःख बाहर परिधि पर घटते हुए, धूप-छाया के खेल हैं, जो मेरे आन्तरिक केन्द्र को छूते भी नहीं, जिनसे मैं अस्पर्शित रह जाता हूँ।

'सत्य...।' सत्य से इतना ही अर्थ नहीं है कि सत्य बोलना। सत्य से अर्थ है: प्रामाणिक होना, आन्थेटिक होना। सत्य से अर्थ है : जैसे आप भीतर हैं, वैसे ही बाहर होना। लेकिन सत्य का अर्थ लोग यह नहीं लेते। लोग अर्थ लेते हैं : सच बोलना। वह सिर्फ गौण हिस्सा है। और सच बोलना...। हमारा मन जैसे चालक है, उसमें हम सच बोलने का भी दुरुपयोग कर लेते हैं। हम तब सच बोलते हैं, जब सच से दूसरों को चोट पहुँचती हो। और दूसरे को अगर चोट पहुँचाने का मौका हो, तो हम कहते हैं कि हम झूठ कैसे बोल सकते हैं; सच बोलना ही पड़ेगा। खुद पर चोट पहुँचती हो, तो हमारे तर्क बदल जाते हैं।

मैंने सुना है कि एक सुबह मुल्ला नसरुद्दीन अपनी छपरी में बैठा हुआ है। अचानक

वर्षा का झोंका आया। गाँव का जो मौलवी है वह, पानी की बूंदें पड़ीं, तो तेजी से भागा। नसरुद्दीन ने कहा, 'रुको, यह परमात्मा का अपमान है।' मौलवी भी घबड़ा गया; क्योंकि नसरुद्दीन वजनी आदमी था। और गाँव में खबर हो जाय। और उससे कह रहा था, तो उसका कुछ मतलब होगा। उसने कहा, 'क्या मतलब?' तो उसने कहा, 'जब परमात्मा वर्षा कर रहा है, तो तुम उसका अपमान कर रहे हो—भाग के। धीमे, धीमे जाओ।' मौलवी को भी बात समझ में आई। बेचारा धीरे-धीरे घर तक गया; भीग गया वर्षा में। बूढ़ा आदमी था, बुखार आ गया।

वह तीसरे दिन अपने बिस्तर में बुखार में बैठा हुआ था, तब उसने खिड़की से देखा कि वर्षा का फिर झोंका आया और नसरुद्दीन बाजार से भागा जा रहा है, तो उसने कहा, 'रुक, नसरुद्दीन। भूल गया?' तो नसरुद्दीन रुका नहीं, भीतर—भागता हुआ—घर में आया और उसने कहा कि 'नहीं, भूला नहीं। इसीलिए भाग रहा हूँ कि परमात्मा पानी गिरा रहा है, उसके पानी पर कहीं मेरे नापाक पैर न पड़ जायँ। गन्दा आदमी हूँ, नहाया भी नहीं। ये गन्दे पैर उसके पानी पर पड़ न जायँ, इसलिए तो भाग रहा हूँ। भूला नहीं हूँ।'

बस, यही हमारे सबके तर्क हैं। जब खुद पर चोट पड़ती हो, तो हम झूठ को सच बना लेते हैं। जब दूसरे पर चोट पड़ती हो, तो हम सच का भी झूठ की तरह उपयोग करते हैं—हिंसक उपयोग करते हैं।

कुछ लोग सच बोलने में बड़ा रस लेते हैं, क्योंकि सच से काफी चोट पहुँचाई जा सकती है। तब मजे की बात यह है कि झूठ बोल कर भी हम दूसरे को नुकसान पहुँचाते हैं, और सच बोलकर भी नुकसान पहुँचाते हैं। हमारा लक्ष्य सदा एक है; हिंसा हमारा लक्ष्य है।

इसलिए सत्य का अर्थ केवल सच बोलना नहीं है। सत्य का अर्थ है—प्रमाणिक होना। सत्य का अर्थ है कि जैसा मैं भीतर हूँ, वैसा ही बाहर होना—परिस्थिति की बिना फिक्र किये—कि क्या होगा परिणाम? इसे थोड़ा समझ लें।

जो व्यक्ति परिणाम की चिन्ता करता है, वह सत्य नहीं हो सकता। क्योंकि कई बार अच्छे परिणाम झूठ से आ सकते हैं। कम से कम जहाँ तक हमें दिखाई पड़ता है, वहाँ तक आ सकते हैं।

एक आदमी को फाँसी लग रही है, आप झूठ बोल दें। बच सकता है वह आदमी—झूठ बोलने से। आपके देखने में तो—जहाँ तक मनुष्य की बुद्धि जाती है—परिणाम हो रहा है कि एक आदमी का जीवन बच रहा है। अगर परिणाम की आप चिन्ता करेंगे, तो सौ में निन्यानबे मौकों पर लगेगा कि झूठ से अच्छे परिणाम आ सकते हैं; सत्य से बुरे परिणाम आ सकते हैं।

सत्य का अर्थ है कि परिणाम की चिन्ता ही मत करना। जैसा हो, उसे बेशर्त, बिना आगे-पीछे देखे, वैसा ही रख देना। भविष्य को सोचना ही मत, फल को सोचना ही मत।

कृष्ण का बहुत जोर है इस बात पर कि जो फल को सोचेगा, वह भटक जाएगा। जैसा हो, वैसा ही उसे प्रगट कर देना; अपने को बाहर भीतर एक-सा कर देना, अपने को उघाड़ देना—सत्य है। और वह दैवी सम्पदा का अनिवार्य हिस्सा है।

'अक्रोध...।' साधारणतः आप सोचते हैं कि आप कभी-कभी क्रोध करते हैं। यह बात झूठ है, यह बात बिलकुल ही झूठ है। आप चौबीस घण्टे क्रोध में रहते हैं। कभी-कभी क्रोध उबलता है और कभी-कभी कुनकुनाः रहता है, बस। कुनकुने की वजह से पता नहीं चलता। क्योंकि उसकी आपको आदत है। उतने में तो आप जी रहे हैं सदा से।

आप अपने को पहचानें, निरीक्षण करें, तो आपकी समझ में आयेगा कि चौबीस घण्टे आप में हल्का-सा क्रोध बना रहता है। कभी इस चीज के प्रति, कभी उस चीज के प्रति। कभी कोई भी कारण न हो, तो अकारण। अगर आपको चौबीस घण्टे कमरे में बन्द कर दिया जाय; जहाँ कोई कारण न दें आपको, क्रोधित होने का, तो भी आप क्रोधित होंगे। तो आप इस पर क्रोधित होने लगेंगे कि कुछ भी नहीं हो रहा है; कोई भी नहीं है; कि मैं यहाँ बैठा क्या कर रहा हूँ; कि मुझे यहाँ क्यों बिठाया गया है, अकेले में क्यों छोड़ा गया है।

क्रोध आपकी दशा है। हम सब सोचते हैं कि क्रोध एक घटना है। इसलिए हम सोचते हैं कि क्रोध कभी-कभी आता है। यह कोई ऐसी बात नहीं है कि सदा है। लेकिन क्रोध सदा है। कभी-कभी कोई चिनगारी डाल देता है, तो आपकी बारूद भभक उठती है। लेकिन बारूद सदा है। बारूद न हो, तो चिनगारी डालने से भी भभकेगी नहीं।

अक्रोध का अर्थ है, चौबीस घण्टे एक शांति की स्थिति। यह तभी हो सकती है, जब आप दूसरे को दोष देना बन्द कर दें।

क्रोध का तर्क क्या है? क्रोध का तर्क एक ही है कि दूसरा भूल-चूक कर रहा है, दूसरा गलत कर रहा है। दूसरा ऐसा कर रहा है, जैसा उसको नहीं करना चाहिए। इससे आप भभकते हैं।

अक्रोध की भावदशा तब निर्मित होगी, जब आप समझेंगे कि दूसरा जो कर रहा है, वह वही कर सकता है। दूसरा—उसको इससे अन्यथा करने का उपाय नहीं है। अगर एक आदमी आपको गाली दे रहा है, तो आप सोचते हैं कि इसे गाली नहीं देनी चाहिए। यह आदमी गलती कर रहा है, बुरा कर रहा है। इसलिए क्रोध

भभकता है। अगर आप इस आदमी का पूरा अनन्त जीवन जानते हो अतीत का, तो आप कहेंगे कि यह गाली इसमें ऐसे लग रही है, किसी पौधे में फूल लगते हैं। वे बीज में ही छिपे थे। बढ़ते—ब ते—बढ़ते वृक्ष बड़ा होता है, फिर फूल आते हैं। वे फूल कड़वे होते हैं, कि सुगन्धित होते ह, कि सुन्दर होते हैं, कि कुरुप होते हैं, यह बीज में छिपा होता है।

ये गालियाँ इस आदमी में लग रही हैं, इसका मुझसे कुछ लेना-देना नहीं है। यह इस आदमी का स्वभाव है, यह इस आदमी के जीवन का ढंग है, यह इसकी उपलब्धि है कि गालियाँ बक रहा है। मैं सिर्फ बहाना हूँ। अगर मैं यहाँ नहीं होता तो कोई दूसरा इसकी गाली खाता; वह भी नहीं होता, तो कोई तीसरा गाली खाता कोई भी नहीं होता, तो यह शून्य में गाली देता, लेकिन गाली देता। यह गाली इसके कर्मों की अभिव्यक्ति है।

अक्रोध तब पैदा होगा, जब आप समझेंगे कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी नियति में चल रहा है। आपसे कुछ लेना-देना नहीं है। आपसे रास्ते पर मिलना हो जाता है, इससे आप अकारण परेशान न हों।

एक झेन फकीर हुआ—रिंझाई। वह अपने शिष्यों को नाव में ले जाता था। और जब नाव को वह ले जाता था, तो एक किनारे पर उसने एक मल्लाह रख छोड़ा था। एक झाड़ी की आड़ में वह मल्लाह एक नाव को छिपाए रखता; जब इसकी नाव निकलती, तो खाली नाव को वह झाड़ी के भीतर से धक्का देता। वह खाली नाव आकर रिंझाई की नाव से टकरा जाती। कोई भी कुछ नहीं बोलता, क्योंकि खाली नाव को क्या गाली बकनी, क्या झगड़ा करना। शिष्य भी हिलडुल कर बैठ कर रह जाते। फिर दुबारा कभी वह मल्लाह नाव में बैठ कर और टक्कर देता; तब वे सारे शिष्य उबल पड़ते। तो रिंझाई कहता कि 'एक दफे पहले भी यह हुआ था, जब नाव हमसे टकरा गई थी, तब तुम सब चुप रहे!' वे कहते, 'तब यह आदमी उसमें नहीं था। और खाली नाव को जिम्मेवार नहीं ठहराया जा सकता। खाली नाव से क्या कहना। संयोग की बात है। लेकिन यह आदमी बैठा है, यह रिसपॉन्सिबल है, यह जिम्मेवार है, इससे झगड़ा किया जा सकता है।' लेकिन रिंझाई कहता कि 'आदमी बैठा हो, या न बैठा हो, यह संयोग की बात है कि नाव टकरा गई। और तुम दोनों स्थितियों मे एक-सा व्यवहार करो, तो अक्रोध जन्मेगा!'

कोई व्यक्ति क्या कर रहा है, वह उसकी अपनी नियति है। तुम अकारण उसे अपने ऊपर मत लो। तुम व्यर्थ ही मत समझो कि सारी दुनिया तुम पर हँस रही है; कि सारी दुनिया तुम्हारे सम्बन्ध में ही फुसफुस कर रही है; कि सारे लोग तुम्हारे सम्बन्ध में सोच रहे हैं कि तुम्हें कैसे बरबाद कर दें; कि सब तुम्हारे दुश्मन हैं। किसी को

तुम्हारे लिए इतनी फ़ुरसत नहीं है। सब अपने-अपने गोरखधंधे में लगे हैं। तुम अकारण बीच में खड़े हो। तुम व्यर्थ ही बीच में चीजें झेल लेते हो।

जैसे ही कोई व्यक्ति इस बात को ठीक से देखने लगता है कि हर व्यक्ति अपने ढंग से जा रहा है, और जो भी उसमें हो रहा है, वही उसमें हो सकता है, तब एक स्वीकृति पैदा होती है; तब क्रोध नहीं जन्मता; तब तथाता का भाव निर्मित होता है। तब हम कहते हैं कि जो होना था, वहहुआ है। इस व्यक्ति से जो हो सकता था, इसने किया है। तब अक्रोध।

अक्रोध बहुमूल्य है; दैवी सम्पदा में बड़ा मूल्यवान है। और ये दैवी सम्पदा के जो सूत्र हैं, इसमें से एक सध जाय, तो दूसरे अपने आप सध जाते हैं। इसलिए ऐसा मत सोचना कि एक-एक को साधना पड़ेगा। एक भी सध जाय, तो उसके पीछे दूसरे गुण अपने-आप चले आते हैं, क्योंकि वे सब गुण संयुक्त हैं।

जो आदमी अक्रोध साधेगा, उसकी अहिंसा अपने आप सध जाएगी। जो आदमी अक्रोध साधेगा, वह अभय हो जाएगा। क्योंकि अब जो क्रोध ही नहीं करता, अब उसको भयभीत कौन कर सकता है? अगर वह भयभीत हो सकता था, तो वह क्रोधित होता, क्योंकि क्रोध भयभीत हो जाने के बाद अपनी रक्षा का उपाय है; वह डिफेन्स मेजर है। उसके द्वारा हम अपना बल जतलाते हैं और तत्पर हो जाते हैं कि आ जाओ, हम निपट लें। वह भय की सुरक्षा है।

और जो आदमी अक्रोध को उपलब्ध हो गया, जो कहता है : प्रत्येक व्यक्ति अपनी नियति से चल रहा है, मैं भी अपनी नियति से चल रहा हूँ, वह क्यों छिपायेगा कुछ! किससे छिपाना है? परमात्मा के सामने मैं उघड़ा हुआ हूँ। और यहाँ किससे क्या छिपाना है, किसी से कुछ लेना-देना नहीं है। तब वह आदमी खुली किताब की तरह हो जाएगा।

ये सब गुण संयुक्त हैं। चर्चा के लिए अलग-अलग ले लिए हैं। इससे आप ऐसा मत समझना कि ये अलग-अलग हैं। और आपको इतने गुण साधने पड़ेंगे! आप नाहक घबड़ा जाएँगे। आप सोचेंगे : इतने गुण! अपने बस के बाहर है। और इतनी छोटी जिन्दगी, यह होने वाला नहीं है। इनमें से एक साध लें, और आप पायेंगे कि बाकी उनके पीछे आने शुरू हो गये हैं।

'त्याग...।' एक तो रस है : भोग का—जिसे हम जानते हैं। एक और रस है : त्याग का—जिसे हम नहीं जानते हैं। या शायद कभी-कभी किसी क्षण में हम जानते हैं। कभी आपने देखा; जब आप किसी को कुछ देते हैं, तो एक खुशी आपको पकड़ लेती है। किसी को सहारा दे देते हैं, कोई रास्ते पर गिर रहा हो, और आप हाथ बढ़ा देते हैं; एक अहोभाव, एक आनन्द की थिरक आप में समा जाती है। हृदय में कुछ संगीत बजने लगता है।

जब भी आप कुछ छोड़ते हैं, तभी आपके भीतर कुछ फैलता है। आप थोड़े से विराट् हो जाते हैं। इसकी झलकें सबको मिलती हैं। उन झलकों को अगर हम समाहित करते जायँ, उन झलकों को अगर हम धीरे-धीरे विकसित करते जायँ, उनका अभ्यास गहन होने लगे, वे झलकें हमारे जीवन का पथ बन जायँ, तो उस पथ का नाम त्याग है।

त्याग का अर्थ है : देने का सुख, छोड़ने का सुख। और यह कोई कल्पना नहीं है, यह कोई दार्शनिक बात नहीं है। छोड़ते ही सुख मिलता है। पर हम एक ही सुख जानते हैं : पकड़ने का सुख। और मजे की बात यह है कि हमने कभी दोनों की तुलना भी नहीं की है।

दो फकीरों के सम्बन्ध मे मैंने सुना है। उनमें बड़ा विवाद था। विवाद एक छोटी-सी बात को लेकर था कि एक फकीर कुछ पैसे पास रखता था, और एक फकीर कुछ भी पैसे पास नहीं रखता था। जो पास पैसे नहीं रखता था, वह कहता था कि 'छोड़ने में आनन्द है, पकड़ने में दुःख है।' जो पास पैसे रखता था, वह कहता था कि 'थोड़ा तो पकड़ना ही पड़े, नहीं तो बड़ा दुःख होता है।'

एक दिन वे एक नदी के किनारे पहुँचे। साँझ ढल गई, माझी नाव छोड़ने को था, उसने पैसे माँगे। इस तरफ रुकना खतरनाक था, जंगली जानवरों का डर था, उस तरफ जाना जरूरी था। तो जिसके पास पैसे थे, और जो पैसे का आग्रही था, उसने कहा, 'अब बोलो; अब तुम्हारा त्याग चलाओ! अब जो तुम्हारे पास त्याग की सम्पदा है, उसका उपयोग करो; हमें उस तरफ जाना है। पैसे मेरे पास हैं, अगर तुमसे कुछ न बन पड़े, तो मैं देता हूँ, हम उस तरफ हो जाते हैं।

फकीर मुसकराता रहा—वह जो त्याग का पक्षपाती था। फिर जिसके पास पैसे थे, उसने पैसे दिये, वे नदी पार किये। नदी पार करके जिसके पास पैसे थे, उसने कहा, 'अब बोलो।' उस पहले फकीर ने कहा, 'लेकिन त्याग से ही हम पार हुए। तुम पैसा छोड़ सके, तुम पैसे दे सके, इसीलिए हम पार हुए हैं। पैसा होने से हम पार नहीं हुए हैं; पैसा छोड़ने से ही पार हुए हैं। और अगर मैं पार नहीं हो रहा था, तो उसका कारण यह नहीं था कि मेरा त्याग बाधा थी; मेरे पास और त्याग को सुविधा न थी, और छोड़ने को नहीं था; बस। तकलीफ मेरे त्याग की नहीं थी, त्याग मेरा कम पड़ रहा था, और मेरे पास छोड़ने को नहीं था; थोड़ा और त्याग करने की जरूरत थी। तुम कर सके। लेकिन सही मैं ही हूँ। हम छोड़ने से इस पार आये।'

लेकिन हमें एक ही अनुभव है—इकट्ठा करने का।

जैसा मैं देखता हूँ—देखता हूँ : जैसे-जैसे लोगों का धन बढ़ता है, वे दुःखी होते जाते हैं। तब वे सोचते हैं कि शायद धन में दुःख है। और तब शास्त्रों में

उनको सहारा भी मिल जाता है कि धन से कोई सुख नहीं मिलता। मेरी धारणा बिलकुल भिन्न है। धन से सुख मिलता है, अगर धन त्यागने की क्षमता हो। धन से दुःख मिलता है, अगर पकड़े बैठे रहो। धन से कोई दुःख नहीं पाता, कंजूसी से लोग दुःख पाते हैं। धन क्यों दुःख देगा? लेकिन धन हम छोड़ नहीं पाते।

मजबूरी यह है कि जितना ज्यादा हो, उतना छोड़ना मुश्किल हो जाता है। जिसके पास एक पैसा है, वह एक पैसा दान दे सकता है; लेकिन जिसके पास एक करोड़ रुपया हो, वह एक करोड़ दान नहीं दे सकता। हालाँकि दोनों के दान बराबर हैं। क्योंकि एक पैसा उसकी कुल सम्पदा है। औसत बराबर है। एक करोड़ दूसरे की कुल सम्पदा है। लेकिन जिसके पास एक पैसा है, वह पूरा दान दे सकता है; जिसके पास एक करोड़ रुपया है, वह पूरा दान नहीं दे सकता।

जितना ज्यादा धन हो, उतनी ही पकड़ने की वृत्ति बढ़ती है। जितना हम पकड़ लेते हैं, उतना ही और पकड़ना चाहते हैं, फिर दुःखी होते हैं। अगर आज अमेरिका दुःखी है, तो धन के कारण नहीं—धन को पकड़ने के कारण।

इस फर्क को आप ठीक से समझ लेना। धन से कोई दुःखी नहीं होता, और थोड़ी अकल हो, तो धन से आदमी सुखी हो सकता है। और बेअकल आदमी हो, तो निर्धन होकर भी दुःखी होता है, धनी होकर भी दुःखी होता है।

निर्धन का दुःख समझ में आता है। मगर मजे की बात यह है कि निर्धन का भी दुःख निर्धनता का दुःख नहीं है। उसका भी दुःख यही है कि पकड़ने को कुछ भी नहीं है। हाथ खाली है। धनी का दुःख यह है कि हाथ भर गये ह, छोड़ने की हिम्मत नहीं है।

जो भी छोड़ने की कला सीख लेता है—त्याग उस कला का नाम है—जीवन के आनन्द के द्वार उसके लिए निरन्तर खुलते जाते हैं। जितना ज्यादा छोड़ सकता है, उतना ही ज्यादा हलका होता जाता है। जितना छोड़ सकता है, उतनी ही आत्मा विकसित होती है, क्योंकि जितना हम पकड़ते हैं, उतने पदार्थ हम पर इकट्ठे होते जाते हैं, उसमें हम दब जाते हैं। धीरे-धीरे, धीरे-धीरे ढेर लग जाता है—वस्तुओं का; हमारा कुछ पता ही नहीं रहता कि हम कहाँ हैं!

त्याग दैवी सम्पदा का हिस्सा है।

'शान्ति और किसी की भी निन्दा आदि न करना।' शान्त होना हम भी चाहते हैं, लेकिन हम तभी चाहते हैं, जब हम अशान्त होते हैं।

मेरे पास लोग आते हैं, वे कहते हैं : बड़े अशान्त हैं; शान्ति का कुछ रास्ता बताइये।' ये लोग वे हैं, जिनके घर में जब आग लग जाय, तब वे कुआँ खोदना शुरू करते हैं। इनका घर बचेगा नहीं। कुआँ पहले खोदना पड़ता है।

जब आप पूरी तरह अशान्त हैं, तब शान्त होना बहुत मुश्किल है। लेकिन जब आप अशान्त नहीं हैं, तब अगर आप शान्त होना सीख लें, तो अशान्त होने की कोई जरूरत ही न होगी। घर में कुआँ हो, तो शायद आग लगेगी ही नहीं। लग भी जाय, तो बुझाई जा सकती है।

तो आप जब अशान्त हो जायँ, तब शान्ति की तलाश मत करें। यह तलाश ऐसी नहीं होनी चाहिए कि जब बुखार आ जाय, तब आप चिकित्सक की खोज पर चले जाते हैं। अब तो चिकित्साशास्त्री भी कहते हैं कि यह ढंग गलत है—आदमी जब बीमार हो जाय, तब उसका इलाज करना; बड़ी देर कर दी।

तो रूस में एक नई व्यवस्था इजाद की है, वह यह कि डॉक्टरों को तनख्वाह मिलती है—बीमारों का इलाज करने के लिए नहीं, अपने मरीजों को बीमार न पड़ने देने लिए। रूस में उन्होंने व्यवस्था बदली और सारी दुनिया में वह व्यवस्था आज नहीं कल हो ही जानी चाहिए।

तो हर डॉक्टर के हिस्से में मरीज ह। मरीज का मतलब : वे बीमार नहीं हैं; लेकिन उनको बीमार नहीं होने देना है। तो उनको चेक करते रहना है, उनकी फिक्र करते रहना है, बीमारी के पहले इलाज कर देना है। क्योंकि बीमारी के बाद इलाज करना अत्यन्त जटिल हो जाता है। बीमारी अलग परेशान करती है, इलाज अलग परेशान करता है।

कुछ लोग बीमारी से मरते हैं, ज्यादा लोग डॉक्टरी से मरते हैं। किसी तरह बीमारी से बच गये, तो फिर डॉक्टरी से बचना बहुत मुश्किल है। औषधियाँ...। फिर जहर को काटना हो, तो और जहर डालना पड़ता है। सारी औषधियाँ जहर हैं। फिर दो जहरों की लड़ाई आपके भीतर होती है, आप केवल कुरुक्षेत्र हो जाते हैं। आप कुछ नहीं रह जाते हैं फिर। दो जहर लड़ते हैं। फिर आपकी जो मिट्टी-पलीद होती है, उन दो जहरों के लड़ने में होती है। आप स्वस्थ भी हो जाएँगे, तो भी कभी 'स्वस्थ' नहीं हो पायेंगे। बीमारी भी चली जाएगी, तो आपको मुरदा छोड़ जाएगी। आप मरे हुए जीयेंगे।

जब आप अशान्त हो जाते हैं, तब शान्त होना कठिन है। लेकिन इतनी देर रुकने की जरूरत क्या है? शान्ति तो साधी जा सकती है। शान्ति को तो जीवन का—उठते-बैठते—रोजमर्रा का भोजन बनाया जा सकता है।

इसको ध्यान रखें, कि आपको शान्त रहना है। घर लौटे हैं, तो दरवाजे पर दो क्षण रुक जायँ, क्योंकि पत्नी कुछ कहेगी। वह दिन भर से अशान्त है, वह अशान्ति आप पर फेंकेगी। दो क्षण रुक जायँ, तैयार हो जायँ; तैयारी का मतलब यह है कि मैं शान्त रहूँगा; चाहे पत्नी कुछ भी कहे, मैं इसको नाटक से ज्यादा नहीं समझूँगा। दया करूँगा, क्योंकि बेचारी परेशान है।

मुल्ला नसरुद्दीन की लड़की का विवाह हुआ; तो लड़की दहाड़ मार-मार कर, छाती पीट-पीट कर रो रही थी। सब समझा रहे थे, वह सुन नहीं रही थी। फिर मुल्ला उसके पास गया; उसने कहा, 'बेटी तू मत रो; तुझे ले जाने वाले रोएँगे। तू मेरी बेटी है; तू बिलकुल मत घबड़ा; थोड़ी देर की बात है। थोड़ा धैर्य रख।'

जीवन में चारों तरफ विक्षिप्त लोग हैं, दुःखी लोग हैं, वे अपने दुःख और विक्षिप्तता को फेंक रहे हैं। फेंकने सिवाय उनके पास जीने का कोई ढंग नहीं है, उपाय नहीं है। फेंकते हैं, तो थोड़ा जी लेते हैं। यह उनकी केथार्सिस है। अगर आप उसके शिकार हो जाते हैं, अगर आप उससे उद्विग्न होते हैं—अशान्त होते हैं, तो फिर आपके जीवन में शान्ति का स्वर कभी भी न बज पायेगा।

चारों तरफ अशान्त लोग हैं। तो आपको शान्ति साधनी होगी, और आपको सजग रहना होगा। चारों तरफ बीमार लोग हैं, आपको अपने चारों तरफ एक कवच निर्मित करना होगा—एक मिल्यू, एक वातावरण आपके चारों तरफ—कि चाहे कोई कुछ भी फेंके, आप अपनी शान्ति में थिर रहेंगे। थोड़े से होश की जरूरत है। यह हो जात है। इसे थोड़ा प्रयोग करके देखें। जब पत्नी नाराज हो रही है, तब आप खड़े होकर देखें कि आप नाटक देख रहे हैं। इससे वह और भी नाराज होगी—यह भी ध्यान रखना। मगर तब आप और प्रसन्न होकर उसको देखना।

अगर दो व्यक्तियों में एक व्यक्ति क्रोधित हो रहा हो और दूसरा नाटक की तरह देखता रहे है, तो यह नाटक ज्यादा देर चल नहीं सकता। यह बढ़ेगा, उबलेगा, लेकिन फूट जाएगा यह, बिखर जाएगा, क्योंकि इसे बढ़ाने के लिए दोनों तरफ से सहारा चाहिए।

समझदार पति-पत्नी निर्णय कर लेते हैं कि जब एक उपद्रव करेगा, तो दूसर शान्त रहेगा।

मुल्ला नसरुद्दीन किसी को कहा रहा था कि 'मेरे घर में कभी झगड़ा नहीं होता।' दूसरे ने कहा कि 'यह मानने योग्य नहीं है। यह असम्भव है, कि घर हो—और झगड़ा न हो! घर यानी झगड़ा। तुम झूठ बोल रहे हो।' नसरुद्दीन ने कहा कि 'नहीं, हमने पहले दिन ही एक बात तय कर ली, और वह बात यह तय कर ली कि सब छोटे-छोटे मसले पत्नी तय करेगी, बड़े-बड़े मसले मैं तय करूँगा। बड़े-बड़े मसले आज तक आये नहीं और कभी आयेंगे भी नहीं, क्योंकि पहले पत्नी तय कर देती है कि सब छोटे मसले हैं। तो सब वही तय कर रही है।'

इंग्लैण्ड में एक आदमी एक सौ बीस वर्ष का हो गया, तो उसकी एक सौ इक्कीसवीं वर्षगाँठ पर लोगों ने उससे पूछा कि 'कैसे तुम इतने स्वस्थ हो!' उसने कहा कि 'मैंने एक निर्णय कर लिया शादी के वक्त, कि जब भी पत्नी नाराज होगी, मैं घर के बाहर

चला जाऊँगा। तो यह अस्सी साल की घर के बाहर की जिन्दगी—यह मेरे स्वास्थ्य का कारण है! तो मैं अकसर बाहर ही घूमता रहा हूँ। घर तो कभी-कभी भीतर जाता हूँ, फिर ज्यादातर मुझे बाहर ही—आउट डोर...।'

चारों तरफ विक्षिप्तता है, सभी सम्बन्धों में। और अगर आप अपने को सम्हाल कर नहीं चल रहे हैं, तो इतनी विक्षिप्त दुनिया में आप शान्त नहीं रह सकते।

और दूसरे को जिम्मेवार मत समझें। दूसरा जिम्मेवार है नहीं; वह अपने से परेशान है। कोई आपको परेशान करना नहीं चाह रहा है; सब अपने से परेशान हैं। परेशानी कोई कहाँ फेंके! जो निकट हैं, उन्हीं पर फेंकी जाती है।

जो व्यक्ति बिना अशान्त हुए, समस्त उपद्रवों की स्थिति में एक सूत्र ध्यान रखता है कि मुझे शान्त रहना है—चाहे कुछ भी हो—वह थोड़े ही दिनों में इस कला में पारंगत हो जाता है।

'किसी की भी निन्दादि न करना।' बड़ा रस आता है—किसी की निन्दा करने में, क्योंकि किसी की निंदा परोक्ष में अपनी प्रशंसा है। जब भी आप कहते हैं : 'फलाँ आदमी बुरा है', तो आप भीतर से यह कह रहे हैं कि मैं अच्छा हूँ। जब आप सिद्ध कर देते हैं कि फलाँ आदमी चोर है, तो आपने सिद्ध कर लिया कि मैं अचोर हूँ।

और अकसर चोर दूसरों को चोर सिद्ध करने की कोशिश करते रहते हैं, क्योंकि यही उपाय है उनके पास। अगर यहाँ कोई किसी का जेब काट ले, तो जेब-कतरे को बचने का सबसे अच्छा उपाय यह है कि वह सबसे ज्यादा शोरगुल मचाए कि 'बहुत बुरा हुआ; चोरी नहीं होनी चाहिए। पकड़ो, किसने चोरी की।' यह सबसे अच्छा उपाय है। उसको तो आप भूल ही जाएँगे कि यह आदमी चोरी कर सकता है।

जितने बुरे लोग हैं, वे दूसरे की निन्दा में संलग्न हैं। वे इतना शोरगुल मचा रहे हैं—दूसरे की बुराई का—कि कोई सोच भी नहीं सकता कि ये बुरे हो सकते हैं। इसलिए जब साधु भी दूसरे की निन्दा कर रहा हो, तब समझना कि साधुता खोटी है।

निन्दा का एक ही प्रयोजन है, वह है—अपनी बुराई को छिपाना। दूसरे की बुराई को हम जितना बड़ा कर बताते हैं, उतनी अपनी बुराई छोटी मालूम पड़ती है। अगर आपको पता चल जाय कि सब बेईमान हैं, तो आपको लगता है, कि 'फिर अपनी बेईमानी भी स्वीकार योग्य है। इसमें हम कुछ नया नहीं कर रहे हैं, हम कुछ ज्यादा बुरे नहीं हैं; दूसरों से हम बेहतर हैं।' दूसरे की निन्दा का इसीलिए इतना रस है।

जहाँ भी चार आदमी मिलते हैं, चर्चा का एक ही आधार है। उन चार में से भी एक चला जाएगा, तो वे तीन, वह जो चला—उसकी निन्दा शुरू कर देंगे। और वे तीन फिर भी नहीं सोचते कि हममें से कोई गया यहाँ से, कि बाकी दो, हटते से यही काम करने वाले है।

मनोवैज्ञानिक कहते हैं कि अगर आपके मित्र जो आपके सम्बध में पीठ पीछे कहते हैं, उस सबका आपको पता चला जाय, तो दुनिया में एक भी मित्र खोजना मुश्किल है। आपके मित्र आपकी पीठ पीछे जो कहते हैं, अगर आपके सामने कह दें, और आपको पता चल जाय, तो दुनिया में मित्रता असम्भव है! लेकिन पता तो चल ही जाता है। और मित्रता सच में ही असम्भव हो गई है। मित्र होना मुश्किल है।

जो आदमी भी निन्दा में रस लेता है, उसका इस जगत में कोई भी मित्र नहीं हो सकता है। जो दूसरे को ओछा करने में, बुरा करने में शक्ति लगाता है, वह भला अपने मन में सोच रहा हो कि अपने को अच्छा सिद्ध कर रहा है, वह इस कोशिश में ही बुरा होता जाता है।

भले आदमी का लक्षण दूसरे में भलाई को खोजना है। और हम जितनी भलाई दूसरे में खोज लेते हैं, उतना ही हमारे भले होने के आधार निर्मित होते हैं।

'सब भूत प्राणियों में दया, अलोलुपता, कोमलता तथा लोक और शास्त्र के विरुद्ध आचरण में लज्जा और व्यर्थ चेष्टाओं का अभाव।'

जो भी शास्त्र में कहा गया है, जो भी समाज की प्रचलित व्यवस्था है, उस व्यवस्था में जहाँ तक दखल न डालें, अच्छा है। जब तक कि आत्मा का ही कोई सवाल न हो, जब तक आपके आत्मिक जीवन पर ही कोई आघात न पड़ता हो, तब तक समाज और शास्त्र की जो व्यवस्था है, उसको खेल का नियम मान कर चलना उचित है।

खेल के नियम का कोई बड़ा मूल्य नहीं है, वह ऐसे ही है, जैसे रास्ते पर बायें चलो का नियम। कोई दायें चलने में पाप नहीं है। क्योंकि कुछ मुल्कों में लोग दायें चलते हैं, तो वहाँ बायें चलना कठिन है। बायें चलो या दायें चलो—यह कोई मूल्य की बात नहीं है। लेकिन एक नियम है—खेल का नियम है। बायें चलने में सुविधा है—आपको भी दूसरों को भी। अगर सभी लोग अपना नियम बना लें; तो रास्ते पर चलना मुश्किल हो जाएगा। हालाँकि कोई नियम शाश्वत नहीं है, सब सापेक्ष हैं, सबकी उपयोगिता है।

इस बड़े जगत् में जहाँ बहुत लोग हैं—मैं अकेला नहीं हूँ—वहाँ किसी व्यवस्था को चुपचाप मानकर चलना उचित है। इसका यह अर्थ नहीं है कि वह व्यवस्था कोई शाश्वत सत्य है; इसका केवल इतना अर्थ है कि हमने एक खेल का नियम तय किया है, उस नियम को हम पालन करके चलेंगे। और ध्यान रहे, खेल नियम पर निर्भर होता है; नियम हटा कि खेल गड़बड़ हो जाता है। अगर आप ताश के पत्ते खेल रहे हैं, तो नियम है। चार खिलाड़ी खेल रहे हैं, तो उनमें नियम है। यदि उनमें एक भी नियम के विपरीत करने लगे, या कहने लगे कि मेरा अपना अलग नियम है, तो खेल खराब हो गया।

यह समाज भी पूरा का पूरा एक खेल है। वह ताश के पत्ते से कोई बड़ा खेल नहीं है। उसमें सब नियम हैं : कोई पति है, कोई पत्नी है; कोई बेटा है, कोई बाप है; कोई छोटा है, कोई बड़ा है; कोई पूज्य है; कोई शिष्य है, कोई गुरु है—वे सारे खेल हैं। उस खेल को मान कर चलना दैवी सम्पदा का लक्षण है। लक्षण इसलिए कि अकारण ऐसा व्यक्ति उलझन में नहीं पड़ता, न दूसरों को उलझन में डालता है।

कुछ लोग व्यर्थ ही उलझन में पड़ते हैं, उसका कोई सार भी नहीं है। आप अगर बायें की छोड़ कर दायें चलने लगें, तो कोई बड़ी क्रांति नहीं हो जाएगी; सिर्फ आप मूढ़ सिद्ध होंगे।

आसुरी वृत्ति का जो व्यक्ति होता है, उसको हमेशा नियम तोड़ने में रस आता है, उच्छृंखल होने में रस आता है, विद्रोह में रस आता है। जब भी वह कुछ तोड़ता है, तब उसका अहंकार सिद्ध होता है। उसे आज्ञा मानना कठिन है, आज्ञा तोड़ना आसान है। उससे अगर कोई काम करवाना हो, तो उलटी बात कहनी उचित है। उससे अगर कहना हो कि सीधे बैठो, तो उससे कहना चाहिए कि 'सिर के बल बैठो', तो वह सीधा बैठ जाएगा।

मुल्ला नसरुद्दीन अपने बेटे को समझा रहा है कि 'यह मत कर, वह मत कर।' बेटा सुनता नहीं। वह नसरुद्दीन का ही बेटा है! आखिर नसरुद्दीन उससे परेशान आ गया और उससे बोला, 'अच्छा, अब तुझे जो करना हो, कर। अब मैं देखूँ, तू कैसे मेरी आज्ञा का उल्लंघन करता है। जो तुझे करना हो, कर। यह मेरी आज्ञा है। अब मैं देखता हूँ कि तू मेरी आज्ञा का उल्लंघन करता है।'

वह जो आसुरी वृत्ति का व्यक्तित्व है, उसे तोड़ने का रस है। आप कुछ कहें, वह उसको तोड़ेगा। जो आपको न करवाना हो, उससे कहें कि करो, तो वह नहीं करेगा।

दैवी सम्पदा का व्यक्ति व्यर्थ उलझन में नहीं पड़ेगा। जो काम-चलाऊ है, उसे स्वीकार कर लेगा, हाँ भर देगा। खेल के नियम हैं, उनको मान लेगा। जब तक कि उसके जीवन का ही कोई सवाल न हो, जब तक कि उसकी आत्मा का कोई सवाल न हो, तब तक उसमें विद्रोह का स्वर नहीं होगा।

और ध्यान रहे, जो छोटी-छोटी बातों में 'ना' कहता है, उसके पास ना कहने की शक्ति बचती नहीं—कि बड़े मौके पर ना कह सके। जो छोटी-छोटी बातों में 'हाँ' भरता है, जब जरूरत हो, तो उसके पास 'ना' कहने की शक्ति होती है, तो वह कह सकता है—'नहीं'। फिर उसकी 'नहीं' को तोड़ा नहीं जा सकता। इसलिए जिसको वस्तुतः क्रान्तिकारी होना हो, उसको विद्रोही नहीं होना चाहिए; उसे व्यर्थ के नियम तोड़ने में नहीं लगना चाहिए—जिसे अगर जीवन का कोई वास्तविक अतिक्रमण करना हो।

'तथा तेज, क्षमा, धैर्य और शौच अर्थात् बाहर भीतर की शुद्धि एवं अद्रोह अर्थात् किसी में भी शत्रु भाव का न होना, अपने में पूज्यता के अभिमान का अभाव, यह सब तो है, अर्जुन दैवी सम्पदा को प्राप्त हुए पुरुष के लक्षण हैं।'

इन सारे लक्षणों में गहन भाव है—अहंकार शून्यता।

मैं पूज्य हूँ, दूसरे मुझे पूजें, दूसरे मुझे आदर दें—ऐसा सबके मन में होता है। यह स्वाभाविक है, क्योंकि अहंकार इसके सहारे ही निर्मित होगा और रक्षित होगा। मैं दूसरे को पूजूँ, यह कठिन है। गुरु होना एकदम आसान है, शिष्य होना बहुत कठिन है। क्योंकि शिष्य होने का अर्थ है, किसी और की पूजा, किसी और के सामने समर्पण। इसलिए कोई अगर आपसे दिल से पूछे कि ठीक दिल की बात बता दें, कि आप गुरु होना चाहते हैं कि शिष्य? तो भीतर से आवाज आयेगी : गुरु होना चाहते हैं। और यह आवाज अगर भीतर है, तो आप शिष्य कभी भी नहीं हो सकते। तो अगर आप किसी के चरणों में भी झुकेंगे, तो भी झूठा होगा। और तरकीबें आप ऐसी करेंगे कि किसी भाँति गुरु को ही झुका लें। कोई उपाय, कि किसी दिन गुरु आपके प्रति झुक जाय!

अहंकार का स्वाभाविक लक्षण है कि सारा जगत् मुझे पूजे। और कठिनाई यह है कि जब तक अहंकार हो, तब तक कोई आपको पूजेगा नहीं। पूजा हो सकती है, पर वह सदा निरहंकार भाव की है। जिस दिन अहंकार मिट जाएगा, उस दिन शायद सारा जगत् पूजे, लेकिन आपकी वह आकांक्षा नहीं है। और जगत् पूजे या न पूजे, आपका समभाव होगा।

मैं मिटूँ—ऐसा जिसका लक्ष्य है, वह व्यक्ति दैवी सम्पदा को उपलब्ध हो जाता है। मैं बनूँ, मैं रहूँ, मैं बचूँ; चाहे सारा जगत् मिट जाय—मेरे मैं के बचाने में, तो भी मैं मैं को बचाऊँगा—ऐसा व्यक्ति आसुरी सम्पदा को उपलब्ध हो जाता है।

आज इतना ही।

विक्षिप्तता या विमुक्ति • समाज सुधार या आत्म-क्रांति साधन और साध्य • बंधन हमारा निर्माण है

तीसरा प्रवचन

श्री रजनीश आश्रम, पूना, रात्रि, दिनांक १ अप्रैल, १९७४
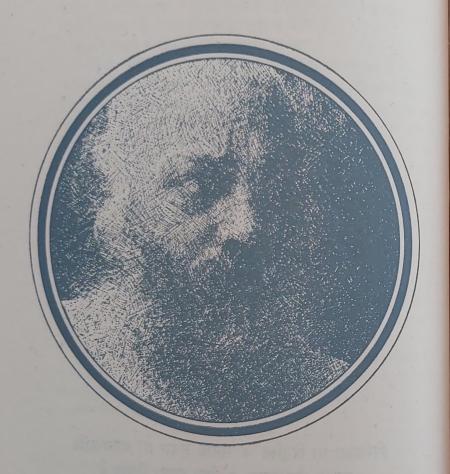
दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ संपदमासुरीम् ॥ ४ ॥

दैवी संपद्विमोक्षाय निबंधायासुरी मता।
मा शुचः संपदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव ॥ ५ ॥

द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन्दैव आसुर एव च
दैवो विस्तरशः प्रोक्त आसुरं पार्थ मे श्रृणु ॥ ६ ॥

और हे पार्थ, पाखण्ड, घमण्ड और अभिमान तथा क्रोध और कठोर वाणी एवं अज्ञान—ये सब आसुरी संपदा को प्राप्त हुए पुरुष के लक्षण हैं।

उन दोनों प्रकार की संपदाओं में दैवी संपदा तो मुक्ति के लिए और आसुरी संपदा बाँधने के लिए मानी गयी है। इसलिए हे अर्जुन, तू शोक मत कर, क्योंकि तू दैवी संपदा को प्राप्त हुआ है।

और हे अर्जुन, इस लोक में भूतों के स्वभाव दो प्रकार के माने गये हैं। एक तो देवों के जैसा और दूसरा असुरों के जैसा। उनमें देवों का स्वभाव ही विस्तारपूर्वक कहा गया, इसलिए अब असुरों के स्वभाव को भी विस्तारपूर्वक मेरे से सुन।

पहले कुछ प्रश्न।

● पहला प्रश्न : कल आपने कहा कि पूरा अशान्त होने पर शान्ति की साधना कठिन हो जाती है। लेकिन आप यह भी कहते रहे हैं कि विपरीत ध्रुवीयता के नियम के अनुसार अति पर पहुँच कर ही बदलाहट संभव होती है। इसे समझाएँ।

आत्म-रूपान्तरण—आंत्यतिक क्रान्ति—तो अति पर ही सम्भव होती है। जब तक हम जीवन की एक शैली के आखिरी छोर पर न पहुँच जायँ, जब तक हम उसकी पीड़ा को पूरा न भोग लें, उसके संताप को पूरा न सह लें, तब तक रूपान्तरण नहीं होता।

अशान्त अगर कोई पूरा हो जाय, तो छलाँग लग सकती है शान्ति में, लेकिन पूरा अशान्त हो जाय—यह शर्त खयाल रहे। आधी अशान्ति से नहीं चलेगा। और हममें से कोई भी पूरा अशान्त नहीं होता; हम थोड़े अशान्त होते हैं। जब हम समझते हैं कि हम बहुत अशान्त हैं, तब भी हम थोड़े ही अशान्त होते हैं। जब हम सोचते हैं कि असहनीय हो गई है दशा, तब भी सहनीय ही होती है—असहनीय नहीं होती। क्योंकि असहनीय का अर्थ है कि आप बचेंगे ही नहीं।

जिसको आप असहनीय अशान्ति कहते हैं, उसे भी आप सह तो लेते ही हैं। प्रियजन मर जाता है, बेटा मर जाता है, माँ मर जाती है, पत्नी मर जाती है, पति मर जाता है—इसे हम असहनीय दुःख कहते हैं, लेकिन उसे भी हम सह लेते हैं; और हम बच जाते हैं—उसके पार भी। दो-चार महीने में घाव भर जाता है; हम फिर पुराने हो जाते हैं; फिर जिन्दगी वैसी ही चलने लगती है। हमने कहा था : 'असहनीय', लेकिन वह सहनीय था। अशान्ति पूरी न थी।

अशान्ति पूरी होती, तो दो घटनाएँ सम्भव थीं : या तो आप मिट जाते, बचते न; और अगर बचते, तो पूरी तरह रूपान्तरित होकर बचते। हर हालत में आप जैसे हैं,

वैसे नहीं बच सकते थे। या तो आत्मघात हो जाता, या रूपान्तरण हो जाता; पर आप जैसे हैं, वैसे बच नहीं सकते थे।

लेकिन देखा जाता है कि सब दुःख आते हैं और चले जाते हैं, और आपको वैसा ही छोड़ जाते हैं—जैसे आप थे; उसमें रत्ती भर भेद नहीं होता। आप वही करते हैं फिर, जो पहले करते थे। वही जीवन, वही चर्या, वही ढंग, वही व्यवहार—थोड़ा-सा धक्का लगता है, फिर आप सम्हल जाते हैं। फिर गाड़ी पुराने लीक पर चलने लगती है।

आत्महत्या हो जाएगी और या आत्मक्रान्ति हो जाएगी—दोनों ही स्थिति में आप मिट जाएँगे।

अति पर क्रान्ति घटित होती है। यदि कोई पूरा अशान्त हो जाय, तो उसका अर्थ हुआ कि अब और अशान्त होने की जगह न बची। अब इसके आगे अशान्ति में जाने का कोई मार्ग न रहा। आखिरी पड़ाव आ गया। अब गति का कोई उपाय नहीं। उस क्षण क्रान्ति घट सकती है; इस क्षण आप व्यर्थता को समझ सकते हैं। यह अशान्त होने का सारा रोग व्यर्थ मालूम पड़ सकता है।

और ध्यान रहे, कोई और तो आपको अशान्त करता नहीं, आप ही अशान्त होते हैं। यह आपका ही अर्जन है, यह आपका ही लगाया हुआ पौधा है, इसे आपने ही सींचा और बड़ा किया है। यह जो अशान्ति के फल और फूल लगे हैं, ये आपके ही श्रम के फल हैं। और अगर आप पूरे अशान्त हो गए, तो आपको दिखाई पड़ जाएगा कि सब व्यर्थ था; यह पूरा श्रम आत्मघाती था। आप इसे छोड़ दे सकते हैं। कोई और आपको पकड़े हुए नहीं है, और कोई आपको अशान्त नहीं कर रहा है।

एक क्षण में जीवन अशान्ति के मोड़ से शान्ति की दिशा में गति करता है। एक तो उपाय यह है। लेकिन जब मैंने कल कहा कि जब आप अशान्त हैं, तो शान्त होना मुश्किल होगा, तो उसका प्रयोजन दूसरा है।

पहली तो बात यह कि जब आप अशान्त हैं, तो मेरा अर्थ पूरी अशान्ति से नहीं है। आप आधे-आधे हैं। जैसे पानी को हम गरम करें; वह पचास डिग्री पर गरम हो, तो न तो वह भाप बन पाता है और न बर्फ बन पाता है। पानी ही रहता है। सिर्फ गरम होता है। या तो सौ डिग्री तक गरम हो जाय, तो रूपान्तरण हो सकता है; पानी छलाँग लगा ले, भाप बन जाय। और या शून्य डिग्री के नीचे गिर जाय, तो भी रूपान्तरण हो सकता है। पानी समाप्त हो जाय—बर्फ बन जाय। दोनों हालत में पानी खो सकता है—लेकिन अतियों से।

तो जब मैंने कल कहा कि जब आप अशान्त हैं तब शान्त होना मुश्किल होगा, उसका मतलब इतना ही है कि जब पानी गरम है, तो बर्फ बनानी मुश्किल होगी। पानी

को ठंडा करना होगा, तो बर्फ बन सकती है। लेकिन दो उपाय हैं : या तो पानी को पूरा गरम कर लें, तो भी पानी खो जाएगा, आप एक नये जगत् में प्रवेश कर जाएँगे। या फिर पानी को पूरा ठंडा हो जाने दें, तो भी पानी खो जाएगा और नई यात्रा शुरू हो जाएगी।

अशान्ति से कूदने के दो उपाय हैं : या तो बिलकुल शान्त क्षण आ जाय और या बिलकुल अशान्त क्षण आ जाय। आप जहाँ हैं, वहाँ से छलाँग नहीं लग सकती। या तो पीछे लौटें और अपने को शान्त करें या आगे बढ़े और पूरे अशान्त हो जायँ।

दोनों की सुविधाएँ हैं और दोनों के खतरे हैं। शान्त होने की सुविधा तो यह है कि कोई विक्षिप्तता का डर नहीं है। इसलिए अधिक धर्मों ने शान्त होने के छोर से ही छलाँग लगाने की कोशिश की है। संन्यासियों को कहा गया है कि घर-द्वार छोड़ दें, गृहस्थी छोड़ दें, काम-काज छोड़ दें। यह सब शान्त होने की व्यवस्था है। उन परिस्थितियों से हट जायँ, जहाँ पानी गरम होता है। चले जायँ दूर हिमालय में, जहाँ कोई गरम करने को न होगा, धीरे-धीरे आप ठंडे हो जाएँगे। हट जायँ उन-उन स्थितियों से, जहाँ आप उबलने लगते हैं। बार-बार उबलने लगते हैं, तो उबलने की आदत बन जाती है। हट जायँ उन व्यक्तियों से, जिनके सम्पर्क में आपको ठंडा होना मुश्किल हो रहा है।

अधिक धर्मों ने, जहाँ आप हैं, मध्य में—अशान्ति में खड़े हैं—अधूरी अशान्ति में, वहाँ से पीछे लौटने की सलाह दी है। खतरा उसमें कम है। लेकिन कठिनाई भी है उसकी, क्योंकि आप परिस्थितियों से हट सकते हैं, लोगों से हट सकते हैं, दुकान-बाजार छोड़ सकते हैं, लेकिन आपका मन आपके साथ हिमालय चला जाएगा। और जो मन यहाँ अशान्त हो रहा था, वह मन तो आपके साथ होगा, सिर्फ अशान्त करने वाली परिस्थितियाँ साथ न होंगी। तो हो सकता है कि आप थोड़े शान्त होने लगें, लेकिन वह शान्ति धोखा भी हो सकती है। बीस साल हिमालय पर रह कर वापस लौटें, और जैसे ही नगर में आयें कि अशान्ति वापस पकड़ सकती है। क्योंकि परिस्थिति से हट गए थे, आप शान्त नहीं हुए थे; जहाँ अशान्ति होती थी, उस जगह से हट गये थे। तो खतरा भी है, सुविधा भी है।

दूसरा उपाय कुछ धर्मों की विशेष शाखाओं ने किया है। बुद्ध-धर्म की झेन शाखा ने अशान्त करने का पूरा प्रयोग किया है। इसलाम की सूफी शाखा ने अशान्त करने का पूरा प्रयोग किया है। वे कहते हैं : भागने से कुछ भी नहीं होगा; चित्त को उसकी पूरी दौड़ में चले जाने दें; उसको हो लेने दें—जितना पागल होना है। उसको उसके पूरे पागलपन को छू लेने दें और वहीं से छलाँग लें।

इसके खतरे हैं, इसके लाभ हैं। खतरा तो यह है आप क्रमशः पायेंगे कि आप

और भी पागल होते जा रहे हैं। खतरा यह है कि अगर आप पूरे छोर तक न पहुँचें, नब्बे डिग्री पर कहीं एक गये, तो आप विक्षिप्त हालत में रह जाएँगे। बहुत से संन्यासी विक्षिप्त अवस्था में रह जाते हैं।

सौ डिग्री तक पहुँचें, तो पानी भाप बन जाएगा, लेकिन जरूरी नहीं है कि आप पहुँच पायें। अगर निन्यानबे डिग्री पर रह गये, तो आप सिर्फ पागल होंगे, उन्मत्त हो जाएँगे। उस उन्मत्तता की अवस्था में न तो पीछे लौटना आसान होगा, न आगे जाना आसान होगा।

वह दुर्घटना घटती है। अगर बीच में अटके तो वह कठिनाई बढ़ जाएगी। और आप इस हालत में होंगे उबलने की, कि फिर आप कुछ भी न कर पायेंगे। इसलिए यह जो दूसरा मार्ग है, अनिवार्यरूपेण किसी गुरु के पास ही साधा जा सकता है।

पहला मार्ग अकेला भी साधा जा सकता है, क्योंकि शान्त होने की प्रक्रिया है, कोई खतरा नहीं है। दूसरे मार्ग में खतरा है। कोई चाहिए, जो आपको सौ डिग्री तक पहुँचा दें। क्योंकि पचास-साठ डिग्री के बाद आपका होश आपके काम नहीं आयेगा। आप इतनी उबलती हालत में होंगे कि फिर आप अपने नियन्त्रण में नहीं होंगे। कोई और चाहिए, जो आपको आगे ले जाय। और आखिरी क्षणों में, जब सौ डिग्री पर आप पहुँचते हैं, तब तो गुरु भी चाहिए, तब ऐसा स्थान चाहिए, जहाँ और भी साधक आसपास हों, जहाँ का पूरा वातावरण आपको सौ डिग्री तक पहुँचा दे और टूटने न दे।

इसलिए ग्रुप, एक समूह, स्कूल, सम्प्रदाय, आश्रम, इसका उपयोग है, जहाँ बहुत से लोग उस शान्त अवस्था को पहुँच गए हैं, जहाँ बहुत से लोग इस उबलती हुई अवस्था को पार कर गये हैं, जहाँ बहुत से लोगों ने सौ डिग्री ताप और पागलपन जाना है, उनकी मौजूदगी आपको सम्हालेगी। और कई बार महीनों तक, वर्षों तक यह विक्षिप्त अवस्था बनी रह सकती है। उस वक्त कोई चाहिए, जो आपको देखे और आपको सम्हाले।

पश्चिम के मनोवैज्ञानिक कहते हैं कि पश्चिम के पागलखानों में बहुत से ऐसे लोग बन्द हैं, जो पागल नहीं हैं; जो सिर्फ उन्माद की अवस्था में हैं। लेकिन पश्चिम में उनको सम्हालने वाला कोई नहीं है। ईसाइयों ने, मुसलमानों ने, हिन्दुओं ने, बौद्धों ने, मौनेस्ट्रीज खड़ी की थीं।

आज भी ईसाइयों की कुछ मोनेस्ट्रीज पश्चिम में हैं, जहाँ व्यक्ति प्रवेश करता है एक बार, तो फिर मरने के पहले वापस नहीं निकलता है। बीस वर्ष, तीस वर्ष, चालीस वर्ष...। जो व्यक्ति एक बार द्वारा के भीतर गया, वह फिर आश्रम के बाहर नहीं आता, जब तक कि वह अतिक्रमण न कर जाय। जब तक गुरु आज्ञा न दे, तब तक

दुनिया से उसका कोई वास्ता नहीं है। और पूरा समूह सहयोगी होगा। इन मोनेस्ट्रीज में अनेक लोग विक्षिप्त अवस्था में वर्षों तक रहते हैं।

तो दूसरे मार्ग का खतरा है, सुविधा भी है। सुविधा यह है कि धोखे का कोई उपाय नहीं है। एक बार पार कर गये, तो पार कर गये; फिर लौट कर गिरना नहीं होगा। फिर यह सारी दुनिया भी आपको अशान्त नहीं कर सकती। फिर आप कहीं भी हों, आपको नरक में भी डाल दिया जाय, तो भी आप स्वर्ग में ही होंगे। आपके स्वर्ग को छीना नहीं जा सकता। यह तो सुविधा है।

खतरा यह है कि बड़ी व्यवस्था चाहिए; योग्य निरीक्षण चाहिए; समर्पण का पूरा भाव चाहिए। क्योंकि अपने को पागल करने देना और किसी को शक्ति देना कि वह आपको पागलपन की तरफ ले जाय, पूरा उद्विग्न कर दे—यह बड़े समर्पण के बिना नहीं हो सकेगा। पूरा समर्पण चाहिए और अंधा अनुकरण चाहिए, तभी आप पागल हो सकेंगे। और एक बार पूरी तरह जल जायँ भीतर, तो छलाँग लग जाएगी। अति से ही रूपान्तरण होता है।

कृष्ण पहले मार्ग की बात कर रहे हैं, जो व्यक्ति अकेला भी साध सकता है। इसलिए मैंने कहा कि जब आप अशान्त हैं, तब शान्त होना बहुत मुश्किल होगा। इसलिए जब आप शान्त हैं, तभी शान्ति को साधें, ताकि अशान्त होने का मौका न आये। और शान्ति आपके जीवन का आधार बन जाय। धीरे-धीरे वह इतना सुदृढ़ हो जाय कि आप पानी को भाप बना कर क्रान्ति में न जायँ, वरन पानी को बर्फ बना कर क्राति में जायँ।

पानी से तो हटना है। जहाँ आप हैं, वहाँ से तो चलना है। ये चलने के दो उपाय हैं।

ज्यादा सुगम, अकेले भी चला जा सके, विक्षिप्तता का भय न हो—यह पहला मार्ग है। ज्यादा तीव्र, ज्यादा प्रमाणिक, जिससे लौट कर गिरने का कोई डर नहीं है, लेकिन ज्यादा खतरनाक, दुस्साहस का—यह दूसरा मार्ग है। और प्रत्येक व्यक्ति को तय करना होता है कि उसका कितना साहस है, कितनी क्षमता है, कितना दाँव पर लगाने की हिम्मत है।

अगर दुकानदार का मन हो; तो पहला मार्ग ठीक है; अगर जुआँरी का मन हो तो दूसरा मार्ग ठीक है। अगर बूढ़ा चित्त हो, तो पहला मार्ग ठीक है; अगर युवा चित्त हो, तो दूसरा मार्ग ठीक है। अगर स्त्री का चित्त हो, तो पहला मार्ग ठीक है। अगर पुरुष का चित्त हो, तो दूसरा मार्ग ठीक है।

पर प्रत्येक को समझना होता है कि उसकी अपनी जीवन दशा कैसी है। और जहाँ वह खड़ा है, जैसा वह है, उसमें क्या उसके लिए सुगम होगा। क्योंकि आप अगर

कुछ अपने से विपरीत मार्ग चुन लें, तो आपका समय, शक्ति अपव्यय होगी। और इसलिए गुरु की उपादेयता हो जाती है, क्योंकि न केवल वह मार्ग दे सकता है, बल्कि वह यह भी परख दे सकता है कि आपके लिए क्या उचित होगा।

इसलिए पुराने दिनों में एक-एक साधक को गुरु उसके कान में ही उसकी साधना का सूत्र देता रहा है; उसके कान में ही मन्त्र देता रहा है। वह उसके लिए निजी था। वह उस व्यक्ति के लिए विशेष था। वह उसका मार्ग पथ था। उस मन्त्र को किसी को कहना भी नहीं है, क्योंकि आप नहीं जानते, वह किसी और के काम आ सकता है कि नहीं आ सकता है। और आपको पता नहीं है कि वह किसी को नुकसान भी पहुँचा सकता है; किसी के लिए कल्याणकारी हो सकता है।

तो वह जो अतिक्रमण कर गया, जीवन की सारी स्थितियों को; जो लौट कर देख सकता है सारे विस्तार को, जो आपके अन्तःकरण में प्रवेश कर सकता है, जो आपके मन की आज की दशा जान सकता है, जो आपके अतीत संस्कारों को ठीक से पहचान सकता है, और जो निर्णय ले सकता है कि भविष्य आपके लिए कौन-सा सुगम होगा, उसके बिना मार्ग पर बढ़ जाना सदा ही जोखम का काम है।

● दूसरा प्रश्न : कृष्ण ने गीता में लोक और शास्त्र के विरुद्ध आचरण का निषेध किया है, लेकिन इस नियम से तो समाज लकीर का फकीर होकर रह जाएगा। शायद यही कारण है कि हिन्दू समाज सदियों-सदियों से यथास्थिति में पड़ कर सड़ रहा है। इस प्रवृत्ति से तो दकियानूसीपन ही बढ़ेगा तथा सुधार, परिवर्तन और क्रान्ति असम्भव हो जाएँगे! इस पर प्रकाश डालें।

इसे समझना जरूरी है।

पहली बात : कृष्ण जो भी कह रहे हैं गीता में, वह कोई समाज सुधार का आयोजन नहीं है, वह कोई समाज सुधार की रूप-रेखा नहीं है। वह प्रस्तावना: व्यक्ति की आत्मक्रान्ति के लिए है। और ये दोनों बातें बड़ी भिन्न हैं।

अगर व्यक्ति को आत्मक्रान्ति की तरफ जाना हो, तो यही उचित है कि वह व्यर्थ के उपद्रवों में न पड़े, क्योंकि शक्ति सीमित है, समय सीमित है, और जीवन और समाज के प्रश्न तो अनन्त हैं। उनकी कभी कोई समाप्ति होने वाली नहीं है। हजारों वर्षों से समाज में हजारों रूपान्तरण किये गए हैं, हजारों सामाजिक क्रान्तियाँ हो चुकी हैं, लेकिन समाज फिर भी सड़ रहा है।

एक चीज बदल जाती है, तो दूसरी खड़ी हो जाती है। दूसरी बदल जाती है, तो तीसरा सवाल खड़ा हो जाता है। एक समस्या का हम समाधान करते हैं, तो समाधान से ही दस समस्याएँ खड़ी हो जाती हैं।

समस्याओं का—समाज के लिए—कभी कोई अन्त आनेवाला नहीं है। हिन्दू इस

बात को बहुत गहरे समझ गये कि समाज बहता रहेगा, समस्याएँ बनी रहेंगी। क्यों? क्योंकि समाज बनता है करोड़ों-करोड़ों, अरबों-अरबों लोगों से, और वे अरब-अरब लोग अज्ञान से भरे हैं, वे अरब-अरब लोग पागलपन से भरे हैं। वे अरब-अरब लोग विक्षिप्त हैं। उन अरबों लोगों का जो समाज है, वह कभी भी स्वस्थ नहीं हो सकता। बीमार होना उसका लक्षण ही रहेगा, जब तक कि ये सारे लोग प्रबुद्ध पुरुष न हो जायँ।

बुद्धों का कोई समाज हो, तो समस्याओं के पार होगा। हमारा समाज समस्याओं के पार कभी हो नहीं सकता। और हम जो भी करेंगे...। एक तरफ हम सुधारते हैं, तो दस तरफ हम बिगाड़ कर लेते हैं।

आज से दो सौ साल पहले दुनिया भर के विचारकों का खयाल था कि अगर शिक्षा बढ़ जाय जगत् में, तो स्वर्ग आ जाएगा। अब शिक्षा बढ़ गई है। अब सारा जगत् शिक्षा के मार्ग पर गतिमान हुआ है। अधिक लोग शिक्षित हैं। लेकिन अब शिक्षा के कारण जो परेशानियाँ आ रही हैं, दो सौ साल के पहले के समाज सुधारकों को उनका कोई पता भी नहीं था।

अब शिक्षा के कारण ही उपद्रव है। और बड़े विचारक—डी. एच. लारेन्स जैसे विचारक—यह सुझाव देते हैं कि सौ साल तक हमें सारे विश्वविद्यालय बन्द कर देने चाहिए। सौ साल तक सारी शिक्षा बन्द कर देनी चाहिए, तो ही हमारी समस्याओं का हल होगा, नहीं तो हल नहीं हो सकता।

आज हमारे सारे पागलपन और उपद्रव का गढ़ विश्वविद्यालय बन गया है। सब उपद्रव वहाँ से पैदा हो रहे हैं।

सोचा था : शिक्षा स्वर्ग ले आयेगी, लेकिन जिनको हमने शिक्षित किया है, वे समाज को और नरक बनाये दे रहे हैं! सोचा था कि शिक्षा से लोग सत्य, धर्म, नीति की तरफ बढ़ेंगे, लेकिन शिक्षा सिर्फ लोगों को बेईमान और चालाक बना रही है।

शिक्षित आदमी के ईमानदार होने में कठिनाई हो जाती है, क्योंकि वह गणित बिठालने लगता है, चालाक हो जाता है।

बुद्धि बढ़ेगी, तो चलाकी भी बढ़ेगी। चालाकी बढ़ेगी, तो आदमी दूसरे का शोषण करने में ज्यादा कुशल हो जाएगा। शिक्षा बढ़ेगी, तो महत्वाकांक्षा बढ़ेगी, एम्बीशन बढ़ेगी। महत्वाकांक्षा बढ़ेगी तो वह संघर्ष करेगा। तृप्ति कम हो जाएगी, असन्तोष घना हो जाएगा।

शिक्षित व्यक्ति देखता है कि दूसरा आदमी अगर एम. ए. पास है, और चीफ मिनिस्टर हो गया है और मैं भी एम. ए. पास हूँ, तो मैं क्यों क्लर्क रहूँ? और यह भी हो सकता है कि थर्ड क्लास एम. ए. मिनिस्टर हो गया है, और फर्स्ट क्लास एम. ए. क्लर्क है, तो वह कैसे बरदाश्त करे, तो उपद्रव खड़ा होगा।

लोग सोचते थे कि गरीबी कम हो जाएगी, तो समाज में सुख आ जाएगा। अमेरिका से गरीबी काफी मात्रा में तिरोहित हो गई। कम से कम आधे वर्ग की तो तिरोहित हो गई। लेकिन वह जो आधा वर्ग आज गरीबी के बिलकुल पार है, वह बड़े महान दुःख में पड़ा हुआ है।

अब तक हम सोचते थे कि धन होगा, तो सुख होगा। अब जिनके पास धन है, उनका सुख इस बुरी तरह खो गया है, जितना किसी गरीब का कभी नहीं खोया था। गरीब को एक आशा थी कि कभी धन होगा, तो सुख मिल जाएगा। जिनके पास आज धन है, उनकी वह आशा भी खो गई है। धन है, और सुख नहीं मिला। अब भविष्य बिलकुल अन्धकार है। कुछ पाने योग्य भी नहीं है। और फिर जीने की कोई आशा भी नहीं रह गई है।

अमेरिका में सर्वाधिक आत्मघात हो रहा है। अधिकतम लोग अपने को मिटाने की हालत में हैं। जी कर भी क्या करें?

गरीबी मिट जाय, अशिक्षा मिट जाय...। हम सोचते हैं : बीमारी मिट जाय, सभी लोग स्वस्थ हो जायँ, पर स्वस्थ होकर भी आदमी क्या करेगा?

मैंने सुना है : तैमूरलंग ने एक ज्योतिषी को बुलाया। तैमूरलंग को काफी नींद आती थी। उसने ज्योतिषी से पूछा कि 'बात क्या है? क्या मेरे तारों में, क्या मेरे भाग्य में, क्या मेरी जन्म-कुण्डली में कुछ ऐसी बात है कि मुझे बहुत नींद आती है! रात भर भी सोता हूँ, तो भी दिन भर मुझे नींद आती है। और यह तो बुरा लक्षण है। क्योंकि शास्त्रों में कहा है : इतना आलस्य तामसी प्रकृति का सूचक है।'

उस ज्योतिषी ने कहा कि 'महाराज, इससे ज्यादा स्वागत के योग्य और कुछ भी नहीं है। आप चौबीस घण्टे सोएँ। यह बिलकुल शुभ लक्षण है। शास्त्र गलती पर हैं।'

तैमूरलंग को भरोसा नहीं आया, उसने कहा कि 'शास्त्र गलत नहीं हो सकते; तुम यह क्या कह रहे हो?' उसने कहा कि 'शास्त्रों में आपके सम्बन्ध में लिखा ही नहीं है। आप जैसा आदमी चौबीस घण्टे सोए, यही सुखद है। आप जितनी देर जगते हो; उतना ही उपद्रव होता है। आपसे उपद्रव के सिवाय कुछ हो ही नहीं सकता। तो परमात्मा की बड़ी कृपा है कि आप सोए रहें। आपका जीवित होना खतरनाक है। आपका मर जाना शुभ है।'

आदमी पर निर्भर है। सारा जगत् अगर स्वस्थ हो जाय—ये सारे उपद्रवी लोग अगर स्वस्थ हो जायँ, तो आप यह मत सोचना कि शान्ति आयेगी दुनिया में। वह जो बीमार था, एक पत्नी से राजी था; वह स्वस्थ हो जाएगा, तो वह दस पत्नियों से भी राजी होने वाला नहीं। वह बीमार था, तो वह कभी बरदाश्त भी कर लेता था;

सह भी लेता था; समझ लेता था अपने को। वह स्वस्थ हो जाएगा, तो वह तलवार लेकर कूद पड़ेगा, वह सह भी नहीं सकेगा, बरदास्त भी नहीं करेगा।

आदमी अगर गलत है, तो उसका स्वस्थ होना खतरनाक है। आदमी अगर गलत है, तो उसका शिक्षित होना खतरनाक है। आदमी अगर गलत है, तो उसका धनी होना खतरनाक है। और आदमी गलत है, समाज गलत आदमियों का जोड़ है। हमारे हिसाब से समाज सदा ही गलत आदमियों का जोड़ रहेगा, क्योंकि जो भी आदमी ठीक हो जाता है—हिन्दुओं के गणित से—वह वापस नहीं लौटता।

कृष्ण या बुद्ध या महावीर जैसे ही शुभ हो जाते हैं, यह उनका आखिरी जीवन है। फिर इस जीवन में वे वापस नहीं आते। तो शुभ आदमी तो जीवन से तिरोहित हो जाता है, अशुभ आदमी लौटता आता है।

यह कारागृह—जिसको हम संसार कहते हैं—यह बुरे आदमी की जगह है। उसमें से भला तो अपने आप छिटक कर बाहर हो जाता है, बुरा उसमें वापस लौट आता है; वह और भी निष्णात हो जाता है; और भी कुशल होता जाता है बुराई में। जितनी बार लौटता है, उतना निष्णात होता जाता है।

इसलिए समाज कभी शुभ हो नहीं सकेगा। यह बात निराशाजनक लग सकती है, लेकिन तथ्य नहीं है।

और कृष्ण या बुद्ध या महावीर या जीसस की उत्सुकता समाज में नहीं है। उनकी उत्सुकता व्यक्ति में है। क्योंकि वही बदला जा सकता है। और व्यक्ति को अगर जीवनक्रान्ति करनी है, तो उचित है कि वह व्यर्थ की बातों में न पड़े। दहेज की प्रथा मिटानी है, इसमें लग जाय। आदिवासियों को शिक्षित करना है, इसमें लग जाय। हरिजनों का सुधार करना है, इसमें लग जाय। कोढ़ी की सेवा करना है, इसमें लग जाय। कुछ भी बुरा नहीं है, ये काम सब अच्छे हैं। लेकिन आपके पास जिन्दगी कितनी है ? और आप इसमें लग जायँ, तो आप समाप्त हो जाएँगे। न हरिजन मिटता है, न कोढ़ी मिटता है, न बीमार मिटता है—आप मिट जाएँगे। नये तरह के हरिजन पैदा हो जाएँगे।

रूस ने नये उपाय किये : क्रांति कर डाली। पुराना मजदूर मिट गया, नया मजदूर पैदा हो गया। पहले अमीर आदमी था, गरीब आदमी था; अब सरकारी आदमी है, गैर-सरकारी आदमी है। फर्क उतना ही है। तब भी कोई छाती पर बैठा था और कोई जमीन पर पड़ा था; अब भी कोई जमीन पर पड़ा है, और कोई छाती पर बैठा है। नाम बदल जाते हैं, बीमारी कायम रहती है।

जिस व्यक्ति को आत्म-क्रान्ति में लगना हो, उसे व्यर्थ के उपद्रव से बचना चाहिए—यह कृष्ण का अर्थ है। तो वे कहते हैं कि शास्त्र और समाज का जो नियम

है, उसमें, वह जो दैवी सम्पदा का व्यक्ति है, वह व्यर्थ की अड़चन नहीं डालता। वह खेल का नियम मान कर पूरा कर देता है। वह कहता है : बायें चलना है, तो हम बायें चल लेते हैं। वह इस पर झगड़ा खड़ा नहीं करता कि नहीं, दायें चलेंगे। इस पर जीवन नहीं लगा देता। इसका कोई मूल्य भी नहीं है। और ऐसा व्यक्ति अपने जीवन का, अपनी ऊर्जा का सम्यक् उपयोग कर पाता है।

और बड़े मजे की बात—विरोधाभासी दिखे तो भी, बड़े मजे की बात यह है कि ऐसे व्यक्ति के जीवन के द्वारा समाज में कुछ घटित भी होता है। लेकिन वह प्रत्यक्ष नहीं होता घटित। वह सीधा समाज को बदलने नहीं जाता, वह अपने को बदल लेता है। लेकिन उसकी बदलाहट के परिणाम समाज में प्रतिध्वनित होते हैं।

हजारों क्रांतिकारी जो फर्क समाज में नहीं कर पाते, वह एक आत्मा को उपलब्ध व्यक्ति कर पाता है। लेकिन वह उसकी इच्छा नहीं है; वह उसके लिए कोशिश में भी नहीं लगा है। उसकी मौजूदगी, उसके जीवन का प्रकाश अनेकों को बदलता है, लेकिन वह बदलाहट बड़ी सौम्य है। वह कोई क्रान्ति नहीं है। वह बहुत सौम्य विकास है। उसका कोई शोरगुल भी नहीं है। वह चुपचाप घटित होता है। वह मौन ही घट जाता है।

बुद्ध कोई क्रान्ति नहीं करते हैं समाज में, लेकिन बुद्ध के बाद दुनिया दूसरी हो जाती है। बुद्धों की मौजूदगी, उसके ज्ञान की घटना, मनुष्य की चेतना को कहीं गहरे में रूपान्तरित करती है; किसी को पता भी नहीं चलता। यह ऐसे हो जाता है, जैसे चुपचाप कोई फूल खिलता है, और उसकी सुगन्ध हवाओं में फैल जाती है; न कोई बैण्ड बजता, न कोई नगाड़े बजते। कोई शोरगुल नहीं होता। चुपचाप सुगन्ध हवाओं में भर जाती है। फूल खो भी जाता है, तो सुगन्ध तिरती रहती है। सदियों-सदियों तक उस सुगन्ध से लोग आप्लावित होते हैं, रूपान्तरित होते हैं। लेकिन ये रुख—यात्रा के—बिलकुल अलग-अलग हैं।

जो व्यक्ति समाज की तरफ उत्सुक हो जाएगा—कि समाज को बदलना है—वह व्यक्ति अपने को बदलने में उत्सुक नहीं होता।

अगर गहरे से समझना चाहें, तो असल में हम दूसरे को बदलने में इसलिए उत्सुक होते हैं, क्योंकि अपने को बदलना नहीं चाहते। यह एक तरह का पलायन है, यह एक तरकीब है। तो हम देखते हैं कि कहाँ-कहाँ दुनिया में भूल-चूक है, उसको बदलना है। सिर्फ अपने में कोई भूल-चूक नहीं देखते, और अपने में भूल-चूक दिखाई भी नहीं पड़ेगी, क्योंकि दुनिया में काफी भूल-चूकें हैं।

और अगर मैंने यह तय कर लिया कि जब तक दुनिया न बदल जाय, तब तक मैं अपनी तरफ ध्यान न दूँगा, तो मैं अनंत जन्मों तक लगा रहूँ, तो भी मुझे अपने पर ध्यान देने का समय नहीं मिलेगा।

यह दुनिया कभी पूरी बदल जाने वाली नहीं है। इसलिए समाज को चुपचाप स्वीकार कर लेना दकियानूसीपन नहीं है, एक बहुत बुद्धिमत्ता का कृत्य है।

और उसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि ऐसे व्यक्ति से क्रान्ति घटित नहीं होती। ऐसे ही व्यक्ति से क्रान्ति घटित होती है। लेकिन वह क्रान्ति परोक्ष है। वह क्रान्ति लेनिन और मार्क्स और माओ जैसी क्रान्ति नहीं है। वह क्रांति महावीर, बुद्ध और कृष्ण की क्रांति है। बड़ी चुपचाप घटित होती है। और इस जगत् में जो भी महत्वपूर्ण है, वह चुपचाप घटित होता है। और जो भी व्यर्थ है, कचरा-कूड़ा है, वह काफी शारगुल करता है। इस जगत् में जो भी महत्वपूर्ण है, इतिहास उसको अंकित ही नहीं कर पाता। इस जगत् में जो भी उपद्रव, उत्पात है, इतिहास उसे अंकित करता है।

एक यहूदी फकीर के संबंध में मैं पढ़ता था। वह अकसर लोगों से कहता था कि 'मैं सिर्फ दो किताबें ही पढ़ता हूँ—एक भगवान् की और एक शैतान की।' अनेक बार लोग उससे पूछते कि 'भगवान् की किताब तो हम समझते हैं कि तालमुद यहूदियों का धर्मग्रंथ है, वह आप पढ़ते होंगे। लेकिन, शैतान की किताब? यह इसका नाम क्या है?' तो वह हँसता और टाल जाता।

जब उसकी मृत्यु हुई, तो पहला काम उसके शिष्यों ने यह किया कि उसकी कोठरी खोल कर देखा कि वह शैतान की किताब! वहाँ दो तख्तियाँ लगी थीं : एक तरफ भगवान् की किताब—वहाँ तालमुद रखी थी, और शैतान की किताब—वहाँ रोज का अखबार। वहाँ कोई किताब नहीं थी। वह जो रोज का अखबार है...। बस, दो ही किताबें वह पढ़ता था। अखबार इतिहास बन जाएगा।

अगर जीसस के समय कोई अखबार होता, तो उसने जीसस की खबर छापी भी नहीं होती। किसी किताब में उल्लेख नहीं है। सिवाय जीसस के शिष्यों ने जो थोड़ा-सा लिखा है, बस, वही बाइबिल है, अन्यथा कोई उल्लेख नहीं है।

महावीर का इतिहास की किताबों में कोई उल्लेख नहीं है। वह जो महान घटना है, वह इतिहास के जैसे बाहर घटती है! इतिहास उसकी चिन्ता ही नहीं लेता, क्योंकि वह इतनी सौम्य है कि उसकी कोई चोट नहीं पड़ती। न किसी की हत्या होती है, न गोली चलती है, न हड़ताल होती है, न घेराव होता है। कोई उपद्रव होता ही नहीं उसके आसपास, इसलिए वह घटना चुपचाप घट जाती है। लेकिन उसके परिणाम सदियों तक गूँजते रहते हैं। इतिहास तो कचरा है।

अमेरिकी अरबपति हैनरी फोर्ड कभी-कभी बड़ी कीमत की बातें कहता था। कभी-कभी छोटे-छोटे वचन, लेकिन बड़ी कीमत की बातें कहता था। उसका एक बहुत प्रसिद्ध थोड़ा-सा वचन है। उसने कहा है : 'हिस्ट्री इज बंक—इतिहास बिलकुल कूड़ा-करकट

है।' और जो भी महत्त्वपूर्ण है, वह इतिहास के बाहर है, वह समय के बाहर घट रहा है; वह चुपचाप घटित हो रहा है। तो ऐसा नहीं है कि ऐसे व्यक्ति से क्रान्ति घटित नहीं होती, ऐसे ही व्यक्ति से घटित होती है, लेकिन वह मौन क्रान्ति है।

● तीसरा प्रश्न : गीता में दैवी सम्पदा को प्राप्त व्यक्ति के लक्षण या गुण बताये गये हैं। क्या उन्हें अलग-अलग साधने से दिव्यता उपलब्ध होती है? या दिव्यता की उपलब्ध पर उससे फूल की तरह ये गुण चले आते हैं?

दोनों ही बातें एक साथ सच हैं। दोनों बातें एक साथ घटती हैं—युगपत।

प्रश्न ऐसा है, जैसे कोई पूछे कि मुरगी पहले होती है कि अंडा! और सदियों से दार्शनिक विवाद करते रहे हैं। सवाल बचकाना लगता है, लेकिन जटिल है, और अब तक कुछ तय नहीं हो पाया कि पहले अंडा या पहले मुरगी। क्योंकि कुछ भी तय करें तो गलत मालूम होता है। कहें कि मुरगी पहले होती है, तो गलत मालूम पड़ता है, क्योंकि मुरगी बिना अंडे के कैसे हो जाएगी! कहें कि अंडा पहले होता है, तो गलत मालूम होता है, क्योंकि अंडा हो कैसे जाएगा, जब तक मुरगी उसे रखेगी नहीं। तो क्या करें? प्रश्न में कहीं कोई भूल है, इसलिए उत्तर नहीं मिल पाता है। और जब प्रश्न गलत हो, तो सही उत्तर खोजना बिलकुल असम्भव हो जाता है। कहाँ गलती है?

मुरगी और अंडा को दो मानने में गलती है। अंडा मुरगी की एक अवस्था है; मुरगी अंडे की दूसरी अवस्था है। दोनों दो चीजें नहीं हैं। अंडा ही फैल कर मुरगी होता है, मुरगी फिर सिकुड़ कर अंडा होती है।

बीज से वृक्ष होता है, और वृक्ष में फिर बीज लग जाते हैं; तो बीज और वृक्ष दो चीजें हैं नहीं। बीज का फैलाव वृक्ष है, वृक्ष का फिर से सिकुड़ाव बीज है। एक रिदम है। चीजें फैलती हैं और सिकुड़ती हैं। बीज सिकुड़ा हुआ वृक्ष है, वृक्ष फैला हुआ बीज है। और जैसे दिन के बाद रात है, और रात के बाद दिन है—ऐसा फैलाव के बाद सिकुड़ाव है, सिकुड़ाव के बाद फैलाव है। जन्म के बाद मृत्यु है, मृत्यु के बाद जन्म है।

ये दो घटनाएँ नहीं हैं; एक वर्तुल है।

तो मुरगी और अंडा दो चीजें नहीं हैं; अंडा छिपी हुई मुरगी है और मुरगी प्रगट हो गया अन्डा है। और दोनों एक साथ हैं, इसलिए इस प्रश्न को अगर किसी ने सोचना शुरू किया कि कौन पहले, तो वह पागल भला हो जाय—सोचते-सोचते, वह इसका उत्तर नहीं पा सकेगा।

और ऐसे बहुत से प्रश्न हैं। यह प्रश्न है। यह प्रश्न भी वैसा ही है कि ये लक्षण हैं, साधने से दिव्यता सधती है या दिव्यता सध जाय, तो ये लक्षण फूल की भाँति खिल जाते हैं। ये दो बातें अलग नहीं हैं।

लक्षण सध जायँ तो दिव्यता सध गई, क्योंकि उन लक्षणों में दिव्यता छिपी है। दिव्यता सध जाय, तो लक्षण आ गये, क्योंकि दिव्यता बिना उन लक्षणों के आ नहीं सकती। लक्षण और दिव्यता दो बातें नहीं हैं। लक्षण दिव्यता के अनिवार्य अंग हैं।

तो आप कहीं से भी यात्रा करें : आप मुरगी खरीद लायें, तो घर में अंडे आ जाएँगे। आप अंडा ले आयें, तो मुरगी बन जाएगी। पर बैठ कर सोचते ही मत रहें कि क्या लायें। कुछ भी ले आयें। दो में से कुछ भी लायें। कहीं ऐसा न हो कि आप सोचते ही रहें, और मुरगी भी खो जाय, अंडा भी खो जाय। आप लक्षण साध लें, आप पायेंगे : उनके साथ ही साथ दिव्यता खिलने लगी। या आप छोड़ें लक्षणों की चिन्ता। आप दिव्यता को साधने में लग जायँ।

दोनों संभावनाएँ हैं। जो लोग लक्षणों को साधने चलते हैं। उन्हें आचरण से अपने को बदलना शुरू करना पड़ता है। आचरण आपकी बाहरी परिधि है। आप जो करते हैं, उसमें बदलाहट करेंगे, तो लक्षण सध जाएँगे। जो लोग दिव्यता साधना चाहते हैं, उन्हें अन्तःकरण बदलने से शुरू करना पड़ता है। अन्तःकरण आपका केन्द्र है। आप बदल जाएँगे, आपका आचरण बदल जाएगा।

जहाँ आप को सुगमता लगती हो, वहाँ से शुरू करें। अगर आप बहिर्मुखी व्यक्ति हैं...।

मनस्विद दो विभाजन करते हैं व्यक्तियों के : बहिर्मुखी (एक्स्ट्रोव्हर्ट) और अन्तर्मुखी (इन्ट्रोव्हर्ट)। अगर आप बहिर्मुखी व्यक्ति हैं, कि आपको बाहर की चीजें ज्यादा दिखाई पड़ती हैं, तो आपके लिए उचित होगा कि आप लक्षण साधें, क्योंकि भीतर का आपको कुछ दिखाई ही नहीं पड़ता। अगर आपसे कोई कह भी दे कि आँख बन्द करो, भीतर देखो; तो आप कहेंगे कि 'भीतर क्या है देखने को? देखने को तो सब बाहर है।' अगर भीतर आँख भी बन्द कर लें, तो भी बाहर की ही याद आयेगी। मित्र दिखाई पड़ेंगे, मकान दिखाई पड़ेंगे, घटनाएँ दिखाई पड़ेंगी—वह सब बाहर है। वैज्ञानिक है—वह बहिर्मुखी है। क्षत्रिय हैं—वह बहिर्मुखी है। कवि है, चित्रकार है—वह अंतर्मुखी है। उसके लिए सब भीतर है।

प्रसिद्ध डच चित्रकार हुआ वानगॉग; उसके चित्र बिक नहीं सके, क्योंकि उसके चित्र बिलकुल समझ के बाहर थे। वह वृक्ष बनायेगा, तो इतने बड़े कि आकाश तक चले जायँ। चाँद वगैरह बनायेगा, तो छोटे-छोटे लटका देगा, और वृक्ष चाँद के ऊपर चले जा रहे हैं। वृक्षों को ऐसे रंग देगा, जैसा वृक्षों में होते ही नहीं रंग। वृक्ष हरे हैं, उसके वृक्ष लाल भी हो सकते हैं। तो लोग कहते, 'यह तुम क्या करते हो!' वह कहता कि 'जब मैं आँख बन्द करता हूँ, तो जो मुझे दिखाई पड़ता है, वह मैं...। क्योंकि जब भी देखता हूँ, तो मुझे वृक्ष पृथ्वी की आकांक्षाएँ मालूम पड़ते हैं—

आकाश को छूने की आकांक्षाएँ। जब भी मैं आँख बन्द करता हूँ, तो देखता हूँ : पृथ्वी कोशिश कर रही है, वृक्षों के द्वारा, आकाश को छूने की, इसलिए मेरे वृक्ष आकाश तक चले जाते हैं। जो काम पृथ्वी नहीं कर पाती; वह मैं करता हूँ, पर वृक्षों को मैं ऐसे ही देखता हूँ।'

यह एक अन्तर्मुखी व्यक्ति की अनुभूति है—जिसका जगत् भीतर भीतर है।

अन्तर्मुखी व्यक्ति अगर कोई हो तो उसे दिव्यता से शुरू करना पड़ेगा। बहिर्मुखी व्यक्ति कोई हो, तो उसे आचरण से शुरू करना पड़ेगा।

तो आप लक्षण से शुरू करें या दिव्यता से शुरू करें, दूसरी घटना आपने आप घट जाएगी। आचरण को बदलते-बदलते आप भीतर आने लगेंगे। क्योंकि आचरण की जड़ें तो भीतर हैं, सिर्फ शाखाएँ बाहर हैं। अगर आप आचरण को बदलने लगे, तो आज शाखाएँ बदलेंगे, कल आप जड़ों को पकड़ लेंगे; जड़ें भीतर हैं।

अगर आप अन्तःकरण को बदलते हैं, तो अन्तःकरण में जड़ें तो भीतर हैं, लेकिन शाखाएँ बाहर हैं। आप जड़ों से शुरू करेंगे, यात्रा करते-करते आज नहीं कल बाहर पहुँच जाएँगे।

बाहर और भीतर एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। न तो बाहर अलग है भीतर से, और न भीतर अलग है बाहर से। बाहर और भीतर एक का ही विस्तार है। कहीं से भी शुरू करें, दूसरा छोर प्रगट हो जाएगा। लेकिन शुरू करें। जो शुरू नहीं करता...। बहुत लोग हैं, जो सोचते ही रहते हैं।

आज ही एक युवक मेरे पास आया। उसने कहा, 'मैं सोचता हूँ, सोचता हूँ—और सोचने में इतना खो जाता हूँ कि निर्णय तो कुछ कर ही नहीं पाता। और जो भी निर्णय करता हूँ, उसके विपरीत भी मेरी समझ में आता है कि ठीक है। और जब तक तय न हो जाय, तब तक निर्णय कैसे करूँ और तय कुछ होता नहीं। और जितना सोचता हूँ, उतना ही तय होना मुश्किल होता जाता है।

अगर आप ज्यादा सोचेंगे, तो ज्यादा कठिनाई खड़ी होगी। अगर आप सोचते ही रहेंगे, तो धीरे-धीरे सारी ऊर्जा सोचने में ही व्यतीत हो जाएगी। उसका कोई कृत्य नहीं बन पायेगा। और ध्यान रहे, जीवन की सम्पदा कृत्य से उपलब्ध होती है, सिर्फ विचार से नहीं!

विचार सपनों की भाँति हैं, जैसे समुद्र पर झाग और फेन उठती है, ऐसे चेतना की झाग और फेन की भाँति विचार हैं। उनका कोई मूल्य नहीं है। समुद्र की लहर पर लगता है, जैसे शिखर आ रहा है फेन का; लगता है हाथ में ले लेंगे। लेकिन हाथ में पकड़ते हैं, तो पानी के बबूले फूट जाते हैं, कुछ हाथ आता नहीं। ऐसा ही फेन और झाग है विचार—आपकी चेतना का। वह लहर पर दूर से बड़ा कीमती दिखाई

पड़ता है। सूरज की किरणों में बड़ी चमक मालूम होती है। घर में तिजोरी में सम्हाल कर रखने जैसा लगता है। लेकिन हाथ में लेते ही पता चलता है : वहाँ कुछ भी नहीं है। पानी के बुलबुले हैं।

इस 'झाग' से थोड़ा नीचे उतरना जरूरी है, उस लहर को पकड़ना जरूरी है—जिस पर यह झाग है। और लहर के नीचे छिपे सागर को पकड़ना जरूरी है, जिसकी यह लहर है; और तभी जीवन में कोई रूपान्तरण, कोई क्रान्ति सम्भव है।

अब हम सूत्र को लें।

'और हे पार्थ, पाखण्ड, घमण्ड, और अभिमान तथा क्रोध और कठोर वाणी एवं अज्ञान—ये सब आसुरी सम्पदा को प्राप्त हुए पुरुष के लक्षण हैं। उन दोनों प्रकार की सम्पदाओं में दैवी सम्पदा तो मुक्ति के लिए और आसुरी सम्पदा बाँधने के लिए मानी गई है। इसलिए हे अर्जुन, तू शोक मत कर, क्योंकि तू दैवी सम्पदा को प्राप्त हुआ है। और हे अर्जुन, इस लोक में भूतों के स्वभाव दो प्रकार के माने गये है : एक तो देवों के जैसा, और दूसरा असुरों के जैसा। उनमें देवों का स्वभाव ही विस्तारपूर्वक कहा गया, इसलिए अब असुरों के स्वभाव को भी विस्तारपूर्वक मेरे से सुन।

'पाखण्ड', हिप्रोक्रेसी...। पाखण्ड का अर्थ है : जो आप नहीं हैं, वैसा स्वयं को दिखाना। जो आपका वास्तविक चेहरा नहीं है, उस चेहरे को प्रगट करना।

हम सबके पास मुखौटे हैं। जरूरत पर हम उन्हें बदल लेते ह। सुबह से साँझ तक बहुत बार हमें नये-नये चेहरों का उपयोग करना पड़ता है। जैसी जरूरत हो, वैसा हम चेहरा लगा लेते हैं। धीरे-धीरे यह भी हो सकता है कि इस पाखण्ड में चलते-चलते आपको भूल ही जाय कि आप कौन हैं। यही हो गया है। अगर आप अपने से पूछें कि मैं कौन हूँ, तो कोई उत्तर नहीं आता। क्योंकि आपने इतने चेहरे प्रगट किये हैं, आपने इतने रूप धरे हैं, आपने इतनी भाँति अपने को प्रचारित किया है कि अब आप खुद भी दिग्भ्रम में पड़ गये हैं कि मैं हूँ कौन? क्या है सच मेरा? मेरी कोई सचाई है, या बस, मेरा सब धोखा ही धोखा है? सुबह से साँझ तक, हम जो नहीं हैं, वह हम अपने को प्रचारित कर रहे हैं।

कृष्ण ने दैवी सम्पदा में गिनाया—सत्य, प्रामाणिकता, आन्थेन्टिसिटी—व्यक्ति जैसा है, बस, वही उसका होने का ढंग है, चाहे कोई भी परिणाम हो। आसुरी सम्पदा में उसके अनेक चेहरे हैं।

हम रावण की कथा पढ़ते हैं, लेकिन शायद आपको अर्थ पकड़ में नहीं आया होगा। रावण दशानन है, उसके दस चेहरे हैं। राम का एक ही चेहरा है। राम ऑथेन्टिक ह—प्रामाणिक हैं। उन्हें आप पहचान सकते हैं, क्योंकि कोई धोखा नहीं है। रावण को पहचानना मुश्किल है। उसके बहुत चेहरे हैं। दस का मतलब—

बहुत। क्योंकि दस आखिरी संख्या है। दस से बड़ी फिर कोई संख्या नहीं है। फिर सब संख्याएँ दस के ऊपर जोड़ हैं।

दस चेहरे का मतलब है—बस, आखिरी। उसका असली चेहरा कौन है, यह पहचानना मुश्किल है। और रावण असुर है।

और हमारे चित्त की दशा जब तक आसुरी रहती है, तब तक हमारे भी बहुत चेहरे होते ह। हम भी दशानन होते हैं। इससे हम दूसरे को धोखा देते हैं। वह तो ठीक है, इससे हम खुद भी धोखा खाते हैं, क्योंकि हमें खुद ही भूल जाता है कि हमारा स्वरूप क्या है।

पाखण्ड का अर्थ है : दूसरे को धोखा देना, और अन्ततः उस धोखे से खुद को भी धोखे में डाल देना।

झूठ का एक स्वभाव है : एक झूठ को बचाना हो, तो फिर हजार झूठ बोलने पड़ते हैं। फिर इतनी अनन्त श्रृंखला है झूठों की किह में याद भी नहीं रहता कि पहला झूठ क्या था—जो हमने बोला था।

झूठ का एक दूसरा स्वभाव है : अगर बार-बार उसे पुनरुक्त किया जाय, तो निरन्तर पुनरुक्ति के कारण हम आटो-हिप्नोटाइज्ड हो जाते हैं, हम सम्मोहित हो जाते हैं। और हमें खुद ही लगने लगता है कि यह ठीक है। आप एक झूठ बार-बार दोहराते रहें, फिर आपको खुद ही शक होने लगेगा कि यह सच है या झूठ है। क्योंकि आपने इतनी बार दोहराया है कि उसकी छाप आपके ऊपर पड़ गई है।

मैं पढ़ रहा था : एक आदमी ने हत्या की थी, उस पर मुकदमा चल रहा था। वर्षों तक कार्यवाही चली। बड़ा जटिल उलझा हुआ मामल था। वकीलों के बयान हुए, गवाहों के बयान हुए, अदालत चलती रही। और उसमें मजिस्ट्रेट भी थक गया, क्योंकि सब स्थिति बिलकुल कन्फ्यूज्ड थी। कुछ साफ नहीं होता था। दो वक्तव्यों में मेल नहीं होता था। कोई दो गवाहों का बयान मिलता नहीं था। कुछ निर्णय होना मुश्किल था। आखिर थक कर जज ने उस हत्यारे से पूछा, 'तू कृपा कर और तू स्वयं कह दे कि बात क्या है?' तो उसने कहा कि 'जब मैं शुरू-शुरू में आया था, तब मुझे भी साफ था। अब मुश्किल है। मैं भी कन्फ्यूज हो गया हूँ। अब मैं साफ-साफ कह नहीं सकता कि मैंने हत्या की या नहीं की। क्योंकि जब मैं अपने वकील की दलीलें सुनता हूँ, तो मुझे भी भरोसा आता है कि मैंने यह की नहीं। यह कुछ गलती हो गई। या मैंने कोई सपना देखा। इसलिए अब मेरी बात का कोई मूल्य नहीं है। अब तो आप ही तय कर लें।'

यह स्थिति है। आप भी अगर एक झूठ कई वर्ष तक बोलते रहें, तो आपको पीछे पक्का होना मुश्किल हो जाता है कि आप झूठ बोले थे कि यह सच है।

झूठ का यह दूसरा स्वभाव है कि उसको आप पुनरुक्त करें, तो वह सच जैसा मालूम होने लगता है। और हर झूठ को और झूठों की जरूरत है।

मैंने काशी में एक दुकान पर एक तख्ती लगी हुई देखा। घी की दुकान है। उस पर तख्ती लगी है : 'असली घी की दुकान'; नीचे लिखा है—'हरियाना, उत्तर प्रदेश, पंजाब का शुद्ध देशी घी यहाँ मिलता है। नकली सिद्ध कर देने वाले को पाँच सौ रुपया नकद इनाम।' और नीचे लिखा है लाल अक्षरों कि 'इस तरह के इनाम यहाँ कई बार बाँटे जा चुके हैं।'

ऐसी हमारे चित्त की दशा हो जाती है।

पाखण्ड का अर्थ है : आप कुछ हैं, कुछ दिखने की कोशिश कर रहे हैं। लेकिन जो आप हैं, वह आपकी सब कोशिश के भीतर से भी झाँकता रहेगा। आप उसे बिलकुल छिपा भी नहीं सकते। उसे बिलकुल मिटाया नहीं जा सकता; वह आपके भीतर छिपा है, इसलिए भला आपको न दिखाई पड़े, दूसरों को दिखाई पड़ता है।

अकसर यह होता है कि आपके सम्बन्ध में दूसरे लोग जो कहते हैं, वह ज्यादा सही होता है; बजाय उसके, जो आप अपने सम्बन्ध में कहते हैं। नब्बे प्रतिशत मौका इस बात का है कि दूसरे जो आप में देख पाते हैं, वह आप नहीं देख पाते, क्योंकि आप अपने धोखे में इस भाँति लीन हो गये हैं। लेकिन दूसरा जब आपको देखता है, तो आपकी जो झीनी परतें हैं—धोखे की, उसके पीछे आपका असली हिस्सा भी दिखाई पड़ता है।

पाखण्डी व्यक्ति की कई परतें हो जाएँगी। जितना पाखण्डी होगा, उतनी परतें हो जाएँगी। और इन सारी परतों का कष्ट है। और हर पर्त को बचाने के लिए नई परतें खड़ी करनी पड़ेंगी।

सत्य की एक सुविधा है : उसे याद रखने की जरूरत नहीं, उसको स्मरण रखने की जरूरत नहीं। झूठ को याद रखना पड़ता है। झूठ के लिए काफी कुशलता चाहिए। सत्य तो सीधा आदमी भी चला लेता है, क्योंकि याद रखने की कोई जरूरत नहीं है। सत्य, सत्य है। उससे दस साल बाद पूछेंगे, वह कह देगा। लेकिन झूठ आदमी को दस साल तक याद रखना पड़ेगा कि एक झूठ बोला, फिर उसको सम्हालने के लिए कितने झूठ बोले।

झूठ के लिए बड़ी स्मृति चाहिए। इसलिए छोटी-मोटी बुद्धि के आदमी से झूठ नहीं चलता। झूठ चलाने के लिए काफी फैलाव चाहिए। इसलिए जितना आदमी शिक्षित हो, तार्किक हो, गणित का जानकर हो, उतना झूठ बोलने में कुशल हो सकता है।

दुनिया में जितनी शिक्षा बढ़ती है, उतना झूठ बढ़ता है, क्योंकि लोगों की स्मृति की कुशलता बढ़ती है। वे याद रख सकते हैं, वे मेनिप्युलेट कर सकते हैं, वे नए झूठ गढ़ सकते हैं।

मुल्ला नसरुद्दीन अपने बेटे से कह रहा है : 'तेरे झूठ को अब हम बरदाश्त ज्यादा नहीं कर सकते। तू गजब के झूठ बोल रहा है!' उस लड़के ने कहा, 'मैं—और झूठ?' नसरुद्दीन ने सिर्फ उसे दिखाने के लिए, मित्र एक साथ खड़ा था, तो उसको कहा कि 'अच्छा तू एक झूठ अभी बोल के बता, यह एक रुपया तुझे इनाम दूँगा।' उसके लड़के ने कहा, 'पाँच रुपये कहा था!' वह कह रहा है, एक रुपया तुझे दूँगा, तू झूठ बोल के बता। वह लड़का कह रहा है : पाँच रुपया कहा है आपने!' झूठ बोलने की आगे कोई जरूरत नहीं है।

यह जो हमारी चित्त की स्थिति है, इस स्थिति में अगर आप परमात्मा को खोजने निकले, तो खोज असम्भव है; अगर परमात्मा भी आपको खोजने निकले तो भी खोज असम्भव है, क्योंकि आपको खोजेगा कहाँ? आप जहाँ-जहाँ दिखाई पड़ते हैं, वहाँ-वहाँ नहीं हैं। जहाँ आप हैं, उस जगह का आपको भी पता नहीं है। और किसी को आपने पता बताया नहीं।

यहूदियों में एक सिद्धान्त है कि आदमी तो परमात्मा को खोजेगा कैसे?—कमजोर—अज्ञानी! यहूदी मानते हैं कि परमात्मा ही आदमी को खोजता है। यहूदी फकीर बालशेम से किसी ने पूछा कि 'यह सिद्धान्त बड़ा अजीब है। अगर परमात्मा आदमी को खोजता है, तो अभी तक हमें खोज क्यों नहीं पाया? हम खोजते हैं, नहीं खोज पाते—यह तो समझ में आता है। परमात्मा हमें खोजता है, तो हम क्यों भटक रहे हैं?' बालशेम ने कहा कि 'तुम्हें खोजे कहाँ, क्योंकि तुम जहाँ भी बताते हो कि तुम हो—वहाँ पाये नहीं जाते; वहाँ जब तक वह पहुँचता है, तब तक तुम कहीं और हो। वह तुम्हारा पीछा कर रहा है, लेकिन तुम पारे की तरह हो; छिटक-छिटक जाते हो। तुम्हारा कोई ठिकाना नहीं है। कोई आइडेन्टिटी नहीं है। तुम्हारी कोई पहचान नहीं है। तुम्हें कैसे पहचाना जाय?'

मैंने सुना है एक बैंक में बड़े कैशियर की जगह खाली थी। बहुत से लोगों ने इंटरव्यू दिये। बड़ी पोस्ट थी, बड़ी तनख्वाह थी पोस्ट की। और बड़े दायित्व का काम था, बहुत बड़ी बैंक थी। फिर जब डायरेक्टर्स की बैठक हुई और उन्होंने मैनेजिंग डायरेक्टर से पूछा कि किस आदमी को चुना है? तो जिस आदमी को खड़ा किया, सारे डायरेक्टर्स परेशान हुए। उसकी दोनों आँखें दो तरफ जा रही हैं; दाँत बाहर निकले हुए, नाक तिरछी, चेहरा भयानक, लंगड़ा के वह आदमी चलता था। उन्होंने पूछा, 'तुम्हें कोई और आदमी नहीं मिला?' उसने कहा कि 'यही बिलकुल ठीक है; क्योंकि कभी भी यह भागे, तो इसको पकड़ने में दिक्कत

नहीं रहेगी।—चीफ कैशियर...! यह बिलकुल ठीक है। इसकी आइडेन्टिटी...। कहीं भी—दुनिया के किसी भी कोने में जाय, यह, इसे हम पकड़ लेंगे।'

आपकी कोई आइडेन्टिटी नहीं है। परमात्मा भी पकड़ना चाहे, तो आपको कहाँ पकड़े!

पाखण्ड का जो सबसे बड़ा उपद्रव है, वह यह है कि आपकी पहचान खो जाती है। प्रत्यभिज्ञा मुश्किल हो जाती है।

और आसुरी व्यक्ति का वह पहला लक्षण है।

'घमण्ड और अभिमान...।' यह थोड़ा सोच कर मुश्किल होगा, क्योंकि हम तो घमण्ड और अभिमान का एक-सा ही उपयोग करते हैं। घमण्ड और अभिमान का एक ही अर्थ लिखा है शब्दकोशों में। पर कृष्ण उसका दो उपयोग करते हैं। घमण्ड उस अभिमान का नाम है, जो वास्तविक नहीं है। और अभिमान उस घमण्ड का नाम है, जो वास्तविक है। लेकिन दोनों पाप हैं और दोनों आसुरी हैं। मतलब यह कि एक आदमी, जो सुन्दर नहीं है और अपने को सुन्दर समझता है और अकड़ा रहता है। सुन्दर है नहीं, सुन्दर समझता है; अकड़ा रहता है—यह घमण्ड है। दूसरा आदमी सुन्दर है, सुन्दर समझता है और अकड़ा रहता है—यह अभिमान है। पर दोनों ही आसुरी हैं।

पहला तो हमें समझ में आ जाता है, क्योंकि वह गलत है ही; लेकिन दूसरा हमें समझ में नहीं आता; वह सही हो कर भी गलत है।

इससे क्या फर्क पड़ता है कि आप सुन्दर हैं या नहीं? असली फर्क इससे पड़ता है कि आप अपने को सुन्दर समझते हैं।

जो आदमी बुद्धिमान है, वह अगर अकड़े कि मैं बुद्धिमान हूँ, तो उतना ही पाप हो रहा है, जितना बुद्धू अकड़े और सोचे कि मैं बुद्धिमान हूँ। इससे कोई फर्क नहीं पड़ता, क्योंकि असली बात अकड़ की है।

और एक और खतरा है कि वह जो गलत ढंग से,जो है नहीं बुद्धिमान, अपने को बुद्धिमान समझ रहा है, वह तो शायद किसी दिन चेत भी जाय; लेकिन वह, जो बुद्धिमान है और अपने को बुद्धिमान समझ रहा है, उसका चेतना बहुत मुश्किल है, क्योंकि आप उसको गलत भी सिद्ध नहीं कर सकते। उसका खतरा भारी है। और खतरा तो यही है कि मैं अपने को कुछ समझूँ और उसमें अकड़ जाऊँ।

आसुरी वृत्ति का व्यक्ति सदा अपने को कुछ समझता है—समबडी। वह हो या न हो। रावण का घमण्ड, घमण्ड नहीं है—अभिमान है, क्योंकि वह आदमी कीमती है, इसमें कोई शक नहीं है। उस जैसा पण्डित खोजना मुश्किल है। उसकी अकड़ झूठ नहीं है। उसकी अकड़ में सचाई है। लेकिन इससे क्या फर्क पड़ता है! अकड़ में

सचाई है, तो अकड़ और मजबूत हो गई। और अकड़ के कारण ही आदमी परमात्मा से मिलने में असमर्थ हो जाता है।

रावण का संघर्ष हो गया राम से—ये तो प्रतीक हैं, क्योंकि अकड़ का संघर्ष हो ही जाएगा परमात्मा से। जहाँ भी अकड़ है, वहाँ आप राम से संघर्ष में पड़ जाएँगे।

जहाँ अकड़ गई, वहाँ आप सरल हो जाते हैं। फिर आपकी लहर पिघल जाती है, उस पिघलेपन में आपका सागर से मिलन हो जाता है।

तो यह आप मत सोचना कभी कि मेरी अकड़ सही है या गलत है। अकड़ गलत है। उस अकड़ के दो नाम हैं। अगर वह गलत हो तो 'घमण्ड' और अगर वह सही हो तो 'अभिमान'—पर कृष्ण कहते हैं: दोनों ही आसुरी संपदा के लक्षण हैं।

'क्रोध और कठोर वाणी'...संयुक्त हैं, क्योंकि कठोर वाणी क्रोध का ही रूप है। भीतर क्रोध हो, तो आपकी वाणी में एक कठोरता, एक सूखापन प्रवेश हो जाता है। भीतर प्रेम हो, तो आपकी वाणी में एक माधुरी, एक मिठास फैल जाती है।

वाणी आपसे निकलती है और आपके भीतर की खबरें ले आती है। वाणी आपके भीतर से आती है, तो आपके भीतर की हवाएँ और गन्ध वाणी के साथ बाहर आ जाती है।

कठोर वाणी का केवल इतना ही अर्थ है कि भीतर पथरीला हृदय है; भीतर आप कठोर हैं। मधुर वाणी का इतना ही अर्थ है कि जहाँ से हवाएँ आ रही हैं, वहाँ शीतलता है, वहाँ माधुरी है।

क्रोध लक्षण होगा आसुरी व्यक्ति का; वह हमेशा क्रुद्ध है, हर चीज में क्रुद्ध है। नाराज होना उसका स्वभाव है। उठेगा, बैठेगा, तो वह क्रोध से उठ-बैठ रहा है। जहाँ भी देखेगा, वह क्रोध से देख रहा है। वह सिर्फ भूल की तलाश में है कि कोई भूल मिल जाय, कोई बहाना मिल जाय, खूँटी मिल जाय, तो वह अपने क्रोध को टाँग दे। अगर उसे कोई बहाना न मिले, तो वह बहाना निर्मित कर लेगा। अगर उसे कोई भी क्रोध करने को न मिले, तो वह अपने पर ही क्रोध करेगा। लेकिन क्रोध करेगा और उसकी वाणी में उसके क्रोध की लपटें बहती रहेंगी। वह जो भी बोलेगा, वह तीर की तरह हो जाएगा। किसी को चुभेगा और चोट पहुँचाएगा।

'क्रोध और कठोर वाणी एवं अज्ञान—यह सब आसुरी सम्पदा को प्राप्त हुए पुरुष के लक्षण हैं।'

अज्ञान का अर्थ ठीक से समझ लेना। अज्ञान का अर्थ यह नहीं है कि वह कम पढ़ा-लिखा होगा। वह खूब पढ़ा-लिखा भी हो सकता है। अज्ञान का यह मतलब है कि वह पण्डित नहीं होगा। वह पण्डित हो सकता है। रावण पण्डित है, महापण्डित

है। जानकारी उसकी बहुत हो सकती है; लेकिन बस, वह 'जानकारी' होगी, ज्ञान का अर्थ है : जो स्वयं अनुभूत हुआ हो। जानकारी का अर्थ है : जो दूसरों ने अनुभव की हो और आपने केवल संगृहीत कर ली हो।

ज्ञान अगर उधार हो, तो पाण्डित्य बन जाता है। ज्ञान अगर अपना, निजी हो, तो प्रज्ञा बनती है।

अज्ञान का यहाँ अर्थ है कि चाहे वह जानता हो ज्यादा या न जानता हो, लेकिन स्वयं को नहीं जानेगा। सब जानता हो, सारे जगत् के शास्त्रों का उसे पता हो, लेकिन स्वयं की उसे कोई पहचान न होगी—आत्म-ज्ञान न होगा। और जो भी वह जानता है, वह सब उधार होगा। उसने कहीं से सीखा है, वह उसकी स्मृति में पड़ा है। लेकिन उसके माध्यम से उसका जीवन नहीं बदला है। वह उस ज्ञान में जला और निखरा नहीं है। उस ज्ञान ने उसको तोड़ा और नया नहीं किया। वह ज्ञान उसकी मृत्यु भी नहीं बना और उसका जन्म भी नहीं बना। वह ज्ञान धूल की तरह उस पर इकट्ठा हो गया है। उस ज्ञान की पर्तें होंगी उसके पास, लेकिन वह ज्ञान उसके हृदय तक नहीं पहुँचा है। वह ज्ञान को ढोएगा, लेकिन ज्ञान उसका पंख नहीं बनेगा कि उसको मुक्त कर दे। उसका ज्ञान वजन होगा, उसका ज्ञान निर्भार नहीं है।

अज्ञान का यहाँ अर्थ है, अपने को न जानना; अपने स्वभाव से अपरिचित होना।

'उन दोनों प्रकार की सम्पदाओं में दैवी सम्पदा तो मुक्ति के लिए है और आसुरी सम्पदा बंधन के लिए मानी गई है।' आसुरी सम्पदा बाँधेगी, आपको बन्द करेगी। जैसे कोई कारागृह में पड़ा हो, और यह कारागृह ऐसा नहीं कि किसी दूसरे ने आपके लिए निर्मित किया है। कारागृह ऐसा, जो आपने ही अपने लिए बनाया है।

दैवी सम्पदा मुक्त करेगी; दीवारें गिरेंगी, खुला आकाश प्रगट होगा। पंख आपके पास हैं, लेकिन पंखों पर अगर आपने बन्धन बाँध रखे हैं तो उड़ना असम्भव है। और अगर बहुत समय से आप उड़े नहीं हैं, तो आपको खयाल भी मिट जाएगा कि आपके पास पंख हैं।

चील बड़े ऊँचे वृक्षों पर अपने अंडे देती है। फिर अंडों से बच्चे आते हैं। वृक्ष बड़े ऊँचे होते हैं, बच्चे अपने नीड़ के किनारे पर बैठ कर नीचे की तरफ देखते हैं, और डरते हैं और कंपते हैं। पंख उनके पास हैं। उन्हें कुछ पता नहीं कि वे उड़ सकते हैं। और इतनी नीचाई है कि अगर गिरे तो प्राणों का अन्त हुआ। उनकी माँ, पिता को वे आकाश में उड़ते भी देखते हैं, लेकिन फिर भी भरोसा नहीं आता कि हम उड़ सकते हैं। तो चील को एक काम करना पड़ता है। इन बच्चों को आकाश में उड़ाने के लिए कैसे राजी किया जाय! कितना ही समझाओ-बुझाओ, पकड़ कर बाहर लाओ, वे भीतर घोसले में चले जाते हैं। कितना ही उनके सामने उड़ो, उनको बताओ

कि उड़ने का आनन्द है, लेकिन उनका साहस नहीं बढ़ता। वे ज्यादा से ज्यादा घोसले के किनारे पर आ जाते हैं और पकड़ कर बैठ जाते हैं।

आप जान कर हैरान होंगे कि चील को अपना घोसला तोड़ना पड़ता है। एक-एक दाना जो उसने घोसले में लगाया है, एक-एक कूड़ा-करकट जो बीन-बीन कर लायी थी, उसको एक-एक गिराना पड़ता है। बच्चे सरकते जाते हैं भीतर, जैसे घोसला टूटता है। फिर आखिरी टुकड़ा रह जाता है घोसले का। चील उसको भी छीन लेती है। बच्चे एकदम खुले आकाश में उड़ जाते हैं। एक क्षण भी नहीं लगता, उनके पंख फैल जाते हैं और आकाश में वे चक्कर मारने लगते हैं। दिन, दो दिन में वे निष्णात हो जाते हैं। दिन दो दिन में वे जान जाते है कि खुला आकाश हमारा है; पंख हमारे पास हैं।

हमारी भी हालत करीब-करीब ऐसी ही है। कोई चाहिए, जो आपके घोसले को गिराये। कोई चाहिए, जो आपको धक्का दे दे। गुरु का वही अर्थ है। कृष्ण वही कोशिश अर्जुन के लिए कर रहे हैं। सारी गीता अर्जुन का घर, घोसला तोड़ने की कोशिश है। सारी गीता अर्जुन को स्मरण दिलाने के लिए है कि तेरे पास पंख हैं, तू उड़ सकता है। यह सारी कोशिश इसलिए है कि किसी तरह अर्जुन को धक्का लग जाय और वह खुले आकाश में पंख फैला दें।

'इन दोनों प्रकार की सम्पदाओं में दैवी सम्पदा मुक्ति के लिए और आसुरी सम्पदा बाँधने के लिए मानी गई है। अर्जुन, तू शोक मत कर, क्योंकि तू दैवी सम्पदा को प्राप्त हुआ है।'

अर्जुन को भरोसा दिला रहे हैं कि तू घबड़ा मत, तू दुःख मत कर, तू चिन्ता मत कर। तू दैवी सम्पदा को उपलब्ध हुआ है। बस, पंख खोलने की बात है, खुला आकाश तेरा है।

क्यों अर्जुन को वे कह रहे हैं कि तू दैवी सम्पदा को उपलब्ध हुआ है?

अर्जुन की जिज्ञासा दैवी है। यह भाव भी अर्जुन के मन में आना कि क्यों मारूँ लोगों को, क्यों हत्या करूँ, क्यों इस बड़ी हिंसा के उत्पात में उतरूँ—यह खयाल मन में आना कि इससे राज्य मिलेगा, साम्राज्य मिलेगा, बड़ी पृथ्वी मेरी हो जाएगी, पर उसका सार क्या है।

लोभ के प्रति यह विरक्ति साम्राज्य के प्रति यह उपेक्षा, हिंसा और हत्या के प्रति मन में ग्लानि...। अर्जुन कहता है, मैं यह सब छोड़ कर जंगल चला जाऊँ—यही बेहतर है।

अर्जुन कहता है : यह सब मेरे अपने जन हैं—इस तरफ, उस तरफ। इन सबको मार कर, मिटा कर अगर मैंने राज्य भी पा लिया, तो वह खुशी इतनी अकेले की होगी कि खुशी न रह जाएगी, क्योंकि खुशी तो बाँटने के लिए होती है। जिनके लिए मैं राज्य पाने की कोशिश कर रहा हूँ, जो मुझे राज्य पाया हुआ देख कर

आनन्दित और प्रफुल्लित होंगे, उनकी लाशें पड़ी होंगी। तो जिस सुख को मैं बाँट न पाऊँगा, जो सुख मेरे अपने जो प्रियजन हैं उनके साथ साझीदारी में नहीं भोगा जा सकेगा, उसके भोगने का अर्थ ही क्या है?

यह भाव दैवी है, लेकिन इन दैवी भावों के पीछे, जो कारण वह दे रहा है, वे अज्ञान से भरे हैं। स्वाभाविक है, क्योंकि जब पहली बार दैवी आकांक्षा जगती है, तो उसकी जड़ें तो हमारे अज्ञान में ही होती हैं। हम अज्ञानी हैं, इसलिए हममें अगर दैवी आकांक्षा जगती है, तो उस दैवी आकांक्षा में हमारे अज्ञान का हाथ होगा। उस दैवी आकांक्षा में हमारे अज्ञान की छाया होगी। लेकिन कृष्ण पूरी कोशिश कर रहे हैं कि वह भरोसे से भर जाय; वह अज्ञान को भी छोड़ दे। वह जिन कारणों को बता रहा है, उनको भी गिरा दे, क्योंकि वे कारण अगर सही हैं, तो अर्जुन कठिनाई में पड़ जाएगा, क्योंकि वह यह कह रहा है कि मेरे प्रियजन हैं, इसलिए उनको मारने से मैं डरता हूँ। यह आधी बात तो दैवी है, और आधी बात अज्ञान और आसुरी से भरी है।

दैवी तो इतनी बात है कि हिंसा के प्रति उसके मन में उपेक्षा पैदा हुई है। हिंसा में रस नहीं रहा। लेकिन कारण है—क्योंकि ये 'मेरे' हैं। अगर पराये होते, तो अर्जुन उनको, जैसे किसान खेत काट रहा हो, ऐसे काट दे। वह कोई नया नहीं था काटने में। जीवन में कई बार उसने हत्याएँ की थीं और लोगों को काटा था। काटना उसे इतना सहज काम था कि 'आत्मा का क्या होगा, स्वर्ग मोक्ष—कुछ सवाल न उठे थे। लेकिन वे अपने नहीं थे, ये सब अपने लोग हैं। उस तरफ गुरु खड़े हैं, भीष्म खड़े हैं, सब चचेरे भाई-बन्धु हैं। ये मेरे हैं—यह ममत्व अज्ञान है।

न काटूँ, यह तो बड़ी दैवी भावना है। हिंसा न करूँ, यह तो बहुत शुभ भाव है। लेकिन मेरे हैं—इसलिए न मारूँ—यह अशुभ से जुड़ा हुआ भाव है। वह अशुभ मिट जाय, फिर भी अर्जुन दिव्यता की तरह बढ़े—यह कृष्ण की पूरी चेष्टा है।

वह भाव—'मेरे का'—पाप है। कौन मेरा है, कौन मेरा नहीं है? या तो सब मेरे हैं, या कोई भी मेरा नहीं है। फिर अर्जुन कहता है: इनको मारूँ, यह उचित नहीं है—यह बात तो दैवी है। 'मैं इनको मार सकता हूँ—यह बात अज्ञान से भरी है। यह थोड़ा जटिल है।

मैं किसी को न मारूँ—यह भाव तो अच्छा है; लेकिन मैं किसी को मार सकता हूँ, आत्मा की हत्या हो सकती है—यह भाव अज्ञान से भरा है। मैं चाहूँ तो भी मार नहीं सकता। ज्यादा से ज्यादा आपकी देह को नुकसान पहुँचा सकता हूँ। और देह को क्या नुकसान पहुँचाया जा सकता है! देह तो मुरदा है। उसको मारने का कोई उपाय नहीं वह तो मिट्टी है। उसको काटने से कुछ कटता नहीं। देह के भीतर जो

छिपा है, उस चिन्मय को तो काटा नहीं जा सकता। वह तो कोई मिट्टी नहीं है। उस अमृत को तो मारने का कोई उपाय नहीं है।

अर्जुन कहता है कि हिंसा बुरी है, लेकिन 'हिंसा हो सकती है'—यह भाव अज्ञान से भरा है। हिंसा तो हो ही नहीं सकती; हिंसा का कोई उपाय नहीं है। हिंसा का भाव किया जा सकता है, हिंसा नहीं की जा सकती। हिंसा का भाव पापपूर्ण है; हिंसा की जा सकती है—यह भाव अज्ञान से भरा है।

अर्जुन में दिव्यता का जागरण हुआ है, लेकिन वह दिव्यता अभी आसुरी बिस्तर पर ही लेटी है। आँख खुली है, करवट बदली है, लेकिन बिस्तर अभी उसने छोड़ा नहीं है। वह बिस्तर भी छूट जाय, यह घोसला भी हट जाय और अर्जुन खुले आकाश में मुक्त हो कर उड़ सके...।

'हे अर्जुन, तू शोक मत कर, क्योंकि तू दैवी सम्पदा को प्राप्त हुआ है। और हे अर्जुन, लोक में भूतों के स्वभाव दो प्रकार के माने गये हैं: एक तो देवों के जैसा और दूसरा असुरों के जैसा। उनमें देवों का स्वभाव ही विस्तारपूर्वक कहा गया है, इसलिए अब आसुरों के स्वभाव को भी विस्तारपूर्वक मेरे से सुन।

दो स्वभाव हैं—एक ही चेतना के। एक आदमी बन्धन में पड़ा है—हाथ में जंजीरें हैं, पैर में बेड़ियाँ हैं। फिर हम इसके बन्धन काट देते हैं; हाथ की बेड़ियाँ छूट जाती हैं, पैर की जंजीरें गिर जाती हैं, अब यह मुक्त खड़ा है। क्या यह आदमी दूसरा है या वही? क्षण भर पहले बेड़ियाँ थीं, जंजीरें थीं; अब जंजीरें नहीं हैं, बेड़ियाँ नहीं हैं। क्षण भर पहले एक कदम भी उठाना इसे संभव न था। अब हजार कदम उठाने के लिए यह मुक्त है।

क्या यह आदमी वही है या दूसरा है? एक अर्थ में यह आदमी वही है। कुछ भी बदला नहीं, क्योंकि बेड़ियाँ इस आदमी का स्वभाव न थीं। इसके ऊपर से पड़ी थीं। हाथ से बेड़ियाँ हट जाने से इसका हाथ तो नहीं बदला है। इसकी पैर की जंजीरें टूट जाने से इसका व्यक्तित्व नहीं बदला है। यह आदमी तो वही है।

एक अर्थ में आदमी वही है। दूसरे अर्थ में आदमी वही नहीं है। क्योंकि जंजीरों के गिर जाने से अब यह मुक्त है। यह चल सकता है, दौड़ सकता है, यह अपनी मरजी का मालिक है। अब इसकी दिशा कोई तय न करेगा। अब इसे कोई रोकने वाला नहीं है। अब एक स्वतंत्रता का जन्म हुआ है। ये दोनों स्थितियाँ एक ही आदमी की हैं। ठीक वैसे ही स्वभाव की दो स्थितियाँ हैं। आसुरी, कृष्ण उसे कह रहे हैं, जो बाँधती है; दैवी उसे कह रहे हैं, जो मुक्त करती है।

ये दोनों एक ही चेतना की अवस्थाएँ हैं। और हम पर निर्भर है कि हम किस अवस्था में रहें।

यह बात सदा ही समझने में कठिन रही है कि हम अपने ही हाथ से बन्धन में पड़े हैं। यह कठिन इसलिए रही है कि हममें से कोई नहीं चाहता कि हम बन्धन में रहें। हम सब स्वतंत्र होना चाहते हैं। तो यह बात समझना मन को मुश्किल पड़ती है कि हमने बन्धन खुद ही निर्मित किये है, लेकिन थोड़ा समझना जरूरी है।

हम चाहते तो स्वतंत्र होना हैं, लेकिन हमने कभी गहराई से खोजा नहीं कि स्वतंत्रता का क्या अर्थ होता है। एक तरफ हम चाहते हैं कि स्वतंत्र हों और एक तरफ भीतर से हम चाहते हैं कि परतन्त्र बनें। क्योंकि परतंत्रता के कुछ सुख हैं; उन सुखों को हम छोड़ नहीं पाते हैं। परतंत्रता की कोई सुरक्षा है।

कारागृह में जितना आदमी सुरक्षित है, उतना कहीं भी सुरक्षित नहीं है। बाहर दंगा भी हो रहा है, बलवा भी हो रहा है, हिन्दू मुसलमान लड़ रहे हैं। गोली चल रही है; पुलिस है, सरकार है—सब उपद्रव बाहर चल रहा है। कारागृह में कोई उपद्रव नहीं है। वहाँ जो आदमी हथकड़ी में बैठा है, वहाँ न कोई दुर्घटना होती है, न मोटर एक्सिडेंट होता है, न हवाई जहाज गिरता है, न ट्रेन उलटती है; कुछ नहीं होता। वहाँ वह बिलकुल सुरक्षित है। कारागृह की एक सुरक्षा है, जो बाहर संभव नहीं है।

सुरक्षा हम सब चाहते हैं। सुरक्षा के कारण हम कारागृह बनाते हैं।

स्वतंत्रता का खतरा है, क्योंकि खुला जगत् जोखम से भरा है। स्वतन्त्रता हम चाहते हैं, लेकिन खतरा उठाने की हमारी हिम्मत नहीं है।

एक बहुत बड़े पश्चिम के विचारक इरिक फ्रोम ने एक किताब लिखी है : फिअर ऑफ फ्रीडम—स्वतन्त्रता का भय। बड़ी कीमती किताब है।

एक भय है स्वतन्त्रता का। वह हम सबके भीतर है; हम सब डरते हैं। हम कहते हैं कि स्वतन्त्रता हम चाहते हैं, लेकिन हम डरते हैं, हम कंपते हैं। हम भी अपने घोंसले को वैसे ही पकड़ते हैं, जैसे चील का बच्चा पकड़ता है, उसको लगता है कि मर जाएँगे; इतना लम्बा खड्ड है, इतना बड़ा आकाश, हम इतने छोटे हैं; अपने पर भरोसा नहीं आता है।

इसलिए हम सब तरह की परतन्त्रताएँ खोजते हैं। परिवार की, देश की, जाति की, समाज की परतंत्रताएँ खोजते हैं। हम किसी पर निर्भर होना चाहते हैं। कोई हमें सहारा दे दे। हम किसी के कन्धे पर हाथ रख लें। कोई हमारे कन्धे पर हाथ रख दे। हो सकता है, हम दोनों ही कमजोर हों, और एक दूसरे का सहारा खोज रहा है, लेकिन दोनों को भरोसा हो जाता कि कोई साथ है; हम अकेले नहीं हैं।

स्वतन्त्रता को हम अपने ही हाथ से खोते हैं, परतन्त्रता को अपने ही हाथ से खोजते हैं।

मैंने सुना है कि मुल्ला नसरुद्दीन और उसकी पत्नी में कोई विवाद चल रहा था

और पत्नी बहुत नाराज हो गई, और उसने कहा कि 'तुमको किसने कहा था कि तुम मुझसे विवाह करो! मैं तुम्हारे पीछे नहीं दौड़ रही थी।' नसरुद्दीन ने कहा, 'वह तो जाहिर है, क्योंकि चूहे को पकड़ने वाला पिंजड़ा कभी चूहे के पीछे नहीं दौड़ता। चूहा खुद ही उसमें आता है, वह तो साफ है। पिंजड़े को कभी किसी ने चूहे के पीछे भागते तो देखा ही नहीं।'

जिन्दगी में जितने पिंजड़े हैं आपके, वे कोई आपके पीछे नहीं भागे। आप खुद ही उनकी तलाश किये हैं। और कोई कारण है, जिसकी वजह से पिंजड़ा अच्छा लगता है। कोई सुरक्षा है उसमें। भय वहाँ कम है, सहारा वहाँ ज्यादा है, खतरा वहाँ कम है, जोखम वहाँ बिलकुल नहीं है। एक बँधा हुआ जीवन है। एक परिधि है, उस परिधि के भीतर प्रकाश है, परिधि के बाहर अन्धकार है। उस अन्धकार में जाने में भय लगता है। फिर अपने ही पैरों पर खड़ा होना होगा।

स्वतन्त्रता का अर्थ है : अपने ही पैरों पर खड़ा होना। और स्वतन्त्रता का अर्थ है : अपने निर्णय खुद ही लेना।

दुनिया में इतने उपद्रव चलते हैं, उस उपद्रवों के पीछे भी कारण यही है कि बहुत से लोग गुलामी खोजते हैं। सौ में निन्यानबे लोग ऐसे होते हैं कि बिना नेता के नहीं रह सकते। कोई नेता चाहिए। इस मुल्क में—सारी जमीन पर—सब जगह नेता की बड़ी जरूरत है! नेता की जरूरत क्या है? नेता की जरूरत यह है कि कुछ लोग अपने पैरों से नहीं चल सकते। कोई आगे चल रहा हो तो फिर उन्हें फिक्र नहीं। फिर वह कहीं गड्ढे में ले जाय—और हमेशा नेता गड्ढों में ले जाते हैं। लेकिन पीछे चलने वाले को यह भरोसा रहता है कि आगे चलनेवाला जानता है। वह जहाँ भी जा रहा है—ठीक है; और कम से कम इतना तो पक्का है कि जिम्मेवारी हमारी नहीं है। हम सिर्फ पीछे चल रहे हैं।

दूसरे महायुद्ध के बाद जो जर्मनी में नेता बच गये, हिटलर के साथी, उन पर मुकदमे चले। तो जिस आदमी ने लाखों लोगों को जलाया था—आकमण्ड ने... जिसने वहाँ भट्ठियाँ बनाईं, जिसमें वहाँ हजारों लोग जलाए गए, कोई तीन करोड़ लोगों की हत्या का जिम्मा उसके ऊपर था—आकमण्ड के ऊपर। पर आकमण्ड बहुत भला आदमी था। अपनी स्त्री को छोड़ कर कभी किसी दूसरी स्त्री की तरफ देखा नहीं। रविवार को नियमित चर्च जाता था, बाइबिल का अध्ययन करता था। शराब की आदत नहीं, सिगरेट पीता नहीं। रोज ब्रह्ममुहूर्त में उठता। कोई बुराई नहीं थी। मांसाहारी नहीं था। हिटलर में भी यही खूबियाँ थीं; मांसाहार नहीं करता था, शराब नहीं पीता था, सिगरेट नहीं पीता था। भले आदमी के सब लक्षण उसमें थे।

आकण्ड पर जब मुकदमा चला, तो लोग चकित थे कि इस आदमी ने कैसे तीन

करोड़ लोगों की हत्या का इन्तजाम किया। जब उससे पूछा गया तो उसने कहा, 'मैं तो सिर्फ अनुयायी हूँ, और आज्ञा का पालन करना मेरा कर्तव्य है। जिम्मेदारी मुझे पर है ही नहीं। ऊपर से आज्ञा दी गई, मैंने पूरी की। मैं सिर्फ एक अनुयायी हूँ—एक सिपाही।

दुनिया में लोगों की कमजोरी है कि उनको नेता चाहिए; फिर नेता कहाँ ले जाता है, इसका भी कोई सवाल नहीं है। नेता को भी कुछ पता नहीं कि वह कहाँ जा रहा है। अन्धे अन्धों का नेतृत्व करते हैं। बस, नेता और अनुयायी में इतना ही फर्क है, कि अनुयायी को कोई चाहिए, जो उसके आगे चले; और नेता को कोई चाहिए, जो उसके पीछे चले। नेता भी निर्भर है—पीछे चलने वालों पर। अगर पीछे कोई न चले तो नेता को लगता है कि भटक गया। जब तक लोग पीछे चलते रहते हैं, तब तक उसे लगता है कि सब ठीक चल रहा है। 'अगर मैं ठीक न होता, तो इतने लोग पीछे कैसे होते?' जैसे ही पीछे से लोग हटते हैं, नेता का विश्वास चला जाता है। जैसे ही अनुयायी हट जाते हैं, नेता की आत्म-आस्था खो जाती है। उसे लगता है : बस, कहीं भूल हो गई अन्यथा लोग मेरे पीछे चलते। इसलिए जो बहुत बुद्धिमान नेता है, उनकी तरकीब अलग है।

मैंने सुना है कि मुल्ला नसरुद्दीन एक दिन अपने गधे पर भागा जा रहा है। कुछ मित्रों ने उसे रोका और पूछा कि कहाँ जा रहे हो इतनी तेजी से?' उसने कहा, 'मुझे मत पूछो, गधे से पूछो, क्योंकि मैं इसको चलाने की कोशिश करता हूँ, तो यह अड़चन डालता है; और चार आदमियों के सामने बाजार में भद्द होती है। मैं इसको कहता हूँ : बायें चलो, तो यह दायें जाता है। तो लोग समझते हैं : इसका गधा भी इसकी नहीं मानता! तो मैंने एक तरकीब निकाली : गधा जहाँ जाता है, उसके साथ मैं जाता हूँ; इससे इज्जत भी बनी रहती है और गधे को भी यह खयाल नहीं आता कि वह मालिक का विरोध कर सकता है।'

सभी नेताओं की कुशलता यही है। वे हमेशा देखते रहते हैं कि अनुयायी कहाँ को जा रहे हैं; अनुयायी कहाँ जाना चाहता है, इसके पहले नेता मुड़ जाता है, तो ही नेता अनुयायी को बचा सकता है, नहीं तो अनुयायी भड़क जाएगा, अलग हो जाएगा।

सब नेता अपने अनुयायिओं के अनुयायी होते हैं, एक व्हिसियस सर्कल है। तो नेता 'तापमान' देखता रहता है कि अनुयायी क्या चाहता है। अनुयायी समाजवाद चाहते हैं—तो समाजवाद। अनुयायी चाहते हैं : गरीबी मिटे—तो गरीबी मिटे। अनुयायी जो चाहते हैं, वह करता है। और अनुयायी सुनते हैं, अपनी ही आवाज को उसके मुँह से; सोचते हैं कि ठीक है। अनुयायी पीछे चलते हैं।

कुछ लोग हैं, जब तक उनके आगे कोई न चले, तब तक वे चल नहीं सकते। कुछ लोग हैं, जब तक कोई उनके पीछे न चले, तब तक वे नहीं चल सकते। दोनों निर्भर हैं।

स्वतन्त्र व्यक्ति वह है, जो न आगे देखता है और न पीछे देखता है, जो अपने पैर से चलता है। पर बड़ी कठिन है बात, क्योंकि तब किसी दूसरे पर भरोसा नहीं खोजा जाता, किसी दूसरे पर जिम्मेवारी नहीं डाली जाती। सब जिम्मेवारी अपनी है। इतना जिसका साहस हो, वही केवल स्वतन्त्र हो पाता है।

न नेता स्वतन्त्र होते हैं, न अनुयायी स्वतन्त्र होते है। स्वतन्त्रता इस जगत् में सबसे बड़ा जोखम है।

कृष्ण कहते हैं : 'जो आसुरी सम्पदा है, वह बन्धन के लिए है और जो दैवी सम्पदा है, वह मुक्ति के लिए मानी गई है। और हे अर्जुन, तू शोक मत कर, क्योंकि तू दैवी सम्पदा को प्राप्त हुआ है।'

आज इतना ही।

स्वतंत्रता और दायित्व • विरले धार्मिक व्यक्ति • सीमा बंधन है
आसुरी व्यक्ति की रुग्णताएँ

चौथा प्रवचन

श्री रजनीश आश्रम, पूना, संध्या, दिनांक २ अप्रैल, १९६४

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः।
न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते ॥ ७ ॥

असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम्।
अपरस्परसंभूतं किमन्यत्कामहैतुकम् ॥ ८ ॥

एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः।
प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः ॥ ९ ॥

और हे अर्जुन, आसुरी स्वभाववाले मनुष्य कर्तव्यकार्य में प्रवृत्त होने को और अकर्तव्यकार्य में निवृत्त होने को भी नहीं जानते हैं। इसलिए उनमें न तो बाहर-भीतर की शुद्धि है, न श्रेष्ठ आचरण है और न सत्य भाषण ही है।

तथा वे आसुरी प्रकृतिवाले मनुष्य कहते हैं कि जगत् आश्रयरहित और सर्वथा झूठा है, एवं बिना ईश्वर के अपने आप स्त्री-पुरुष के संयोग से उत्पन्न हुआ है। इसलिए जगत् केवल भोगों को भोगने के लिए ही है—इसके सिवाय और क्या है?

इस प्रकार इस मिथ्या-ज्ञान को अवलम्बन करके नष्ट हो गया है स्वभाव जिनका तथा मन्द है बुद्धि जिनकी, ऐसे वे सब का अहित करनेवाले क्रूरकर्मी मनुष्य केवल जगत् का नाश करने के लिए ही उत्पन्न होते हैं।

पहला प्रश्न : आश्चर्य की बात है कि पशुओं में पाखण्ड या मिथ्याचरण नाममात्र भी नहीं है और आदिवासियों में भी अत्यल्प है, जब कि तथाकथित शिक्षित व सभ्य समाज में सर्वाधिक है। तो क्या बर्बरता से सभ्यता की ओर मनुष्य की लम्बी व कठिन यात्रा व्यर्थ ही गई? और तब क्या आदिवासी व्यवस्था वरण्य नहीं है?

पशुओं में मिथ्याचरण नहीं है, पाखण्ड नहीं है, इसलिए नहीं कि पशुओं की कोई उपलब्धि है, बल्कि इसलिए कि पशु असमर्थ हैं। पशु पाखण्डी हो नहीं सकते, होने का उपाय नहीं है; बुरे होने की कोई सुविधा नहीं है; पतित होने की कोई सम्भावना नहीं है। लेकिन चूँकि पशु पतित नहीं हो सकते, पशु दिव्यता का आरोहण भी नहीं कर सकते। जो गिर नहीं सकता, वह ऊपर भी उठ नहीं सकता। और जिसके जीवन में पाप की सम्भावना नहीं है, उसके जीवन में परमात्मा की सम्भावना भी नहीं है।

पशु मूर्च्छित है; प्रकृति उससे जैसा कहती है, वह करता है। यन्त्रवत् उसकी यात्रा है। उसकी कोई स्वेच्छा नहीं है। इसलिए बुरा भी पशु कर नहीं सकता; भला भी नहीं कर सकता। प्रकृति जो कराती है, वही करता है। पशु की अपनी कोई निजता नहीं है, इसलिए पशु न तो असाधु हो सकता है—न साधु; न महा पापी हो सकता है—न महा सन्त। पशु, पशु ही रहेगा।

पशु पूरा का पूरा पैदा होता है। उसकी कोई स्वतन्त्रता नहीं है कि अपने को बदल ले, रूपान्तरित कर ले। स्वभावतः पशु पाखण्डी नहीं है, लेकिन पशु को यह भी स्मरण नहीं हो सकता कि वह पाखण्डी नहीं है। और पाखण्ड को छोड़ने से जो जीवन में गरिमा आती है, वह भी पशु को नहीं हो सकती।

मनुष्य की गरिमा यही है कि वह पाप कर सकता है, चाहे तो पाप करना छोड़ सकता है। छोड़ने की खूबी है, क्योंकि करने की सुविधा है। जहाँ आप कर ही न

सकते हों, वहाँ छोड़ने का कोई अर्थ नहीं है। नपुंसक ब्रह्मचारी हो, तो इसकी कोई सार्थकता नहीं है। ब्रह्मचर्य की सार्थकता तभी है, जब काम में उतरने की क्षमता हो।

तो मनुष्य के लिए सम्भावना है कि गिर सके, और मनुष्य के लिए सम्भावना है कि उठ सके; दोनों द्वार खुले हैं। मनुष्य परिपूर्ण स्वतन्त्र है, इसलिए जिम्मेवारी आपकी है। अगर आप गिरते हैं, तो आप यह नहीं कह सकते कि प्रकृति ने मुझे गिरा दिया। आप चाहते, तो न गिरते। आप चाहते, तो रुक जाते। आप चाहते, तो जिस शक्ति से आपने पतन की यात्रा पूरी की, वही आपके स्वर्ग का मार्ग भी बन सकती थी। इसलिए मनुष्य स्वतन्त्र है, और साथ ही जिम्मेवार है।

पश्चिम का बहुत बड़ा आधुनिक विचारक सार्त्र मनुष्य के लिए दो शब्दों का उपयोग करता है—एक है : फ्रीडम, और दूसरा है : रिस्पॉन्सिबिलिटी; एक है : परिपूर्ण स्वतन्त्रता, और दूसरा है : परिपूर्ण गहन दायित्व। जो स्वतन्त्र है, उसका दायित्व भी है। जो स्वतन्त्र नहीं है, उसका कोई दायित्व भी नहीं है।

हम किसी पशु को 'अच्छा' नहीं कह सकते, 'बुरा' नहीं कह सकते। जो पशु की दशा है, वही छोटे बच्चों की भी दशा है। जो पशु की दशा है, उससे ही मिलती-जुलती दशा आदिवासियों की है। वे कितने ही भले हों, उनके भलेपन में बहुत गौरव नहीं है। वे चोर न हों, तो भी हम उन्हें अचोर नहीं कह सकते, क्योंकि अचोर वे तभी हो सकते हैं, जब चोरी करने की उनको क्षमता हो। सुविधा हो, चोरी करने का खयाल हो!

जीवन का जो विकास है, वह आन्तरिक संयम से सम्भव होता है। आप एक सपाट जमीन पर चलते हैं। कोई भीड़ आपको देखने इकट्ठी नहीं होती, न ही लोग ढोल बजा कर आपका स्वागत करते हैं, न तालियाँ पीटते हैं, लेकिन आप दो छतों के बीच में एक रस्सी बाँधें, फिर उस रस्सी पर चलें, तो सारा गाँव इकट्ठा हो जाएगा। चलने में कोई भी फर्क नहीं है। जैसा आप जमीन पर चलते थे, उन्हीं पैरों से, उसी ढंग से रस्सी पर भी चलेंगे। लेकिन यह भीड़ देखने इकट्ठी किसलिए हो गई? क्योंकि अब गिरने की सम्भावना है। आप गिर सकते हैं। चलना कठिन है, गिरना आसान है। और गिरने की ये जो सम्भावना है कि हड्डी-पसली टूट जाय, कि जीवन भी समाप्त हो जाय, इस खतरे को लेकर आप जब रस्सी पर चलते हैं, तो इस चलने में गौरव और गरिमा आ जाती है।

मनुष्य चौबीस घण्टे 'रस्सी' पर है, पशु सदा समतल भूमि पर हैं। सभ्यता की खूबी यही है कि वह आपको मौका देती है—गिरने का भी, उठने का भी। तो आदिवासी भले हैं, लेकिन कोई बुद्धि तो आदिवासी पैदा नहीं कर पाते। कोई रावण भी पैदा नहीं होता, कोई राम भी पैदा नहीं होता। दोनों का उपाय नहीं है।

सभ्यता सुविधा है—नरक और स्वर्ग दोनों तरफ जाने की। जितना सभ्य समाज हो, उतनी सुविधा बढ़ती जाती है। यह दूसरी बात है कि आप सुविधा का उपयोग नरक जाने के लिए ही करते हैं। यह आपका निर्णय है। पर शायद स्वर्ग जाने के लिए नरक जाना भी जरूरी है। नरक की पीड़ा का अनुभव न हो, तो स्वर्ग के आनन्द का भी स्मरण नहीं आता। नरक की अँधेरी पृष्ठभूमि में ही स्वर्ग की शुभ्र रेखाएँ खिंचती हैं, उभरती हैं, और दिखाई पड़ती हैं। वह जो पीड़ा को भोगता है, उसे आनन्द की खोज भी पैदा होती है।

इसलिए जिनको हम साधारणतः भले आदमी कहते हैं, उनके जीवन में कुछ नमक नहीं होता; उनके जीवन में कुछ स्वाद नहीं होता। स्वाद तो उस आदमी के जीवन में होता है, जिसने बुरा होना भी जाना है, और फिर भला होना भी जाना है। उसके जीवन में एक संगीत होता है—एक गहराई होती है, एक ऊँचाई होती है। साधारणतः जो आदमी भला है, न उसने कुछ बुरा किया है, न कभी कोई पाप किया है, न कभी अपराध में उतरा है, न कभी भटका है रास्ते से—उस आदमी के जीवन में बहुत संगीत नहीं होता। उस आदमी के जीवन में इकहरा स्वर होता है। उसमें न रस होता है, न रहस्य होता है, न गहराई होती है, न ऊँचाई होती है।

उपन्यासकार कहते हैं कि साधारण अच्छे आदमी के जीवन पर कोई कहानी नहीं लिखी जा सकती। अच्छे आदमी की कोई कहानी होती नहीं। कहानी के लिए बुरा आदमी चाहिए। और कहानी गहरी हो जाती है, अगर बुराई को पार करके अच्छाई में उतर जाय; तब कहानी बड़ी रहस्यपूर्ण हो जाती है; और कहानी में एक स्वाद आ जाता है—एक चुनौती, एक उत्तुंग ऊँचाई, एक पुकार दूर की।

पापी के जीवन में कथा होती है, और अगर पापी सन्त हो जाय, तो उससे ज्यादा जटिल और रहस्यपूर्ण कथा फिर किसी के जीवन में नहीं होती।

थॉमसमन ने एक अद्भुत किताब लिखी है। किताब का नाम है, 'द होली सिनर—पवित्र पापी।' तो जहाँ पवित्रता और पाप दोनों घट जाते हैं, उस तनाव में... रस्सी जैसे दो खाईयों के बीच खिंच जाती है, और उस रस्सी पर जो संतुलन को साध पाता है, वह गौरव के योग्य है।

सभ्यता सुविधा देती है—गिरने की; सभ्यता सुविधा देती है—उठने की।

नहीं, आदिवासीपन वरण्य नहीं है, वरण्य तो सभ्यता ही है, लेकिन सभ्यता विकल्प देती है। अभ्यता वरण्य है, और फिर सभ्यता के विकल्पों में स्वर्ग की तरफ जाने की यात्रा वरण्य है।

अगर आप साधारण भले आदमी हैं, तो आप यह मत समझना कि जीवन, आपकी कोई उपलब्धि बन रहा है। आप कुनकुने-कुनकुने जी रहे हैं। जीवन में कोई

अति नहीं है और अति न होगी, तो जीवन में कोई आनन्द की पुलक, कोई एक्स-टेसि, कोई समाधि की दशा भी पैदा नहीं होगी।

नीत्से ने एक बहुत महत्वपूर्ण वचन लिखा है। उसने लिखा है कि जिस वृक्ष को आकाश की ऊँचाई छूनी हो, उसे अपनी जड़ें पाताल की गहराई तक भेजनी पड़ती है। अगर वृक्ष डरता हो कि अँधेरी जमीन में कहाँ जड़ों को भेजूँ, तो उसकी शाखाएँ भी आकाश में न जा सकेंगी। जितनी ऊँचाई वृक्ष की ऊपर होती है, उतनी नीचाई वृक्ष की नीचे होती है; दोनों समान होती हैं। जड़ें उतनी ही गहरी जानी जरूरी है, जितना वृक्ष को ऊपर उठना हो। जो वृक्ष चार-चार सौ फीट ऊपर उठते हैं—आकाश को छूने की आकांक्षा से, वे चार सौ फीट नीचे जमीन में अपनी जड़ों को भी भेजते हैं।

यही मनुष्य का नियम भी है। जितने दूर तक गिरने का रास्ता है, उतने ही दूर तक उठने का उपाय है। 'गिरने का रास्ता है'—इसका अर्थ यह नहीं है कि आप गिरें ही; पर वह सम्भावना रहनी चाहिए। गिर सकते हैं—यह सम्भावना आपको संतुलन देगी। आप प्रतिपल अपने को सम्हालेंगे। उस सम्हालने में ही आपकी आत्मा का जागरण है। गिर ही न सकते हों, तो फिर सो जाएँगे; फिर न कोई चुनौती है, न कोई जागरण है।

● दूसरा प्रश्न : कल रात आपने बड़ी निराशाजनक बात कही कि संसार शायद सदा के लिए अज्ञान, दुःख व संताप में जीने के लिए अभिशप्त है। तो क्या धर्म विरले व्यक्तियों के लिए संसार छोड़ कर परमात्मा या शून्य में विलीन होने के लिए निमन्त्रण मात्र है?

निराशाजनक मालूम हो सकती है, निराशाजनक है नहीं। अगर कोई कहे कि अस्पताल सदा ही बीमारों से भरा रहेगा, तो इसमें निराशाजनक बात क्या है? अस्पताल है ही इसलिए। निराशाजनक तो बात तब होगी, जब अस्पताल में हम स्वस्थ आदमियों को भरने लगें। परन्तु जैसे ही कोई व्यक्ति स्वस्थ हो, अस्पताल से मुक्त होना पड़ेगा। अस्पताल का प्रयोजन यही है कि बीमार वहाँ हों। इसमें निराशा की कौन-सी बात है? इसमें अस्पाताल की निंदा नहीं है। अस्पताल चिकित्सा की जगह है। वहाँ बीमार के लिए स्थान है; वहाँ स्वस्थ के लिए कोई प्रयोजन नहीं है। और जैसे ही कोई स्वस्थ हुआ कि अस्पताल से बाहर जाएगा।

संसार को भारत अस्पताल से भिन्न नहीं मानता, वह अस्वस्थ चित्त की जगह है। वहाँ आत्मा हमारी बीमार है, इसलिए हम हैं। जैसे ही आत्मा स्वस्थ होगी, हमें संसार से बाहर हो जाना पड़ेगा। इसलिए यह कोई अभिशाप नहीं है कि संसार सदा ही विक्षिप्त रहेगा। जब तक विक्षिप्त आत्माएँ हैं, तब तक संसार रहेगा, यह बात पक्की है। जब तक बीमार हैं, तब तक अस्पताल रहेगा। बीमार नहीं होंगे, अस्पताल खो जाएगा।

यह संसार के लिए कोई अभिशाप नहीं है; यह संसार का स्वभाव है; यह संसार की नियति है। हम गलत हैं, इसलिए हम वहाँ हैं। वह एक बड़ा शिक्षण का स्थल है, एक बड़ा विश्वविद्यालय है; वहाँ जैसे-जैसे हम ठीक होंगे, वैसे-वैसे हम बाहर फेंक दिये जाएँगे। वैसे-जैसे संतत्व उभरेगा, आप संसार में हो कर भी संसार में नहीं होंगे। फिर जैसे-जैसे संतत्व पूर्णता को पहुँचेगा, आप पायेंगे कि अब संसार में होना आपका —स्वप्नवत् रह गया। अगर इस पूर्णता को उपलब्ध करके आप मर गए—मरेंगे, शरीर छूटेगा—तो फिर दुबारा लौटने का उपाय न रह जाएगा।

इसलिए बुद्ध पुरुष बुद्धत्व के बाद वापस नहीं लौट सकता। एक जन्म, जब वह बुद्धत्व को प्राप्त करता है, तब टिकेगा, लेकिन नये शरीर को ग्रहण करने का उपाय नहीं है। नये शरीर को ग्रहण करने का अर्थ होता है, संसार में वापस लौटने का उपाय। वह वाहन है, जिससे संसार में वापस आते हैं। उसका कोई प्रयोजन न रहा, क्योंकि शरीर से जो सीखा जा सकता था, सीख लिया गया। और संसार में जो जाना जा सकता था, वह जान लिया गया, और संसार में कुछ पाने को न बचा।

इसको ऐसा समझें कि विश्वविद्यालय अशिक्षित लोगों के लिए है। यह कोई अभिशाप नहीं है, क्योंकि जैसे ही कोई शिक्षित होगा, विश्वविद्यालय के बाहर हो जाएगा। अशिक्षित ही विश्वविद्यालय में होगा। जैसे ही शिक्षा पूरी हुई कि विश्वविद्यालय का अर्थ खो जाता है। और अगर किसी विद्यार्थी को बार-बार विश्वविद्यालय में लौटना पड़ता है, तो इसका अर्थ ही यह है कि वह उत्तीर्ण नहीं हो पा रहा है।

निराशाजनक बात नहीं, संसार का तथ्य यही है।

दूसरी बात, 'तो क्या धर्म संसार छोड़ कर परमात्मा या शून्य में विलीन होने के लिए, कुछ विरले व्यक्तियों के लिए निमन्त्रण मात्र है ?'

नहीं, सभी के लिए निमन्त्रण है; विरले उसको स्वीकार करते हैं, यह दूसरी बात है। निमन्त्रण सार्वजनिक है। धर्म सभी के लिए है। स्वस्थ होने की सम्भावना सभी के लिए है। लेकिन जो स्वस्थ होने की प्रक्रिया से गुजरेंगे, जो साधना का पथ लेंगे, वे विरले, मुक्त हो पायेंगे।

तीसरी बात, धर्म कोई पलायन नहीं है, और न संसार को छोड़ कर शून्य में खो जाना है। धर्म की दृष्टि में तो संसार शून्य है, स्वप्नवत् है, पानी का बबूला है। इस शून्यवत् को छोड़कर सत्य में प्रवेश कर जाने का निमन्त्रण है। लेकिन अगर हम बीमार आदमी से कहें कि जब तक तू सारी बीमारियाँ न छोड़ देगा, तब तक अस्पताल से बाहर न जाने देंगे, तो वह कहेगा कि 'आप मुझे शून्य होने के लिए मजबूर कर रहे हैं। सभी बीमारियाँ छोड़नी पड़ेंगी ? तो फिर मेरे पास बचेगा क्या ? तो मैं शून्य हो जाऊँगा ?' बीमार के पास बीमारियों के सिवाय और कोई सम्पदा नहीं है; उसने स्वास्थ्य कभी जाना नहीं है। निश्चित ही बीमारियाँ छूटें, तो स्वास्थ्य का जन्म होगा।

धर्म की भाषा लगती शून्यवादी है, क्योंकि धर्म कहता है : यह छोड़ो, यह छोड़ो, यह छोड़ो। क्योंकि हम बीमारियाँ पकड़े हुए हैं, इसलिए छोड़ने पर इतना जोर है, त्याग की इतनी उपादेयता है। लेकिन इसका यह अर्थ नहीं कि हम शून्य में खो जाएँगे। बीमारियाँ शून्यवत् हो जाएँगी; हम तो पूर्ण को उपलब्ध हो जाएँगे। और जिस दिन आप सब छोड़ देते हैं : वह जो गलत था—उस दिन जो सही है, उसका आपके भीतर उदय होता है। उस दिन दीया जलता है। उस दिन आप यह न कहेंगे कि 'अँधेरा छोड़ दिया, अब शून्य हो गये।'

अँधेरा छोड़ा, प्रकाश जला। वह जो प्रकाश का जलना है, वह उपलब्धि है। लेकिन जिसने अँधेरा ही जाना हो, वह शायद यही समझेगा कि सब छूट गया, सब खो गया, सब नष्ट हो गया, कुछ भी न बचा। हाथ में लकड़ी थी, अँधेरे में टटोलते थे, वह भी छूट गई; अँधेरा भी छूट गया। टकराते थे, उस टकराने को लोग जिन्दगी समझते हैं! जगह-जगह ठोकर खाते थे। अब कोई ठोकर नहीं लगती; जगह-जगह टकराते नहीं। हाथ की लकड़ी छूटी, अँधेरा छूटा, सब छूट गया।

प्रकाश की जो उपलब्धि हुई है, वह धीरे से समझ में आयेगी, कि जो छूटा, वह छूटने योग्य था। छोड़ने योग्य था, छोड़ ही देना था—कभी का उसे। इतने दिन खींचा, यही आश्चर्य है।

लेकिन प्राथमिक रूप से लगेगा कि धर्म शून्य में ले जाता है। जो आपके पास है, उसे छीनता है, इसलिए लगता है कि शून्य में ले जाता है। और जिसका आपको पता नहीं है, उस शून्यता से पूर्ण का उदय होता है।

धर्म आपको खाली करता है, ताकि आप परमात्मा से भर सकें। धर्म आपको मिटाता है, ताकि आपके भीतर जो नहीं मिटनेवाला तत्त्व है, केवल वही शेष रह जाय। धर्म आपको जलाता है, ताकि कचरा जल जाय, केवल स्वर्ण बचे। आपकी मृत्यु में ही आपके परमात्म-स्वरूप का जन्म है।

और ध्यान रहे, यह निमन्त्रण विरले लोगों के लिए नहीं है! निमन्त्रण सबके लिए है, लेकिन विरले इसे स्वीकार करते हैं, क्योंकि निमन्त्रण बड़ा कठिन है। यात्रा दुरूह है, बड़ी लम्बी है। उतनी देर तक सातत्य को बनाए रखना, धैर्य को रखना, बहुत थोड़े लोगों की क्षमता है।

मेरे पास लोग आते हैं, वे कहते हैं : 'कितने दिन ध्यान करें, तो आत्मा उपलब्ध हो जाएगी ?—कितने दिन ?' ऐसा लगता है, उनकी बात से कि काफी कृपा कर रहे

हैं!—कितने दिन! और दो-चार दिन कोई ध्यान कर लेता है, तो वह मुझे लौट कर कहता है कि 'अभी तक परमात्मा के दर्शन नहीं हुए!'

विरले स्वीकार कर पाते हैं, क्योंकि धैर्य की कमी है, और सातत्य थोड़े दिन भी बनाये रखना मुश्किल है। आज करते हैं, कल छूट जाता है: दो-चार दिन करते हैं, हजार बहाने मन खोज लेता है—न करने के। और दो-चार दिन में मन कहने लगता है: 'इतना समय नष्ट कर रहे हो! इतने में तो न मालूम कितना कमाया जा सकता था। न मालूम क्या-क्या कर लेते।' यह प्रार्थना, यह पूजा, यह ध्यान—यह समय का अपव्यय मालूम होता है।

हमारी दशा उन छोटे बच्चों जैसी है, जो आम की गुठली को जमीन में गड़ा देते हैं, फिर घड़ी भर बाद जाकर उघाड़ कर देखते हैं: पौधा आया या नहीं? फिर घड़ी भर बाद जाकर खोद कर देखते हैं। और हर घड़ी गुठली को खोद कर देखा गया तो पौधा कभी भी न आयेगा, क्योंकि गुठली को मौका ही नहीं मिल रहा है कि वह जमीन के साथ एक हो जाय, टूट जाय, मिट जाय, खो जाय। गुठली मिटे, तो पौधे का जन्म हो। और जो उसे हर घड़ी खोद कर देख रहा है, वह उसे मौका ही नहीं दे रहा। गुठली, गुठली ही बनी रहेगी, और तब उसका तर्क कहेगा फिजूल है यह बात। महीनों से देख रहा हूँ, गुठली गड़ा रहा हूँ, उखाड़ रहा हूँ, कुछ पौधा-वौधा आता नहीं। झूठी हैं ये बातें। ये कृष्ण और बुद्ध और क्राइस्ट जो कहते हैं; सब कपोल-कल्पित हैं। यह गुठली पत्थर है, इसमें कुछ पौधा कभी आ नहीं सकता। और तब यह तर्क ठीक भी मालूम पड़ता है, क्योंकि महीनों का अनुभव यह कहता है कि रोज तू देखता है, कहीं से जरा भी अंकुर के फूटने की संभावना नहीं दिखाई देती। गुठली वैसी की वैसी है। यह पत्थर है। न कोई आत्मा है भीतर, न कोई पौधा है, न कोई फूल छिपे हैं। तब हम गुठली को फेंक देते हैं।

धीरज की जरूरत है। और जब आम की गुठली के लिए महीनों की प्रतीक्षा करनी पड़ती है, तो आपकी गुठली तो जन्मों-जन्मों से सख्त है। वह पथरीली हो गई है। उसे पिघलाने में वक्त लगेगा, श्रम लगेगा; सतत चोट करनी पड़ेगी और तभी आपको पता चलेगा कि कृष्ण और बुद्ध कल्पना की बात नहीं कर रहे हैं। उनका अनुभव है। उनकी गुठली टूटी और उन्होंने वृक्ष को बढ़ता हुआ देखा। उस वृक्ष की सुगंध उन्होंने अनुभव की, उस वृक्ष के फूल उन्होंने पाये। उनका जीवन कृत-कृत्य हुआ है।

लेकिन चूँकि बहुत थोड़े लोग इतनी दूर जाने को राजी होते हैं, इसलिए धर्म विरले लोगों के लिए रह जाता है।

आमंत्रण सभी के लिए है।

तिब्बत में एक बहुत प्राचीन कथा है। एक दूर पहाड़ों में छिपा हुआ नया

आश्रम निर्मित हुआ, तो जिस प्रधान लामासरी से उस आश्रम का सम्बन्ध था, उस लामासरी ने सौ लोगों का चुनाव किया, जो जाकर उस आश्रम को सम्हालेंगे। तो एक युवक शिष्य ने पूछा, 'लेकिन सौ की वहाँ जरूरत नहीं है। वहाँ तो पाँच से काम चल जाएगा।' तो गुरु ने कहा, 'सौ को बुलाओ, तो दस तो आते हैं। दस को भेजो, तो पाँच पहुँच पाते हैं। और इतने भी पहुँच जायँ, तो भी काफी है।

धर्म तो सभी को बुलाता है, लेकिन सौ को बुलाओ तो नब्बे को तो सुनाई ही नहीं पड़ता निमन्त्रण, क्योंकि हमें वही सुनाई पड़ता है, जिसे सुनने को हम आतुर हैं। हमें सभी चीजें सुनाई नहीं पड़तीं। अभी मैं यहाँ बोल रहा हूँ, यदि आप मुझमें आतुर हैं, तो मैं जो कह रहा हूँ, वह सुनाई पड़ता है। लेकिन और बहुत-सी आवाजें चारों तरफ चल रही हैं, वे आपको सुनाई नहीं पड़तीं; टेप रिकार्डर उनको भी पकड़ लेगा, क्योंकि टेप रिकार्डर का कोई चुनाव नहीं है। जब आप टेप सुनेंगे, तब आप हैरान होंगे कि ये इतनी आवाजें—कोई पक्षी बोला, कुत्ता भौंका, हवाई जहाज गया, ट्रेन आई, यह सब पकड़ रहा था, उसका कोई चुनाव नहीं है। और अगर आप भी सब पकड़ रहे हैं, तो उसका मतलब यह है कि आप भी चुन नहीं रहे हैं।

जो हम चुनते हैं, वह हमें सुनाई पड़ता है; जो हम चुनते हैं, वह हमें दिखाई पड़ता है। अगर आप चोर हैं, तो रास्ते से गुजरते वक्त आपको कुछ और दिखाई पड़ेगा, जो साहूकार को दिखाई नहीं पड़ सकता। अगर आप चमार हैं, तो रास्ते से गुजरते वक्त आपको लोगों के जूते दिखाई पड़ेंगे, उनकी टोपियाँ दिखाई नहीं पड़ सकतीं। अगर आप दर्जी हैं, तो उनके कपड़े दिखाई पड़ेंगे, उनके चेहरे दिखाई नहीं पड़ सकते। आपकी जो रुझान है, वही दिखाई पड़ता है।

वैज्ञानिक कहते हैं कि सौ घटनाएँ घट रही हैं, उसमें से हम केवल दो को पकड़ते हैं, अट्ठानबे छूट जाती हैं, हमारा कोई प्रयोजन नहीं है।

आप एक रास्ते से गुजरें; सैकड़ों वृक्ष लगे हैं; एक चित्रकार गुजरे, उसी रास्ते से, तो उसे हर वृक्ष की हरियाली अलग दिखाई पड़ती है। क्योंकि हर वृक्ष अलग ढंग से हरा है। हरा कोई एक रंग नहीं है, हरे में हजार रंग हैं। पर वह सिर्फ चित्रकार को दिखाई पड़ता है—जिसको रंगों की सूझ है, जिसको रंगों में झुकाव है, जिसे रंगों में रस है। आपके लिए सब वृक्ष एक जैसे हरे ह।

आपको वही दिखाई पड़ता है, जो आप देखने चले हैं। जो आप खोजने निकले हैं, उसकी पुकार आपको सुनाई पड़ जाती है।

एक रास्ते से दो फकीर गुजर रहे थे। चर्च में घण्टियाँ बजने लगीं। बाजार था, बड़ा शोरगुल था। चीजें ली जा रही हैं, खरीदी जा रही हैं, बेची जा रही हैं, गाड़ियों से उतारी जा रही, चढ़ाई जा रही हैं। बड़ा शोरगुल था वहाँ; चर्च की

घण्टी का सुनाई पड़ना बड़ा मुश्किल था। एक फकीर ने चर्च की घण्टी सुनते ही कहा, 'हम जल्दी चलें, प्रार्थना का समय हो गया है, घण्टी बज रही है।' उस दूसरे फकीर ने कहा, 'तुम भी अद्‌भुत हो; इस शोरगुल में, इस उपद्रव में तुम्हें चर्च की घण्टी सुनाई पड़ गई? यहाँ किसी को सुनाई नहीं पड़ रही है।' उसने कहा, 'यहाँ भी कुछ चीजें ही सुनाई पड़ती हैं।' उसने एक रुपया खीसे से निकाला और सड़क पर गिरा दिया। खन्न की आवाज हुई, पूरा बाजार देखने लगा। वे सब रुपये को सुनने को आतुर लोग हैं।

चर्च की घण्टी बज रही थी, किसी के कान पर चोट न पड़ी। खन्न की आवाज से सब चौंक गये; सब ने आसपास देखा। वे सब रुपये की तलाश में निकले हुए लोग हैं। रुपये की आवाज सुनाई पड़ जाएगी, चर्च की घण्टी खो जाएगी; चाहे चर्च की घण्टी जोर से बज रही हो, तो भी खो जाएगी।

एक माँ सो रही हो, रात तूफान हो, बादल गरज रहे हों, उसे सुनाई नहीं पड़ेगा। उसका छोटा-सा बेटा रात जरा-सा कुनमुना दे, जरा-सा रो दे, वह जग जाएगी।

सौ को बुलाओ नब्बे को सुनाई नहीं पड़ता। जिन दस को सुनाई पड़ता है, उनमें से भी शायद पाँच समझ न पाएँगे। सुन भी लेंगे, तो भी पकड़ न पायेंगे। सुन भी लेंगे, तो भी उनकी आत्मा के भीतर कोई झंकार पैदा न होगी, कोई प्रतिध्वनि न होगी। सुनेंगे कान से, बात खो जाएगी, कोई ऐसी चोट न पड़ेगी, कि जो सुना है, वह उन्हें रूपान्तरित कर दे।

पाँच सुनेंगे, समझेंगे शायद उनमें से एक, जो उसने सुना है, और समझा है, उसे करेगा भी। चार सुन लेंगे, समझ लेंगे, पण्डित हो जाएँगे। सौ के साथ मेहनत करो, कभी कोई एक यात्रा पर जा पाता है।

धर्म का निमन्त्रण सबके लिए है, लेकिन विरले उसे सुन पाते हैं।

● तीसरा प्रश्न : गीता कहती है कि दैवी सम्पदा मुक्त करती है और आसुरी सम्पदा बाँधती है। इस संदर्भ में क्या बतायेंगे कि बन्धन क्या है और मुक्ति क्या है?

चित्त की ऐसी दशा, जहाँ कोई संताप न हो, जहाँ कोई सीमा का अनुभव न हो, जहाँ कोई सीमान्त न आता हो; चित्त की ऐसी दशा, जैसे खुला आकाश हो—कोई दीवालें चारों तरफ से घेरने को नहीं, कोई पीड़ा की रेखा नहीं है, क्योंकि सब पीड़ा की रेखाएँ घेरती हैं, बन्द करती है; आनन्द खोलता है, फैलाता है—जहाँ चित्त की दशा फैलती हो...। हमारा जो जो शब्द है; इस देश में जो शब्द उपयोग करते हैं, परम स्थिति के लिए, वह ब्रह्म है। ब्रह्म का अर्थ होता है : जो फैलता ही चला जाता है—इन्फिनिटली एक्सपैंडिंग; जो फैलता ही चला जाता है, विस्तार जिसका गुणधर्म है।

एक कंकड़ को फेंक दें पानी में, लहर उठती है, फैलती चली जाती है। अगर पानी असीम हो, तो वह लहर फैलती ही चली जाएगी; किनारा होगा, तो टूट जाएगी। किनारे पर जाकर बिखर जाएगी। अगर कोई किनारा न हो, तो फैलती ही चली जाएगी। आनन्द का कोई किनारा नहीं है, क्योंकि इस अस्तित्व का कोई किनारा नहीं है।

आकाश हमें दिखाई पड़ता है, यह कहीं है नहीं, यह सिर्फ हमारी आँखों की देखने की क्षमता कम है। जहाँ तक आँखें देख पाती हैं, वहीं आकाश हमें बंद होता मालूम होता है, अन्यथा आकाश कहीं भी नहीं है। आकाश का अर्थ है : जो है ही नहीं। अनंत फैलाव है; इस फैलाव की कोई सीमा नहीं है। जब चेतना ऐसी अवस्था में होती है कि उसमें उठते हुए आनंद की तरंगें फैलती ही चली जाती हैं, कहीं कोई किनारा नहीं है, तब मुक्त क्षण है, तब मुक्ति है। और जब चेतना तड़फड़ाती है, और एक भी लहर नहीं फैल पाती, और सब तरफ दीवालें आ जाती हैं; जहाँ बढ़ते हैं, वहीं बन्धन आ जाता है, वहीं लगता है : पैर में जंजीरें हैं, आगे नहीं जा सकते, उस दशा का नाम बन्धन है।

कई प्रकार से हमें बन्धन का अनुभव होता है। कितने ही प्रसन्न होते हों हम, एक शरीर की सीमा बँधी हुई है। शरीर कभी स्वस्थ है, कभी अस्वस्थ है; कभी जवान है, कभी बूढ़ा है; कभी प्रफुल्लित है, कभी उदास है। उसकी सीमा आपके ऊपर बँधी है। अगर शराब डाल दी जाय शरीर में, तो आपकी चेतना भी उसी के साथ बेहोश हो जाती है। शरीर से रक्त निकाल लिया जाय, तो उसी के साथ आपकी चेतना भी दीन-हीन हो जाती है। शरीर जीर्ण-जर्जर—बूढ़ा—हो जाय, तो उसी के साथ आप भी झुक जाते हैं, और टूट जाते हैं। शरीर की सीमा खड़ी है। दूर जरा आगे देखें, तो मौत की सीमा खड़ी है। मरना होगा, मिटना होगा। और प्रतिपल हजार तरह की सीमाएँ हैं—क्रोध की, घृणा की, मोह की, लोभ की सीमाएँ हैं। वे सब तरफ से बाँधे हुए हैं। यह जो अवस्था है, यह बन्धन की अवस्था है।

कृष्ण कहते हैं कि आसुरी सम्पदा का अर्थ है, इस तरह की सम्पत्ति को बढ़ाना और इकट्ठी करना, जिसमें हम बँधते हैं, जिसमें हम खुलते नहीं, उलटे उलझते हैं। दैवी सम्पदा का अर्थ है : ऐसी सम्पदा, जो इन बन्धनों को तोड़ती है।

ध्यान करें, अगर आप लोभ से भरे हैं, तो आपको हर जगह सीमा मालूम पड़ेगी। कितना ही धन आपके पास हो, लगेगा : कम है। लोभी मन को कभी ऐसा लग ही नहीं सकता कि मेरे पास ज्यादा है।

सोचें इसको आप, लोभी मन को कभी लग ही नहीं सकता कि मेरे पास ज्यादा है; उसे सदा लगेगा : मेरे पास कम है। कितना ही हो, लोभ सीमा बन जाएगी। अरब रुपये आपके पास हों, तो भी लगेगा : कम हैं, क्योंकि दस अरब हो सकते थे।

अलोभ की कोई सीमा नहीं है, क्योंकि अलोभी व्यक्ति को सदा लगेगा : जो भी मेरे पास है, वह भी ज्यादा है; वह भी न होता, तो भी कुछ हर्ज न था। अगर अलोभ पूरा हो जाय, तो आपकी सीमा मिट गई।

तो लोभ आसुरी सम्पदा है, अलोभ दैवी सम्पदा है।

क्रोधी व्यक्ति को प्रतिपल सीमा है; जहाँ देखेगा, वहीं से क्रोध पकड़ता है। जो करेगा, वहीं उपद्रव, झगड़ा और कलह खड़ा हो जाता है। अक्रोधी व्यक्ति के लिए कोई सीमा नहीं है। वह जहाँ से भी गुजरता है, वहीं मैत्री पैदा हो जाती है। तो क्रोध आसुरी हो जाएगा, अक्रोध दैवी हो जाएगा।

भयभीत व्यक्ति को हर पल खतरा है...।

मैं एक गाँव में रहता था, तो मेरे सामने एक सुनार था, बहुत भयभीत आदमी। मैं अकसर अपने दरवाजे पर बैठा रहता, तो उसको बड़ी अड़चन होती, क्योंकि शाम को वह घर से निकलता—अकेला ही था—तो ताला लगाएगा; हिलाकर ताले को देखेगा, दो-चार बार। चूँकि मैं सामने बैठा रहता, तो उसको बड़ा संकोच लगता। तो मैं आँख बन्द कर लेता। वह हिला कर देखेगा, फिर वह दस कदम जाएगा, फिर लौटेगा। पसीना-पसीना हो जाएगा; क्योंकि उसको लग रहा है कि मैं देख रहा हूँ। फिर जाएगा, फिर ताले को खटखटाएगा।

मैंने उससे पूछा कि 'तू एक दफे इसे ठीक से खटखटा के देख के क्यों नहीं जाता?' कभी दो दफा, कभी तीन दफा! वह कहता, 'शक आ जाता है। दस कदम जाता हूँ, फिर यह होता है : पता नहीं, मैंने ठीक से हिलाकर देखा कि नहीं देखा!'

अब यह भयभीत आदमी है। यह बाजार भी चला जायगा, तो भी बाजार पहुँच नहीं पायेगा, इसका मन इसके ताले में अटका है। जो चार दफा लौट कर देखता है हिला के, वह कितनी ही बार देख जाय, क्योंकि जो संदेह एक बार हिलाने के बाद आ गया, वह दुबारा क्यों न आयेगा? तिबारा क्यों न आयेगा?

यह जो भयभीत चित्त है, वह न रात सो सकता है, न दिन ठीक से जग सकता है; यह चौबीस घण्टे डरा हुआ है; सारा जगत् दुश्मन है।

तो भय आसुरी सम्पदा है, बाँधती है। अभय मुक्त करती है, तो वह दैवी सम्पदा है।

मुक्त करने से केवल इतना ही अर्थ है कि जिससे आप पर सीमा न पड़ती हो; आप खुले आकाश में पक्षी की तरह उड़ सकते हों।

जिन-जिन चीजों से आपके चित्त पर सीमा पड़ती है, वहीं से आपका कारागृह निर्मित होता है। और हम ऐसे पागल हैं कि उनकी जड़ों को सींचते हैं, हम मजबूत करते हैं, क्योंकि जो जंजीरें हैं, शायद हम सोचते हैं कि वे आभूषण हैं। हम उन्हें

बचाते हैं। कोई अगर तोड़ना चाहे, तो हम नाराज होंगे। कोई हमारी जंजीरें हटाना चाहे, तो हम उसे दुश्मन समझेंगे, क्योंकि उन्हें हमने जंजीरें कभी समझा नहीं; वे कीमती आभूषण हैं, जो बड़ी कठिनाई से अर्जित किये हैं।

तो जब तक कोई व्यक्ति अपनी जंजीरों को आभूषण समझता है, तब तक उसकी मुक्ति का द्वार बन्द ही रहेगा। जब आप अपने आभूषणों को भी बंधन समझने लगेंगे, तभी मुक्ति के द्वार पर पहली चोट पड़ती है।

तो प्रत्येक व्यक्ति को निरीक्षण करते रहना चाहिए—उठते-बैठते, सुबह-साँझ—कौन-सी चीज मेरी सीमा बना रही है। सीमा के अतिरिक्त और कोई आपका दुश्मन नहीं है, और असीम के अतिरिक्त कोई और आपका मित्र नहीं है। तो आपको असीम बनाने की चेष्टा ही ध्यान है; अपने को असीम बनाने की चेष्टा ही प्रार्थना है; अपने को असीम बनाने की चेष्टा ही साधना है।

शरीर बाँधता है, तो साधक अपने को शरीर से मुक्त करता है। तो वह निरन्तर अनुभव करने की कोशिश करता है—क्या मैं शरीर हूँ? क्या मैं सच मेंही शरीरहूँ या शरीर से भिन्न हूँ? धीरे-धीरे, निरन्तर चोट से यह अनुभव होना शुरू हो जाता है कि मैं शरीर नहीं हूँ, जिस दिन यह पता चलता है : मैं शरीर नहीं हूँ, फिर शरीर जवान हो, बूढ़ा हो; जिन्दा हो, मरे; स्वस्थ हो, अस्वस्थ हो, तो बंधन नहीं बाँधता। जो मैं नहीं हूँ, उससे मेरे ऊपर कोई बन्धन नहीं है। और जैसे यह स्मरण आ गया कि मैं शरीर नहीं हूँ, वैसे ही आपकी आत्मा इस खुले आकाश के साथ एक हो गई। फिर कोई परदा न रहा।

मन बाँधता है, तो साधक खोजता है—क्या मैं मन हूँ? और निरन्तर एक ही तलाश में लगा रहता है कि मन से सम्बन्ध कैसे टूट जाय, वह सम्बन्ध टूट जाता है, क्योंकि जो हमारे भीतर साक्षी है, वह न तो शरीर है, न मन है, न भाव है। हम इन सब के साक्षी हो सकते हैं। शरीर को भी देख सकते हैं—अलग अपने से; मन को भी देख सकते हैं; विचार को भी देख सकते हैं। और जिसको हम देख सकते हैं, वह हमसे अलग हो गया, हम द्रष्टा हो गये।

जिसको भी मैं देख सकता हूँ—यह गणित है—वह मैं नहीं हूँ। मैं स्वयं को कभी भी नहीं देख सकता हूँ। मैं सदा देखने वाला ही रहूँगा। दृश्य बनने का कोई उपाय नहीं है; मैं द्रष्टा ही रहूँगा। द्रष्टा होना मेरा स्वभाव है। इसलिए मैं अपने आपको अपने सामने रख कर देख नहीं सकता। सब देख लूँगा मैं, सिर्फ मेरा होना पीछे रह जाएगा। और जब मैं सब देखी जानेवाली चीजों को छोड़ दूँगा—सिर्फ वही बच रहेगा, जो देखने वाला है—उस क्षण मेरी कोई सीमा न होगी, उस क्षण मैं मुक्त हो जाऊँगा।

बन्धन वाला चित्त हर चीज से अपने को जोड़ता है। वह कहता है : यह शरीर

में हूँ। सीमा खड़ी कर ली। वह कहता है : यह धन मैं हूँ; धन की सीमा खड़ी हो गई। अमीर ही नहीं बँधते, भिखमंगे भी धन से बँधे होते हैं।

एक रास्ते से मैं गुजर रहा था, अचानक एक भिखमंगे की आवाज मेरे कानों में पड़ी। बात ही कुछ ऐसी थी कि मैं रुक गया, और सुनने जैसी बात थी। एक सज्जन गुजर रहे थे, भिखमंगा उनसे भीख देने का आग्रह कर रहा था कि कुछ भी दें, जाओ, दो पैसे सही।' भले आदमी थे, खीसे में हाथ डाला; लेकिन घूमने निकले थे शाम को, कोई पैसे खीसे में थे नहीं, तो कहा, 'माफ करना, पैसे खीसे में हैं नहीं; दुबारा जब आऊँगा, तो खयाल से पैसे ले आऊँगा।' तो उस भिखमंगे ने कहा कि 'मार जा—तू भी मार जा मेरे पैसे। इसी तरह वायदा कर करके लोग लाखों रुपये मार चुके हैं।'

भिखमंगा है, वह कह रहा है, 'लाखों रुपये लोग मार चुके हैं, इसी तरह वायदा कर करके कि फिर आ जाएँगे, फुटकर पैसे नहीं हैं, अभी छूटे पैसे नहीं हैं। अभी कुछ खीसे मेंनहीं है।' वह जो लाखों उसके पास कभी नहीं रहे हैं, उनका दुःख है उसको कि लोग मार गये हैं उससे।

अमीर धन से बँधा हो—समझ में आ जाता है। गरीब भी धन से बँधा है। और धन से हम ऐसे चिपट जाते हैं, जैसे वह हमारी आत्मा है। फिर इसी भाँति हम सब तरह की चीजों से जुड़ जाते हैं— तादात्म्य, आइडेन्टिटि बना लेते हैं : यह मैं हूँ। और जिससे भी हम जुड़ जाते हैं, वह हमारी सीमा बन गया।

तो अपने को जितनी ज्यादा चीजों से कोई जोड़ेगा, उतने ही बन्धन में होगा, और जितनी चीजों से अपने को तोड़ेगा, उतना मुक्त होगा। और जिस दिन सिर्फ यह अनुभव रह जाएगा कि मैं किसी से भी बँधा नहीं हूँ, कुछ भी मेरा नहीं है, सिर्फ मैं ही हूँ, मेरा स्वभाव ही बस मेरा होना है—उस दिन मुक्ति है।

दैवी सम्पदा उस जगह ले जाती है, जहाँ आप अकेले बचते हैं। आसुरी सम्पदा वहाँ ले जाती है, जहाँ आपको छोड़ कर और सब कुछ बच जाता है।

अब हम सूत्र को लें।

'और हे अर्जुन, आसुरी स्वभाव वाले मनुष्य कर्तव्य-कार्य में प्रवृत्त होने को और अकर्तव्य-कार्य से निवृत्त होने को भी नहीं जानते। इसलिए उनमें न तो बाहर-भीतर की शुद्धि है, न श्रेष्ठ आचरण है, और न सत्य भाषण ही। तथा वे आसुरी प्रकृति वाले मनुष्य कहते हैं कि जगत् आश्रर्यरहित है और सर्वथा झूठा है एवं बिना ईश्वर के, अपने आप, स्त्री पुरुष के संयोग से उत्पन्न हुआ है। इसलिए जगत् केवल भोगों को भोगने के लिए ही है। इसके सिवाय और क्या है? इस प्रकार इस मिथ्या-ज्ञान को अवलम्बन करके नष्ट हो गया स्वभाव जिनका तथा मन्द है बुद्धि, ऐसे वे सबका अहित करने वाले क्रूर कर्मी मनुष्य केवल जगत् का नाश करने के लिए ही उत्पन्न होते हैं।'

बहुत-सी बातें इस सूत्र में समझने जैसी हैं और गहरे में जाने जैसी हैं।

'आसुरी स्वभाव वाले मनुष्य कर्तव्य में प्रवृत्त होने और अकर्तव्य से निवृत्त होने को नहीं जानते हैं।' क्या करने जैसा है, क्या करने जैसा नहीं है, इसका उन्हें कुछ भेद नहीं होता—वे जो आसुरी सम्पदा वाले लोग हैं।

क्या कर्तव्य है? कर्तव्य की क्या परिभाषा है? किसे हम कहें कि यह करने जैसा है। योग, कर्तव्य की क्या परिभाषा करता है—जिससे भी आनन्द बढ़ता हो, वही कर्तव्य है। और मजे की बात यह है कि जिससे हमारा आनन्द बढ़ता है, उससे हमारे आसपास जो हैं, उनका भी आनन्द बढ़ता है। जिससे हमारे आसपास जो हैं, उनका आनन्द बढ़ता है, उससे हमारा भी आनन्द बढ़ता है।

आनन्द एक संयुक्त घटना है। दुःख भी संयुक्त घटना है। जिससे हमारा दुःख बढ़ता है, उससे हमारे आसपास भी दुःख बढ़ता है। जिससे हमारे आसपास दुःख बढ़ता है, उससे हमारा दुःख भी बढ़ता है। दुःख भी एक संयुक्त घटना है।

आप किसी दूसरे को दुःखी करके सुखी नहीं हो सकते, चाहे क्षण भर को आप अपने को धोखा दें कि मैं सुखी हो रहा हूँ, लेकिन यह असम्भव है। यह नियम नहीं है। यह हो नहीं सकता। आप दूसरे को दुःखी करके सिर्फ दुःखी ही हो सकते हैं। यह तो हो भी सकता है, कि आप दूसरे को दुःखी करें, और वह दुःखी हो, न हो, लेकिन आप तो दुःखी होंगे ही, क्योंकि अगर वह आदमी ज्ञानी हो, बोधपूर्ण हो, बुद्ध पुरुष हो, तो आपके दुःखी करने से दुःखी नहीं होगा। लेकिन आपकी दुःखी करने की जो चेष्टा है, वह आपको तो निश्चित ही दुःखी कर जाएगी।

जगत् एक प्रतिध्वनि है। हम जो करते हैं, वह हम ही पर आकर बरस जाता है, चाहे थोड़ी देर-अबेर हो जाती हो, उसी देर-अबेर के कारण ही हम इस भ्रांति में पड़ जाते हैं कि इससे कोई सम्बन्ध नहीं है।

लोग मेरे पास आते हैं, वे कहते हैं कि 'हम कुछ भी बुरा नहीं कर रहे हैं, फिर भी दुःखी हैं।' उनकी गलती नहीं है। यह असम्भव है। वे जरूर कुछ कर रहे हैं; वे जरूर कुछ कह रहे हैं। शायद वे सोचते हैं कि वह बुरा नहीं है—जो वे कर रहे हैं।

एक पिता मेरे पास आये। अपने बेटे से दुःखी हैं, और कहते हैं कि 'मैं तो बेटे के भले के लिए सब-कुछ कर रहा हूँ, और वह मुझे दुःख दे रहा है।' सारी कथा मैंने जानी, तो पिता ठीक कहते हैं कि भले के लिए कर रहे हैं; इसमें कुछ झूठ नहीं है। लेकिन करने का जो ढंग है, वह ऐसा है कि वे बन्द ही कर दें—यह भला काम करना—तो अच्छा है। करने का ढंग इतने दंभ से भरा है, करने का ढंग ऐसा है कि खुद को वे देवता और बेटे को शैतान समझते हैं। करने का ढंग इतना अहंकारपूर्ण है, कि बेटे के अहंकार को चोट लगती है। तो चाहते वे भला करना

हैं, लेकिन बुरा हो रहा है। और इतने दंभ से जब कोई दूसरे व्यक्ति को बदलने की कोशिश करता है, तो दूसरे पर चोट पहुँचती है। वह चोट संघातक हो जाती है; उस चोट से बदला लेने की वृत्ति पैदा होती है। और करने में उनको जो मजा आ रहा है, वह मजा यह नहीं है कि वे बेटे का भला कर रहे हैं। मजा यह है कि मैं 'भला बाप' हूँ और बेटे के लिए सब कुरबान कर रहा हूँ। वह भी अहंकार का ही मजा है।

मैंने उनसे कहा कि 'कभी आपने यह सोचा कि अगर बेटा सच में ही भला हो जाय, तो आप दुखी हो जाएँगे!' उन्होंने कहा, 'आप क्या कहते हैं! कभी नहीं।' तो मैंने कहा, 'आप बैठें आँख बन्द करके और सोचें। आपका तो सारा जीवन का अर्थ ही खो जाएगा। एक ही अर्थ है, वह है : बेटे को ठीक करना। आप बिलकुल अनआकुपाइड हो जाएँगे, एकदम कोई काम न बचेगा; मरने के सिवाय कुछ काम न बचेगा। वह बेटा आपको काम दे रहा है, रस दे रहा है; चौबीस घण्टे आप उसी के पीछे पड़े हैं, उसी की कथा कह रहे हैं, और जगह-जगह प्रचार कर रहे हैं कि आप इतना कर रहे हैं और बेटा दुःख दे रहा है। अगर बेटा सच में आज भला हो जाय, तो आपको कल मरने के सिवाय कोई काम नहीं है।'

थोड़े चौंके; धक्का खाया; लेकिन फिर सोचा, और कहने लगे कि 'शायद बात ठीक ही हो!'

अगर आप दुःख पाते हैं, तो आपको जान लेना चाहिए कि आप दुःख दे रहे हैं। अगर आपको आनन्द की कोई भी किरण मिलती है, तो जान लेना चाहिए कि जाने या अनजाने आपने कुछ आनन्द दिया है, बाँटा है। जो हम बाँटते हैं, वही हमें मिलता है।

कर्तव्य क्या है? कर्तव्य निर्भर होगा लक्ष्य से। लक्ष्य तो एक है सभी का, कि—जीवन आनन्द से भरपूर हो जाय। तो जिससे भी आनन्द बढ़े, वही कर्तव्य है। और जिससे आनन्द घटे, वही अकर्तव्य है। आनन्द को हम कसौटी बना सकते हैं।

जैसे सोने को पत्थर पर कस कर देख लेते हैं कि सही या गलत, शुद्ध है या अशुद्ध, वैसे आनन्द पर आप कस कर देखते रहें—अपने कर्मों को। और जिस कर्म से आनन्द बढ़ता है, समझना वह कर्तव्य है। फिर उसको ज्यादा सींचें, बढ़ायें, जीवन की सारी ऊर्जा उसमें लग जाने दें।

जिस कर्म से दुःख मिलता हो, उसे छोड़ें, उससे अपने को हटाएँ, उसकी तरफ जीवन की ऊर्जा को मत बहने दें।

लेकिन कृष्ण कहते हैं, आसुरी सम्पदावाला व्यक्ति जानता ही नहीं कि क्या करने योग्य है, न जानता है कि क्या करने योग्य नहीं है। 'न कर्तव्य में उसकी प्रवृत्ति है, न अकर्तव्य से निवृत्ति है।' वह अन्धे आदमी की तरह कुछ भी किये चला जाता है। उस सब कन्फ्यूजन, उस सब उपद्रव को, जैसे वह अपने जीवन में खड़ा कर लेता है, कभी बायें, कभी दायें भागता है; कभी सीधा, कभी उलटा।

मैंने सुना है, दक्षिण में एक कथा है। दक्षिण का एक कवि हुआ तैलानीराम। कुछ उलटी खोपड़ी का आदमी होगा। कवि अकसर होते हैं। पर भक्ति का भी भाव था। तो उसने बड़ी साधना की। काली का पूजक था। बड़ी साधना की। वर्षों के बाद काली का दर्शन हुआ—अनन्त हाथों वाली, अनन्त मुख वाली। सालों की मेहनत के बाद तैलानीराम ने पूछा क्या! उसने पूछा कि 'बस, मुझे यही पूछना है—एक नाक हो, सर्दी हो जाय, तो आदमी पोंछ-पोंछ कर थक जाता है। तुम्हारी क्या गति होती होगी?' काली भी चौंकी होगी। कहते हैं, काली ने कहा कि 'तुम्हें, तैलानीराम, आज से विकट कवि कहा जाएगा। यह तुम्हारा नाम हुआ; और यही मेरा उत्तर है।' तैलानीराम ने सुना तो उसने कहा कि 'बिलकुल ठीक। यह बिलकुल मुझसे मेल खाता है।'

विकट कवि को उलटा पढ़ो या सीधा, एक-सा है। और वह उलटा खड़ा हो या सीधा, बिलकुल एक-सा है। यह वर्षों की साधना, बस, इस चर्चा पर समाप्त हो गई!

अगर मन उलझा हो—क्या करने योग्य है, क्या करने योग्य नहीं है, इसका बोध न हो, तो आपके सामने परमात्मा भी खड़ा हो, तो भी हल न होगा। आप स्वर्ग में भी पहुँच जायँ, तो कोई उपद्रव खड़ा कर लेंगे। आप जहाँ भी होंगे, वहाँ गलती अनिवार्य है।

सवाल यह नहीं कि आप कहाँ हैं। सवाल यह है कि आपके पास देखने की दृष्टि तीक्ष्ण, स्पष्ट है; विवेकपूर्ण है; बाँट सकती है या नहीं कि क्या सार है, क्या असार है; क्या कर्तव्य है, क्या अकर्तव्य है।

अकसर लोग जीवनभर दौड़ते रहते हैं—बिना इसका ठीक से पता हुए कि वे कहाँ जा रहे हैं, क्यों जा रहे हैं। अगर लोग थोड़ी देर रुक जायँ, इसके पहले कदम उठाएँ—चलें, सोच लें कि कहाँ जाना है और सारी जीवन ऊर्जा को वहाँ नियोजित कर दें, तो जीवन में फल लग सकते हैं।

अधिक लोग बेफल मर जाते हैं—निष्फल मर जाते हैं। ऐसा भी नहीं कि श्रम कम करते हैं। श्रम बहुत करते हैं। आसुरी सम्पदावाले लोग, दैवी सम्पदावाले लोगों से ज्यादा श्रम करते हैं। बुद्ध ने क्या श्रम किया है, जो श्रम हिटलर और तैमूरलंग और चंगेज खाँ करते हैं! बुद्ध का श्रम क्या है? एक झाड़ के नीचे बैठे हैं, यही श्रम है?

तैमूरलंग को देखें, लंगड़ा है। वह 'लंग' लंगड़े का ही हिस्सा है। तैमूर—द

लेम। लंगड़ा है, लेकिन सारी जमीन को जीतने की कोशिश में लगा है। और कोई आधी जमीन उसने जीत भी डाली। लाखों लोग उसने काट डाले। श्रम उसका भारी है, लेकिन परिणाम क्या है?

हिटलर के श्रम को कोई कम नहीं कह सकता। फल क्या है? ठीक साफ न हो कि कर्तव्य क्या है, क्या मैं करूँ, क्यों करूँ, और इसका अन्त क्या होगा—इसकी ठीक-ठीक रूप-रेखा साफ न हो, तो आदमी करता बहुत है और पाता कुछ भी नहीं।

आसुरी वृत्ति के लोग बड़ा श्रम उठाते हैं, पर उनकी सब साधना निष्फल हो जाती है। इसलिए उनमें न तो बाहर-भीतर की शुद्धि है, न श्रेष्ठ आचरण है, और न सत्य भाषण ही।

आसुरी सम्पदा वाला व्यक्ति शुद्धि का विचार ही नहीं करता। वह उसके चिन्तन में ही कभी नहीं आता, कि शुद्धि का भी कोई रस है, कि शुद्धि का भी कोई सुख है। जीवन उसका एक घोलमेल है, उसमें सभी कुछ मिला-जुला है। वह प्रार्थना भी करता रहेगा, दुकान की बात भी सोचता रहेगा। वह मन्दिर में भी बैठा रहेगा, और वेश्याघर पहुँच जाना है शीघ्रता से—उसकी योजना बनाता रहेगा। उसके जीवन में शुद्धि नहीं है। उसके जीवन में सब मिला हुआ है, कचरे की तरह इकट्ठा है। कोई एक स्वर नहीं है। बहुत स्वर हैं—विपरीत स्वर हैं।

शुद्धि का अर्थ इतना ही है कि जीवन की धारा एक स्वर से भरी हो, एक समस्वरता हो। और जब भी मैं जो कर रहा हूँ, उस करने में मेरी निष्ठा इतनी पूरी हो, कि दूसरा स्वर बीच में डाँवाडोल न करता हो।

अगर व्यक्ति का जीवन एक एक क्षण भी इस भाँति शुद्ध होने लगे, तो परमात्मा का मन्दिर ज्यादा दूर नहीं है। लेकिन आप कुछ भी कर रहे हों, एक काम कभी भी नहीं कर रहे; हजार काम साथ कर रहे हैं! कुछ भी विचार सोच रहे हों, एक विचार कभी नहीं है; हजार विचार विक्षिप्त की तरह भीतर दौड़ रहे हैं। आप एक बाजार हैं—एक भीड़। और भीड़ भी पागल। इस स्थिति का नाम अशुद्धि है।

कृष्ण कह रहे हैं, 'उसमें न तो बाहर की शुद्धि है, न भीतर की। न श्रेष्ठ आचरण है, न सत्य भाषण है। तथा वे आसुरी प्रवृत्ति वाले मनुष्य कहते हैं कि जगत् आश्चर्य-रहित है।' यह वचन बड़ा क्रान्तिकारी है।

आसुरी वृत्ति वाला व्यक्ति मानता है कि जगत् में कोई रहस्य नहीं है; मानता है कि जगत् एक तथ्य है, जिसमें न कोई रहस्य है, न कोई मिस्ट्री है। अगर हम विचार करें, तो बहुत-सी बातें साफ हो सकती हैं।

धार्मिक और अधार्मिक व्यक्ति में यही फासला है। धार्मिक व्यक्ति जीवन को एक रहस्य की भाँति अनुभव करता है। यहाँ जो यह प्रगट है, वह सिर्फ सतह है; इस सतह के पीछे अप्रगट छिपा है। और वह अप्रगट ऐसा है कि कितना ही प्रगट होता जाय, तो भी शेष रहेगा।

रहस्य का अर्थ होता है, जिसे हम पूरा कभी न जान पायेंगे, जिसका अन्तस्तल सदा ही अनजाना रहेगा। हम कितना ही जान लें, हमारी सब जानकारी बाहर ही बाहर रहेगी। भीतर की अन्तरात्मा सदा अनजानी छूट जाएगी।

अगर इसे ठीक से ख्याल में लें, तो विज्ञान आसुरी मालूम पड़ेगा, क्योंकि विज्ञान मानता है कि जगत् में सभी कुछ जाना जा सकता है—कम से कम मानता था। अभी नये कुछ वैज्ञानिक, आईंस्टीन के बाद, इस मान्यता को स्वीकार नहीं करते। अन्यथा विज्ञान की दृष्टि में सभी कुछ जाना जा सकता है। जो हमने जान लिया वह, और जो नहीं जाना है, वह भी अज्ञेय नहीं है, अन-नोएबल नहीं है। जो अज्ञात है—उसको भी हम कल जान लेंगे, परसों जान लेंगे। समय की बात है। सौ दो सौ वर्ष में हम सब जान लेंगे—या हजार दो हजार वर्ष में। लेकिन धारणा यह थी विज्ञान की जगत् पूरा का पूरा जाना जा सकता है। अगर पूरा का पूरा जाना जा सकता है, तो परमात्मा की कोई जगह नहीं बचती। क्योंकि जिस दिन आप परमात्मा को भी जान लें, प्रयोगशाला में—और पदार्थों की भाँति, जैसा आक्सीजन और हाइड्रोजन को जानते हैं—ऐसा परमात्मा को जान लें; जैसे आक्सीजन और हाइड्रोजन को मिला कर पानी बनाते हैं—ऐसे परमात्मा का विश्लेषण कर लें, मेल-जोल करके ट्यूब में उसको तैयार कर दें; जिस दिन आप परमात्मा को जान लेंगे पदार्थ की तरह...। विज्ञान की यही धारणा है कि सभी कुछ हम जान लेंगे...। उस दिन जानने को कुछ भी शेष नहीं बचेगा।

कृष्ण कहते हैं : आसुरी सम्पदा वाला व्यक्ति जगत् में कोई रहस्य नहीं मानता। और दैवी सम्पदा वाला व्यक्ति मानता है कि जगत् एक अनन्त रहस्य है—एक पहेली—जिसे हम हल करने की कितनी ही कोशिश करें, हम हल न कर पायेंगे। और वह जो सदा हल के बाहर छूट जाता है, वही परमात्मा है।

वह जो हमारी सब कोशिश के बाद भी अज्ञेय, अननोएबल रह जाता है, जिसके पास जा कर हम आवाक् हो जाते हैं, जिसके पास जा कर हमारा हृदय ठक से रुक जाता है, जिसके पास जाकर हमारे विचार की परंपरा एकदम टूट जाती है, जिसके पास हम अपना सुध-बुध खो देते हैं, जिसके पास हम मस्ती से तो भर जाते हैं, लेकिन जानकारी बिलकुल खो जाती है—उस तत्त्व का नाम ही परमात्मा है। वही है मिस्टीरियम—रहस्यमय।

तो कृष्ण कहते हैं, आसुरी सम्पदा वाला व्यक्ति मानता है कि कोई रहस्य नहीं है। इसलिए आसुरी सम्पदा वाले जगत् तथ्यों का एक जोड़ है; सब जाना जा सकता है।

व्यक्ति को न तो जीवन में कोई काव्य दिखाई पड़ता, न कोई सौंदर्य दिखाई पड़ता, न कोई प्रेम दिखाई पड़ता; क्योंकि ये सभी तत्त्व रहस्यपूर्ण हैं।

आसुरी सम्पदा वाला व्यक्ति जीवन को गणित से नापता है, सभी चीजों को नापता-तौलता है। और सभी चीजों को पदार्थ की तरह व्यवहार करता है। इस जगत् में उसे कोई व्यक्तित्व दिखाई नहीं पड़ता। यह जगत् जैसे एक मिट्टी का जोड़ है, पदार्थ का जोड़ है। और यहाँ जो भी घट रहा है, यह संयोगिक है, एक्सिडेन्टल है।

पश्चिम के एक बड़े नास्तिक दिदरो ने लिखा है कि 'जगत् का न तो कोई बनाने वाला है, न जगत् के भीतर कोई रचना की प्रक्रिया है, न इस जगत् का कोई सृजन-क्रम है। जगत् एक संयोग, एक एक्सिडेण्ट है। घटते-घटते—अनन्त घटनाएँ घटते-घटते यह सब हो गया, लेकिन इसके होने के पीछे कोई राज नहीं है।' अगर दिदरो की बात सच है, उसका तो अर्थ यह हुआ कि अगर हम कुछ ईंटों को फेंकते जायँ, तो कभी रहने योग्य मकान दुर्घटना से बन सकता है।...सिर्फ फेंकते जायँ...। या एक प्रेस को हम बिजली से चला दें और उसके सारे यन्त्र चलने लगें, तो केवल संयोग से गीता जैसी किताब छप सकती है।

दैवी सम्पदा वाला व्यक्ति देखता है कि जगत् में एक रचना प्रक्रिया है। जगत् के पीछे चेतना छिपी है, और जगत् के प्रत्येक कृत्य के पीछे कुछ राज है। और राज कुछ ऐसा है कि हम उसकी तलहटी तक कभी न पहुँच पायेंगे, क्योंकि हम भी उस राज के हिस्से हैं, हम उसके स्रोत तक कभी न पहुँच पायेंगे, क्योंकि हम उसकी लहर हैं। मनुष्य कुछ अलग नहीं है इस रहस्य से; वह इस विराट् चेतना में जो लहरें उठ रही हैं, वह उसका ही एक हिस्सा है। इसलिए न तो वह इसके प्रथम को देख पायेगा, न इसके अन्तिम को देख पायेगा।

दूर खड़े होकर देखने की कोई सुविधा नहीं है। हम इसमें डूबे हुए हैं, जैसे मछली को कोई पता नहीं चलता कि सागर है। और मछली सागर में रहती है, फिर भी सागर का क्या रहस्य जानती है? वैसी ही अवस्था मनुष्य की है।

जितना ही ज्यादा दैवी सम्पदा की तरफ झुका हुआ व्यक्ति होगा, उतना ही तर्क पर उसका भरोसा कम होने लगेगा। उतनी ही काव्य पर उसकी निष्ठा बढ़ने लगेगी, उतनी ही जगत् में सब तरफ उसे रहस्य की पग-ध्वनि सुनाई पड़ने लगेगी। फूल खिलेगा, तो उसे परमात्मा का इंगित दिखाई पड़ेगा।

वैज्ञानिक के सामने भी फूल खिलता है, तो वैज्ञानिक उसमें कुछ तथ्यों की खोज करता है, वह देखता है कि फूल में जरूर कोई कारण है—क्यों खिला है? तो फूल की कैमिकल परीक्षा करता है, जाँच-पड़ताल करता है—उसके रसों की जाँच-पड़ताल करता है, और एक नियम तय करता है कि 'इसलिए' खिला है।

धार्मिक व्यक्ति, दैवी सम्पदा का व्यक्ति फूल का विश्लेषण नहीं करता लेकिन फूल का जो संकेत है, जो सौन्दर्य है, फूल का जो खिलना है, वह जो जीवन का प्रगट होना है, उस इशारे को पकड़ता है। और तब एक फूल उसके लिए परमात्मा का प्रतीक हो जाता है। तब एक छोटी-सी हिलती—हवा में—पत्ती भी, परमात्मा का कंपन हो जाती है। यह सारा जगत् परमात्मा का नृत्य हो जाता है।

परमात्मा से अर्थ है : रहस्य।

परमात्मा से आप यह मत सोचना कि कहीं आकाश में कोई बैठा हुआ व्यक्ति। परमात्मा का अर्थ है कि यह जगत् रहस्यपूर्ण है। और जैसे ही यह जगत् रहस्यपूर्ण होता है, वैसे ही हमारे हृदय में एक नया संदन शुरू होता है।

आज अगर दुनिया में इतनी उदासी, इतनी बोरडम है, तो उसका कारण आसुरी सम्पदा वाली विचार-धारा का प्रभाव है। क्योंकि जीवन में जब कोई रहस्य न हो, तो रस भी न होगा। और जब सब चीजें मिट्टी-पत्थर का जोड़ हों...। अगर दो व्यक्तियों में प्रेम हो जाय और आप वैज्ञानिक से पूछें, बायोलॉजिस्ट से पूछें, वह कहता है कि 'कोई खास बात नहीं; सिर्फ हारमोन्स की ही बात है। इन दोनों व्यक्तियों में जो भीतर शरीर में हारमोन्स बन रहे हैं, वह जो रसायनिक प्रक्रिया हो रही है, उसमें आकर्षण है। उस आकर्षण की वजह से इनको प्रेम वगैरह का खयाल पैदा हो रहा है। प्रेम सिर्फ खयाल है, असली चीज हारमोनल आकर्षण है।'

विज्ञान सभी चीजों को समझा देता है।

यह जानकर आपको आश्चर्य होगा कि हम इस मुल्क में विज्ञान को अविद्या कहते थे। पुराने दिनों में ऋषियों ने ज्ञान के दो हिस्से किये हैं: विद्या और अविद्या। विद्या उस ज्ञान को कहा है, जो दैवी सम्पदा की तरफ ले जाता है और अविद्या उस ज्ञान को कहा है, जो आसुरी सम्पदा की तरफ ले जाती है।

विज्ञान अविद्या है। जानना तो वहाँ बहुत होता है, लेकिन फिर भी जानने का जो परम लक्ष्य है, वह चूक जाता है।

अगर हम वैज्ञानिक को कहें कि भीतर आदमी की आत्मा है, तो वह शरीर को काटने को तैयार है, वह काट कर शरीर को देखने को तैयार है। काटने पर आत्मा मिलती नहीं। यह वैसे ही है, जैसे कि पिकासो का एक सुन्दर चित्र हो, और हम कहें, 'बहुत सुन्दर है' और वैज्ञानिक उसे काट कर प्रयोगशाला में ले जाय, और सब रंगों को अलग करके, विश्लिष्ट करके और कह दे कि ये सब रंग अलग-अलग रखे हुए हैं, सौन्दर्य कहीं भी नहीं है।

चित्र को काट कर सौन्दर्य नहीं खोजा जा सकता, क्योंकि चित्र का सौन्दर्य चित्र की

परिपूर्णता में है, वह उसकी व्होलनेस में है, वह रंगों के जोड़ में है। जैसे ही तोड़ लिया, जोड़ समाप्त हो गये, सौन्दर्य खो गया।

आदमी की आत्मा उसके अंग-अंग को काट कर नहीं पकड़ी जा सकती, वह उसकी समग्रता में है—वह सौंदर्य की तरह उसकी समग्रता में छिपी ह। उसकी समग्रता अखण्डित रहे, तो ही आत्मा को पहचाना जा सकता। उसकी खण्डित स्थिति हो—आत्मा खो गई।

यह जगत् अखण्डता है। इस अखण्डता के भीतर जो छिपा हुआ रहस्य है, उसका नाम परमात्मा है।

'आसुरी प्रकृति वाले मनुष्य कहते हैं, जगत् आश्चर्यरहित और सर्वथा झूठा है और बिना ईश्वर के, अपने-आप स्त्री-पुरुष के संयोग से उत्पन्न हुआ है। इसलिए जगत् केवल भोगने के लिए है। इसके सिवाय और क्या है!'

अगर कोई रहस्य नहीं, तो फिर कोई गन्तव्य नहीं। अगर कोई छिपी हुई नियति नहीं, तो पहुँचने का कोई अर्थ नहीं। कहीं जाने को नहीं, फिर आप यहाँ हैं, और इस क्षण जिस बात में भी सुख मिलता हुआ मालूम पड़े, उसको कर लेना उचित है।

चार्वाकों ने कहा है कि उधार ले कर भी अगर घी पीना पड़े, तो चिन्ता मत करना। उधार लेना, क्योंकि मरने के बाद न लेने वाला बचता है, न देने वाला बचता है; तब चोरी में कोई बुराई नहीं, अगर सुख मिलता हो। तब किसी से छीन के कोई चीज भोग लेने में कुछ हर्ज नहीं है—अगर सुख मिलता हो; क्योंकि जीवन की कोई परम गति नहीं है और न कोई परम नियन्त्रण है, और न जीवन का कोई अर्थ है—जो आपको आगे की तरफ खींचता है। इस क्षण जो भोगने योग्य लगता हो, उसे पागल की तरह भोग लेना ही आसुरी सम्पदावाले व्यक्ति के जीवन का ढंग और शैली होगी।

इस सारी दौड़ के पीछे दौड़ता हुआ कोई सूत्र नहीं है। जैसे एक हम माला बनाते हैं, उसमें मनके हैं और भीतर हर मनके के दौड़ता हुआ एक धागा है; वह धागा दिखाई नहीं पड़ता, मनके दिखाई पड़ते हैं। वह धागा सब मनकों को बाँधे है, पर अदृश्य है। दैवी संपदा वाले व्यक्ति के जीवन का प्रत्येक कृत्य एक मनका है। और प्रत्येक मनके को वह भीतर के एक प्रयोजन से बाँधे हुए है—एक लक्ष्य, एक जीवन की दिशा, एक जीवन की परिपूर्ण कृतकृत्यता का भाव। जीवन कहीं जा रहा है। एक नियति है। वह उसका धागा है। तो वह जो भी कर रहा है, हर मनके को उस धागे में बाँधता जा रहा है। कृत्य मनकों की तरह अलग-अलग हैं और उसका जीवन एक धागे की तरह सारे मनकों को सम्हाले हुए है—एक इण्टिग्रेशन।

आसुरी संपदा वाले व्यक्ति के जीवन में कोई धागा नहीं है। हर कृत्य टूटा हुआ मनका है। दो मनकों में कोई जोड़ नहीं है। इसलिए आसुरी संपदावाला व्यक्ति

करीब-करीब विक्षिप्त की तरह जीता है। उसकी न कोई दिशा है, न कोई गन्तव्य है। बस, हर क्षण जहाँ हवाएँ ले जायँ, जो सूझ जाय वासना को, जो भीतर का धक्का आ जाय, या परिस्थिति जिस तरफ झुका दे, या लोभ जिस तरफ आकर्षित कर ले, बस, वह ऐसा दौड़ता चला जाता है। जैसे आपके सामने एक सितार रखा हो और आप उसको ठोकने जायँ, तार खींचने जायँ और आपको सितार के शास्त्र का कोई भी ज्ञान न हो, संगीत की कोई प्रतीति न हो, दो स्वरों के बीच जोड़ का कोई अनुभव न हो, स्वरों का एक प्रवाह बनाने की कोई कला न हो, स्वरों की सरिता निर्मित न कर सकते हों तो आप सिर्फ एक उपद्रव मचायेंगे। शोरगुल होगा बहुत, संगीत नहीं हो सकता, क्योंकि संगीत तो सभी सुरों को मनके की तरह जब आप धागे में बाँधते हैं, तब पैदा होता ह।

दैवी संपदा वाला व्यक्ति जीवन में संगीत निर्मित करने की चेष्टा में लगा रहता है, वह जो काम भी करता है, सोचता है कि यह मेरे पूरे जीवन में कहाँ बैठेगा, यह मेरे पूरे जीवन को क्या रंग देगा। इससे मेरा आज तक का जीवन किस मोड़ पर मुड़ जाएगा, यह मेरे पूरे जीवन को मिल के कौन-सा नया अर्थ—अभिव्यक्ति देगा। इसलिए प्रत्येक कृत्य एक अर्थ, एक अभिप्राय, एक प्रयोजन और एक नियति के साथ मेल बनाता है।

आसुरी सम्पदावाला व्यक्ति इस क्षण में उसे जो सूझता है, कर लेता है; उसका कृत्य टूटा हुआ है, आणुविक है। और उसका लक्ष्य सिर्फ इतना है: आज भोग लूँ, कल का क्या भरोसा है?

उमर खय्याम की रूबाइयात—अगर उसके गहरे सूफी अर्थ आपको पता न हो, तो वे आसुरी सम्पदावाले व्यक्ति का वक्तव्य मालूम पड़ेगा। उमर खय्याम की रूबाइयात में बड़ी मधुर कल्पना है। अगर आपको उसका सूफी रहस्य पता हो, तब तो वह अद्भुत ग्रन्थ है। सूफी रहस्य का पता न हो, तो आपको लगेगा—भोग का एक आमन्त्रण है।

उमर खय्याम सुबह-सुबह ही पहुँच गया मधुशाला के द्वार पर; अभी कोई जागा भी नहीं; रात थके-माँदे नौकर सोये हैं—सुबह ब्रह्ममुहूर्त में; अभी सूरज भी नहीं निकला। वह दरवाजा खटाखटा रहा है। भीतर से कोई आवाज देता है कि 'अभी मधुशाला के खुलने में देर है।' तो वह कहता है, 'लेकिन देर तक प्रतीक्षा करना संभव नहीं। एक क्षण के बाद का भरोसा नहीं। और यह क्षण चूक जाय पीने का, तो कौन आश्वासन देता है कि अगले क्षण म बचूँगा और पीने की मुझे सुविधा रहेगी, इसलिए द्वार खोलो। देर मत करो। सूरज निकलने के करीब हो गया। और सूरज ने अपनी किरणों का जाल फेंक दिया जगत् पर। और जब किरणों का जाल जगत् पर सूरज फेंक देता है, तो सन्ध्या होने में देर नहीं।

वह जो आसुरी सम्पदा वाला व्यक्ति है, उसे मृत्यु लगती है : बस, आ रही है; क्षण भर हाथ में है, इसे भोग लूँ, निचोड़ लूँ, पी लूँ। भोग ही लक्ष्य हो जाता है; योग बिलकुल खो जाता है।

ध्यान रहे, योग का अर्थ ही है दो मनकों को जोड़ देना। जब जीवन के सारे मनके जुड़ जायँ, तो आप योगी हैं। और जीवन के मनकों का ढेर लगा हो, कोई धागा न हो जोड़ने वाला, तो आप भोगी हैं।

भोगी और योगी के—दोनों के—पास मनके तो बराबर होते हैं। लेकिन योगी ने एक संगति बना ली, योगी ने सब मनकों को जोड़ डाला। उसके सब अक्षर—जीवन के—एक संयुक्त काव्य बन गये, एक कविता बन गये। भोगी अक्षरों का ढेर लगाये बैठा है। उसके पास भाषाकोश है। सब अक्षरों का ढेर लगा हुआ है, लेकिन दो अक्षरों को उसने जोड़ा नहीं, इसलिए कोई कविता का जन्म नहीं हुआ है। और जीवन के अन्त में, वह जो हमने धागा निर्मित किया है, वही हमारे साथ जाएगा, मनके छूट जाते हैं। मनके सब यहीं रह जाते हैं।

'इस प्रकार इस मिथ्या-ज्ञान को अवलम्बन करके नष्ट हो गया है स्वभाव जिसका, तथा, मंद है बुद्धि जिसकी, ऐसे वे सबका अहित करने वाले क्रूर कर्मी मनुष्य केवल जगत् का नाश करने के लिए ही उत्पन्न होते हैं।'

इस मिथ्या-ज्ञान का अवलम्बन करके कि भोग ही सब कुछ है, योग जैसा कुछ भी नहीं, साधना कुछ भी नहीं है, पहुँचना कहीं भी नहीं है; जीवन का कोई गन्तव्य, लक्ष्य नहीं है; जीवन एक संयोग है, एक दुर्घटना है, जिसके पीछे कोई अर्थ पिरोया हुआ नहीं है, शब्दों की एक भीड़ है, कोई सुसंगत काव्य नहीं—ऐसा जिसका मिथ्या-ज्ञान है और इसका अवलम्बन करके नष्ट हो गया स्वभाव जिसका...। इस तरह की धारणाओं में जो जीयेगा, वह अपने स्वभाव को अपने हाथ से तोड़ रहा है, क्योंकि स्वभाव तो परम संगीत को उपलब्ध करने में ही छिपा है। स्वभाव तो परम नियति को प्रगट कर लेने में छिपा है। स्वभाव तो इस जगत् का जो आत्यन्तिक रहस्य है, उसके साथ एक हो जाने में छिपा है। मैं अपने स्वभाव को तभी उपलब्ध होऊँगा, जब मैं बिलकुल शून्य होकर, शान्त होकर इस जगत् के साथ, पूरे अस्तित्व के साथ अपने को एक कर लू।

स्वभाव यानी परमात्मा। स्वभाव मिथ्या धारणाओं में नष्ट हो जाएगा, खो जाएगा। 'और मंद हो गई है बुद्धि जिसकी' और इस तरह की बातें, जिस पर बहुत प्रभाव करेंगी, उसकी बुद्धि धीरे-धीरे मंद हो जाएगी। मंद हो जाने का यह मतलब नहीं है कि उसका तर्क क्षीण हो जाएगा। अकसर तो आसुरी सम्पदा वाला व्यक्ति बड़ा तार्किक होता है, बड़ी प्रखर उसके पास तर्क की व्यवस्था होती है।

लेकिन फिर भी कृष्ण कहते हैं, 'मंद हो गई है बुद्धि जिसकी', क्योंकि तर्क को हमने इस देश में कभी बुद्धि नहीं माना है। तर्क को हमने बच्चों का खेल माना है। बुद्धि से तो हमारा प्रयोजन उस क्षमता से है, जो जीवन को आर-पार देख लेती है; जो जीवन के छिपे हुए रहस्य परतों में उतर जाती है; जो जीवन के अन्तःस्तल को स्पर्श कर लेती है, उसे हम बुद्धि कहते हैं। आधुनिक युग में जिसे हम बुद्धि कहते हैं, वह केवल तर्क की व्यवस्था है। अगर कोई व्यक्ति काफी तर्क कर सकता है, आर्ग्यू कर सकता है, विवाद कर सकता है, तो हम कहते हैं: बड़ा बुद्धिमान है।

तुर्गनेव ने एक छोटी कहानी लिखी है। उसने लिखा है : एक गाँव में एक मूढ़ आदमी था, निपट गँवार था, और सारा गाँव उस पर हँसता था। उस गाँव में एक फकीर का आगमन हुआ; तो उस मूढ़ आदमी ने फकीर से कहा कि 'मुझ पर सारा गाँव हँसता है, लोग मुझे मूर्ख समझते हैं। मुझे कुछ रास्ता बताओ। थोड़ी बुद्धि मुझे दो।' फकीर ने कहा, 'यह तो जरा कठिन काम है—तुझे बुद्धि देना, लेकिन तुझे एक तरकीब बता देता हूँ, जिससे तू बुद्धिमान हो जाएगा।' उसने कहा, 'वही दे दो, बस, और मुझे कुछ चाहिए नहीं। तो उस फकीर ने उसके कान में कुछ मन्त्र दिया और कहा, 'बस, तू इसका उपयोग कर।'

एक सप्ताह के भीतर गाँव में ही नहीं, गाँव के आस-पास, दूर-दूर तक, राजधानी तक में खबर पहुँच गई कि वह आदमी बड़ा बुद्धिमान है। फकीर ने उससे क्या कहा? फकीर ने उससे कहा कि 'छोटा-सा सूत्र याद रख : अगर कहीं कोई कह रहा हो कि बाइबिल महान पुस्तक है; तू कहना, कौन कहता है, बाइबिल महान पुस्तक है, दो कौड़ी का है, उसमें कुछ भी नहीं है। अगर कोई कहे, यह चित्र बड़ा सुन्दर है, तो तू कहना, क्या है इसमें, रंगों का पोतना; सौंदर्य कहीं भी नहीं है। कहाँ है? दिखाओ मुझे सौंदर्य। जोर से कहना और इनकार करना—कोई कुछ भी कह रहा हो।'

वह हर चीज का खण्डन करने लगा। और बड़ी मुश्किल है। आप कहें, चाँद सुन्दर है। मूढ़ आदमी भी खड़ा होकर कह दे कि सिद्ध करो। कैसे सिद्ध करियेगा कि चाँद सुन्दर है! क्या उपाय है? कोई उपाय नहीं है। अब तक दुनिया में कोई सिद्ध नहीं कर सका कि चाँद सुन्दर है। वह तो हम सुन लेते हैं चुपचाप; लोग कहते हैं, अगर आप न सुनें, बस, कठिन हो गया काम।

उस आदमी ने सबको गलत सिद्ध करना शुरू कर दिया, क्योंकि जो भी कुछ कहे, ज्यादा कुछ कहने कि जरूरत नहीं थी, मन्त्र सीधा था। 'सिर्फ इनकार करना है तुझे और तू कुछ सिद्ध करने की फिक्र ही मत करना। जो दूसरा कह रहा हो, उसको भर कहना कि सिद्ध करो।'

न सौंदर्य सिद्ध होता है, न सत्य सिद्ध होता है, न परमात्मा सिद्ध होता है। सिद्ध

तो कुछ किया नहीं जा सकता, लेकिन लोग समझे कि यह आदमी महान विद्वान हो गया है। इसकी बुद्धि बड़ी प्रखर है।

हम इस युग में इसी तरह के बुद्धुओं को बुद्धिमान कहते हैं। कृष्ण उनको बुद्धिमान नहीं कहते। कृष्ण उसको बुद्धिमान कहते हैं, जिसने अपनी चेतना के, जीवन ऊर्जा के परम रहस्य में प्रवेश का मार्ग खोज लिया है। जिसने अपनी चेतना को मार्ग बना लिया है, वही बुद्धिमान है।

मिथ्या धारणाओं का अवलम्बन करके नष्ट हो गया स्वभाव जिसका, मन्द है बुद्धि जिसकी, ऐसे व्यक्तियों को कृष्ण ने कहा कि वे आसुरी सम्पदा वाले हैं।

इसकी अपने भीतर तलाश करना। और जहाँ भी आसुरी सम्पदा का थोड़ा-सा भी सुझाव मिले, उसे उखाड़ कर फेंक देना है।

मजे की बात यह है कि जैसे कोई लॉन लगाए, दूब लगाए घर में, तो उसमें व्यर्थ का कूड़ा-कचरा भी पैदा होना शुरू होता है। उसे उखाड़-उखाड़ कर फेंकना पड़ता है। मजे की बात यह है कि दूब लगाते हैं आप, कूड़ा-कचरा अपने आप आता है। और अगर दूब को आप न बचायें, तो वह मर जाएगी। और अगर कूड़े-कचरे को न फेंके, तो वह बिना मेहनत किये बढ़ता जाएगा। धीरे-धीरे वह सारी दूब पर छा जाएगा। दूब को खा जाएगा। कूड़ा-कचरा ही रह जाएगा।

आसुरी सम्पदा बड़ी सरलता से बढ़ती है। बढ़ने का कारण है। जैसे पानी नीचे की तरफ बहता है। ऊपर चढ़ाना हो तो पम्प करने की व्यवस्था बिठानी पड़ती है—मेहनत करनी पड़ती है। नीचे अपने आप जाती है।

वह जो आसुरी सम्पदा है, वह नीचे की तरफ उतरना है। उसमें चढ़ाव नहीं है इसलिए श्रम नहीं पड़ता। हम सब उसमें ढलकते हैं—अपने आप। और जब तक हम सचेत न हों, तब तक रुकना बहुत मुश्किल है। सचेत हों।

तो ध्यान रखना, जब भी नीचे उतरने का मन हो, तब अपने को रोकना। चाहे श्रम भी पड़े तो भी दैवी सम्पदा की तरफ कदम रखना। वह पहाड़ की चढ़ाई है। पसीना उसमें आएगा। थकना भी होगा, लेकिन उसके मधुर फल हैं। और उसका अन्तिम फल मोक्ष की मधुरता है।

आज इतना ही।

अज्ञेय में खो जाना • आसुरीपन का बोध • मिटो—ताकि हो सको शोषण या साधना

पाँचवाँ प्रवचन

श्री रजनीश आश्रम, पूना, रात्रि, दिनांक ३ अप्रैल, १९७४

काममाश्रित्य दुष्पूरं दम्भमानमदान्विताः।
मोहाद्गृहीत्वासद्ग्राहान्प्रवर्तन्तेऽशुचिव्रताः॥ १०॥

चिन्तामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिताः।
कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः॥ ११॥

आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसञ्चयान्॥ १२॥

और वे मनुष्य दम्भ, मान और मद से युक्त हुए किसी प्रकार भी न पूर्ण होने वाली कामनाओं का आसरा लेकर तथा मोह से मिथ्या सिद्धान्तों को ग्रहण करके भ्रष्ट आचरणों से युक्त हुए संसार में बर्तते हैं।

तथा वे मरणपर्यंत रहनेवाली अनन्त चिन्ताओं को आश्रय किये हुए और विषय भोगों को भोगने के लिए तत्पर हुए 'इतना मात्र ही आनन्द है'—ऐसा माननेवाले हैं।

इसलिए आशारूप सैकड़ों फाँसियों से बंधे हुए और काम क्रोध के परायण हुए विषय भोगों की पूर्ति के लिए अन्यायपूर्वक धनादिक बहुत से पदार्थों को संग्रह करने की चेष्टा करते हैं

पहले कुछ प्रश्न।

● पहला प्रश्न : कल के सूत्र में कहा गया कि आसुरी सम्पदा वाले कहते हैं कि जगत् आश्चर्य रहित है और सर्वथा झूठा है। विज्ञान यह अवश्य सोचता था कि जगत् में कुछ रहस्य नहीं है, लेकिन यह तो वह नहीं कहता कि जगत् झूठा है। इसे समझाएँ।

आसुरी सम्पदा वाले लोग जगत् शून्य और झूठा मानते हैं, ऐसा कहने का कृष्ण का प्रयोजन काफी गहरे से समझेंगे तो ही समझ में आ सकेगा। साधारणतः तो धार्मिक—दैवी सम्पदा वाले लोग जगत् को माया कहते हैं, जगत् को झूठा कहते हैं, इसलिए बात थोड़ी उलझी हुई है। लेकिन दोनों के प्रयोजन अलग हैं।

शंकर या दूसरे अद्वैतवादी जब जगत् को माया या असत्य कहते हैं, तो उनका प्रयोजन केवल इतना ही है कि इस जगत् से भी सत्यतर कुछ और है। यह एक सापेक्ष वक्तव्य है। यह जगत् ही सत्य नहीं है, इस जगत् से ज्यादा सत्यतर कुछ और है। और उस सत्यतर की खोज की तरफ हम अग्रसर हो सकें, इसलिए वे इस जगत् को झूठा कहते हैं। इस जगत् को झूठा सिद्ध करने का इतना ही प्रयोजन है, ताकि हम इसी को सत्य मान कर इसी की खोज में न उलझ जायँ। सत्य कहीं और छिपा है। और इसे हम असत्य समझेंगे तो ही उस सत्य की खोज में जा सकेंगे।

लेकिन कृष्ण यहाँ कह रहे हैं कि आसुरी सम्पदावाले लोग इस जगत् को झूठा कहते हैं। इस वक्तव्य का प्रयोजन बिलकुल दूसरा है। आसुरी सम्पदा वाले लोग इस जगत् को झूठा इसलिए नहीं कहते कि कोई और जगत् है—जो सत्य है। वे कहते हैं : 'सत्य है ही नहीं। इसलिए जो भी है, वह झूठ है।' इस फर्क को ठीक से समझ लें।

शंकर कहते हैं कि यह जगत् मिथ्या है, असत्य है, माया है। क्योंकि सत्य कहीं

और है और उस सत्य की तुलना में यह झूठा है। आसुरी सम्पदा वाले लोग कहते हैं : 'यह संसार झूठा है, क्योंकि सत्य कुछ है ही नहीं। यह किसी तुलना में असत्य नहीं है, क्योंकि सत्य है ही नहीं है, इसलिए जो भी है, वह असत्य है।' उनका ऐसा मानने और कहने का प्रयोजन समझने जैसा है।

जगत् को असत्य अगर कह दिया जाय, और कोई सत्य हो नहीं, तो फिर जीवन में कोई मूल्य, जीवन में कोई लक्ष्य, कोई गन्तव्य नहीं रह जाता; फिर बुरे और भले का कोई भेद नहीं रह जाता।

आप स्वप्न में देखें कि आप साधु हैं, या स्वप्न में देखें कि आप असाधु हैं, क्या फर्क पड़ता है? दोनों ही स्वप्न हैं। स्वप्न में किसी की हत्या करें या स्वप्न में किसी को बचाएँ, क्या फर्क पड़ता है। दोनों ही स्वप्न हैं। दो स्वप्नों के बीच कोई मूल्य का भेद नहीं हो सकता। सत्य और स्वप्न के बीच मूल्य का भेद हो सकता है। लेकिन अगर दोनों ही स्वप्न हैं, तो फिर कोई भी भेद नहीं।

आसुरी सम्पदा वाला व्यक्ति मानता है, 'यह सब असत्य है।' सब असत्य है—उसके कहने का प्रयोजन इतना ही है कि यह जगत् एक संयोग है। यह जगत् एक रचना, एक प्रक्रिया नहीं है। इस जगत् के पीछे कोई प्रयोजन अन्तर्निहित नहीं है। यह जगत् कहीं जा नहीं रहा है। इस जगत् की कोई मंजिल नहीं है। हम सिर्फ दुर्घटनाएँ हैं। न कुछ पाने को है यहाँ, न कुछ खोने को है। हमारे होने का कोई मूल्य नहीं है। हमारा होना मीनिंगलेस है, सर्वथा मूल्यरहित है।

अगर जगत् में थोड़ा भी सत्य है, तो मूल्य पैदा हो जाएगा; तब चुनाव करना होगा, असत्य को छोड़ना होगा, सत्य को पाना होगा। फिर असत्य और सत्य के बीच हमें यात्रा करनी पड़ेगी; साधना-पथ निर्मित होगा। लेकिन अगर सभी कुछ असत्य है—कुछ पाने योग्य नहीं, कुछ खोने योग्य नहीं—बुरा आदमी भी, भला आदमी भी, असाधु, साधु, सन्त, अज्ञानी या ज्ञानी सब बराबर हैं—फिर कोई भेद नहीं। और अगर बुरे और भले मिट जायँ, तो आसुरी सम्पदा वाले व्यक्ति को जो सुख मिलता है, वह किसी और तरह से नहीं मिलता...।

आसुरी सम्पदा वाले व्यक्ति की यही पीड़ा है कि कहीं ऐसा न हो कि मैं जो कर रहा हूँ, वह गलत हो। कहीं ऐसा न हो कि जिस धारा के मैं विपरीत चल रहा हूँ, उस धारा में ही सत्य छिपा हो। कहीं ऐसा न हो कि प्रार्थना में, पूजा में, परमात्मा में कोई सत्य छिपा हो।

मैं जैसा जीवन को चला रहा हूँ, यह अगर असत्य है, तो फिर मैं कुछ खो रहा हूँ, लेकिन अगर सभी कुछ असत्य है, तो फिर खोने-पाने का कोई सवाल नहीं है। तब महावीर कुछ पा नहीं रहे हैं, बुद्ध को कुछ मिल नहीं रहा है, वे भी भ्रम में हैं।

जो धन कमा कर इकट्ठा कर रहा है, वह भी भ्रम में हैं। वह जो स्त्रियों के पीछे दौड़ रहा, है वह भी भ्रम में है। जो परमात्मा के पीछे दौड़ रहा है, वह भी भ्रम में है।

आसुरी संपदा वाला यह कहता है कि जो भी यहाँ मंजिल खोज रहा है, जो भी यहाँ जीवन में निहित किसी प्रयोजन की तलाश कर रहा है, जो भी सोचता है कि यहाँ कोई सत्य मिल जाएगा, अमृत मिल जाएगा, जीवन मिल जाएगा, कोई परम उपलब्धि होगी, कोई मोक्ष मिल जाएगा, वह भ्रांति में है। यह पूरा जगत असत्य है। यहाँ कुछ पाने जैसा नहीं है।

एक बार यह साफ हो जाय कि सभी कुछ असत्य है, तो जीवन में साधना का कोई अर्थ नहीं रह जाता। साधना में अर्थ आता है तभी, जब जीवन में कुछ चुनने को हो। कुछ गलत हो जो छोड़ा जा सके; कुछ सही हो, जो पकड़ा जा सके। कोई दिशा भ्रांत हो, जिस तरफ पीठ की जा सके; कोई दिशा सही हो जिसकी तरफ मुख किया जा सके। कहीं पहुँचने की कोई मंजिल हो, कोई गंतव्य हो, कोई तारा हो—कितने ही दूर, लेकिन जिस तरफ हम चल सकें।

आसुरी संपदावाला व्यक्ति कहता है : यहाँ चलने का कोई उपाय नहीं है। तुम यहाँ हो—एक दुर्घटना की तरह। यह एक आकस्मिक घटना है। जगत् को न कोई चला रहा है, न कोई जगत् को सोच रहा है, न जगत् के पीछे कोई चेतना है। जगत् एक सांयोगिक घटना है। सांयोगिक घटना का अर्थ यह होता है कि जिसमें कुछ भी प्रयोजन खोजना व्यर्थ है। प्रयोजन नहीं है, अर्थ नहीं है, कोई मूल्य नहीं है, इस बात की घोषणा करने के लिए आसुरी सम्पदा वाला व्यक्ति कहता है, कि जगत् झूठा है।

दैवी सम्पदावाला व्यक्ति भी जगत् को मिथ्या कहता है। यहाँ यह बात खयाल में लेनी जरूरी है कि कभी-कभी हमारे एक से वक्तव्य भी बड़े भिन्न अर्थ रखते हैं। वक्तव्य का बहुत कम मूल्य है। वक्तव्य कौन देता है, इसी का मूल्य ज्यादा है। वही वक्तव्य राम के मुँह से अलग अर्थ रखेगा; वही वक्तव्य रावण के मुँह से अलग अर्थ रखेगा।

वक्तव्य बिलकुल एक जैसे हो सकते हैं, लेकिन वक्तव्य के पीछे नजर क्या है? अगर राम कहते हैं, 'जगत् मिथ्या है', तो इसका अर्थ यह है कि इस पर रुको मत; सत्य कहीं और है—उसे खोजो। रावण अगर कहे, 'जगत् मिथ्या है', तो वह यह कहता है कि कहीं जाने की कोई जरूरत नहीं, सत्य है ही नहीं, इसलिए यहाँ जो मिला है, उसे भोग लो। यह क्षण भर का भोग है, न इसके पीछे कुछ है, न इसके आगे कुछ है। और परिणाम की बिलकुल चिन्ता मत करो, क्योंकि परिणाम केवल सत्य जगत् में ही घटित हो सकते हैं; असत्य जगत् में कोई परिणाम घटित नहीं होते।

मैंने सुना है : एक आदमी ने रात स्वप्न देखा, फिर सुबह जब वह बाजार की

तरफ चला तो बड़ा उदास था। किसी मित्र ने उससे पूछा कि 'इतने उदास हो, बात क्या है?' उसने कहा, 'मैंने एक स्वप्न देखा है। और स्वप्न में मैंने देखा कि मुझे बीस हजार रुपये पड़े हुए रास्ते पर मिल गये हैं।' तो उस मित्र ने कहा कि 'इसमें उदास होने की क्या बात है; यह तो सपना है। सपने के रुपयों की क्या चिन्ता करनी, क्या उदासी?' उस आदमी ने कहा कि 'उससे मैं परेशान नहीं हूँ। मैंने यह पत्नी को बता दिया और वह सुबह से ही रो-पीट रही है। वह कह रही है : उसी वक्त बैंक में जमा क्यों नहीं कर दिये?'

स्वप्न में भी मोह तो हमारा पकड़ता है। वह जो झूठ है, उसमें भी आसक्ति बनती है। वह जो नहीं है, उसको भी हम सम्हाल लेना चाहते हैं।

आसुरी सम्पदावाला व्यक्ति यह कह रहा है कि स्वप्न में ये जो रुपये मिले हैं, इनको भी जमा कर ही देना, क्योंकि ये रुपये भी झूठे हैं, जमा करना भी झूठ है, बैंक भी झूठ है, जमा करनेवाला भी झूठ है। स्वप्न ही झूठ नहीं है; जिसने स्वप्न देखा, वह भी झूठ है। जमा करने का मजा ले लेना। यद्यपि वह झूठ है; लेकिन नहीं जमा कर पाये, उसका दुःख लेने के बजाय बेहतर है। दोनों झूठ हैं। यहाँ सुख भी झूठ है, दुःख भी झूठ है। इसलिए क्षण भर की बात है; जो रुचिकर लगे, वह कर लेना। इस भेद को खयाल में ले लें।

आसुरी सम्पदावाला व्यक्ति कहता है : जो सुखपूर्ण मालूम पड़े, वह कर लेना, झूठ तो सभी कुछ है। दैवी सम्पदावाला व्यक्ति कहता है कि सुख-दुःख की फिक्र मत करना; जो सत्य हो, उसकी फिक्र करना; जो असत्य हो, उसको छोड़ना।

दैवी सम्पदा वाले के लिए सत्य कसौटी है। आसुरी सम्पदावाले के लिए सुख कसौटी है। झूठ तो सभी है, इसलिए कोई उपाय ही नहीं है, इसमें तौलने का कि कौन-सा सत्य है, कौन-सा झूठ है। एक ही उपाय है कि—जिससे सुख मिलता हो।

नास्तिकों ने सदा एक दलील दी है, आस्तिक भी उस दलील का उपयोग करते हैं; पर दोनों के प्रयोजन बड़े भिन्न हैं। आस्तिक कहता है, 'यह कहाँ तुम दौड़ रहे हो; स्त्री के पीछे, धन के पीछे, पद-प्रतिष्ठा के पीछे; यह सब झूठ हैं। नास्तिक भी कहता है कि यह सब झूठ है। लेकिन कहीं और दौड़ने की कोई जगह भी नहीं है। इस झूठ को भी छोड़ दें, तो कोई सत्य तो नहीं है, जिसको हम पकड़ लें। झूठ को हम खो सकते हैं, लेकिन सत्य को पा नहीं सकते—नास्तिक की दृष्टि में। इसलिए खोने का भी क्या अर्थ है! सपना भी अगर मधुर देखा जा सकता है, तो देख लेना चाहिए। सिर्फ सपना होने से ही छोड़ने योग्य नहीं है। क्योंकि सत्य अगर कहीं होता, तो हम सपने को छोड़ भी देते, लेकिन सत्य कहीं है ही नहीं। इसलिए दो तरह के सपने हैं—सुखद और दुःखद। जो सुखद सपनों को खोज लेता है, वह

होशियार है। जो दुःखद सपनों में पड़ा रहता है, वह नासमझ ह। और सपने के अतिरिक्त कोई सत्य नहीं है। यह आसुरी सम्पदा वाले की वृत्ति है।

विज्ञान निश्चित ही आसुरी संपदावाले से राजी है। दोनों कारणों से राजी है। एक तो इस कारण राजी है कि जगत् में कोई रहस्य नहीं; जगत् में कोई छिपा हुआ राज नहीं। जगत् एक खुली किताब है। और अगर हम न पढ़ पाते हों, तो उसका केवल इतना ही अर्थ है कि हमें पढ़ने की कुशलता और बढ़ानी चाहिए। विज्ञान जगत् को दो हिस्सों में तोड़ता है—नोन और अननोन—ज्ञात और अज्ञात।

वह जो अज्ञात है, वह कल ज्ञात हो जाएगा; जो आज ज्ञात है, वह भी कल अज्ञात था। एक दिन ऐसा आयेगा, जब सब ज्ञात हो जाएगा; अज्ञात की कोटि नष्ट हो जाएगी।

धर्म जगत् को तीन हिस्सों में तोड़ता है—ज्ञात, अज्ञात, और अज्ञेय—नोन, अननोन और अननोएबल। वह जो अननोएबल है, अज्ञेय है, वह धर्म की विशिष्ट कोटि है। अज्ञात ज्ञात हो जाएगा; ज्ञात फिर अज्ञात हो सकता है। क्योंकि बहुत से सत्य आदमी को ज्ञात हो गये, फिर खो गये।

अभी काबुल के करीब कोई पन्द्रह वर्ष पहले एक छोटा-सा यन्त्र मिला। समझना ही मुश्किल हुआ कि वह यंत्र क्या है। बहुत खोजबीन करने पर पता चला कि वह एक विद्युत पैदा करने की बैटरी है, और कोई पाँच हजार वर्ष पुरानी है। पाँच हजार वर्ष पहले विद्युत पैदा करने का उपाय किन्हीं ने खोज लिया था; वह ज्ञात हो गया था, फिर वह खो गया।

कुछ तीस वर्ष पहले पैरिस की एक लायब्ररी में सात सौ वर्ष पुराने पृथ्वी के नक्शे मिले। उन नक्शों में पृथ्वी गोल बताई गई है, और उन नक्शों में अमेरिकाभी अंकित है। तो यह खयाल गलत है हि कोलम्बस ने अमेरिका खोजा। कोलम्बस से बहुत साल पहले अमेरिका नक्शे पर अंकित है।

न केवल यही, बल्कि वह जो नक्शा मिला है—सात सौ वर्ष पुराना, वह और भी अनूठा है। वह ऐसा है कि बिना हवाई जहाज के वह बन ही नहीं सकता। जब तक बहुत ऊँचाई से पृथ्वी न देखी जाय, तब तक पृथ्वी का वैसा नक्शा बनाने का कोई उपाय ही नहीं है। तो न केवल वह नक्शा सिद्ध करता है कि अमेरिका पहले खोजा जा चुका था, फिर खो गया; वह यह भी सिद्ध करता है कि मनुष्य के पास वायुयान थे। तभी यह नक्शा बन सकता है। उसके बनने का और कोई रास्ता ही नहीं है। और वह नक्शा नब्बे प्रतिशत वैसा ही है, जैसा हम आज बनाते हैं। उससे जरा-सा ही भेद है। तो पहले तो यह खयाल था कि भेद भूलचूक की वजह हो गये होंगे।

कुछ वैज्ञानिकों की धारणा है कि हो सकता है कि पृथ्वी में ही फर्क आ गये होंगे।

क्योंकि सात सौ साल पहले जिसने बनाया, उसने उस पर नोट लिखा है कि वह किसी पुराने नक्शे की नकल कर रहा है। तो इस बात की सम्भावना ज्यादा ह कि पृथ्वी में फर्क हो गये हैं। इसलिए थोड़े से भेद हैं। लेकिन इतना तो बिलकुल ही स्पष्ट है कि यदि हवाई जहाज से पृथ्वी का चक्कर न लगाया गया हो, तो उस नक्शे को बनाया ही नहीं जा सकता। हिन्दू तो बहुत समय सोचते रहे हैं कि उनके पास पुष्पक विमान थे और दुनिया के हर जाति के पास आकाश में उड़ने की कथाएँ हैं।

जो ज्ञात है, वह अज्ञात हो जाता है; जो अज्ञात है, वह ज्ञात होता है। दिन और रात की तरह यह बदलाहट—नोन और अननोन में होती रहती हैं। लेकिन धर्म कहता है, एक और चीज है, जो दोनों के पार है, वह अज्ञेय है। वह कभी ज्ञात भी नहीं होता, कभी अज्ञात भी नहीं होता। हम परमात्मा को वही तत्त्व कहते हैं; वह सदा अज्ञेय ही बना रहता है। हम उसे जान भी लेते हैं, तब भी हम उसे पूरा जान नहीं पाते। और जो उसे जान लेता है, वह दावा नहीं कर पाता कि मैंने जान लिया। तो उसे जानने की एक अनिवार्य शर्त है कि जानने वाला उसे जानने में ही खो जाता है। इसलिए दावा करने को कोई पीछे बचता नहीं।

उपनिषदों में कहा है, 'जो कहे कि मैं जानता हूँ, जानना कि उसे अभी कुछ पता नहीं।' जानने वाले की शर्त ही यही है कि वह कह नहीं सकेगा कि मैं जानता हूँ। क्योंकि वहाँ कोई 'मैं' नहीं बचता।

कबीर ने कहा है कि मैं खोजता था; और बहुत खोजा और तू न मिला। और जब तू मिला तब बड़ी अड़चन हुई, क्योंकि तब तक मैं खो चुका था।

अगर ठीक से समझें तो मनुष्य और परमात्मा का मिलन कभी भी नहीं होता, क्योंकि जब तक मनुष्य होता है, तब तक परमात्मा से मिलना नहीं हो पाता। और जब परमात्मा प्रगट होता है, तब तक मनुष्य पिघल कर उसमें लीन हो गया होता है। इसलिए मिलन की घटना नहीं घटती दो के बीच। या तो मनुष्य होता है, या परमात्मा होता है।

एक अमेरिकी विचारक एलन वाट, एक झेन फकीर के पास साधना कर रहा था। उस झेन फकीर ने एलन वाट से पूछा कि 'तुम क्या खोज रहे हो? ध्यान तुम कर रहे हो किस लिए?' तो एलन वाट ने कहा कि 'परमात्मा की तलाश के लिए।' तो वह झेन फकीर हँसने लगा। उसने कहा कि 'तुम बड़ अजीब काम में लगे हो। यह काम पूरा हो नहीं पायेगा।'

एलन वाट हैरान हुआ। उसने कहा कि 'हम तो सोचते थे कि पूरब के लोग मानते हैं कि यही काम करने योग्य है। और तुम यह क्या कह रहे हो!' उसने कहा कि 'यह नहीं होगा; या तो तुम न बचोगे या परमात्मा न बचेगा। मगर मिलन नहीं

हो सकता। या तो तुम खो जाओगे, तो परमात्मा बचेगा; या परमात्मा खो जाएगा, तो तुम बचोगे।'

जो उसे जानते हैं, वे जानने में ही शून्य हो जाते हैं। जितना जानते हैं, उतने ही शून्य हो जाते हैं। इसलिए दावा करने को कोई बचता नहीं। इसलिए वह तत्त्व सदा ही अज्ञेय बना रहता है, अननोएबल बना रहता है। जाना भी जाता है, फिर भी जाना नहीं जाता। जान भी लिया जाता है, फिर भी ज्ञान का हिस्सा नहीं बनता, जानकारी नहीं बन पाती।

इसीलिए तो हम विज्ञान की शिक्षा दे सकते हैं, लेकिन धर्म की कोई शिक्षा नहीं दे सकते।

एडिसन एक सत्य को जान लेता है, या न्यूटन एक सत्य को जान लेता ह, या आइंस्टीन एक थीअरि खोज लेता है, एक सिद्धान्त खोज लेता है, फिर हर एक को खोजने की जरूरत नहीं है। एक दफा एक आदमी ने खोज लिया, फिर वह किताब में लिख गया, फिर उसे बच्चे पढ़ते रहेंगे। जिस काम को करने में आइंस्टीन को वर्षों लगेंगे, उसे कोई भी व्यक्ति दो घण्टे में समझ लेगा, घण्टे में समझ लेगा। फिर साधारण बच्चे, जिनमें बुद्धि नहीं है, वे भी उसे समझ लेंगे। परीक्षा दे कर उत्तीर्ण होते रहेंगे। फिर दुबारा उसे खोजने की जरूरत नहीं। एक दफा विज्ञान जो जान लेता है, वह ज्ञान का हिस्सा हो जाता है। लेकिन धर्म के मामले में बड़ी अजीब बात है। हजारों लोगों ने परमात्मा को जाना, फिर भी हम किताब में लिखकर उसे दूसरे को नहीं जना सकते। कृष्ण ने जाना होगा, बुद्ध ने जाना होगा, क्राइस्ट ने जाना होगा, मोहम्मद ने जाना होगा। लेकिन फिर उस जानने से कोई फर्क नहीं पड़ता। आप सिर्फ पढ़कर नहीं जान सकते। आपको भी जानना है, तो उसी जगह से गुजरना होगा, जहाँ से कृष्ण गुजरते हैं। और जब तक आप कृष्ण जैसे न हो जायँ, कृष्ण-चैतन्य का जन्म न हो आपके भीतर, तब तक आप न जान सकेंगे।

आइंस्टीन की थीअरि ऑफ रिलेटिविटी समझने के लिए आइंस्टीन होना जरूरी नहीं है, न आइंस्टीन की बुद्धि चाहिए। कोई आवश्यकता नहीं है। एक दफा सिद्धान्त जान लिया गया, वह ज्ञान का हिस्सा हो जाता है। लेकिन धर्म के सत्य जाने भी जाते हैं, तो भी कभी ज्ञान के हिस्से नहीं होते। वे सदा ही अज्ञेय बने रहते हैं।

इसलिए विज्ञान आसुरी सम्पदा वाले व्यक्ति से राजी है। या हम ऐसा कह सकते हैं कि अभी जो विज्ञान है, वह आसुरी सम्पदा के ही वर्तुल में काम कर रहा है। मनुष्य अगर और विकसित होगा, तो हम दैवी सम्पदा वाले विज्ञान को भी विकसित करेंगे। तब विज्ञान एक नये आयाम में गति करेगा।

और दूसरी बात में भी विज्ञान राजी है—आसुरी सम्पदा वाले व्यक्ति से। क्योंकि

विज्ञान भी मानता है कि जगत् में कोई प्रयोजन नहीं है, कोई परपज नहीं है। यह सिर्फ घटनाओं का जोड़ है। इसलिए यहाँ प्रार्थना-पूजा व्यर्थ है। यहाँ ध्यान करने से कुछ भी न होगा। यहाँ प्रार्थना किससे करियेगा? यहाँ कोई है नहीं, जो प्रार्थना सुने। और मनुष्य केवल संघात है, कुछ वस्तुओं का जोड़ है। अगर उन वस्तुओं को हम अलग कर लें, तो पीछे कोई आत्मा बचेगी नहीं।

विज्ञान जैसा आज तक विकसित हुआ है, वह आसुरी सम्पदा के अन्तर्गत ही विकसित हुआ है। भविष्य में द्वार खुल सकता है; दैवी सम्पदा का विज्ञान भी विकसित हो सकता है। या आप ऐसा समझ सकते हैं कि आसुरी सम्पदा की जो विद्या है, उसका नाम विज्ञान है। और दैवी सम्पदा की जो विद्या है, उसका नाम धर्म है। धर्म विज्ञान है—अन्तर्जगत का—उस रहस्य-लोक का, जिसे प्रयोगशाला में नहीं परखा जा सकता, जिसे हम अपने ही भीतर खोज सकते हैं। वह भीतर की डुबकी है।

विज्ञान पदार्थों की खोज है, और धर्म परमात्मा की खोज है।

● दूसरा प्रश्न : प्रज्ञावान पुरुष को हमारे जीवन का जो आसुरीपन दिखाई देता है, वह हमें भी दिखे इसलिए हम क्या करें?

प्रश्न महत्त्वपूर्ण है; सभी के काम का है। जिन्हें भी जीवन में थोड़ा-बहुत रूपान्तरण करना हो, उन्हें इस पर काफी सोच-विचार करना होगा।

प्रज्ञावान पुरुष को हमारे जीवन का आसुरीपन दिखाई पड़ता है, हमें भी दिखाई पड़े, इसके लिए हम क्या करें?

पहला काम तो यह है कि प्रज्ञावान पुरुष का सानिध्य खोजें। शास्त्र काफी नहीं है, क्योंकि शास्त्र मुरदा है। शास्त्र बहुमूल्य है, लेकिन पर्याप्त नहीं है। और शास्त्र में आप वही पढ़ लेंगे, जो आप पढ़ सकते हैं। शास्त्र को आप धोखा दे सकते हैं, शास्त्र आपको रोक नहीं सकता। शास्त्र की आप व्याख्या कर सकते हैं, यह व्याख्या आपकी अपनी होगी। शास्त्र यह नहीं कह सकता कि यह व्याख्या गलत है। और अर्थ और व्याख्या तो आप करेंगे। तो शास्त्र तो आपके हाथ में आप ही जैसा हो जाता है। कितना ही कीमती शास्त्र हो, पढ़ने वाले के हाथ में पड़ते ही पढ़ने वाले के ढंग का हो जाता है।

आप बाइबिल पढ़ेंगे, तो बाइबिल में जो अर्थ निकलेगा, वह आपकी ही मनोदशा का होगा। गीता पढ़ेंगे—जो अर्थ निकलेगा, वह अर्थ आपका होगा, कृष्ण का नहीं हो सकता। तो शास्त्र में कितना ही छिपा हो, वह आपको प्रगट नहीं होगा।

प्रज्ञावान पुरुष की सन्निधि खोजें। इसलिए गुरु का इस पूर्वीय परम्परा में इतना मूल्यवान स्थान रहा है। उसका केवल इतना अर्थ है कि आप जीवंत सत्य को खोजें। क्योंकि उसे आप धोखा न दे सकेंगे, और उसकी आप व्याख्या अपने हिसाब से न कर सकेंगे। वह आपको रोक सकेगा। जहाँ भूल होगी, वहाँ चेता सकेगा।

प्रज्ञावान पुरुष की सन्निधि का नाम ही सत्संग है। उसका केवल इतना अर्थ है कि जो जानता है उसके पास होना, क्योंकि बहुत-सी चीजें हैं, जो केवल संक्रमण से ही अनुभव में आती हैं, उन्हें कोई दे भी नहीं सकता। वे कोई भौतिक वस्तुएँ नहीं कि उठा कर कोई आपको दे दे। चुपचाप पास होने पर धीरे-धीरे उनका संक्रमण होता है।

तो पहली बात तो, आपको भी कैसे आसुरीपन दिखाई पड़े उसके लिए जरूरी है कि आप सन्निधि खोजें प्रज्ञावान पुरुष की, तो धीरे-धीरे उसकी आँखों से आपको भी देखने का मौका मिलेगा। उसके साथ उठते-बैठते, चलते-फिरते आपको एक नये जीवन की प्रतीति होनी शुरू होगी, तभी तुलना पैदा होती है। नहीं तो तुलना भी कैसे पैदा हो?

आप जहाँ जी रहे हैं, जिनके बीच जी रहे हैं, जिनके साथ जी रहे हैं, वे सब एक से हैं, इसलिए पहचानना बहुत मुश्किल है।

एक पागलखाने में जहाँ सभी पागल हैं, वहाँ कोई पागल यह कभी भी नहीं समझ सकता कि मैं पागल हूँ। वहाँ सारे पागल उसके ही जैसे हैं। अगर एक पागलखाने में ठीक आदमी पहुँच जाय, तो उस ठीक आदमी को लगेगा कि मुझमें कुछ गड़बड़ हो गई है, क्योंकि भीड़ और बहुमत पागलों का होगा।

ऐसा अकसर हुआ है। इसलिए हमने बुद्ध को, क्राइस्ट को, सुकरात को पागल कहा है। हमारे पागलों की भीड़ में एक आदमी अगर ठीक हो जाय, तो हमें उस पर शक आता है—बजाय अपने पर शक आने के।

हम काफी हैं; हमारी संख्या बड़ी है। और संख्या हमें बड़ी सत्य मालूम पड़ती है। हम सभी चीजों को संख्या से तौलते हैं। करोड़-करोड़ लोग जिस बात को मानते हैं, वही हमें ठीक मालूम पड़ती है। तो हमने जीसस को सूली पर लटका दिया, सुकरात को जहर दिया, यही सोच कर कि ये पागल हो गये हैं, विक्षिप्त हो गये हैं।

इस भीड़ में आपको पहचान ही नहीं हो पायेगी, क्योंकि तुलना कैसे पैदा हो। कहते हैं : ऊँट जब तक पहाड़ के नीचे न जाय, तब तक उसे पता ही नहीं चलता कि मुझसे ऊँचा भी कुछ है, तब तक ऊँट पहाड़ है।

आप जब तक अपने से बिलकुल भिन्न जीवन चेतना के करीब न जायँ, तब तक आपको अपना आसुरीपन दिखाई नहीं पड़ेगा। उसके पास जाते ही आपको झलक होनी शुरू हो जाएगी, क्योंकि विपरीत पृष्ठभूमि में आप दिखाई पड़ने शुरू हो जाएँगे।

तो प्रज्ञावान पुरुष की सन्निधि खोजें।

दूसरी बात : प्रज्ञावान पुरुषों ने जो-जो कहा है—गीता है, उपनिषद हैं, लाओत्से का ताओ-तेह-किंग है, महावीर के वचन हैं, बुद्ध का धम्मपद है, और हजारों-हजारों वक्तव्य हैं—सारी जमीन पर फैले हुए। प्रज्ञावान पुरुषों ने जो कहा है, उस पर तर्क मत करें, उस पर प्रयोग करें। वही तर्क है। उस पर सोच-विचार मत करें, क्योंकि सोच-विचार करने का कोई उपाय नहीं है। जिस बात की आपको कोई प्रतीति नहीं है, उस पर आप सोच-विचार भी कैसे करियेगा? उस पर प्रयोग करें, और प्रयोग करके देखें। प्रयोग ही तर्क है, क्योंकि प्रयोग से ही आपको लगेगा कि वे ठीक कह रहे हैं। उसका स्वाद आयेगा, तो ही लगेगा कि वे ठीक कह रहे हैं। और जब तक आपको, आपसे अन्यथा, कोई चीज ठीक न लगने लगे, तब तक आप अपने को गलत न मान पायेंगे। गलत के लिए तुलना चाहिए।

सुना है मैंने कि अकबर के समय में एक धार्मिक व्यक्ति तीर्थ यात्रा पर गया। उन दिनों बड़े खतरे के दिन थे, सम्पत्ति को पीछे छोड़ जाना पड़ता था। और अकेला ही आदमी था, बच्चे पत्नी भी नहीं थे। काफी सम्पदा थी; एक मित्र के पास रख गया—जिस पर भरोसा था, और कहा कि 'अगर मैं जीवित लौट आया, तो मुझे लौटा देना और अगर जीवित न लौटूँ तो इसका जो भी सदुपयोग बन सके कर लेना।' यात्रा कठिन भी थी पुराने दिनों में, तीर्थ से बहुत लोग नहीं भी लौट पाते थे।

वह लम्बी मानसरोवर तक की यात्रा पर गया; पर भाग्य से जीवित वापस लौट आया। मित्र ने तो मान ही लिया था कि लौटेगा नहीं। लेकिन जब वह लौट आया, तो अड़चन हुई। सम्पत्ति काफी थी और देना मित्र को भी मुश्किल हुआ। तो मित्र नट गया, उसने कहा कि 'रख ही नहीं गये; कैसी बातें करते हो? तुम्हारा दिमाग तो खराब नहीं हो गया?' कोई गवाह भी नहीं था।

वह बात अकबर की अदालत तक पहुँची। एक भी गवाह नहीं, उपाय भी नहीं कोई। यह आदमी कहता है; रख गया और दूसरा आदमी कहता है : नहीं रख गया। अब कैसे निर्णय हो? अकबर ने बीरबल से सलाह ली। बीरबल ने जो आदमी रुपये रख गया था, उससे कहा कि 'कोई भी तो गवाह हो।' उसने कहा, 'गवाह तो कोई भी नहीं है; सिर्फ जिस वृक्ष के नीचे बैठ कर मैंने इसे सम्पत्ति दी थी, वह वृक्ष ही गवाह है।' बीरबल ने कहा, 'तब काम चल जाएगा। तुम जाओ, वृक्ष को कहो कि बुलाया है अदालत ने।' लगा तो उस आदमी को कि यह पागलपन का मामला है, लेकिन कोई और उपाय भी नहीं। सोचा : पता नहीं, इसमें कुछ राज हो। उसने कहा, 'मैं जाता हूँ, प्रार्थना करूँगा।'

वह आदमी गया। दूसरा, जिसके पास रुपये जमा थे, वह बैठा रहा। बड़ी देर हो गई तो बीरबल ने कहा, 'बड़ी देर हो गई, यह आदमी लौटा क्यों नहीं!' तो उस आदमी ने कहा कि 'जनाब, वह वृक्ष बहुत दूर है।' तो बीरबल ने कहा, 'मामला हल हो गया। तुमने रुपये लिए हैं, अन्यथा तुम्हें उस वृक्ष का पता कैसे चला कि वह कितने दूर है।'

हमारे भीतर भी हमें पता चलने के लिए कुछ संकेत चाहिए—परोक्ष। प्रत्यक्ष तो कोई उपाय नहीं है। प्रत्यक्ष तो आप जैसे हैं, उससे भिन्न होने का कोई उपाय नहीं है। परोक्ष कोई उपाय चाहिए।

प्रज्ञावान पुरुष की सन्निधि में आपको परोक्ष झलकें मिलनी शुरू होंगी और लगेगा कि आप गलत हैं। क्योंकि जैसा ही आपको लगेगा कि प्रज्ञावान पुरुष सही है, वैसे ही आपको लगेगा कि मैं गलत हूँ। और यहाँ एक बड़ी महत्वपूर्ण बात समझना जरूरी है: अगर आप बहुत चालाक हैं, तो आप प्रज्ञावान पुरुष के पास भी बैठ कर यही सोचते रहेंगे कि वह गलत है। क्योंकि अपने को बचाने का वही एक उपाय है—और कोई उपाय नहीं है।

इसलिए लोग गुरुओं के पास भी जाते हैं और गुरुओं की गलती देख कर वापस लौट आते हैं। उन्होंने अपनी सुरक्षा कर ली। क्योंकि दो ही रास्ते थे: अगर गुरु ठीक था, तो उनको गलत होना पड़ता। और अगर उनको ठीक ही बने रहना है—जैसे वे हैं—तो गुरु को गलत सिद्ध कर देना जरूरी है। लेकिन गुरु को गलत सिद्ध करने से गुरु का तो कुछ भी खोता नहीं; आपको एक परोक्ष मौका मिला था—सोचने का, विमर्श का, तुलना का—वह खो गया।

अगर प्रज्ञावान जीवित पुरुष मिल सके, तो भाग्यशाली हो। और प्रज्ञावान पुरुषों की कभी भी कमी नहीं है। अगर नहीं मिलता, तो आप आँख बन्द किये हैं, इसलिए नहीं मिलता। अगर नहीं मिलता, तो आप कुछ चालाकी अपने साथ कर रहे हैं, कुछ धोखा कर रहे हैं, इसलिए नहीं मिलता। अन्यथा प्रज्ञावान पुरुष की कोई भी कमी नहीं है। उनकी एक निश्चित मात्रा हमेशा पृथ्वी पर है। उस मात्रा में कोई अन्तर नहीं पड़ता। एक प्रज्ञावान पुरुष खोता है, तो तत्क्षण दूसरा प्रज्ञावान पुरुष उसकी जगह हो जाता है।

एक यहूदी फकीर मेरे पास आया। वह बड़ा चिन्तित और परेशान था। बहुत जगह घूम कर आया था, और अनेक लोगों से कुछ कहना चाहता था, लेकिन कोई उसे मिला नहीं, जिससे वह कहे या कोई जो उसका भरोसा करे! उसने मुझसे संन्यास लिया, दीक्षा ली, ध्यान में लगा। फिर बाद में एक दिन उसने कहा कि 'अब मैं आपसे कह सकता हूँ।'

उस यहूदी ने मुझे कहा कि मुझे धर्म में कोई भी रुचि न थी और मैं धार्मिक आदमी भी न था। इतना ही नहीं, बल्कि मेरा स्पष्ट विरोध भी रहा है, तो मैं कभी यहूदियों के मन्दिर में, सिनागॉग में कभी गया नहीं। मैंने कभी तालमुद पढ़ी नहीं। और कभी कोई धर्म की बात करे तो मुझे सिर्फ ऊब ही पैदा होती थी। किसी रबाई, किसी फकीर को मैंने कभी सुना नहीं।

यहूदियों के उत्सव का दिन था एक, धार्मिक उत्सव का दिन, और यह युवक लौट रहा था बाजार से घर की तरफ, अचानक उसे एकदम बेचैनी हुई। और उसे लगा कि मुझे सिनागॉग जाना चाहिए। उसे खुद भी हैरानी हुई। कुछ ऐसा लगा, जैसे कोई खींचता हो, जैसे परवश हो गया; भागा हुआ घर गया। अपनी प्रार्थना की शाल उठाई, जिसको सर पर डाल कर यहूदी प्रार्थना करते हैं।

यह प्रार्थना की शाल—यहूदियों की—बड़ी कीमती है। दूसरे धर्मों के लोगों को भी इसका उपयोग करना चाहिए। पूरे शरीर को ढँक लेते हैं एक चादर से और भीतर प्रार्थना की धुन (आप चाहें ओंकार की धुन या कोई भी धुन) को भीतर पैदा करते हैं। वह धुन न केवल शरीर के भीतर गूँजती है, बल्कि उस चादर के भीतर भी एक वातावरण निर्मित करती है, और शरीर के चारों तरफ एक ऑरा निर्मित जाता है। वह ध्वनि शरीर को चारों तरफ से घेर लेती है और आप जगत् के साधारण वातावरण से बिलकुल कट जाते हैं। उस प्रार्थना की शाल के भीतर जितनी आसानी से प्रार्थना में लीन हुआ जा सकता है, उतनी आसानी से बिना अपने को ढँके लीन होना कठिन है।

भागा हुआ घर गया, प्रार्थना की शाल उठाई, जाकर सिनागॉग पहुँचा, लेकिन उत्सव का दिन था और उस उत्सव के दिन नास्तिक यहूदी भी मन्दिर आता है। बिलकुल भरा हुआ था। कोई आशा नहीं थी उसे कि भीतर जगह मिल जाएगी; लेकिन वह चकित हुआ कि द्वार पर ही उसका स्वागत किया गया और उसे ले जाकर विशिष्ट अतिथियों के स्थान पर बिठाया गया। वह और ही हैरान हुआ कि यह क्या हो रहा है! उसने अपनी चादर ओढ़ली और चादर ओढ़ते ही उसे सुनाई पड़ा...।

कोई बीस साल पहले की घटना है, जब उसे सुनाई पड़ा। साल भर पहले आकर उसने मुझे सारा ब्योरा दिया। उसे सुनाई पड़ा कि 'तू चुना गया है; छत्तीस में से एक मर गया है, उसकी जगह तुझे चुना गया है।' वह कई लोगों से बताना चाहता है कि क्या मामला है, छत्तीस कौन हैं, कौन मर गया है, मुझे किस लिए चुना गया है? लेकिन बस, आवाज के बाद उसका जीवन बदल गया।

यहूदियों में पुराना एक नियम है! छत्तीस यहूदी सदा ही प्रज्ञावान पुरुष होंगे। उनमें से जब भी एक समाप्त होगा, तब तत्क्षण बाकी पैंतीस एक व्यक्ति को चुन लेंगे तो छत्तीस की संस्था उनकी सदा पूरी रहेगी।

सभी धर्मों के भीतर उस तरह के अन्तर्वतुल ह, इनर सीक्रेट सर्कल्स ह। उनकी संख्याओं में कभी कोई कमी नहीं होती। वे हमेशा मौजूद हैं। और जब भी कहीं कोई साधक उनको खोजने को तैयार हो, तब वे खुद ही उस साधक की तलाश में आ जाते हैं।

तो जरूरत भी नहीं कि आप हिमालय जायँ। अगर आकांक्षा प्रबल हो, तो जहाँ आप हैं, वहीं जिस प्रज्ञावान पुरुष से आपको सन्निधि चाहिए, वह मौजूद होगा; वह वहीं चला आयेगा। लेकिन हम अपने ही हाथ से दरिद्र बने रहते हैं। हम हाथ भी नहीं फैलाते। अगर स्वर्ण की वर्षा भी हो रही हो तो हमारी झोली बन्द रहती है।

यह जो प्रज्ञावान पुरुष की सन्निधि खोजने की बात ह, इसके लिए हमें अपनी सुरक्षा की, बचाव की पुरानी आदतें छोड़नी जरूरी है, अपने को थोड़ा खोलना जरूरी है। जोखम तो है, खतरा तो है। लेकिन बिना खतरे के जीवन में कोई क्रांति भी नहीं होती।

फिर प्रज्ञावान पुरुषों का साहित्य है, उनके वचन हैं, जिनको हम वेद कहते हैं। वेद कोई किताब नहीं है; सभी प्रज्ञावान पुरुषों के वचन वेद हैं। इन वचनों को अगर हम मनन करें—विचार नहीं...। और विचार और मनन का फर्क ठीक से समझ लेना चाहिए। विचार का तो मतलब होता है : मैं अपनी बुद्धि लगाऊँ कि क्या ठीक है, क्या गलत है; पक्ष विपक्ष में सोचूँ। मेरे पास बुद्धि ही होती तो फिर क्या था। और मैं जानता था कि क्या ठीक है और क्या गलत है, तो वेद की कोई जरूरत न थी। फिर मैं खुद ही प्रज्ञावान था। वह मेरे पास नहीं है।

मनन बड़ी अलग बात है। मनन का अर्थ है—प्रज्ञावान पुरुष के वचन को अपने हृदय में उतार लेना, उसका रस चूसना, उसका स्वाद लेना। सोचना नहीं कि ठीक है कि गलत है। उसको पीना। इसको हम पाठ कहते हैं।

इसलिए एक आदमी रोज गीता का पाठ करता है। पश्चिम के लोग पूछते हैं कि 'क्या पागलपन है? एक दफा किताब पढ़ ली, बात खतम हो गई। और किताब को दुबारा पढ़ने का क्या अर्थ है, तिबारा पढ़ने का क्या अर्थ है! और जिंदगी भर रोज सुबह उठकर पढ़ने का तो कोई भी अर्थ नहीं है। वही किताब है, उसको बारबार पढ़ कर क्या फायदा? इससे तो बुद्धि और जड़ हो जाएगी!'

उनकी बात थोड़ी दूर तक सही है। अधिक लोगों की बुद्धि जड़ हो गई है। लेकिन जड़ हो जाने का कारण है कि उन्हें पाठ का रहस्य मालूम नहीं है। गीता रोज सुबह पढ़ने का अर्थ पढ़ना है ही नहीं। वह तो जैसे आदमी रोज भोजन करता है, पानी पीता है, श्वास लेता है, ऐसे रोज प्रज्ञावान पुरुष के वचनों को आत्मसात करना है, अपने में डुबाना है, उनको अपने में फेंकना है, उलीचना है, क्योंकि वे वचन बीज की तरह भीतर पड़ जाएँगे और किसी सम्यक् क्षण में...। और हम नहीं जानते कि वह सम्यक् क्षण कब आयेगा, इसलिए रोज करना है, किसी भी दिन वह सम्यक् क्षण आ जाएगा, तो बीज ठीक जगह पर पहुँच जाएँगे। उनका अंकुरण होगा, और उस

अंकुरण में हमको पहली बार दिखाई पड़ना शुरू होगा कि क्या आसुरी है, क्या दैवी है। उसके पहले दिखाई नहीं पड़ सकता।

तो दो उपाय हैं : अगर हिम्मत हो, तो जीवित प्रज्ञावान पुरुष की शरण में चले जाना। अगर कमजोर आदमी हो, हिम्मत न हो तो शास्त्र की शरण में चले जाना। आपको उलटा लगेगा; आप अकसर सोचते हैं, कि जो ताकतवर है, वह किसी की शरण में नहीं जाता। और मैं आपसे कह रहा हूँ कि ताकत हो तो शरण में चले जाना चाहिए।

कमजोर शरण में जा ही नहीं सकता, क्योंकि वह डरता है, कि शरण में गये, तो दूसरा कब्जा कर लेगा। वह कमजोरी का डर है। शक्तिशाली चला जाता है। शक्तिशाली ही समर्पण करता है। कमजोर तो सदा डरता है, भयभीत रहता है कि कहीं किसी के साथ में अपने को सौंप दिया, फिर पता नहीं, क्या हो। सिर्फ शक्तिशाली सौंपने की हिम्मत करता है—कि सौंप दिया, अब जो भी हो।

और ध्यान रहे, जो सौंपने की हिम्मत जुटाता है, उसके पास प्रज्ञावान पुरुष अनिवार्य रूप से प्रगट हो जाता है। अगर तुमने गलत आदमी के भी चरणों में अपने को सौंपा और सौंपना बेशर्त रहा, तो गलत आदमी हट जाएगा और ठीक आदमी प्रगट हो जाएगा। और अगर तुम ठीक आदमी के पास भी अपने को सिकोड़ कर बैठे रहे, बचाते रहे, तो ठीक आदमी भी तुम्हारे लिये गलत आदमी है।

यह न हो सके, मन बहुत कमजोर हो निर्बल हो, तो फिर शास्त्र खोजना चाहिए। गुरु शक्तिशाली के लिए, शास्त्र कमजोर के लिए। मगर हिम्मत वहाँ भी जुटानी पड़ेगी, क्योंकि वहाँ भी शास्त्र को मौका देना होगा कि आपके भीतर जा सके, रोएँ-रोएँ में डूब जाय, उतर जाय, श्वास-श्वास में समा जाय, जगह-जगह आपके कण-कण में उसकी ध्वनि गूँजने लगे।

स्वामी राम अमेरिका से वापस लौटे तो पंजाब के एक बहुत बड़े विचारक सरदार पूर्णसिंह उनके साथ थे। तो एक ही कोठरी में एक रात हिमालय में सोये थे। चारों तरफ सन्नाटा था—हिमालय का सन्नाटा। न कोई पास गाँव, न कोई आवाज, न कोई शोरगुल। अचानक पूर्णसिंह को लगा कि कोई राम-राम की रट लगाए हुए है। तो नींद न आई। उठ कर वे बाहर गये, बरान्डे में चारों तरफ घूम कर देखा, सन्नाटा है। कोई नहीं है वहाँ। हैरानी तो तब हुई, जब बाहर गये, तो आवाज कम आने लगी, और जरा दूर जाकर बरान्डे में घूमे तो और कम आने लगी। नीचे के कम्पाउण्ड में उतर कर दरवाजे तक गये, तो आवाज बिलकुल खो गई। फिर जैसे वापस लौटे करीब, आवाज बढ़ने लगी। कोठरी में आये, तो आवाज फिर सुनाई पड़ने लगी। राम तो सो रहे तब वे चकित हुए। क्योंकि सिवाय राम के और उनके कोई नहीं है।

हैं। तो राम की खाट के पास गये। जैसे पास गये, तो आवाज और बढ़ने लगी। तब उन्हें खयाल आया कि यह तो कुछ अनूठा घट रहा है! राम के शरीर के अंग-अंग से राम की आवाज निकल रही है। तो पैर के पास कान रख कर देखा तो आवाज; हाथ के पास कान रख कर देखा तो आवाज; सिर के पास कान रख कर देखा तो आवाज।

जब कोई व्यक्ति ठीक से स्मरण करता है। पाठ करता है, वेद के वचन को अपने में डूब जाने देता है, तो रोएँ-रोएँ से वही प्रतिध्वनित होने लगता है। उस प्रतिध्वनि के क्षण में आपको समझ आयेगा : क्या आसुरी है, क्या दैवी है। उसके पहले समझ नहीं आ सकता।

ये दो उपाय हैं। हिम्मत हो तो जीवित पुरुष खोज लेना चाहिए; हिम्मत कमजोर हो तो प्रज्ञावान पुरुषों के भरे हुए वचन शास्त्रों में संगृहीत हैं, उनकी शरण चले जाना चाहिए। लेकिन फिर भी दोनों में हिम्मत की तो जरूरत है ही, क्योंकि शरण जाए बिना कोई भी उपाय नहीं है।

कहीं अपने को खोना होगा, छोड़ना होगा; कहीं अस्मिता को हटा कर रख देना होगा, तब जैसे बिजली कौंध जाय और अँधेरा रास्ता दिखाई पड़ने लगे, ठीक ऐसे ही क्या दैवी है, क्या आसुरी है, उसकी प्रतीति होने लगती है।

और ध्यान रखें, जैसे ही प्रतीत होता है कि ये आसुरी और ये दैवी, वैसे ही जीवन में परिवर्तन शुरू हो जाता है। क्योंकि जिसको प्रतीति हो जाय कि यह आसुरी वृत्ति है, फिर उस वृत्ति में रहना असम्भव है।

हम तभी तक आसुरी वृत्ति में रह सकते हैं, जब तक हमें लगता हो कि यह दैवी वृत्ति है। हम तभी तक असत्य में जी सकते हैं, जब तक हमें लगता हो कि यह सत्य है। और हम तभी तक दुःख में जी सकते हैं, जब तक हमने दुःख को सुख माना हो। दुःख, दुःख दिखाई पड़े, छुटकारा शुरू हो गया। असत्य—असत्य मालूम पड़े, क्रांति शुरू हो गई।

आसुरी है हमारी सम्पदा—ऐसा बोध हो जाय—उस सम्पदा से हमारे हाथ अलग होने लगे। हम उसे ही पकड़ते हैं, जिसे हम ठीक समझते हैं। वह गलत हो, पर हमारी समझ में ठीक है, तो हम पकड़ते हैं। जैसे समझ आ जाती है—कि गलत है, छूटना शुरू हो जाता है।

सुकरात का प्रसिद्ध वचन है : 'नॉलेज इज वर्च्यू—ज्ञान सदाचरण है! जैसे ही कोई जान लेता है कि ठीक क्या है, ठीक में गति शुरू हो जाती है। जब तक हम सोचते हैं कि हमें पता है कि ठीक क्या है—फिर भी हम क्या करें—हम गलत करते हैं, तब तक जानना कि हमें पता ही नहीं है कि ठीक क्या है!

मेरे पास लोग आते हैं, वे कहते हैं : 'हमें मालूम है कि क्रोध बुरा है, पर क्या करें, मजबूरी है, क्रोध हो जाता है।' तो मैं उनसे कहता हूँ, 'तुम गलती कर रहे हो, तुम पूरी बात को ही उलटा समझ रहे हो। तुम्हें मालूम ही नहीं कि क्रोध बुरा है। यह तुमने सुना है और तुम सोचते हो, सुना हुआ तुम्हारा ज्ञान हो गया। तुम्हें पता हो जाय कि क्रोध बुरा है, तो जैसे आग में हाथ डालना मुश्किल है, वैसे ही क्रोध में भी हाथ डालना मुश्किल हो जाएगा। शायद ज्यादा मुश्किल हो जाएगा, क्योंकि आग तो केवल शरीर को जलाती है, क्रोध तो भीतर तक झुलसा देता है।'

● अखिरी प्रश्न : मंजिल पर पहुँच कर प्रज्ञावान पुरुष को यही पता चलता है कि स्वयं को जानना असम्भव है, क्योंकि वहाँ ज्ञाता, ज्ञेय, और ज्ञान सब एक हो जाते हैं। इस हालत में वे हमें क्यों समझाते हैं कि स्वयं को जानो? इसमें उनका अभिप्राय क्या है?

निश्चित ही उस परम अवस्था में ज्ञाता भी खो जाता है, ज्ञान भी खो जाता है, ज्ञेय भी खो जाता है। यह जो त्रिवेणी है, यह खोकर एक ही धारा बन जाती है। गंगा, यमुना, सरस्वती तीनों खो जाती हैं, सागर ही रह जाता है। वह जो खोजने चला था, वह भी नहीं बचता; जिसे खोजने चला था, वह भी नहीं बचता। फिर भी कुछ बचता है—और जो बचता है, वह तीनों से बड़ा है। जो बचता है, वह तीनों से ज्यादा है। जो खो जाता है, वह तो कचरा था। जो बचता है, वही सार है।

फिर भी प्रज्ञावान पुरुष आपसे कहते हैं : स्वयं को जानो। क्या मिटाने के लिए आमंत्रण देते हैं? अगर, मिटना ही मिटना होता और कुछ पाना न होता, तो यह आमंत्रण न दिया जाता।

एक तरफ से मिटना है और दूसरी तरफ से होना है। जो आप हैं, वह खो जाएगा। और जो आपका वास्तविक होना है, वह बचेगा। जो आपका झूठा-झूठा होना है, वह तिरोहित हो जाएगा; और जो आपकी शाश्वत सत्ता है, जो आपका सनातन स्वरूप है, वह बचेगा। आप खो जाएँगे—जैसा आप अपने को अभी समझते हैं। और जैसा आपने कभी अपने को नहीं समझा—लेकिन आप हैं—वह बच रहेगा।

तो प्रज्ञावान पुरुष आपको बुलाते हैं कि मिटो, ताकि हो सको! खो जाओ, ताकि बच सको। वे कहते हैं : बूँद सागर में गिर जाये, खो जायेगी। अगर आप बूँद की तरफ से देखें, तो खो जायेगी। लेकिन खोयेगी कहाँ? खोना हो कैसे सकता है? जो भी है, वह खोयेगा कैसे? अगर होने की तरफ से देखें, तो बूँद खोयेगी नहीं, सागर हो जायेगी। एक तरफ से बूँद का क्षुद्रपन चला जायेगा, दूसरी तरफ से सागर की विराटता उसमें उतर आयेगी।

कबीर ने कहा है कि पहले तो मैं सोचता था, जब मिलन हुआ, कि बूँद सागर में गिर कर गिर गई और खो गई। प्रथम तो ऐसा ही अनुभव हुआ कि बूँद सागर में गिर कर

खो गई। बाद में समझ में आया कि यह तो उलटा ही कुछ हुआ है। सागर बूँद में गिर कर खो गया।

ये दोनों बातें एक ही अर्थ रखती हैं। चाहे हम एक बूँद को सागर में गिराएँ, चाहे एक सागर को बूँद में गिराएँ; दोनों हालतों में घटना एक ही घटती है। तो चाहे आप कहें कि आप परमात्मा में खो गये, और चाहे कि आप कहें कि परमात्मा आप में खो गया—एक ही बात है। सिर्फ दो कोने से कहने की बात है।

बुद्ध ने पहली बात पसंद की। उन्होंने कहा, कि तुम खो जाओगे, निर्वाण हो जाएगा, सब शून्य हो जाएगा। शंकर ने दूसरी बात पसंद की। 'ब्रह्म हो जाओगे, कुछ खोयेगा नहीं, बस कुछ पा लिया जाएगा।'

चाहे कहो शून्य, चाहे कहो पूर्ण। शून्य का अर्थ है : बूँद खो गई सागर में। पूर्ण का अर्थ है : सागर बूँद में उतर आया। पर दोनों एक ही बात को कहने के दो ढंग हैं। एक निषेध का ढंग है; एक विधेय का ढंग है। जो भी प्रीतिकर हो।

प्रज्ञावान पुरुष बुलाते हैं कि मिटो, क्योंकि उन्होंने अपनी तरफ से अनुभव किया है कि जब तक वे मिटे नहीं, तभी तक दुःख में रहे। जब वे मिटे, तब आनन्द हो गया।

आपका होना ही कष्ट है। आप ही काँटा हो—जो चुभता है। और जब तक आप हो—काँटा चुभता ही रहेगा। आप लाख उपाय करो—सुख की व्यवस्था के लिए—असफल होओगे। क्योंकि काँटा आप हो। आप कितना ही सुखद बिस्तर तैयार कर लो, और सुन्दर भवन बना लो, लेकिन काँटा चुभता ही रहेगा।

महल बड़े होते जाते हैं, दुःख नष्ट नहीं होता। सम्पत्ति के ढेर लगते जाते हैं, दुःख नष्ट नहीं होता। सम्पदा, यश, कीर्ति मिलती जाती है, दुःख नष्ट नहीं होता, बल्कि काँटा चुभता ही चला जाता है। शायद और जोर से चुभता है। जितना सुख का आप इन्तजाम करते हैं, काँटा उतने जोर से चुभता है। क्योंकि सुख में पृष्ठभूमि बन जाती है, और काँटा और ज्यादा पीड़ादायी मालूम होता है।

गरीब आदमी के पैर में काँटा उतना नहीं चुभता; पैर उसके आदी हैं। अमीर आदमी के पैर में काँटा और बुरी तरह चुभता है; पैर उसके आदी नहीं हैं। जैसे-जैसे आदमी अमीर होता है, वैसे-वैसे एक दुःख, एक घाव, एक नासूर भीतर हृदय में बनता चला जाता है।

प्रज्ञावान पुरुष बुलाते हैं आपको—कि मिट जाओ। कहते हैं कि स्वयं को जान लो। क्योंकि स्वयं को जानते ही आप मिट जाओगे। यह जरा उलटा लगेगा—विरोधाभासी, क्योंकि जब हम कहते हैं : 'स्वयं को जान लो', तो हमें ऐसा लगता है कि अपने को हम बचा लेंगे। स्वयं को जानने की शर्त ही यह है कि जब तक आप हो, तब तक आप स्वयं को जान न सकोगे। आप बाधा हो। वह जो अहंकार है

कि मैं हूँ, वही रुकावट है। वह मिटेगा, तो स्वयं का जानना हो जाएगा। स्वयं का मिटना ही स्वयं का ज्ञान है। और उसके साथ ही काँटा खो जाता है।

बुद्ध को ज्ञान हुआ, तो उन्होंने पहला उद्घोष किया कि 'अब मुझे दुःख में कोई भी डाल न सकेगा। अब मुझे दुःख में डालने का कोई उपाय न रहा।' तो कथा है कि ब्रह्मा ने उनको पूछा कि 'आप ऐसा क्या कहते हैं!' तो बुद्ध ने कहा, 'चूँकि अब मैं हूँ ही नहीं। मुझे दुःख में डालने का कोई उपाय नहीं, क्योंकि अब मैं हूँ ही नहीं। जब तक मैं था, तब तक मुझे दुःख में डाला जा सकता था।

बुद्ध शून्य की भाषा पसन्द करते हैं। अगर आपको पूर्ण की भाषा पसन्द हो, तो समझें पूर्ण की तरफ से। शून्य की भाषा पसन्द हो, तो शून्य की तरफ से। लेकिन सिर्फ भाषा में मत खोये रहें; कुछ करें। या तो बूँद को मिटाएँ सागर में या सागर को बुलाएँ बूँद में। जब तक यह महा-मिलन न हो, तब तक दुःख बना ही रहता है।

अब हम सूत्र को लें।

'और वे मनुष्य दम्भ, मान और मद से युक्त हुए किसी प्रकार भी न पूर्ण होने वाली कामनाओं का आसरा लेकर, तथा मोह से मिथ्या सिद्धान्तों को ग्रहण करके, भ्रष्ट आचरणों से युक्त हुए संसार में बर्तते हैं। तथा वे मरण पर्यंत रहने वाली अनन्त चिन्ताओं को आश्रय किये हुए और विषय-भोगों के भोगने में तत्पर हुए इतना मात्र ही आनन्द है—ऐसा मानने वाले हैं। इसलिए आशा रूप सैकड़ों फाँसियों से बँधे हुए और काम-क्रोध के परायण हुए विषय भोगों की पूर्ति के लिए अन्याय पूर्वक धनादिक, बहुत से पदार्थों को संग्रह करने की चेष्टा करते हैं।'

आसुरी संपदा वाले व्यक्तियों के लक्षणों में कृष्ण और भी प्रवेश करते हैं।

'दम्भ, मान, और मद से युक्त...।' आसुरी सम्पदा वाला व्यक्ति सदा ही अपने को ठीक मानता है, सदा ही दूसरे को गलत मानता है। दूसरे का दूसरा होना ही उसकी गलती है। यह सवाल नहीं है कि सही क्या है, गलत क्या है। आसुरी संपदा वाले व्यक्ति को उसका स्वयं का वक्तव्य सही है, दूसरे का वक्तव्य गलत है।

कभी-कभी आपको भी खयाल आता होगा कि अगर दूसरा व्यक्ति वही बात कर रहा हो, जो कल आप कह रहे थे, तो भी आप विवाद करते हैं। क्योंकि सवाल यह नहीं है कि क्या सही है। सवाल तो यह है कि आप सही हैं और दूसरा गलत है।

हमेशा आप इस कोशिश में होते हैं कि मैं सही हूँ।

दुनिया में जो इतने विवाद चलते हैं, उन विवादों में सत्य की कोई तलाश नहीं है। उन विवादों में सिर्फ अहंकार की घोषणा है। चाहे कोई कुछ भी कहे, सही मैं ही हूँ। और इस 'मैं' के सही होने को हम हजार तरह से सिद्ध करने की कोशिश करते हैं। आसुरी सम्पदा वाले व्यक्ति का यह आन्तरिक लक्षण है।

दैवी सम्पदा वाला व्यक्ति इसके पहले कि दूसरे को गलत कहे, अपने को गलत सोचने की चेष्टा करता है। और इसलिए दैवी सम्पदा वाला व्यक्ति सीख पाता है, आसुरी सम्पदा वाला सीख नहीं पाता। क्योंकि सीखना तो तभी सम्भव है, जब हम गलत हों, दूसरा सही हो। जब हम सदा ही सही होते हैं और दूसरा गलत होता है, तो सीखने की कोई गुंजाइश नहीं है। शिष्यत्व, डिसाइपलशिप, पैदा ही नहीं हो सकती।

इसलिए आसुरी सम्पदा का व्यक्ति कभी भी शिष्य नहीं बनता, हालाँकि कहेगा वह यही कि 'कोई गुरु, है ही नहीं। मिले कोई गुरु, तो हम शिष्यत्व ग्रहण करें।' लेकिन वह शिष्यत्व ग्रहण नहीं कर सकता। वह बुद्ध के पास से भी कुछ भूल-चूक निकाल कर आगे बढ़ जाएगा।

शिष्यत्व के लिए झुकना जरूरी है। और 'मैं गलत हूँ, दूसरा सही होगा'—इसकी प्रतीति जरूरी हैं। 'मैं अज्ञानी हूँ, और दूसरा जानता होगा'—इसकी प्रतीति जरूरी है। और जिस व्यक्ति को ऐसा भाव हो कि मैं अज्ञानी हूँ, तो वह एक छोटे से बच्चे से भी सीख लेता है। वह पौधों, पक्षियों से भी सीख लेता है। उसके लिए सारा जगत् गुरु हो जाता है। और जो व्यक्ति सोचता है : मैं सही हूँ, उसके लिए इस जगत् में सीखने का कोई उपाय नहीं। वह अटका रह जाता है, ठहरा रह जाता है। उसका हृदय पत्थर की तरह हो जाता है; फूल की तरह वह कभी भी खिल नहीं पाता है।

आप भी सोचें कि आप जब विवाद करते हैं कि यह ठीक है, तब सच में ही आपको सत्य की तलाश होती है? या आपका वक्तव्य है, तो उसके साथ आपका अहंकार जुड़ गया। वक्तव्य टूटेगा, तो अहंकार टूटेगा। तो आप लड़ भर सकते हैं; विवाद कर सकते हैं, तर्क कर सकते हैं, हजार तर्क खोज ले सकते हैं। लेकिन, उन तर्कों से आप कभी बदलेंगे नहीं। क्योंकि वे तर्क सत्य के लिए दिये ही नहीं गये।

सत्य का तलाशी हमेशा तैयार है, कि वह गलत हो सकता है। और जो व्यक्ति जितना तैयार है—अपनी गलती स्वीकार करने को, उसके जीवन में विकास की उतनी ही ज्यादा सम्भावना है! वह जीवन के अन्तिम क्षण तक सीखता रहेगा, मरते क्षण तक सीखता रहेगा। उसके सीखने का कोई अन्त नहीं; उसके ज्ञान का कोई पारावार नहीं होगा।

आसुरी सम्पदावाला अज्ञानी रह जाता है, क्योंकि सीख नहीं सकता। दैवी सम्पदा-वाला सीखता चला जाता है, उसके पास सागर जैसा ज्ञान हो जाता है।

'किसी भी प्रकार न पूर्ण होने वाली कामनाओं का आसरा लेकर...।' और आसुरी सम्पदावाला व्यक्ति अपने जीवन की गति को उन वासनाओं के सहारे चलाता है, जिनका कभी कोई अन्त नहीं, जो कभी पूरी नहीं होतीं, जो कभी पूरी हुई नहीं, जिनका स्वभाव पूरा होना नहीं है।

बुद्ध ने कहा है, 'कामनाएँ दुष्पूर हैं, उनको भरा ही नहीं जा सकता।' इसलिए नहीं कि आपकी ताकत कम है, इसलिए भी नहीं कि जीवन का समय कम है, इसलिए भी नहीं कि दूसरे लोग बाधा डाल रहे हैं, बल्कि इसलिए कि उनका स्वभाव ही दुष्पूर है। वासना का स्वभाव दुष्पूर है; उसे पूरा नहीं किया जा सकता।

क्या कारण होगा कि वासना का स्वभाव दुष्पूर है! अगर आप वासना को पूरा न करें, दमन करें तो वासना धक्के मारती है, कि मुझे पूरा करो; और सदा धक्के मारती रहेगी, जन्मों-जन्मों तक। अगर आप वासना को पूरा करें, तो हर बार पूरा करें, तो वासना की आदत बनती है। और जितनी आदत बनती है, उतनी माँग बढ़ती है।

बड़ी कठिनाई है, बड़ी दुविधा है। अगर वासना को दबाएँ तो पीछा करती है; अगर पूरा करें, तो आदत बनती है। दोनों स्थितियों में वासना उलझा देती है। और तीसरे का हम कभी प्रयोग नहीं करते कि हम वासना को सिर्फ देखें; न तो दबाएँ, न पूरा करें। न तो उससे लड़ें, और न उसके गुलाम बन के उसके पीछे चलें।

दो पंथ हैं जगत् में। एक पंथ है—वासना पूरे करने वालों का; उनको ही आसुरी सम्पदावाले लोग कहा है। एक पंथ है—वासनाओं से लड़ने वालों का; उनको दैवी सम्पदावाले लोग नहीं कहा है। वे भी आसुरी सम्पदावाले लोग हैं। फर्क इतना ही है कि कुछ आसुरी सम्पदावाले लोग सीधे पैर के बल खड़े हैं; कुछ आसुरी सम्पदा वाले लोग सिर के बल खड़े हैं, शीर्षासन कर रहे हैं। एक तीसरा वर्ग है—दैवी सम्पदा वाले व्यक्ति का। वह लड़ता ही नहीं, वह वासना का सिर्फ साक्षी होता है। और जितना गहरा साक्षी-भाव होता है, वासना उसी तरह जड़-मूल से जल कर नष्ट हो जाती है। न तो उसे दबाना पड़ता है, न उसे पूरा करना पड़ता है।

दोनों हालतों में कठिनाई है। और ये दोनों पंथ खड़े हैं और आप सब भी इन दोनों पंथों में डाँवाडोल होते रहते हैं। सुबह सोचते हैं कि गलत है; साँझ सोचते हैं कि सही है। आज सोचते हैं : वासना पूरी कर लें; कल वासना से लड़के उसका दमन करते हैं। और ऐसा डोलते रहते हैं और जीवन नष्ट होता चला जाता है।

हमारी अवस्था ऐसी है...।

मैंने सुना है : एक गाँव में एक साधु का आगमन हुआ। वह अद्वैतवादी साधु था। गाँव में एक गरीब सीधा आदमी था। इस साधु ने उसे पकड़ लिया; रास्ते से जा रहा था। वह सीधा आदमी अपने खेत जा रहा था, सो उसे पकड़ लिया और कहा कि 'रुको, क्या जिन्दगी खेत में ही गँवा दोगे? कुछ स्मरण करो; यह जगत् माया है।' उस सीधे आदमी ने कहा, 'अब आपने शिक्षा ही दी तो कुछ रास्ता बता दो।' साधु ने एक मन्त्र दिया। मन्त्र था : सोहम्—कि सदा सोहम् सोहम् का जाप करते

रहो—मैं वही हूँ—आई एम दैट—सोहम्। कुछ दिनों बाद वह गरीब सीधा आदमी सोहम् का जाप करता रहा।

गाँव में दूसरे साधु का आगमन हुआ। लोगों ने उस दूसरे साधु को बताया कि हमारे गाँव में एक सीधा-सादा किसान है, लेकिन सोहम् का जाप करता है, और बड़ा प्रसन्न रहता है। साधु ने कहा, बिलकुल गलत। उसे बुला कर ले आओ।' उसने कहा, 'यह बिलकुल गलत है।' यह साधु द्वैतवादी था। सोहम् अद्वैतवादी का मन्त्र है। उसने कहा, 'यह बिलकुल गलत है; यह पाठ ठीक नहीं है। तुम भटक जाओगे।'

उस गरीब सीधे आदमी ने कहा, 'आप सुधार कर दें।' उस साधु ने कहा, 'दासोहम्—मैं तेरा दास हूँ—यह पाठ करो। सोहम् नहीं—दासोहम्।' उसने दा और जोड़ दी। उस गरीब आदमी ने दा और जोड़ दिया।

दो-चार महीने बाद फिर एक अद्वैतवादी साधु का गाँव में आगमन हुआ। लोगों ने खबर दी। उसने कहा कि 'बिलकुल गलत है। द्वैत तो आना ही नहीं चाहिए मंत्र में। यह दासोहम् ठीक नहीं है। तुम इसमें एक स और जोड़ दो—सदासोहम्—सदा मैं वही हूँ।' गरीब आदमी ने कहा, 'जैसी आपकी मरजी!' थोड़ी-बहुत शांति पहले में मिली थी, दूसरे में उससे भी कम हो गई। अब तीसरे में वह बहुत उलझ गया। शांति और भी कम हो गई। लेकिन साधु ने कहा, तो वह सदासोहम् कहने लगा।

कुछ ही दिन बाद फिर एक द्वैतवादी साधु का गाँव में आगमन हुआ। उसने कहा कि 'बिलकुल गलत है। तुम इसमें एक दा और जोड़ दो—दास दासोहम्।' तो उस गरीब ने कहा कि 'मैं बिलकुल पागल हो जाऊँगा। थोड़ी बहुत शान्ति मिलनी शुरू हुई थी, सब नष्ट हो गई। और अब कब अन्त होगा इसका!'

मनुष्य की अवस्था करीब-करीब ऐसी है। वहाँ दो वर्ग हैं—हमारे जीवन में। चारों तरफ दोनों वर्गों में बँटे हुए लोग हैं। कुछ हैं, जो भोग की तरफ धक्का दे रहे हैं, कुछ हैं, जो दमन की तरफ धक्का दे रहे हैं। कुछ हैं, जो जीवन के विषाद से भरे हैं; और कह रहे है हैं : सब तोड़ डालो। और कुछ हैं, जो जीवन के उत्साह से भरे हैं और कह रहे हैं : सब भोग डालो। और उन दोनों के बीच में मनुष्य विक्षिप्त हुआ जाता है। और इन दोनों को अगर आप रोज बदलते रहे, तो एक कन्फ्यूजन, चित्त का खण्ड-खण्ड हो जाना, एक स्किजोफ्रेनिक, खण्डित चित्त की दशा पैदा होती है—जहाँ फिर कुछ भी नहीं सूझता, जहाँ कुछ ठीक नहीं मालूम पड़ता, कुछ गलत नहीं मालूम पड़ता। और कहाँ जायँ, और कहाँ न जायँ—एक पैर बायें चलता है, दूसरा दायें चलता है; एक आगे जाता है, दूसरा पीछे जाता है। जीवन अस्त-व्यस्त हो जाता है।

लेकिन हमारी भी अड़चन है, और वह अड़चन यह है कि इन दो के अतिरिक्त तीसरे का हमें कोई स्वर सुनाई नहीं पड़ता।

तीसरा एक स्वर है—और वह है : वासनाओं की प्रक्रिया का जागरूक साक्षीभाव से दर्शन। भोगी और त्यागी दोनों ही बँध जाते है, सिर्फ साक्षी मुक्त होता है।

यह जो आसुरी सम्पदा से भरा हुआ व्यक्ति है, वह कभी न पूर्ण होनेवाली कामनाओं का आसरा लेकर चलता है, इसलिए सदा दुःखी होता है, क्योंकि जो पूरा नहीं होनेवाला, उसके साथ चलने वाला दुःख पायेगा ही और सदा अतृप्त, सदा असन्तुष्ट रहता है और सदा अनुभव करता है : कुछ पाया नहीं; तो और दौड़ो, और दौड़ो। और वह कहीं भी पहुँच जाय—वह जो 'और' की आवाज है, वह चलती ही रहेगी।

'मोह से मिथ्या सिद्धान्तों को ग्रहण करके, भ्रष्ट आचरणों से युक्त हुए संसार में बर्तते हैं। तथा वे मरणपर्यंत रहनेवाली अनन्त चिन्ताओं को आश्रय किये हुए और विषय भोगों को भोगने में तत्पर हुए, इतना मात्र ही आनंद है—ऐसा मानने वाले है।'

जो भी छोटा-मोटा है, उच्छिष्ट मिल जाता है। इस भाग-दौड़ में, असन्तोष में, दुःख में जो थोड़ी-बहुत सुख की आभास जैसी झलक मिल जाती है, बस, आसुरी सम्पदवाला मानता है, इतना ही आनंद है, यही सब कुछ है।

आप भी सोचें : इतने दिन आप जिये, कम से कम इस जीवन के दिन का तो आपको स्मरण है ही। और जीवनों में जिये हैं, उसे छोड़ दो। इस सारे जीवन में आपको कोई सुख मिला है? अगर खोजबीन करेंगे, तो बड़ी मुश्किल होगी। जितनी सचेतता से खोजबीन करेंगे, उतना ही खोजना मुश्किल होगा कि कोई सुख मिला है। कभी-कभी शायद कोई झलक मिली हो, आभास लगा हो, इन्द्रधनुष जैसा कुछ दूर दिखाई पड़ा हो। हाथ में पकड़ने से खो जाता है इन्द्रधनुष। बस, दूर से थोड़ा दिखाई पड़ा हो, तो उतना ही सुख है, ऐसा मान कर हम अपने जीवन को ढोते हैं।

दैवी सम्पदा वाला व्यक्ति इतने सस्ते में राजी नहीं होता।

साधारणतः लोग कहते हैं कि दैवी सम्पदावाला व्यक्ति सन्तुष्ट होता है, लेकिन मैं आपसे कहता हूँ : दैवी सम्पदावाला व्यक्ति पहले तो बहुत असन्तुष्ट होता है। वह इतना असन्तुष्ट होता है कि आसुरी सम्पदावाले व्यक्ति भी उसके सामने संतुष्ट मालूम पड़ेंगे। क्योंकि आसुरी सम्पदा वाला कहता है, इतना ही सुख है; इस पर ही राजी है। दैवी सम्पदावाला कहता है : इसमें सुख कुछ भी नहीं है। यह दूर दिखाई पड़ने वाला इन्द्रधनुष है और हाथ में आते हैं पानी की बूँदें हाथ लगती हैं, और कुछ भी हाथ नहीं लगता। यहाँ सुख बिलकुल नहीं है।

तो आसुरी सम्पदावाला तो किसी तरह असन्तोष में ही थोड़ा-सा सन्तोष खोज लेता है। दैवी सम्पदावाला इसमें पूरी तरह असन्तोष पाता है। और इसी असन्तोष के कारण वह किसी नये आयाम में, एक नयी दिशा में, एक नये क्षितिज की खोज में निकलता है। वासनाओं में पाता है कि कुछ नहीं मिला। आभास भी झूठे थे। तो फिर निर्वासना में, वासना के अतीत—अतिक्रमण में उसकी यात्रा शुरू होती है।

दैवी सम्पदावाला व्यक्ति पहले तो संसार से पूर्ण असन्तुष्ट हो जाता है, क्योंकि वही उसकी परमात्मा की खोज का आधार है, वही स्रोत है। लेकिन आसुरी सम्पदावाला मानता है कि ठीक है, यह जो थोड़ा-सा सुख मिल रह है, बस, यही सुख है, इससे ज्यादा जीवन में पाने योग्य है भी नहीं, मिल भी नहीं सकता।

आपको मैं याद दिलाना चाहूँ, अनेक बार मेरे पास लोग आते हैं, वे कहते हैं, 'सन्तुष्ट हैं' और वे सोचते हैं कि बड़ी कीमती बात मुझसे कह रहे हैं। 'जो भी भगवान् ने दिया है, हम उससे राजी हैं।' भगवान् ने दिया क्या है उनको? लोग मेरे पास आते हैं, वे कहते हैं, 'सब ठीक है; पत्नी है, बच्चा है, सब ठीक चल रहा है। काम भी ठीक है, पैसा भी निकल आता है, रोटी-रोजी चल जाती है; हम सन्तुष्ट हैं।' ऐसे व्यक्ति यह सोच कर मुझसे ये बातें कहते हैं कि मैं शायद उनकी प्रशंसा करूँगा; कहूँगा कि बड़े धार्मिक व्यक्ति हैं। पर यह आसुरी सम्पदावाले व्यक्ति का लक्षण है। वह कहता है कि 'इतना ही सुख है, बस, इससे ज्यादा तो कुछ है भी नहीं।'

दैवी सम्पदावाला व्यक्ति तो प्रखर आँखों से जीवन को देखता है और पूरी तरह असन्तुष्ट हो जाता है। अगर यही जीवन है, तो वह इसी समय मरने को तैयार है। कुछ सार नहीं। लेकिन जैसे ही कोई व्यक्ति यह देखने में समर्थ होता है कि यह सब व्यर्थ है, उसकी आँखों का रस इस जगत् से अलग हो जाता है, उसकी आँखें मुक्त हो जाती हैं। वह दूसरे जगत् में अपनी आँखों को फैलाने के लिए समर्थ हो जाता है।

ध्यान, जो जगत् में लिप्त था, हट आता है और फिर ध्यान को दूसरे जगत् में ले जाना आसान हो जाता है।

परिपूर्ण असन्तुष्ट चेतना ही परमात्मा के परम सन्तोष को खोज सकती है।

'इसलिए आशारूप सैकड़ों फाँसियों से बँधे हुए और काम-क्रोध के परायण हुए विषय भोगों की पूर्ति के लिए अन्यायपूर्वक धनादिक बहुत से पदार्थों को संग्रह करने की चेष्टा करते हैं।'

और जो व्यक्ति भी अपने को नहीं खोज रहा है, वह जाने-अनजाने पदार्थ खोजेगा। खोज तो जारी रखनी ही पड़ेगी। खोज से बचना असम्भव है। कुछ न कुछ तो आप खोजेंगे ही। अगर स्वयं को न खोजेंगे, तो कुछ और खोजेंगे। और जो स्वयं को नहीं खोजेगा, उसके पास सिवाय पदार्थों की खोज के कुछ भी नहीं बचता।

इस जगत् में दो ही आयाम हैं। या तो मैं चेतना को खोजूँ या पदार्थ को खोजूँ। बस, दो ही इस जगत् के तल ह : पदार्थ है, चेतना है। अगर आप चेतना की खोज में नहीं हैं, तो क्या करेंगे?—तो फिर पदार्थ का संग्रह। आपकी जीवन ऊर्जा फिर धन इकट्ठा करने में, बड़े पद पर पहुँच जाने में, बड़ा साम्राज्य निर्मित करने में संलग्न हो जाएगी।

यह जो आसुरी सम्पदावाला व्यक्ति है, वह फिर पदार्थ इकट्ठे करने में लग जाता है। और पदार्थ का संग्रह समझ लेने जैसा है। उसके कुछ आधारभूत नियम हैं।

पहला : जो व्यक्ति पदार्थ का संग्रह करने में लगा हो, वह न्याय अन्याय का विचार नहीं कर सकता, क्योंकि पदार्थ किसी का भी नहीं है। जिस जमीन को आज आप अपना कह रहे हैं, कल वह किसी और की थी, परसों किसी और की थी; अगर आप यह बैठ कर सोचें कि जो मेरा नहीं, उस पर मैं कैसे कब्जा करूँ, तो फिर आप पदार्थ पर कब्जा कर ही नहीं सकते।

इसलिए पदार्थ को इकट्ठा करने वाला तो येनकेन प्रकारेण—कैसा भी हो इकट्ठा करने में लग जाता है। और पदार्थ इकट्ठा करना हो, तो दूसरे से छीनना पड़ता है। परिग्रह शोषण के बिना सम्भव नहीं है। पदार्थ इकट्ठा करना हो, तो दूसरे को वंचित करना पड़ता है। पदार्थ इकट्ठा करना हो, तो हिंसा करनी ही होगी—सूक्ष्म, स्थूल—लेकिन हिंसा करनी ही होगी।

पदार्थ इकट्ठा करना हो, तो दान, दया और करुणा से अपने को बचाना होगा—चाहे चोरी करनी पड़े, चाहे भीख माँगनी पड़े, कुछ भी उपाय करना पड़े।

एक दिन, एक स्टेशन पर मैं बैठा था, एक ट्रेन की प्रतीक्षा कर रहा था। और एक भिखारी ने आकर मुझसे भीख माँगी। चेहरे से वह आदमी पढ़ा-लिखा—ढंग से सुसंस्कृत मालूम होता था। तो मैंने उससे कहा कि 'बैठो, अपने सम्बन्ध में कुछ मुझे बताओ।' तो वह काफी प्रसन्न हो गया। मैं एक किताब रखे हुए बैठा पढ़ रहा था। ट्रेन लेट थी। तो उसने कहा, 'आप किताब पढ़ रहे हैं, तो आपसे मैं बात कर सकता हूँ। मैं भी कभी एक लेखक था; मैंने भी एक किताब लिखी थी।' मैंने उससे पूछा, 'कौन-सी किताब लिखी थी?' उसने बताया कि 'जीविका कमाने के बीस ढंग।' मैं थोड़ा चौंका और मैंने उससे पूछा कि 'फिर भी तुम भीख माँग रहे हो!' उसने कहा, 'हाँ, क्योंकि यह इक्कीसवाँ ढंग है, जो मैंने बाद में खोजा। और वे बीस तो असफल हो जायँ, मगर यह इक्कीसवाँ कभी असफल नहीं होता। यह बिलकुल राम-बाण है।'

एक आदमी चोरी कर रहा है, वह भी जो दूसरे का है, छीन रहा है। एक आदमी भीख माँग रहा है, वह भी चोरी का ही एक ढंग है, लेकिन ज्यादा कुशल ढंग है। वह दूसरे को इस तरह से फाँस रहा है कि दूसरा अगर न दे, तो आत्मग्लानि पैदा हो; अगर दे तो दुःख पाये।

तो आप यह मत सोचना कि जब भिखमंगा आपसे भीख माँगता है, और आप उसे भीख दे देते हैं, तो वह समझता है कि आप बड़े दानी हैं। वह यही समझता कि वह होशियार था, आप बुद्धू थे। जब आप भीख नहीं देते और बच जाते हैं; तभी वह सोचता है कि यह भी आदमी कुशल है। उसके मन में इज्जत आपकी तभी होती है, जब आप नहीं देते। देते हैं, तब तो वह जानता है: ठीक है। लेकिन वह स्थिति ऐसी पैदा करता है कि आपको अड़चन हो जाय, और दो पैसे के लिए उस अड़चन से निकलने को आप दो पैसा देना ही उचित समझेंगे।

चोर भी छीन रहा है, भिखारी भी छीन रहा है। जिसको हम व्यवसायी कहते हैं, जो दोनों के बीच है, वह भी छीन रहा है। और सबकी आंकाक्षा एक है: सम्पदा का ढेर लग जाय।

सम्पदा का कितना भी ढेर लग जाय, अन्ततः वह सम्पदा आपकी कब्र बनती है, अन्ततः सिवाय उसके नीचे दब कर मर जाने के और कुछ प्रयोजन नहीं है। लेकिन एक नियम समझने का है कि मनुष्य की जीवन ऊर्जा बिना खोज के नहीं रहस कती। जीवन ऊर्जा का स्वभाव है—खोज, सर्च। अगर आप कुछ भी नहीं खोज रहे हैं—आन्तरिक, तो आपको बाहर कुछ न कुछ खोजना ही पड़ेगा।

यह खोज तो तभी बाहर की बन्द हो सकती है, जब भीतर की खोज शुरू हो जाय। जैसे ही भीतर की तरफ चेतना मुड़नी शुरू होती है, बाहर की खोज अपने-आप खो जाती है। खो जाती है, इसलिए कि जब आपको बड़ी सम्पदा मिलनी शुरू हो गई। खो जाती है इसलिए कि अब असली सम्पदा मिलनी शुरू हो जाती है। खो जाती है इसलिए कि अब आपको खुद हँसी आयेगी कि मैं भी किन बच्चों के खेल में उलझा था।

धन बच्चों के खेल से ज्यादा नहीं है। लेकिन, चूँकि बूढ़े भी उसे खेल रहे हैं, हमें खयाल नहीं आता। खयाल नहीं आता, क्योंकि बूढ़े भी हमारे बच्चों से ज्यादा नहीं हैं। सिर्फ शरीर से बूढ़ा हो जाना कोई बहुत मूल्य नहीं रखता। वृत्ति तो बचपन की ही बनी रहती है।

बच्चे डाक की टिकटें इकट्ठी कर रहे हैं, तितलियाँ इकट्ठी कर रहे हैं, कंकड़-पत्थर जोड़ रहे हैं। बूढ़े हँसते हैं कि क्या पागलपन कर रहे हैं। लेकिन डाक की टिकट में और हजार रुपये के नोट में कोई फर्क है? दोनों ही छापाखाने के खेल हैं। और दोनों पर लगी मुहर केवल सामाजिक स्वीकृति है।

बच्चे टिकटें इकट्ठी कर रहे हैं, या सिगरेट के लेबल इकट्ठी कर रहे हैं; बूढ़े नोट इकट्ठी कर रहे हैं! बाकी फर्क नहीं है। तो यह जो बूढ़ा नोट इकट्ठे कर रहा है, यह बस शरीर से बूढ़ा हो गया है; भीतर इसका बचपनापन कायम है; भीतर यह अभी भी जुवेनाइल है, अभी भी बाल-बुद्धि है।

यह जो आसुरी सम्पदावाला व्यक्ति है, इसकी बाल-बुद्धि नष्ट होती नहीं। यह मरते वक्त भी बाल-बुद्धि ही मरता है। मरते वक्त भी उसकी चिन्ता पदार्थ के लिए होती है। जो समझदार है, वह शीघ्र ही पदार्थ की व्यर्थ दौड़ से अपने को मुक्त कर लेता है और परमात्मा की खोज में निकल जाता है।

पदार्थ की खोज बाहर है, परमात्मा की खोज भीतर है। पदार्थ की खोज दूसरों से खोज कर और परमात्मा की खोज अपने को निखार कर। पदार्थ की खोज में दूसरे का शोषण, परमात्मा की खोज में आत्मा की साधना।

और दो ही खोज हैं। और यह ध्यान रहे कि दोनों खोज कोई सोचता हो कि मैं एक साथ साधूँ, तो वह गलती में है। इसका यह मतलब नहीं है कि आप संसार को छोड़ कर भाग जायँ तो ही परमात्मा को खोज सकते हैं। इसका यह भी मतलब नहीं है कि आप परमात्मा को खोजें तो आप दीन-दरिद्र, भिखारी ही हो जाएँगे। यह कोई मतलब नहीं है। लेकिन जो परमात्मा को खोजता है, पदार्थ पर उसकी पकड़ नहीं रह जाती। पदार्थ उसके पास भी पड़ा हो, तो भी उसकी पकड़ नहीं रह जाती। पदार्थ उससे छिन भी जाय, तो वह छाती पीट कर रोता नहीं। पदार्थ हो तो ठीक; पदार्थ न हो तो ठीक। वह उसका लक्ष्य नहीं है। और अगर भीतर की खोज के लिए सब छोड़ना पड़े, तो वह तैयार है। भीतर की खोज के लिए सब खो जाय, तो भी वह तैयार है। वह पूरा दाँव बाहर के जगत् का, भीतर के लिए लगाने के लिए सदा उत्सुक है। उस क्षण की प्रतीक्षा में है, जब वह सब गँवा देगा, स्वयं को बचा लेगा।

जीसस ने कहा है: जो स्वयं को बचाना चाहते हैं, उन्हें सब गँवाने की तैयारी चाहिए; और जो सब बचाने को उत्सुक हैं, वे स्मरण रखें कि सब तो बच जाएगा, लेकिन स्वयं खो जाएँगे।

जगत् में एक सौदा है: या तो आप पदार्थ बचा लें—अपने को बेचकर। तो आप जो भी कमाते हैं, वह अपने को बेच-बेच कर कमाते हैं। आत्मा के टुकड़े निकाल-निकाल कर बेच देते हैं। तिजोरी भरती जाती है, आत्मा खाली होती जाती है। एक दिन तिजोरी पास में होती है, आप नहीं होते। यही समृद्ध व्यक्ति की दरिद्रता है, यही समृद्ध व्यक्ति की भीतरी दीनता है, भिखमंगापन है।

मैंने सुना है: एक भिखारी एक दिन अमेरिका के अरबपति एन्ड्रू कार्नेगी के पास गया। सुबह ही सुबह जाकर उसने बड़ा शोरगुल मचाया। एन्ड्रू कार्नेगी खुद बाहर आया और उसने कहा, 'इतना शोरगुल मचाते हो! और भीख माँगनी हो तो वक्त से माँगने आओ; अभी सूरज भी नहीं निकला है, अभी मैं सो रहा था।'

उस भिखारी ने कहा, 'रुकिए; अगर मैं आपके व्यवसाय के सम्बन्ध में कोई सलाह

हूँ, तो आपको अच्छा लगेगा?' एन्ड्रू कार्नेगी ने कहा, 'बिलकुल अच्छा नहीं लगेगा। तुम सलाह दे भी क्या सकते हो—मेरे व्यवसाय के सम्बन्ध में; तुम्हारा कोई अनुभव नहीं है।' उस भिखारी ने कहा, 'आप भी मत दें सलाह। आप को भी कोई अनुभव नहीं है। जब तक हम उत्पात न करें, तब तक कोई देता है? वक्त से आने पर आपसे मिलना ही मुश्किल था। सेक्रेटरी होता है, पहरेदार होते हैं। अभी बेवक्त आया हूँ, तो सीधा आपसे मिलना हो गया। सलाह आप मुझको मत दें, मेरा पुराना धंधा है, और बपौती है, बाप-दादे भी यही करते रहे हैं।

एन्ड्रू कार्नेगी ने अपने संस्मरणों में लिखा है कि मैं बहुत खुश हुआ उस आदमी की बात से। मैंने उससे कहा, 'तुम क्या चाहते हो।' उस आदमी ने कहा कि 'मैं ऐसे मुफ्त कभी किसी से कुछ लेता नहीं। मैं कोई भिखारी नहीं हूँ। लेकिन एक काम मैं कर सकता हूँ, जो आप नहीं कर सकते, और अगर कुछ दाँव पर लगाने की इच्छा हो, तो बोलिए।'

एन्ड्रू कार्नेगी ने लिखा है कि मुझे भी रस लगा कि वह क्या कह रहा है। कौन-सा काम है, जो वह कर सकता है और मैं नहीं कर सकता। तो मैंने उससे कहा, 'अच्छा, सौ डॉलर दाँव पर। वह कौन सा काम है?' उसने कहा, 'मैं सर्टिफिकेट ला सकता हूँ कि मैं भिखारी हूँ, पर आप सर्टिफिकेट नहीं ला सकते।'

एन्ड्रू कार्नेगी ने अपने संस्मरण में लिखा है, कि सौ डॉलर मैंने उसे दिये, लेकिन फिर भी मैं सोचता रहा कि 'सर्टिफिकेट मैं ला सकूँ या न ला सकूँ, भिखारी तो मैं भी हूँ। अरबों रुपये मेरे पास हैं, तो इससे क्या फर्क पड़ता है; भीख तो जारी है, अभी भी माँग तो जारी है अभी मैं खोज तो रहा हूँ। कोई मुझे सर्टिफिकेट नहीं देगा, क्योंकि अगर मैं भिखारी हूँ, तो इस जगत् में कोई भी समृद्ध नहीं है।' दस अरब रुपये छोड़कर एन्ड्रू कार्नेगी मरा है, पर उसने लिखा है कि भिखारी तो मैं हूँ, उस आदमी ने बात तो ठीक ही कही। क्योंकि अभी भी मेरी माँग है, आकांक्षा है। मेरा भिक्षा का पात्र अभी भी हाथ में है। अभी भी मुझे कुछ मिल जाय, तो मैं सब खोने को तैयार हूँ। कुछ और मिल जाय तो अपने को और लगाने को तैयार हूँ।

एन्ड्रू कार्नेगी जब मरा तो मरने के दो दिन पहले जो आदमी उनकी जीवन-कथा लिख रहा था, उससे उसने पूछा कि 'अगर तुम्हें परमात्मा यह मौका दे, तो तुम एन्ड्रू कार्नेगी के सेक्रेटरी हो कर उसकी आत्म-कथा लिखना पसन्द करोगे, या तुम एन्ड्रू कार्नेगी बनना पसन्द करोगे?' तो उस सेक्रेटरी ने कहा, 'क्षमा करें; आप बुरा न मानें; एन्ड्रू कार्नेगी बनना मैं कभी पसन्द नहीं करूँगा। मैं ठीक हूँ कि आपकी आत्म-कथा लिख रहा हूँ।' तो एन्ड्रू कार्नेगी ने कहा, 'इसका क्या कारण है?' तो उसने

कहा कि 'देखें, मैं आता हूँ, ग्यारह बजे; पाँच बजे मेरी छुट्टी हो जाती है। आपके दफ्तर के क्लर्क आते हैं दस बजे, पाँच बजे उनकी छुट्टी हो जाती है। चपरासी आता है नौ बजे, पाँच बजे उसकी भी छुट्टी हो जाती है। आपको कोई सुबह सात बजे से रात ग्यारह बजे तक दफ्तर में देखता हूँ। चपरासी से गई बीती हालत आपकी है। एन्ड्रू कार्नेगी भगवान् मुझे कभी न बनाये। वह मैं नहीं होना चाहता।'

एन्ड्रू कार्नेगी ठीक ही कह रहा है कि मैं भी भिखारी तो हूँ ही।

सब पाकर भी अगर आत्मा न मिले, तो भिखमंगेपन का अनुभव होगा। और सब खो जाय, पर आत्मा बच जाय, तो भीतर के सम्राट् का पहली दफा अनुभव होता है।

आज इतना ही।

असुर, देव और मुक्त • ऊर्ध्वगमन और अधोगमन
आसुरी व्यक्ति की आत्म-वंचनाएँ

छठवाँ प्रवचन

श्री रजनीश आश्रम, पूना, रात्रि, दिनांक ४ अप्रैल, १९७४
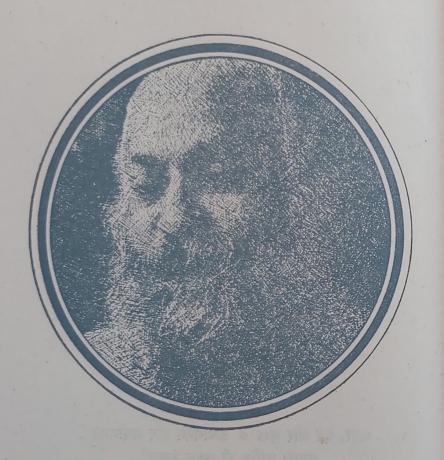
इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम्।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम्॥ १३॥

असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान्सुखी॥ १४॥

आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः॥ १५॥

अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजाल समावृताः।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ॥ १६॥

और उन आसुरी पुरुषों के विचार इस प्रकार होते हैं—कि मैंने आज यह तो पाया है और इस मनोरथ को प्राप्त होऊँगा तथा मेरे पास यह इतना धन है और फिर भी यह भविष्य में और अधिक होवेगा।

तथा वह शत्रु मेरे द्वारा मारा गया और दूसरे शत्रुओं को भी मैं मारूँगा। मैं ईश्वर अर्थात् ऐश्वर्यवान हूँ और मैं सब सिद्धियों से युक्त एवं बलवान और सुखी हूँ।

मैं बड़ा धनवान और बड़े कुटुम्बवाला हूँ; मेरे समान दूसरा कौन है! मैं यज्ञ करूँगा, दान देऊँगा, हर्ष को प्राप्त होऊँगा—इस प्रकार के अज्ञान से आसुरी मनुष्य मोहित हैं।

वे अनेक प्रकार से भ्रमित हुए चित्तवाले अज्ञानीजन मोहरूप जाल में फँसे हुए एवं विषय भोगों में अत्यंत आसक्त हुए महान अपवित्र नरक में गिरते हैं।

पहले कुछ प्रश्न।

● पहला प्रश्न : गीता के इस अध्याय में देवों और असुरों के गुण बताये गये। हम असुरों से तो धरती पटी पड़ी है, किन्तु देव तो करोड़ों में कोई एक होता है; ऐसा क्यों है?

जीवन में एक अनिवार्य संतुलन है : जितनी यहाँ बुराई है, उतनी ही यहाँ भलाई है; जितना यहाँ अँधेरा है, उतना ही यहाँ प्रकाश है; जितना यहाँ जीवन है, उतनी ही यहाँ मृत्यु है। दोनों में से कोई भी कम-ज्यादा नहीं हो सकते। दोनों की बराबर मात्रा चाहिए, तो ही जीवन चल पाता है। गाड़ी के दो चाक हैं।

संसार चल रहा है; चलता रहा है, चलता रहेगा। उसके दोनों चाक बराबर हैं इसीलिए। लेकिन फिर भी प्रश्न सार्थक है, क्योंकि साधारणतः देखने पर हमें यही दिखाई पड़ता है कि असुरों से तो पृथ्वी भरी है; देव कहाँ हैं?

समझने की कोशिश करें।

हमें वही दिखाई पड़ता है, जो हम हैं। पृथ्वी असुरों से भरी दिखाई पड़ती है, वह हमारी अपनी आसुरी वृत्ति का दर्शन है। देवों को तो हम पहचान भी नहीं सकते; वह दिखाई भी पड़े—मौजूद भी हो—तो भी हम उसे पहचान नहीं सकते; क्योंकि जब तक दिव्यता की थोड़ी झलक हमारे भीतर न जगी हो, तब तक दूसरे के भीतर जागे हुए देव से हमारा कोई सम्बन्ध निर्मित नहीं होता।

जो हमें दिखाई पड़ता है, वह हमारी ही आँखों का फैलाव है; वह हमारी ही दृष्टि का फैलाव है। हमें वह नहीं दिखाई पड़ता—जो है, बल्कि वही दिखाई पड़ता है—जो हम हैं।

दैवी सम्पदा से भरे व्यक्ति को इस जगत् में असुर कम और देवता ज्यादा दिखाई

पड़ने लगते हैं। सन्त को बुरा आदमी दिखाई पड़ना बन्द हो जाता है। हमें जो बुरा दिखाई पड़ता है, संत को वही...। उसकी व्याख्या बदल जाती है। और व्याख्या के अनुसार—जो हमें दिखाई पड़ता है—उसका रूप बदल जाता है। लेकिन संत को दिखाई पड़ने लगता है : सभी भले हैं। असन्त को दिखाई पड़ता है : सभी बुरे हैं। दोनों की बातें अधूरी हैं।

जब आप परिपूर्ण साक्षिभाव को उपलब्ध होते हैं—जहाँ न तो आप अपने को जोड़ते हैं साधुता से, न जोड़ते हैं असाधुता से; जहाँ बुरे और भले दोनों से आप पृथक् हो जाते हैं, उस दिन आपको दिखाई पड़ता है कि जगत् में दोनों बराबर हैं। और बराबर हुए बिना जगत् चल नहीं सकता, क्षण भर भी नहीं जी सकता।

तो यदि हमें दिखाई पड़ती है पृथ्वी—असुरों से भरी, तो इसका केवल एक ही अर्थ लेना कि हम आसुरी सम्पदा में जी रहे हैं। इसका कोई दूसरा और अर्थ नहीं है। पृथ्वी से इसका कोई सम्बन्ध नहीं है।

मुल्ला नसरुद्दीन ने एक रात भाँग पी ली। भांग के नशे में जमीन घूमती हुई दिखाई पड़ने लगी। सुबह उठ कर जब वह होश में आ गया, तो उसने कहा, 'मैं समझ गया। जिस आदमी ने यह सिद्ध किया कि पृथ्वी घूमती है, वह भंगेड़ी रहा होगा!'

हमारा अनुभव ही हम फैलाते हैं, दूसरा कोई उपाय भी नहीं है। जो हमारे भीतर है, उसके माध्यम से ही हम दूसरे को देखते हैं। तो दूसरे की वास्तविक स्थिति हमें दिखाई नहीं पड़ती, हमारा ही मन उस पर छा जाता है; हमारी छाया ही उसे आच्छादित कर लेती है। फिर जो हम देखते हैं, वह अपने ही मन का फैलाव है; दूसरा व्यक्ति जैसे परदा बन जाता है। हमारा ही चित्त उस परदे पर हमें दिखाई पड़ता है। दूसरे में हम स्वयं को ही देखते हैं। दूसरा जैसे दर्पण है।

तो अगर लगता हो कि सारी पृथ्वी असुरों से भरी है, तो जानना कि आपका चित्त आसुरी संपदा से भरा है। इसके अतिरिक्त यह बात किसी और चीज का लक्षण नहीं है। इससे पृथ्वी के सम्बन्ध में कोई खबर नहीं मिलती, सिर्फ आपके सम्बन्ध में खबर मिलती है। आपकी आँखों के सम्बन्ध में खबर मिलती है; आँखों के पीछे छिपे मन के सम्बन्ध में खबर मिलती है।

और अगर आपको कभी-कभी कोई एकाध देव भी दिखाई पड़ जाता है, तो उसका केवल इतना ही अर्थ है कि आपके भीतर की दैवी संपदा भी थोड़ी-बहुत सक्रिय है। वह बिलकुल मर नहीं गई है; जीवंत है। उसकी भी कोई एक किरण इस अँधेरे में मौजूद है, इसलिए कभी-कभी आप झलक दूसरे में उसकी भी देख लेते हैं।

जैसे-जैसे आप दैवी सम्पदा में लीन होंगे, वैसे जगत् आपको दिव्य मालूम पड़ने

लगेगा। लेकिन ध्यान रहे, योग की जो परम दशा है, वहाँ दोनों ही भावनाओं से मुक्त हो जाना है। जिस दिन जगत् आपको उसकी वस्तुतः स्थिति में दिखाई पड़े, जिस दिन आपके भीतर से कोई भाव जगत् पर न फैले, उस दिन आपको अनूठा अनुभव होगा कि जगत् में सभी चीजें संतुलित हैं। यहाँ बुरा और भला बराबर है। यहाँ पापी और पुण्यात्मा बराबर हैं। यहाँ ज्ञानी और अज्ञानी बराबर हैं। उनकी मात्रा सदा ही बराबर है। उस मात्रा में जरा भी विचलन हुआ कि जगत् नष्ट हो जाता है। अन्यथा वह संतुलन बना रहता है।

जिस दिन आपको ऐसा दिखाई पड़ जाएगा—यह संतुलन की अवस्था अनुभव में आ जाएगी, उस दिन न तो आप जगत् को बुरा कहेंगे, न भला कहेंगे। उस दिन बुरे आदमी को भी बुरा नहीं कहेंगे, भले आदमी को भी भला नहीं कहेंगे। उस दिन आप कहेंगे : बुरा और भला एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। उस दिन आप बुरे को मिटाना नहीं चाहेंगे, भले को बचाना नहीं चाहेंगे; क्योंकि उस दिन आप जानेंगे कि बुरा मिटे, तो भला भी मिटता है; भला बचे, बुरा भी बचता है।

लाओत्से ने कहा है : जब दुनिया धार्मिक थी, तो न कोई भला आदमी था, न कोई बुरा आदमी था। जब आप भी परम धार्मिक होंगे, तो न कोई बुरा रह जाएगा, न कोई भला रह जाएगा। तब बुरा और भला एक जागतिक संयोग होगा। जैसे हाइड्रोजन और ऑक्सीजन से मिलकर पानी बनता है, वैसे बुरे और भले से मिलकर संसार बनता है। और वह मात्रा सदा बराबर है।

जगत् एक संतुलन है। पर हमें संतुलन दिखाई नहीं पड़ता, क्योंकि हम संतुलित नहीं हैं। हम साक्षी होंगे तो संतुलित होंगे।

तो जीवन में तीन दिशाएँ हैं। एक दिशा है, कि अपने भीतर जो आसुरी सम्पदा है, उसको हम अपना स्वभाव समझ लें, तो फिर सारा जगत् बुरा है। दूसरी सम्भावना है कि हमारे में जो दैवी सम्पदा है, हम उसके साथ अपने को एक समझ ले, तो सारा संसार भला है। और एक तीसरी परम संभावना है, कि हम इन दोनों गुणों से—इस द्वैत से अपने को मुक्त कर लें और साक्षी हो जायँ, तो फिर जगत् बुरे और भले का संयोग है, ठंडे और गरम का संतुलन है। और जिस दिन आप इस तरह चुनावरहित, विकल्परहित भीतर दोनों सम्पदाओं में से किसी को भी न चुनेंगे, उसी दिन आपकी परम मुक्ति है।

हमारे पास तीन शब्द हैं। एक शब्द नरक है। नरक का अर्थ है—जिसमें हमने अपने को आसुरी सम्पदा से एक कर लिया। दूसरा शब्द स्वर्ग है। स्वर्ग का अर्थ है : जिसमें हमने अपने को दैवी सम्पदा से एक कर लिया। और तीसरा शब्द मोक्ष है। मोक्ष का अर्थ है : अपने को दोनों संपदाओं से मुक्त कर लिया।

देव भी मुक्त नहीं है, वह भी बँधा है, उसके बंधन प्रीतिकर हैं। उसकी जंजीरें सोने की हैं। उसका कारागृह बहुमूल्य है; उसका कारागृह बहुत सजा है; उसका जीवन आभूषणों से लदा है—लेकिन लदा है—वह निर्भार नहीं है।

बुरा आदमी लोहे की जंजीरों से बँधा है; अच्छा आदमी सोने की जंजीरों से बँधा है। लेकिन बंधन में जरा भी कमी नहीं है। सिर्फ भारत ने एक अनूठे शब्द का प्रयोग किया है—मोक्ष। दुनिया के किसी दूसरे धर्म ने, दुनिया की किसी जाति ने मोक्ष की कल्पना नहीं की है। स्वर्ग और नरक सारी दुनिया को पता है। इसलाम या ईसाइयत, या यहूदी, स्वर्ग और नरक से परिचित हैं। मोक्ष की धारणा एकांतिक रूप से भारतीय है।

मोक्ष का अर्थ है—ऐसा व्यक्ति, जो नरक से तो मुक्त हुआ ही, स्वर्ग से भी मुक्त है। जिसने बुरे को तो छोड़ा ही, भले को भी छोड़ा।

इसे समझना बहुत कठिन है, क्योंकि हमें लगता है कि भले को छोड़ने का सवाल ही नहीं है, लेकिन तब हमें जीवन की गहरी व्यवस्था का कोई अनुभव नहीं है।

भले के पीछे बुरा तो छिपा ही रहेगा। अगर आप कहते हैं कि मैं सत्य ही बोलता हूँ—सदा सत्य ही बोलूँगा, और सदा सत्य को पकड़े रहूँगा, तो एक बात पक्की है : आपके भीतर झूठ भी उठता है। नहीं तो आपको सत्य का पता कैसे चलेगा? सत्य को आप बचायेंगे कैसे ? सत्य को सम्हालेंगे कैसे ?

झूठ भीतर मौजूद है, उसके विरोध में ही सत्य उठता है।

अगर आप कहते हैं : मैं ब्रह्मचर्य का साधक हूँ, मैं ब्रह्मचर्य को पकड़े रहूँगा, मैं कभी ब्रह्मचर्य को छोड़ूँगा नहीं, तो उसका अर्थ है : कामवासना आपके भीतर लहरें देती हैं। जिसके भीतर कामवासना समाप्त हो गई, उसको ब्रह्मचर्य का पता भी नहीं चलेगा।

जिसकी बीमारी बिलकुल मिट गई, उसे स्वास्थ्य का भी पता नहीं चलेगा। इसलिए जब आप बीमार पड़ते हैं और स्वस्थ होते हैं, तब आपको स्वास्थ्य की थोड़ी-सी झलक मिलती है। बीमारी में गिरने के बाद जब आप पहली दफे स्वस्थ होना शुरू होते हैं, तब आपको पता चलता है—स्वास्थ्य क्या है। अगर आप सदा ही स्वस्थ रहें, तो आपको स्वास्थ्य भूल जाएगा; उसका आपको कोई स्मरण नहीं रहेगा।

दुःख के कारण सुख का पता चलता है; बुरे के कारण भले का पता चलता है।

मोक्ष का अर्थ है, अब मेरे दोनों ही बन्धन न रहे; अब मैं मुक्त हूँ; मेरा कोई चुनाव नहीं; न यह सम्पदा मेरी है, न वह सम्पदा मेरी है। संपदाएँ ही मैंने छोड़ दीं। यह परमदशा है। यह परमहंस की अवस्था है।

अभी जहाँ आप खड़े हैं, अगर जगत् आपको बुरा लगे, तो समझना कि आसुरी संपदा आपकी आँखों पर छाई है; अगर जगत् अच्छा लगे, तो समझना कि दैवी

संपदा ने आपको घेरा ह। जगत् दोनों लगे और दोनों में संतुलन दिखाई पड़े, तो समझना कि साक्षी के स्वर का जन्म हुआ है।

उस तीसरे की खोज जारी रखनी है। जब तक वह न हो जाय, तब तक समझना कि अभी हम धर्म के मन्दिर के बाहर ही भटकते हैं, अभी हमारा भीतर प्रवेश नहीं हुआ है।

● दूसरा प्रश्न : आपने कहा कि मनुष्य दैवी और आसुरी सम्पदा बराबर मात्रा में लेकर पैदा होता है, तब ऐसा क्यों है कि इस जगत् में आसुरी सम्मदा ही अधिक फूलती-फलती नजर आती है! दैवी सम्पदा की फसल इतनी क्यों है?

आसुरी सम्पदा फूलती-फलती नजर आती है, क्योंकि वही हमारी कामना है। एक चोर धन को इकट्ठा कर लेता है, प्रतिष्ठा बना लेता है; हमारे मन में काँटा चुभता है। चाहते तो हम भी इसी तरह का महल, इसी तरह का धन, इसी तरह की पद-प्रतिष्ठा हैं। चोरी करने की भी हिम्मत नहीं जुटा पाते हैं और चोर ने जो जुटा लिया है, उसकी भी आकांक्षा मन में है; उससे मन को चोट लगती है। उससे मन कहता है कि 'चोर फूल रहा है। हम साधु हैं और फूल फल नहीं रहे हैं।' अगर आप साधु हैं, तो आपको दिखाई पड़ेगा कि चोर दुःख पा रहा है। अगर आप असाधु हैं, तो दिखाई पड़ेगा कि चोर सफल हो रहा है।

दुनिया में दो तरह के चोर हैं—बड़ी मात्रा में एक वे, जो चोरी की हिम्मत कर लेते हैं; और एक वे, जो चोरी की हिम्मत नहीं करते, सिर्फ विचार करते हैं।

मेरे पास लोग आते हैं, वे कहते हैं : हम अपना जीवन सन्तोष से बिताते हैं; बुरा काम नहीं करते, किसी को चोट नहीं पहुँचाते, फिर भी असफलता हाथ लगती है। और देखें, फलाँ आदमी ब्लेंकमार्केटिंग कर रहा है, स्मगलिंग कर रहा है, कि चोर है, बेईमान है, धोखाधड़ी कर रहा है—और सफल हो रहा है।

उसकी सफलता आपको सफलता दिखाई पड़ती है, क्योंकि आप भी वैसी ही सफलता चाहते हैं। अगर सच में ही आपका साधु-चित्त होता, तो आपको उस आदमी की पीड़ा भी दिखाई पड़ती। भला उसने महल खड़ा कर लिया हो, लेकिन महल के भीतर वह जिस संताप से गुजर रहा है, वह आपको दिखाई पड़ता। उस संताप से आपको कोई प्रयोजन नहीं है। उसकी भीतर पीड़ा से आपको कोई प्रयोजन नहीं है। उसका बाहर जो ठाठ है, वह आपको दिखाई पड़ रहा है, क्योंकि बाहर का ठाठ आप भी चाहते हैं! जो उसने पा लिया है, वह आप नहीं पा सके, इससे मन में काँटा चुभता है। इसलिए वह सफल लगता है, और स्वयं आप असफल लगते हैं।

सिर्फ बुरा आदमी ही बुरे आदमी की सफलता को सफलता मान सकता है। भले

आदमी को तो दया आयेगी; भले आदमी को बुरे आदमी पर दया आयेगी, क्योंकि वह उसके भीतर देखेगा, झाँकेगा, और पायेगा कि उसने धन तो इकट्ठा कर लिया, स्वयं को खो दिया। वह पायेगा कि उसने सम्पदा तो इकट्ठी कर ली, लेकिन शांति नष्ट हो गई। वह पायेगा : उसके पास साधन तो काफी इकट्ठे हो गये, लेकिन वह खुद भटक गया है। उसके जीवन की सफलता साधु-चित्त व्यक्ति को आत्मघात—जैसी मालूम पड़ेगी। उसने अपने को सड़ा डाला, उसने अपने को बेच लिया।

लेकिन हमें हो सकता है, दिखाई पड़े कि बुरा आदमी सफल हो रहा है। रोज चारों तरफ लोगों को दिखाई पड़ता है : बुरे आदमी सफल हो रहे हैं। बुरा आदमी सफल हो नहीं सकता। और अगर सफल होता दिखाई पड़े, तो समझना कि आपकी सफलता की व्याख्या में कहीं कोई भ्रान्ति है। बुरा आदमी तो असफल होगा ही।

मैंने सुना है : सिकंदर अपने साम्राज्य को बढ़ाता हुआ नील नदी के किनारे पहुँचा। रास्ते में उसने न-मालूम कितनी सीमाएँ तोड़ीं, कितने राज्य नष्ट किये, कितनी सेनाओं को पराजित किया, लेकिन नील नदी के किनारे पहुँच कर उसको बड़े अचंभे का अनुभव हुआ। जगह-जगह उसे प्रतिरोध मिला, टक्कर मिली। लोग हारे, तो भी, आखिरी दम तक लोग लड़े। लेकिन नील नदी के किनारे जब वह आया तो उसे स्वागत मिला—वन्दनवार, फूलों की वर्षा, निमन्त्रण, उत्सव, कोई लड़ने का कोई सवाल ही नहीं! वह चकित भी हुआ, हैरान भी हुआ।

जिस पहले नगर में उसने प्रवेश किया, नगर के लोगों ने पूरी सिकंदर की फौजों को निमन्त्रण दिया—रात्रि-भोज का आयोजन किया। सुन्दरतम भोजन, शराब, नृत्य-संगीत की व्यवस्था की गई। सिकन्दर चकित भी था, हैरान भी था : यह कौन-सा ढंग है—दुश्मन के प्रवेश पर स्वागत करने का! थोड़ा लज्जित भी था। क्योंकि वे तलवार लेकर खड़े होते, तो सिकदर उन्हें जीत लेता। लेकिन वे प्रेम लेकर खड़े हुए, तो जीतना मुश्किल मालूम पड़ेगा।

जब उसके सामने भोजन की थाली लायी गयी, तो वह एकदम नाराज हो गया; उसने जोर से घूंसा मारा टेबल पर और कहा कि 'यह क्या है? मेरा मजाक किया जा रहा है?' क्योंकि थाली में सोने की रोटी थी, हीरे-जवाहरातों की सब्जियाँ थीं। सिकन्दर ने कहा कि 'तुम मूढ तो नहीं हो? शक तो मुझे तभी हुआ, जब मैंने गाँव में प्रवेश किया कि यह पागलों का गाँव है, क्योंकि तुम लड़े नहीं, उलटे तुमने स्वागत किया। हम जीतने आये हैं; तुमने हमें फूल मालाएँ पहनाईं। शक तो मुझे तभी हुआ; लेकिन अब बिलकुल पक्का हो गया कि तुम्हारे दिमाग खराब हैं। सोने की रोटी खाई नहीं जाती!'

तो एक बूढ़े आदमी ने, जो गाँव का सर्वाधिक बूढ़ा था, उसने कहा, 'अगर गेहूँ की

रोटी ही खानी थी, तो वह तो आपको अपने घर ही मिल जाती। हम सोचे कि इतनी तकलीफ उठा कर आ रहे हैं, तो सोने की रोटी की तलाश होगी!'

वह जो चोर है, लुटेरा है, बदमाश है, आपको उसकी सोने की रोटी दिखाई पड़ती है, लेकिन सोने की रोटी कोई खा तो पा नहीं सकता, भीतर भूखा मरता है। और आपको सोने की रोटी में सफलता दिखाई पड़ती है, क्योंकि आकांक्षा वही आपकी भी है; आप वही खुद भी चाहते हैं।

जो हम चाहते हैं, उससे ही हमारी सम्पदा का पता चलता है। अगर चोर आपको सफल होता दिखाई पड़ता है, तो आप चोर हैं। भला आपने कभी चोरी न की हो। अगर आपको चोर सफल होता हुआ मालूम होगा, तो साधु आपको असफल होता हुआ मालूम होगा। तो आप दया कर सकते हैं साधु पर। ईर्ष्या आपकी चोर से है। साधु को आप कह सकते हैं कि भोला-भाला है, जाने भी दो। समझ इसकी कुछ है नहीं। लेकिन ईर्ष्या आपकी चोर से है, प्रतियोगिता चोर से है।

पहली बात तो यह समझ लें कि बुराई कभी भी सफल नहीं होती, सफल होती दिखाई पड़ सकती है। देखने में भूल है, भ्रान्ति है। भलाई सदा सफल होती है, असफल होती दिखाई पड़ सकती है; क्योंकि बुराई की सफलता बाहर-बाहर है, भलाई की सफलता अन्तरिक है।

इस जगत् में जिन्होंने थोड़ा भी आनन्द जाना है, उन्होंने भलाई के कारण जाना है। जिन्होंने महा दुःख झेला है, उन्होंने बुराई के कारण झेला है।

अगर हम हिटलर और चंगेज और तैमूर के हृदय को उघाड़ कर देख सकें, तो महा नरक का दर्शन होगा। लेकिन इतिहास में नाम उनके हैं; सदा रहेंगे। आप भी सोच सकते हैं कि वे सफल हुए हैं; बड़े साम्राज्य उन्होंने खड़े किए हैं। तो आप भी सोच सकते हैं : वे सफल हुए।

वस्तुतः जो सफल हुए हैं इस जमीन पर, शायद उनका नाम भी इतिहास में नहीं है, उनके नाम का आपको पता भी नहीं है।

कौन सफल होता है जीवन में?—जिसे शान्ति का अनुभव हो जाय, जिसे आनन्द की प्रतीति हो जाय, जिसे समाधि की झलक मिल जाय।

अगर मुझसे पूछें सफलता की परिभाषा, तो समाधि सफलता की परिभाषा है। जिन्हें समाधि का थोड़ा रस आ जाय, जो नाच उठें समाधि में; जिनका हृदक पुलकित हो उठे समाधि में, वे ही केवल सफल हैं।

और बुरा कभी समाधिस्थ नहीं हो सकता। बुरा तो संतप्त ही होगा, चिन्तित होगा, उसका मन धीरे-धीरे और नारकीय, और नारकीय होता जाएगा।

तो पहली बात तो यह कि आसुरी सम्पदा फूलती-फलती दिखाई पड़ती है, क्योंकि

उसी सम्पदा की चाह हमारे भीतर है। आसुरी सम्पदा कभी फूली-फली नहीं है। जिनके मन में दैवी सम्पदा की चाह है, वे हमेशा देखेंगे कि आसुरी सम्पदा सदा भटकी है, दुःखी हुई है; कभी फूली-फली नहीं, सदा नष्ट हुई है।

और दूसरी बात, दैवी सम्पदा की फसलता इतनी दुर्लभ क्यों है? दुर्लभ इसलिए है कि जीवन के कुछ नियम समझ लें तो बात खयाल में आ जाय।

एक, कि बुरा करने के लिए आपको कुछ भी करना नहीं पड़ता, वह ढाल है। पानी को बहा दिया, पानी अपने आप गड्ढों में चला जाता है। गड्ढों में जाने के लिए पानी को कुछ करना नहीं पड़ता। पहाड़ पर चढ़ना हो तो बड़ी कठिनाई है। फिर पानी को चढ़ाने का आयोजन करना पड़ता है। आयोजन में श्रम होगा। आयोजन में असफलता भी हो सकती है।

बुरा ढलान है। बुरे का मतलब यह है कि जो हमसे नीचे है। भले का अर्थ है कि जो हमसे ऊपर है। बुरे का अर्थ है : जहाँ से हम गुजर चुके। हम पशु थे, पौधे थे—वहाँ से हम गुजर चुके हैं। अगर आप वापस लौटना चाहते हैं, तो बिलकुल आसान है।

ऐसा समझें कि एक व्यक्ति स्कूल में परीक्षाएँ पार कर-कर के मैट्रिक में पहुँच गया है, अगर वह पहली की परीक्षा फिर से देना चाहे, तो क्या कठिनाई होगी! कोई कठिनाई न होगी। अगर वह पहली कक्षा में प्रवेश पाना चाहे, तो कोई अड़चन नहीं है, कोई उसे रोकेगा भी नहीं। और वह बड़ा सफल भी होगा पहली कक्षा में!

जहाँ से हम गुजर चुके हैं—विकास की जिन सीढ़ियों को हम पार कर चुके हैं, उनमें वापस उतरना हमेशा आसान है। बूढ़े से बूढ़े आदमी को अगर आप क्रोध में ला दें, तो वह बच्चे के जैसा व्यवहार करने लगता है। वह बिलकुल आसान है। बच्चे का मतलब है : वापस लौट जाना।

होशियार से होशियार आदमी भी क्रोध में आ जाय, तो ना-समझी का व्यवहार करता है, जो बचकाना है। बच्चों की तरह पैर पटक सकता है, सामान तोड़ सकता है, चीख-पुकार मचा सकता है। यह रिग्रेशन है, पीछे लौटना है।

पीछे लौटना हमेशा आसान है। क्योंकि पीछे लौटने का मतलब है, वहाँ से हम गुजर चुके हैं, वह रास्ता परिचित है, उसे पाने के लिए कोई खोज नहीं करनी है।

दैवी सम्पदा का अर्थ है, कि हमें आगे बढ़ना है, ऊँचाई छूनी है। जितनी ऊँचाई छूनी है, उतना श्रम होगा। और जितनी ऊँचाई छूने की हम कोशिश करेंगे, उतनी भूलचूक भी होगी, हम गिरेंगे भी।

याद रखें, केवल वही गिरता है, जो ऊँचा उठना चाहता है। नीचे गिरनेवाले को तो गिरने का कोई कारण ही नहीं है।

दैवी सम्पदा हमसे ऊपर है, उसके लिए हाथ बढ़ाने पड़ें, यात्रा करनी पड़े, हिमालय के शिखर की तरह हमें गौरीशंकर की तरफ बढ़ना पड़े। उसमें अड़चन होगी ही, असफलता भी हो सकती है; गिरेंगे भी, कभी रास्ता भी खो जाएगा। नीचे उतरने के लिए न गिरने का कोई डर है, न रास्ता खोने का कोई डर है; रास्ता परिचित है, जाना-माना है, उससे हम गुजर चुके हैं। और फिर नीचे उतरने में कोई प्रतिरोध न होने से सुगमता है। ऊपर चढ़ने में सारे शरीर पर जोर पड़ेगा।

अमेरिका का बहुत बड़ा वैज्ञानिक हुआ—थामस अल्वा एडिशन, उसने कोई एक हजार आविष्कार किये। दूसरे किसी मनुष्य ने इतने आविष्कार नहीं किये; छोटे से लेकर बड़े तक, बिजली, रेडियो, टेलीफोन—अनेक आविष्कार उसने किये हैं। उसका घर आविष्कारों से भरा था। लोग उसके घर आते थे, तो चकित होते थे, क्योंकि सब चीजों में उसने कुछ न कुछ किया था। उसके पूरे घर में नये-नये अविष्कार थे: पानी की टोंटी के नीचे हाथ रखिये और पानी गिरने लगे, खोलने की जरूरत नहीं; हाथ अलग करिये और पानी बन्द हो जाय!

एक दिन अमेरिका का प्रेसिडेन्ट उसके घर उसके आविष्कार देखने गया था। हर चीज देख कर चकित हुआ। उसने अनूठे-अनूठे यंत्र खोजे थे। चलते वक्त अमेरिकी प्रेसिडेन्ट ने कहा, 'और सब तो ठीक है, एक बात मेरी समझ में नहीं आई; तुम जैसा आविष्कारक बुद्धि का आदमी, जिसने घर को आविष्कारों से भर रखा है, जिसकी हर चीज अनूठी और तिलिस्मी है, लेकिन तुम्हारे मकान का जो बगीचे का दरवाजा है, वह इतना भारी है कि खोलने में बड़ी ताकत लगती है। तुम्हें इसका खयाल नहीं आया?'

उसने कहा, 'आप समझे नहीं। खयाल मुझे है। जो आदमी भी मेरा दरवाजा एक बार खोलता है, पाँच गैलन पानी मेरी टंकी में पहुँच जाता है। तो मैं नौकर नहीं रखे हुए हूँ। जो देखने आने वाले हैं—दिन भर आते हैं, वे दरवाजा खोलते बन्द करते हैं; बस, हर बार खोलो, बन्द करो, तो पाँच गैलन पानी दरवाजा ऊपर फेंक रहा है।'

जब भी कुछ ऊपर भेजना हो, तो थोड़ा श्रम तो होगा, थोड़ा भारी भी लगेगा, क्योंकि हम नियम जीवन के—तोड़ रहे हैं।

जमीन चीजों को नीचे की तरफ खींचती है; ग्रेव्हिटेशन है। पत्थर को आप ऊपर की तरफ फेंकते हैं, तो आपका हाथ थकता है, चोट लगती है। जितनी जोर से ऊँचा फेंकेंगे, उतनी ज्यादा शक्ति खोयेगी, लेकिन पत्थर फिर नीचे चला आता है। जैसे ही आपकी भेजी हुई ऊर्जा पत्थर में चुक जाती है, जमीन उसे नीचे खींच लेती है। नीचे खींचते वक्त किसी ताकत की जरूरत नहीं पड़ती, जमीन स्वभावतः चीजों को नीचे खींच रही है।

आसुरी सम्पदा ग्रेव्हिटेशन है, वह जमीन की कशिश है।

छोटा बच्चा एकदम खड़ा नहीं हो सकता—माँ के पेट से पैदा हो कर। क्योंकि खड़ा होने का मतलब है: ग्रेव्हिटेशन से लड़ना। जमीन की कशिश है, इसलिए बच्चा पहले जमीन पर लेट कर सरकता है। जमीन खींच रही है; बच्चा खड़ा होगा तो फौरन गिरेगा। तो पहले सरकेगा, फिर घुटनों के बल अपने को सम्हालेगा। वह जमीन की कशिश से ऊपर उठने की कोशिश कर रहा है। फिर किसी का सहारा लेकर खड़ा होगा। फिर अपने भरोसे पर दो कदम चलेगा; लेकिन गिरेगा—घुटने टूटेंगे, चोट लगेगी। फिर धीरे-धीरे, धीरे-धीरे...। और पैर उसके समर्थ हैं। वह खड़ा हो सकता है, शरीर उसका पूरा का पूरा तैयार है, लेकिन ग्रेव्हिटेशन से संघर्ष करना होगा। फिर एक दिन आयेगा कि वह अपने को संतुलित कर लेगा, खड़ा हो जाएगा। फिर आपको खड़ा होना आसान मालूम पड़ता है। लेकिन अभी भी, जब भी आप थक जाते हैं, तो लेटना ही पड़ता है। क्योंकि खड़े होने में, चाहे आपको कितना ही आसान हो गया हो, जमीन आपको खींच रही है, और थका रही है। इसलिए खड़े-खड़े हम थक जाते हैं। जब भी थक जाते हैं, तब हमें जमीन पर लेटना पड़ता है।

रात सोकर जो हमें सुख मिलता है, वह जमीन की कशिश से लड़ाई छोड़ देने के कारण है। तो हम समतल जमीन पर सो जाते हैं; फिर छोटे बच्चे हो गये, फिर जमीन से हमारी कोई लड़ाई नहीं है। हमने स्वीकार कर लिया। रात भर हमको विश्राम मिल जाता है। सुबह फिर हम खड़े होने में समर्थ हो जाते हैं।

खड़े होने का मतलब संघर्ष है। और अगर आदमी उठना चाहे, तो और बड़ा संघर्ष है, क्योंकि फिर जमीन से बिलकुल उसको मुक्ति चाहिए।

आसुरी संपदा जमीन की कशिश जैसी है। सुगम है। बुरा होने के लिए कोई बड़ी चिन्तना नहीं करनी पड़ती। बुरा होने के लिए कोई बहुत बड़ी बुद्धिमत्ता की जरूरत नहीं है।

अपराधियों के अध्ययन किये गये हैं और मनोवैज्ञानिक कहते हैं कि अपराधियों में नब्बे प्रतिशत जड़बुद्धि होते हैं, इडिऑटिक होते हैं; उनके पास कोई बुद्धिमत्ता नहीं है। पर बड़ी हैरानी की बात है, कि वे बुद्धिहीन जो हैं, वे बुराई करके कई दफा हमें सफल होते भी दिखाई पड़ते हैं। बुद्धिमान भले ही हारता दिखाई पड़ जाय, लेकिन बुद्धिहीन सफल होते दिखाई पड़ते हैं। क्योंकि बुद्धिहीन में एक क्षमता तो है, वह क्षमता है—नीचे गिरने की। अगर नीचे गिरने में ही प्रतियोगिता हो, तो वह आपसे जीत जाएगा। और हम सभी उससे प्रतियोगिता कर रहे हैं। इसलिए वह हमें जीतता मालूम पड़ रहा है।

जो जितना नीचे गिर सकता है, उतने जल्दी सफल हो जाएगा। चाहे धन की दौड़ हो, चाहे राजनीति की दौड़ हो, वह जो बुरा आदमी है, वह सफल हो जाता है, क्योंकि वह ज्यादा नीचे गिर सकता है। दो राजनीतिज्ञों में वह राजनीतिज्ञ जीत जाएगा, जो ज्यादा नीचे गिर सकता है; उसको कम श्रम पड़ेगा।

मैंने सुना है, कि विन्स्टन चर्चिल एक चुनाव में जिस क्षेत्र से लड़ रहे थे, एक बूढ़े आदमी के पास व्होट माँगने गये थे। उनके विरोध में कोई खड़ा था। उस बूढ़े आदमी ने कहा कि 'मैं सोचूँगा।' चर्चिल ने उस पर दबाव डाला और कहा, 'कुछ तो कहो; कुछ तो धारणा बना ही लो; अब चुनाव करीब आ रहा है।'

तो उस आदमी ने कहा, 'तुम मानते नहीं, तो मैं कहूँ, कि मैं यही प्रार्थना करता हूँ भगवान् से, कि तेरी बड़ी कृपा है कि दो में से एक ही जीत पायेगा। क्योंकि दोनों उपद्रवी हैं, और इतना ही अच्छा है कि दोनों नहीं जीतेंगे—एक ही जीतेगा। कम से कम एक ही बुराई जीतेगी।

मैंने सुना है : एक किसान एक बार स्वर्ग के द्वार पर पहुँचा। उसे बड़ी उदासी हुई वहाँ—जो हाल उसने देखा। बड़ी देर तक दरवाजा खटखटाता रहा, किसी ने फिक्र ही न की। तब उसने देखा कि उसके पीछे एक राजनितिज्ञ है, जो उसके बाद में मरा और उसके बाद स्वर्ग के द्वार पहुँचा। उसने जा कर दस्तक दी। दस्तक दी नहीं कि द्वार खुल गये। द्वारपाल ने उसे भीतर ले लिया। वह किसान तो खड़ा ही रहा। सोचने लगा मन में कि शायद यहाँ भी मेरी कोई चिन्ता होने वाली नहीं है। राजनीतिज्ञ ही यहाँ भी जीत जाएगा। और भीतर बैण्ड-बाजों की आवाज आने लगी। राजनीतिज्ञ का स्वागत हो रहा है!

फिर थोड़ी देर बाद जब बैण्ड-बाजे बन्द हो गये, द्वार खुला; किसान को भीतर ले जाया गया। उसने सोचा कि शायद अब बैण्ड-बाजे मेरे लिए भी बजेंगे। वे नहीं बजे। तो उसने द्वारपाल से पूछा कि 'यह पक्षपात यहाँ भी है?' द्वारपाल ने कहा, 'पक्षपात जरा भी नहीं है। तुम्हारे जैसे लोग तो रोज यहाँ आते हैं। यह कोई हजारों साल के बाद राजनीतिज्ञ स्वर्ग में आया है। इसका विशेष स्वागत होना ही चाहिए।'

तो राजनीति में भला होना मुश्किल है; भला होने वाला हारेगा, क्योंकि वहाँ गिरने की प्रतियोगिता है—कौन कितना गहरा गिर सकता है।

धर्म राजनीति से उलटी यात्रा है। वहाँ ऊपर आकाश में उड़ने की प्रतियोगिता है—कौन कितना पृथ्वी के आकर्षण से दूर जा सकता है। वहाँ कठिनाई पड़नी शुरू हो जाएगी। जितने आप दूर जाएँगे, उतनी ही पृथ्वी खींचेगी और संघर्ष बढ़ेगा। लेकिन उसी संघर्ष से आत्मा का जन्म होता है; उसी तनाव से, उसी प्रतिरोध से,

उसी संयम से आपके भीतर व्यक्तित्व निर्मित होता है, इन्टिग्रेशन घटता है, आप केन्द्रित होते हैं।

तो यह ठीक है। दैवी सम्पदा की फसल इतनी दुर्लभ है। और इसलिए भी, कि हमारे चारों ओर सभी लोग आसुरी सम्पदा को पैदा करने में लगे हैं। और आदमी जीता है भीड़ से; भीड़ का अनुगमन करता है। भीड़ जहाँ जाती है, आप भी चल पड़ते हैं। आपके माँ-बाप, आपका परिवार, आपका समाज जो कर रहा है—बच्चा पैदा है—वही बच्चा सीख लेता है; वह भी करना शुरू कर देता है।

आसुरी सम्पदा के लिए शिक्षण की काफी सुविधा है। दैवी-सम्पदा के लिए शिक्षण की कोई सुविधा नहीं मालूम पड़ती। और जिस चीज की सुविधा हो उस तरफ आसानी हो जाती है, हम उसमें कुशल हो जाते हैं। जिस तरफ कोई सुविधा न हो, उस तरफ हमारे अंग पंगु हो जाते हैं। आप चलते हैं, इसलिए पैरों में गति है, जान है। आप मत चलें, पैर सिकुड़ जाएँगे; पॅरैलाइज्ड हो जाएँगे—लकवा लग जाएगा। आप देखते हैं, तो आँखें सजग हैं। मत देखें, अँधेरे में रहे आयें, थोड़े दिन में आँखें अन्धी हो जाएँगी। आप सुनते हैं, तो कान तेज हैं; संगीतज्ञ के कान सबसे ज्यादा तेज हो जाते हैं, क्योंकि सुनने के लिए वह इतना आतुर होता है—एक छोटी से छोटी ध्वनि के परिवर्तन को वह पकड़ना चाहता है। चित्रकार की आँखें सतेज हो जाती हैं। दार्शनिक की बुद्धि तीक्ष्ण हो जाती है।

आप जो करते हैं, वह कुशल हो जाता है। आप जो नहीं करते हैं, उसमें आप अकुशल हो जाते हैं। अगर जन्म से ही हमारी आँखों पर पट्टियाँ बाँध दी जायँ, और फिर जब हम जवान हो जायँ, तब पट्टियाँ खोली जायँ, तो हम अंधे ही पट्टियों के बाहर आयेंगे।

वैज्ञानिक कहते हैं कि तीन साल तक कोई भी इन्द्रिय, काम न करे, तो जड़ हो जाएगी।

और आसुरी सम्पदा का तो हम उपयोग कर रहे हैं—जन्मों-जन्मों से; दैवी सम्पदा का हमने उपयोग नहीं किया—जन्मों-जन्मों से, इसलिए कठिन मालूम पड़ती है। वहाँ भूमि सख्त हो गई है, उस पर हमने कभी न हल चलाया, न कुछ खेती की, न बीज डाले हैं। सब सूख गया है। पठार हो गया है, पत्थर-जैसा मालूम होता है। जैसे हम खेती करते हैं, तो वहाँ आसानी मालूम होती है, वहाँ जमीन तैयार है, वहाँ जमीन फुसफुसी है, वहाँ बीज पकड़ना आसान है।

लेकिन कितनी ही कठिन हो दैवी सम्पदा की फसल, एक बार जो करना शुरू कर देगा, वह पायेगा कि वह कठिनाई भी कठिन नहीं है, और एक बार स्वाद आ जाय, तो आपको पता चलेगा कि आसुरी सम्पदा बड़ी कठिन थी—पुरानी आदत की वजह से सरल

मालूम पड़ती थी। कठिनाइयाँ उसमें बहुत थीं, दुःख बहुत था—दुःख ही दुःख था।

जहाँ फसल सरलता से हो जाती हो लेकिन फल सदा दुःख के ही हाथ लगते हों, उस सरलता का मूल्य भी क्या है? भला फसल कठिनाई की हो, लेकिन फल आनन्द के लगते हों, तो उसे सरल और सहज ही मानना होगा।

जिन्होंने भी जाना है, उन सबने कहा है कि वह समाधि बड़ी सहज है, बड़ी सरल है; वह—अन्तिम उपलब्धि—कठिन नहीं है। लेकिन हमें तो कठिन लगती है, क्योंकि हमने उस तरफ कोई कदम नहीं उठाया। हमने उस तरफ कोई ध्यान नहीं दिया। उस दिशा में हमने कोई कदम ही नहीं उठाया है, कोई यात्रा ही नहीं की है; हमारे पैर उस तरफ पंगु हैं।

तो बैठ कर सोचते मत रहें कि वह कठिन है, कुछ करें और उसे सरल बनायें। करने से चीजें सरल होती हैं।

आप कभी पानी में नहीं तैरे हैं, तो बहुत कठिन लगेगा; और आप यह भरोसा ही नहीं कर सकते कि आपको पानी में छोड़ दिया जाय, तो आप बच सकेंगे। लेकिन जो लोग तैरने की कला सिखाते हैं, वे कुछ भी नहीं करते; वे सिर्फ आपको पानी में छोड़ते हैं। पानी में छोड़ते से ही आप हाथ-पैर तड़फड़ाने लगते हैं बचाने के लिए खुद को। तैरना तो आपको आता नहीं; तैरने का तो आपको कोई पता नहीं, अपने को बचाने के लिए हाथ-पैर तड़फड़ाते हैं। यह हाथ-पैर तड़फड़ाना ही तैरने की शुरुआत है। फिर इसको ही थोड़ी व्यवस्था से फेंकने लगेंगे, तैरना हो जाएगा। थोड़ी व्यवस्था ही सीखनी है। अभी थोड़ा अस्त-व्यस्त फेंकते हैं—अराजक, फिर सिस्टम हो जाएगी, फिर आप ढंग से फेंकने लगेंगे। एक दफा ढंग से फेंकना आ गया, तो आप पायेंगे कि तैरते से सरल और कुछ भी नहीं हो सकता। अभी तो तैरने में लगे कि जान जाने का खतरा है—अगर नहीं जानते तो।

शुरू करें।

यह ऊपर की तरफ जो उड़ान है, यह भी एक तैरना है। शुरू में कठिनाई होगी; स्वाभाविक है। जैसे-जैसे अभ्यास गहन होगा, वैसे-वैसे कठिनाई बदलती जाएगी। और एक ऐसा क्षण आता है, जब समाधि ही एक मात्र सरलता रह जाती है। तब बुरे होने से ज्यादा कठिन कुछ भी नहीं होता।

अब हम सूत्र को लें।

'और उन आसुरी पुरुषों के विचार इस प्रकार के होते हैं कि मैंने आज यह तो पाया है और इस मनोरथ को प्राप्त होऊँगा, तथा मेरे पास यह इतना धन है और फिर भी यह भविष्य में और अधिक होवेगा।'

आसुरी सम्पदा के व्यक्ति को 'और' की दौड़ होती है। उसके पास जो भी हो,

उसे वह और बढ़ा लेना चाहता है। जो भी उसके पास हो, उतनी मात्रा उसे कभी काफी नहीं मालूम पड़ती।

आसुरी सम्पदा का व्यक्ति मात्रा में बड़ा उत्सुक होता है, क्वान्टिटि में उत्सुक होता है। दस रुपये हों, तो हजार हो जायँ; हजार हों, तो दस हजार हो जायँ; दस हजार हों, तो दस करोड़ हो जायँ, उसकी मात्रा बढ़ती जाती है। वह आँकड़ों में जीता है—कितने बड़े आकड़ों का फैलाव हो जाय। और उसकी गहरी पकड़ है। उसके पास जो भी है, वह कम है।

दूसरी बात, उसके पास जो भी है, उसमें उसे कोई सुख नहीं है! सुख सदा वहाँ है —जो उसके पास नहीं है।

आसुरी सम्पदा वाले व्यक्ति को सुख सदा आकाश में कहीं दूर है। आसुरी सम्पदा वाला व्यक्ति आशा में जीता है। जो उसके पास है, उसमें तो कुछ खास रस नहीं है। ठीक है। जो नहीं है, आनन्द वहाँ छिपा है। और जब तक वह उसे न पा ले, तब तक आनंदित न हो सकेगा। वह दौड़ता रहता है। आज नष्ट करता है कल के लिए। कल को फिर नष्ट करेगा, और आगे आनेवाले कल के लिए—ऐसे पूरे जीवन को वह नष्ट करता जाएगा और जीने को पोस्टपोन, स्थगित करता रहेगा। वह कहेगा: जब कल सब मेरे पास होगा, तब मैं जीऊँगा।

जर्मनी का एक विचारक हुआ। उसके पास बहुत धन था, और अध्ययन की बड़ी रुचि थी, और बड़ी आकांक्षा थी कि जितना ज्यादा से ज्यादा जो जान सकूँ—जान लूँ। तो उसने दुनिया भर से जो भी अनूठी से अनूठी पुस्तकें हों, दुर्लभ शास्त्र हों—अनेक भाषाओं के शास्त्र इकट्ठे करने शुरू कर दिये। उसके पास विशाल पुस्तकालय खड़ा हो गया। पचासों भाषाओं की पुस्तकें उसके पास इकट्ठी हो गईं। ऐसा कोई ग्रन्थ नहीं था दुनिया में, जो उसने खोज कर इकट्ठा न कर लिया हो। लेकिन यह इकट्ठा करते-करते उसने पाया कि वह नब्बे वर्ष का हो गया है। तब उसे होश आया कि इकट्ठा तो मैंने कर लिया, लेकिन इसको मैं पढूँगा कब!

और कहते हैं, यह धक्का उस पर इतना भारी पड़ा कि यह धक्का ही उसकी मृत्यु का कारण हुआ। और वह नब्बे वर्ष तक रोज सोच रहा था—कल, कल—और इकट्ठा हो जाय, और इकट्ठा हो जाय। पहले इकट्ठा कर लूँ, फिर अध्ययन कर लूँगा—फिर ज्ञान को उपलब्ध हो जाऊँगा।

आसुरी सम्पदावाला व्यक्ति भी ऐसे ही दौड़ता रहता है। धन इकट्ठा करता है। उसे सुविधा तो कभी मिल ही नहीं पाती कि वह उसका उपयोग कर ले। आगे की दौड़ उसे पकड़ रहती है, और रोज को वह कुर्बान करता है—भविष्य के लिए। वर्तमान को वह बलि च ाता है—भविष्य के लिए।

और ध्यान रहे, वर्तमान के अतिरिक्त किसी चीज की कोई सत्ता नहीं है। भविष्य तो

बिलकुल सपना है। जो आज को खो रहा है—कल के लिए—वह आज को व्यर्थ ही खो रहा है। और एक बार यह आदत बन गई—आज को खोने की—तो मैं सदा आज को खोता रहूँगा। और जब भी समय आता है, वह आज की तरह आता है; कल तो कभी आता नहीं।

और यह जो 'और' की दौड़ है, इसका कोई भी अन्त नहीं हो सकता, क्योंकि यह हर चीज पर जुड़ जाएगी। जो भी आप पा लेंगे, आपका आसुरी सम्पदा वाला मन कहेगा : 'और'...। आप सोच भी नहीं सकते, कोई ऐसी स्थिति, जब आपका मन कहे कि बस, काफी हो गया।

आप सोचें—कभी एकान्त में बैठ कर, यही सोचें कि कितना धन आपको मिल जाय, तो आपका मन 'और' नहीं कहेगा, तो आप अपने साथ ही खेल में पड़ जाएँगे। पहले सोचेंगे, दस करोड़। लेकिन भीतर...। अभी कोई दस करोड़ दे भी नहीं रहा है, मिल भी नहीं गया है, लेकिन भीतर कोई कहेगा : इतने कम पर राजी क्यों हों—जब दस अरब हो सकते हैं। तो जो आपको आखिरी संख्या मालूम है, वहाँ तक तो आपका मन दौड़ायेगा। और आखिरी संख्या पर भी आपको बेचैनी अनुभव होगी—कि और गणित क्यों न सीख लिया; और गणित जानते, तो आज यह मुसीबत तो न होती। आज अटक गये यहाँ आकर, दस महाशंख या एक करोड़ महाशंख, कहाँ अब...। जो संख्या आती है, वह भी छोटी मालूम पड़ेगी। सारी दुनिया आपको मिल जाय, तो भी छोटी मालूम पड़ेगी।

सिकन्दर को किसी ने कहा कि 'तू जीत तो रहा है दुनिया को, लेकिन अगर तूने दुनिया जीत ली तो मुश्किल में पड़ेगा।' सिकन्दर ने कहा, 'कौन-सी मुसीबत होगी?' जिसने कहा था, वह था डायोजनीज—एक फकीर। उसने कहा कि 'तब तुझे पता चलेगा कि दूसरी दुनिया नहीं है; मुसीबत में पड़ जाएगा। एक दफे पूरी दुनिया जीत ली, तब तुझे पता चलेगा कि दूसरी दुनिया नहीं है।' और कहते हैं कि सिकन्दर उसी क्षण उदास हो गया। और उसने कहा कि 'ऐसी उदासी की बातें मत करो। पहले मुझे एक तो जीतने दो।' लेकिन चित्त उसका उदास हो गया—यह बात सोच कर ही, कि एक जीतने के बाद फिर दूसरी कोई दुनिया नहीं है। 'और' कहीं भी थकेगा नहीं, 'और' की माँग चलती ही जाएगी।

दैवी सम्पदा वाला व्यक्ति—आज—यहीं—जो उसके पास है, जो वह है, उसको परिपूर्णता से जीता है। इसका यह अर्थ नहीं कि उसका विकास नहीं होता। उसका ही विकास होता है। 'और' भी निकलता है आज से, लेकिन वह उसकी माँग नहीं करता। आज को जीने से उसका 'और' निकलता है। 'और' उसकी माँग नहीं है; उसके जीवन का फल है।

आसुरी सम्पदा वाला व्यक्ति आज तो जीता नहीं, 'और' को सोचता रहता है। उसका 'और' केवल मन पर दौड़ रहा है; वह जीवन का फल नहीं है।

तो यह विरोधाभासी बात आप समझ लें :

आसुरी सम्पदा वाला सोचता है : 'और—और—और', और जितना सोचता है, उतना कम होता जाता है, क्योंकि जीवन क्षीण हो रहा है।

दैवी सम्पदावाला 'और' का विचार नहीं करता, जो है उसको पूरे के पूरे समस्त भाव से स्वीकार करके उसमें डूबता है। इस डूबने से 'और' निकलता है, और बहुत कुछ उसे मिलता है।

जीसस से किसी ने पूछा कि 'क्या यह भी हो सकता है, कि हम परमात्मा को भी खोजें और संसार के सुख भी हमें मिल जायँ?' तो जीसस ने कहा, 'तुम संसार के सुखों की बात सोचो ही मत। फर्स्ट यी सीक द किंगडम ऑफ गॉड, देन ऑल एल्स शैल बी एडेड अन टु यू—पहले तुम परमात्मा को खोज लो, फिर सब उसके पीछे चला आयेगा।'

वह जो परमात्मा का तलाशी है, दैवी सम्पदा का जो व्यक्ति है, वह इसी क्षण में परमात्मा की तलाश कर रहा है। शेष सब भी आता है, लेकिन उस शेष सबकी उसकी कोई माँग नहीं है।

जितनी हो माँग कम, उतना ज्यादा मिलता है। जो माँगते हैं, भिखारी रह जाते हैं। जो नहीं माँगते, सम्राट हो जाते हैं।

जीवन बड़ा पहेली से भरा हुआ है! जो माँगते हैं, भिखारी रह जाते हैं। उनके पास जो है, वह भी छिन जाता है। जो नहीं माँगते, समाट् हो जाते हैं; जो उनके पास नहीं था, वह भी मिल जाता है।

जीसस का एक बहुत विरोधाभासी वचन है। जीसस ने कहा है : 'अगर तुम माँगोगे, तो जो तुम्हारे पास है, वह भी छीन लिया जाएगा। और अगर तुम बाँटोगे, तो जो तुम्हारे पास नहीं है, वह भी दे दिया जाएगा।' ऐसा ही है और ऐसा ही प्रतिपल हो रहा है।

जो जो आपने जीवन में माँगा है, वह कुछ भी आपके पास है नहीं। जो-जो आपने जीवन में दिया है, छोड़ दिया है, वह सब आपके पास है।

जिसे हसे हम छोड़ देते हैं, वह सदा के लिए हमारा हो जाता है। और जिसे हम पकड़ लेते हैं, वह सदा के लिए बोझ हो जाता है, और छूटने की तैयारी करता रहता है।

'मैंने आज यह तो पाया है, और इस मनोरथ को प्राप्त होऊँगा। तथा मेरे पास, यह इतना धन है, फिर भी यह भविष्य में और अधिक होएगा। तथा वह शत्रु मेरे

द्वारा मारा गया और दूसरे शत्रुओं को भी मैं मारूँगा। मैं ऐश्वर्यवान हूँ, ऐश्वर्य को भोगने वाला हूँ, और मैं सब सिद्धियों से युक्त बलवान एवं सुखी हूँ।'

यह बड़ा समझने जैसा है।

हमेशा आसुरी सम्पदावाला व्यक्ति दूसरों को नष्ट करने की कामना से भरा रहता है—कि कैसे दूसरों को मिटा दूँ। क्योंकि वह सोचता है : जब कोई भी न होगा, तब मैं परिपूर्ण हो जाऊँगा। अगर इस पृथ्वी पर कोई न हो, तो मैं ही सम्राट् होऊँगा। तो जो भी मेरे विपरीत हैं, उसको मिटा दूँ; जो भी मुझसे अन्यथा हैं, उसको नष्ट कर दूँ, ताकि मेरा साम्राज्य अबाध हो।

दैवी सम्पदा का व्यक्ति दूसरे को मिटाने का विचार नहीं करता। दैवी सम्पदा का व्यक्ति अपने को मिटाने का विचार करता है। इस फर्क को ठीक से समझ लें। वह कहता है, 'जब तक मैं हूँ, तभी तक कष्ट रहेगा। जब मैं नहीं रहूँगा—शून्य हो जाऊँगा, तब आनन्द हो जाएगा।

दैवी सम्पदा के व्यक्ति का साम्राज्य उसके अहंकार के खो जाने पर उपलब्ध होता है। आसुरी सम्पदा के व्यक्ति के साम्राज्य की आकांक्षा दूसरों को मिटाने में है—कि कितना मैं दूसरों को मिटा दूँ।

आसुरी सम्पदा वाला व्यक्ति आपको जिंदा छोड़ सकता है, अगर आप उसके सामने मुरदे की भाँति हो जायँ। आसुरी सम्पदा का व्यक्ति विवाह करे, तो पत्नी को वस्तु बना देगा; मार डालेगा बिलकुल। उसको इस हालत में कर देगा कि उसमें कोई जीवन न बचे। वह कहे रात, तो रात। वह कहे दिन, तो दिन। आसुरी सम्पदा की स्त्री हो तो पति को बिलकुल मिट्टी कर देगी। उसको छाया की भाँति चलाना चाहेगी। आसुरी सम्पदा का पिता हो, तो बेटों को पोंछ देगा। उनको बड़ा करेगा, लेकिन ऐसे, जैसे वे मुरदे हैं। उनकी कोई स्वतन्त्रता, उनकी कोई गरिमा नहीं बचने देगा।

आसुरी सम्पदा का व्यक्ति दुश्मनों को मार डालता है। मित्रों को मरे हुए कर देता है। उससे मित्रता रखनी हो तो मुरदा होना जरूरी है।

मैं आज ही इजिप्त के शाह फारूख के जीवन के सम्बन्ध में कुछ पढ़ रहा था। एक व्यक्ति ने संस्मरण लिखा है। वह व्यक्ति जड़ी-बूटियों के द्वारा चिकित्सा करता है। तो शाह फारूख ने उसे अपने इलाज के लिए बुलाया था। जब वह पहुँचा, तो शाह फरूख अपने मन्त्रियों के साथ ताश खेल रहा था, जूआ खेल रहा था—उसका प्रधानमंत्री, उसके और मंत्री...। यह व्यक्ति भी बैठकर चुपचाप देखता रहा, क्योंकि जब फारूख निपट लें, तब बातें हों।

फिर देख कर हैरान हुआ कि चाहे पत्ते मंत्रियों के पास अच्छे हों, तो भी शाह फारूख ही जीतता है। चाहे उसके पत्तों में कोई जान न हो, तो भी वही जीतता है।

शाह फारूख को भी लगा कि यह आदमी देख कर चकित हो रहा है, हैरान हो रहा है, तो उसने कहा, 'चकित होने की कोई बात नहीं है; ये सब मेरे नौकर हैं, और मेरी आज्ञा मानना उनका फर्ज है।' और शाह फारूख ने अपने प्रधान मन्त्री से—जो उसके साथ ताश खेल रहा था—उससे कहा कि 'धोखा देने की कोई जरूरत नहीं। बस, हार जाओ।' उस वक्त उसने पत्ते डाल दिये और हार गया।

यह जो आसुरी सम्पदावाला व्यक्ति है, वह दुश्मनों को मिटा डालता है, क्योंकि वे झुकने को तैयार नहीं होते। मित्रों को पोंछ डालता है, उनके जीवन में कोई सत्त्व नहीं बचने देता।

आसुरी सम्पदावाले व्यक्ति के पास बैठ कर आपको लगेगा कि वह आपको चूस रहा है, नष्ट कर रहा है। दैवी सम्पदा वाले व्यक्ति के पास बैठ कर आपको लगेगा कि वह आपको जीवन दे रहा है। आपकी कुम्हलाई हुई जिन्दगी फिर से ताजी हो रही है। दैवी सम्पदा वाले व्यक्ति के पास बैठकर आपको लगेगा : आपका भी मूल्य है; आप भी स्वीकार किये गए हैं, स्वागत है। आप भी एक धन्यता हैं। छोटे से छोटे व्यक्ति को भी दैवी सम्पदा वाले व्यक्ति के पास बैठ कर लगेगा—उसका कोई मूल्य है; जगत् में उसका भी कोई अर्थ है। वह व्यर्थ नहीं है, बोझ नहीं है।

आसुरी सम्पदावाले व्यक्ति के पास श्रेष्ठ से श्रेष्ठ व्यक्ति को भी बैठ कर लगेगा : उसका जीवन तुच्छ है।

जिसके पास पहुँच कर आपको ऐसा लगे कि आपको तुच्छ किया जा रहा है, तो समझना कि आसुरी सम्पदा काम कर रही है। अगर आप दूसरों को तुच्छ करने की वृत्ति से भरे हों, तो समझना कि आप आसुरी सम्पदा से भरे हैं, दूसरे की गरिमा और गौरव को स्वीकार करने का आपका मन हो...। दूसरे का निजी मूल्य है। प्रत्येक व्यक्ति अपने आप में साध्य है, वह कोई साधन नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति अपने आप में परम मूल्य है, अल्टिमेट वेल्यू है। अगर दूसरे व्यक्ति के प्रति आपका ऐसा सद्भाव हो, तो आप में दैवी सम्पदा का जन्म होगा।

जर्मनी के एक बहुत बड़े विचारक इमैनुएल कांट ने अपने नीति शास्त्र का एक आधार-स्तम्भ रखा है, और वह आधार-स्तम्भ है कि दूसरे व्यक्ति को साधन की तरह मत देखो, साध्य की तरह देखो। दूसरा व्यक्ति आपका साधन नहीं है कि आप उसका उपयोग कर लो। दूसरा व्यक्ति अपने आप में साध्य है, उसका उपयोग करना गलत है। उसका उपयोग करने का अर्थ यह हुआ कि आप उससे वस्तु की तरह व्यवहार कर रहे हैं। लेकिन हमारी हालत यह है कि हमें अपनी मुरदा वस्तु भी एक जीवित व्यक्ति से ज्यादा मालूम पड़ती है।

मैंने सुना है कि मुल्ला नसरुद्दीन एक ट्रेन में सफर कर रहा था। बड़ी खचाखच

भीड़ थी, उस डिब्बे में और वह अपना लोहे का बड़ा वजनी सन्दूक ऊपर की सीट पर चढ़ाने की कोशिश कर रहा था। नीचे बैठी एक स्त्री ने कहा कि 'महानुभाव, वहाँ मत रखिये, ऊपर गिर पड़ेगा। वजनी बहुत है, और बहुत भारी और लोहे का है।'

नसरुद्दीन ने कहा, 'देवी जी, आप बिलकुल बेफिक्र रहिये; उसमें टूट जाने वाली कोई भी चीज नहीं है।'

वह जो महिला बैठी है, उसका सिर टूट जाने का सवाल ही नहीं है। उनके सन्दूक में टूटने वाली कोई चीज नहीं है।

हम सबकी जीवन दशा ऐसी है। दूसरे का सिर भी कम कीमत का है, हमारा संदूक भी ज्यादा कीमती है व्यक्ति का हमारे लिए कोई मूल्य नहीं है।

आसुरी सम्पदा वाले व्यक्ति के लिए व्यक्ति है ही नहीं, व्यक्तित्व की कोई गरिमा नहीं है। शत्रुओं को वह नष्ट करना चाहता है। और निरन्तर सोचता है : 'आज शत्रु को मारा; वह शत्रु मेरे द्वारा मारा गया, दूसरों को भी मैं कल मारूँगा!' वह सदा मारने की तैयारी में लगा है। उसकी चिन्तना विध्वंस की है। वह मृत्यु का आराधक है। वह यमदूत है।

ठीक उसके विपरीत सृजन की जो आराधना है—क्रियेटिविटी—कि मैं कुछ निर्मित करूँ, कुछ बनाऊँ, जहाँ कुछ भी नहीं था, वहाँ कुछ निर्मित हो; जहाँ जमीन खाली पड़ी थी, वहाँ एक पौधा ऊगे; कुछ बने—वह जो सृजन की आराधना है, वही ईश्वर की तरफ जाने का मार्ग है।

इधर मैं आपको कहना चाहूँ कि दुनिया के सभी धर्मों ने ईश्वर को स्रष्टा कहा है, ईश्वर को स्रष्टा सिद्ध करना आसान नहीं। दुनिया की कभी सृष्टि हुई है, इसके लिए प्रमाण जुटाना आसान नहीं। और एक बात तो निश्चित है कि उस सृष्टि के क्षण में हममें से कोई भी नहीं था, इसलिए कोई गवाही नहीं दे सकता। और जो भी हम कहेंगे, वह सिर्फ कल्पना होगी, क्योंकि अगर हम मौजूद थे, तो सृष्टि उसके पहले ही हो चुकी थी।

तो सृष्टि के प्राथमिक क्षण का तो हमें कोई पता नहीं है। हम कल्पना कर सकते हैं कि परमात्मा ने बनाई, कि नहीं बनाई, कि क्या हुआ। लेकिन वह सिर्फ मानसिक विलास होगा।

लेकिन फिर भी दुनिया के अधिक धर्म परमात्मा के स्रष्टा होने पर जोर क्यों देते हैं? कुछ कारण है। और वह कारण यह है, कि जिस व्यक्ति को भी सृजन पकड़ लेता है, जो व्यक्ति भी अपने जीवन में स्रष्टा होता है, उसे परमात्मा का अनुभव शुरू होता है। इस अनुभव से यह प्रमाण मिलता है कि इस जगत् की गहनतम् स्थिति सृजनात्मक है, परमात्मा स्रष्टा है—यह स्रष्टा अगर हम हों, तो हमें पता चलता है।

अगर आप एक गीत भी जन्म दे सकें, तो उस गीत को जन्म देने के क्षण में आप

में परमात्मभाव प्रगट होता है। आप एक चित्र भी बना सकें, एक मूर्ति खोद सकें, एक बच्चे को निर्मित कर सकें, बड़ा कर सकें—कुछ भी—एक पौधे को भी आप सम्हाल लें, और उसमें फूल आ जायँ, तो उस क्षण में आपको जो प्रतीति होती है, वह परमात्मा की एक छोटी-सी झलक है।

विध्वंस परमात्मविरोध है; सृजन परमात्मा की तरफ प्रार्थना है।

और जो प्रार्थना सृजनात्मक न हो, वह प्रार्थना बाँझ है, उस प्रार्थना का कोई भी मूल्य नहीं। मन्दिर में बैठ कर आप चीख-पुकार करते रहें, उससे कुछ बहुत हल होने वाला नहीं है, उतनी शक्ति सृजन में लग जाय, तो प्रार्थना सजीव हो उठेगी।

जब आप स्रष्टा होते हैं, तभी परमात्मा के निकट होते हैं।

आसुरी सम्पदा वाला व्यक्ति, 'मैं ऐश्वर्ययान हूँ, ऐश्वर्य को भोगने वाला हूँ, और मैं सब सिद्धियों से युक्त एवं बलवान हूँ, और सुखी हूँ—ऐसी मान्यता रखता है।' सुखी तो होता नहीं, लेकिन मान्यता ऐसी रखता है कि मैं सुखी हूँ; ऐसा अपने को समझाता है। यह बहुत मनोवैज्ञानिक सत्य है। हम जो नहीं होते, वह अपने को समझने की कोशिश करते हैं। कमजोर आदमी अपने को शक्तिशाली समझता है। कमजोर आदमी अपने को समझाता है कि मैं महा शक्तिशाली हूँ।

मैं एक स्कूल में पढ़ता था। मेरे जो हिन्दी के शिक्षक थे, वे कक्षा में हमेशा, पहले दिन से ही आना शुरू हुए, तो अपनी बहादुरी की बातें करते थे—कि 'मैं इतना हिम्मतवर हूँ, कि चाहे अमावस की रात हो तो भी मरघट पर चला जाता हूँ।'

दो चार बार मैंने उनसे सुना, तो मैंने एक बार उनसे पूछा कि 'मुझे शक होता है। इसमें कोई बहादुरी की बात भी नहीं है। और कहने की तो कोई जरूरत भी नहीं। आपके भीतर डर है। मरघट आप जा नहीं सकते।'

उनके चेहरे पर पसीना आ गया। उन्होंने कहा, 'तुम्हें कैसे पता चला।' 'मैंने कहा, पता चलने की बात ही नहीं है। आप इतनी दफा दोहराते हैं। यह दोहराना बताता है कि आप अपने को समझा रहे हैं।'

कुरूप आदमी दोहराता रहता है कि मैं सुन्दर हूँ। मूढ समझाता रहता है कि मैं बुद्धिमान हूँ। कमजोर समझाता रहता है कि मैं ताकतवर हूँ, और इसको सिद्ध करने की जगह-जगह कोशिश भी करता है। क्योंकि अपने से कमजोर आदमी तो खोज लेना हमेशा आसान है। अपने से मूढ भी खोज लेना आसान है। जगत् इतना बड़ा है; आप अकेले नहीं हैं। काफी जगह है।

तो वह जो कमजोर आदमी है, अपने से कमजोर खोज लेता है। उनकी छाती पर चढ़ कर वह सिद्ध कर लेता है कि मैं निश्चित ही बलवान हूँ। आप अपने से मूढ़ को खोज लेते हैं!

और ध्यान रहे, हम सदा यही कोशिश करते हैं कि हमसे कमजोर, हमसे मूढ़ हमें मिल जाय। क्योंकि उसके पास हम बड़े मालूम होते हैं। लगता है : हम कुछ हैं। इससे प्रतीति हम अपने भीतर कर लेते हैं कि सब ठीक है।

पश्चिम में एक बहुत बड़ा विचारक हुआ—एडलर। उसने एक मनोविज्ञान को जन्म दिया—इंडिविजुअल सायकोलॉजी। और उस मनोविज्ञान का आधार-स्तम्भ उसने 'हीनता की ग्रन्थि' को बनाया। उसका कहना है कि जिस व्यक्ति में जो चीज हीन होती है, वह उसके विपरीत रूप अपने आसपास खड़ा करता है, ताकि खुद भी भूल जाय। दूसरे भी भूल जायँ। उसने बड़ा गहरा अध्ययन किया और उसने कहा कि 'जितने लोग दुनिया में जिन-जिन चीजों के पीछे पागल होते हैं, वह पागलपन बताता है कि वही उनकी कमजोरी है।

हिटलर-जैसा व्यक्ति—यह किसी हीनता की ग्रन्थि से पीड़ित है, और जब तक वह अपने को नहीं समझा लेगा कि मैं सारी दुनिया का मालिक हो गया, तब तक उसको शान्ति न मिलेगी। जो लोग पैर से कमजोर हैं, वे दौड़ने की कोशिश करते हैं।

विपरीत की कोशिश चलती है, ताकि हम अपने को भी दिखा दें—दुनिया को भी दिखा दें—कि नहीं, यह बात नहीं है; कौन कहता है कि हम कमजोर हैं; कौन कहता है : हमारे पैर कमजोर हैं; कौन कहता है : हमारी आँख कमजोर है।

एडलर एक जगह बोल रहा था, तो एक बड़ी मजेदार घटना घटी। वह समझा रहा था कि 'जिन लोगों में जो-जो चीज की हीनता होती है, उस-उस की वे तलाश में जाते हैं। जैसे जिस आदमी को गरीबी की बड़ी ग्लानि होती है, वह धन पाने की कोशिश करता है। जिस आदमी को अपने पद में हीनता दिखाई पड़ती है, वह पद, प्रतिष्ठा—राष्ट्रपति होने की दौड़ में लग जाता है। जो कुरूप होता है, वह सौन्दर्य की तलाश करने लगता है।'

एक आदमी खड़ा हो गया और उसने कहा कि 'क्या यह बात आप पर भी लागू है?' एडलर कुछ समझा नहीं। वह आदमी बड़ी गहरी मजाक कर रहा था। उसने कहा कि 'इसका क्या मतलब है कि जिसका मन कमजोर होता है, वह मनोवैज्ञानिक हो जाता है!'

लेकिन एडलर की बात में सचाई है।

कृष्ण भी वही बात कह रहे हैं; कह रहे हैं कि ऐसा आदमी सुखी होता नहीं, हो नहीं सकता, लेकिन मानता है कि मैं सुखी हूँ। और गौरव से इसका प्रचार करता है कि मैं सुखी हूँ। उसके प्रचार के कारण आप भी धोखे में आ जाते हैं।

आपके राजनीति हैं, बड़े पदों पर हैं, उनको देख कर, बाहर से, आपको ऐसा लगेगा कि बड़े प्रसन्न हैं; फूलमालाएँ डाली जा रही हैं, और बड़ा आनन्द ही आनन्द

है। काश, उनके जीवन में आपको झाँकने का मौका मिल जाय, तो वे बड़े दुःखी हैं और बड़े परेशान हैं, और किसी तरह अपनी फजीहत न हो जाय बिलकुल, इसको बचाने में लगे हुए हैं। और फजीहत पूरे क्षण हो रही है, लेकिन वे जब बाहर निकलते हैं, तो मुसकराते निकलते हैं। उनकी मुसकराहट बिलकुल ऊपर से पोती गई है, पेन्टेड है, क्योंकि भीतर वे रो रहे हैं और परेशान हैं। और एक क्षण की उनको सुविधा नहीं है, सुख नहीं है, लेकिन बाहर वे दिखलाने की कोशिश करते हैं कि बड़े प्रसन्न हैं, बड़े आनंदित हैं। उससे आपको भी भ्रम पैदा होता है।

आप भी जब घर से बाहर निकलते हैं, तो दूसरों को भ्रम पैदा करवाते हैं कि बड़े प्रसन्न हैं। घर में कोई मेहमान आ जाय, तो पति-पत्नी ऐसी प्रेमपूर्ण बातें करने लगते हैं, जैसी उन्होंने कभी नहीं की। घर में कोई न हो, तब उनका असली रूप दिखाई पड़ता है।

शिष्टाचार है, सभ्यता है।

मुल्ला नसरुद्दीन की पत्नी एक दिन अपने पति से बोली कि 'पच्चीस साल हो गए विवाहित हुए।' कोई मेहमान घर आया था, उसके सामने ही उसने यह बात उठानी ठीक समझी। नसरुद्दीन शायद लज्जित हो जाय। 'पच्चीस साल हो गये, मैं इस घर में बंदिनी होकर रह रही हूँ। कभी हम एक बार भी एक साथ घूमने भी घर के बाहर नहीं निकले!' नसरुद्दीन ने कहा, 'फजलू की माँ, बात का इतना बतंगड़ मत बनाओ। इतनी बात बढ़ा-चढ़ा के मत कहो। अतिशयोक्ति की तुम्हें आदत हो गई है। जब एक बार घर में स्टोव फट गया था, तब हम दोनों साथ-साथ बाहर निकले थे कि नहीं?'

घर-घर में वैसा ही है। लेकिन बाहर पति-पत्नी को देखें—सिनेमा की तरफ जाते, बाजार की तरफ जाते—तो ऐसा लगेगा कि परम सुख भोग रहे हैं।

हर कहानी कहती है, जहाँ शादी हो जाती है, राजकुमारी और राजकुमार की, फिर वे दोनों सुख से रहने लगे। यहीं खतम हो जाती है, और इससे बड़ा कोई झूठ नहीं हो सकता। यहीं से दुःख की शुरुआत होती है। उसके पहले थोड़ा बहुत सुख रहा भी हो—कल्पना में, आशा में, लेकिन सब कहानियाँ यहीं बन्द हो जाती हैं। यह उचित भी है, क्योंकि इसके बात आगे उठाना अशिष्टाचार होगा। यहीं बन्द कर देना ठीक है।

हम सब बाहर एक रूप बनाए हुए हैं। सुखी नहीं हैं, लेकिन दिखा रहे हैं। सुखी हैं, दीन हैं, लेकिन दिखा रहे हैं कि दीन नहीं हैं। चाहे हमें उधार चीजें लेकर भी प्रभाव पैदा करना पड़े। घर में कोई मेहमान आ जाय, तो पड़ोस से सोफा उठा लाना पड़े, तो भी कोई बात नहीं, लेकिन हम दिखा रहे हैं।

आसुरी सम्पदा वाला व्यक्ति अपनी दीनता को छिपा कर उसका विपरीत रूप प्रगट करता रहता है। तो वह कहता है : मैं ऐश्वर्यवान हूँ। वह कहता है कि मैं ऐश्वर्यों का भोगने वाला हूँ। वह कहता है 'मैं सब सिद्धियों से युक्त हूँ; कि मैं बलवान हूँ, मैं सुखी हूँ।

इनमें से कोई भी बात सच नहीं है। ये बातें तो सच होती हैं, दैवी सम्पदा वाले को—कि वह ऐश्वर्यवान हो जाता है, ईश्वर हो जाता है; कि सारी सिद्धियाँ उसे सिद्ध हो जाती हैं; कि सारे सुख, सारी शक्तियाँ उसके ऊपर बरस जाती हैं। ये घटनाएँ तो घटती हैं दैवी सम्पदा वाले को। लेकिन आसुरी सम्पदावाला मान कर चलता है कि ऐसा है; और इसका प्रचार भी करता है। और प्रचार अगर ठीक से किया जाय, तो दूसरों को भी भरोसा आ जाता है; और अगर दूसरों को भरोसा आ जाय, तो हो सकता है जिसने प्रचार किया है, उनको भी भरोसा आ जाय कि इतने लोग मानते हैं तो ठीक ही मानते होंगे।

'मैं बड़ा धनवान, बड़े कुटुंब वाला हूँ, मेरे समान दूसरा कौन है! मैं यज्ञ करूँगा, दान देऊँगा, हर्ष को प्राप्त होऊँगा—इस प्रकार के अज्ञान से आसुरी मनुष्य मोहित है।'

यह कुछ करने वाला नहीं है; न वह यज्ञ करनेवाला है, न वह दान देनेवाला है; लेकिन सोचता है कि मैं दूँगा। अच्छी बातें वह सदा सोचता है कि मैं करूँगा, करता तो सब बुरी बातें है, लेकिन सोचता हमेशा अच्छी बातें है। इस सोचने से एक बड़ी सुविधा हो जाती है। वह सुविधा यह है कि उसको लगता है कि मैं कोई बुरा आदमी नहीं हूँ।

आप भी सब कहते हैं। अच्छी-अच्छी बातें सोचते हैं कि—करेंगे। ऐसा सोचने से खुद को भी लगने लगता है कि जब करने की सोच रहे हैं, तो कर ही रहे हैं। और देरी क्या है, आज नहीं तो कल करेंगे, लेकिन करना तो निश्चित है! कभी आप करने वाले नहीं, क्योंकि पचास साल जी चुके, इस पचास साल में कभी नहीं की; आगे कैसे करेंगे ! कौन करेगा ? आप ही करने वाले हैं, और आप रोज टालते जाते हैं।

बुरे को आप आज कर लेते हैं, अच्छे को सोचते हैं—करेंगे। उससे मन में खयाल बना रहता है कि 'मैं कोई बुरा आदमी नहीं हूँ। अगर मजबूरी की वजह से थोड़ा बुरा करना भी पड़ रहा है, तो यह केवल अस्थाई है। यह तो परिस्थितिवश है। लेकिन भाव तो मेरा अच्छा करने का है।' इस भाव के कारण बुरा आदमी अपनी बुराई के काँटे को झेलने में समर्थ हो जाता है। इस भाव के कारण बुरा आदमी बुराई के काँटे को चुभने नहीं देता। यह भाव सुरक्षा बन जाता है।

'मैं यज्ञ करूँगा, दान करूँगा, हर्ष को प्राप्त होऊँगा—इस प्रकार के अज्ञान से आसुरी मनुष्य मोहित है।' यह उसकी आटो-हिप्नोसिस है, यह उसका मोह है।

यह 'मोहित' शब्द समझ लेने जैसा है।

मोहित का अर्थ है कि ऐसे भाव से वह अपने को समझ लेता है, और जो जैसा समझ लेता है, वैसा ही हो जाता है। वह मानने लगता है धीरे-धीरे, धीरे-धीरे—बिना दान किये मानने लगता है—कि मैं दानी हूँ; क्योंकि दान करने का विचार करता है। बिना दिये दाता बन जाता है! क्योंकि इतनी बार सोचा है, सोचते-सोचते हमारे मन में लकीरें पड़ जाती हैं।

पश्चिम में एक विचारक हुआ एमाइल कूए। लोगों से कहता था : कुछ और करने की जरूरत नहीं; जो भी तुम होना चाहते हो, उसको सोचो। अगर तुम स्वस्थ होना चाहते हो, तो निरन्तर सोचते रहो कि 'मैं स्वस्थ हो रहा हूँ, स्वस्थ हो गया हूँ।' इसका परिणाम होगा। इसके परिणाम होते हैं। भला आप स्वस्थ हों या न हों, लेकिन आपको प्रतीति होने लगती है कि आप स्वस्थ हो गये। एक घटना है : एमाइल कूए का एक मित्र एक दिन रास्ते पर उसे मिला। तो कूए ने पूछा कि 'तुम्हारी माँ की तबियत अब कैसी है'; तो उसके मित्र ने कहा कि 'अब तो तबियत बड़ी खराब है। बीमारी बढ़ती जा रही है; बुरी तरह बीमार है, मेरी माँ। बचने की कोई उम्मीद नहीं है।' तो एमाइल कूए ने कहा, 'गलत। यह सिर्फ उसका खयाल है। यह खयाल है उसका कि वह बीमार है। यह खयाल मिट जाय, वह ठीक हो जाएगी।'

फिर कुछ दिन बाद दुबारा रास्ते पर मिलना हुआ, तो एमाइल कूए ने पूछा कि 'अब तुम्हारी माँ की कैसी हालत है?' तो उसने कहा कि 'अब उसका खयाल है कि वह मर गई है। पहला खयाल था—आपने बनाया था कि बीमार है। अब मर गई है, तब यही समझना चाहिए कि उसका खयाल है—कि मर गई है!'

अगर आप एक विचार को बहुत बार दोहराते रहे हैं, तो उसकी एक तन्द्रा आपके आसपास निर्मित हो जाती है, वह सम्मोहन है। और बुरा आदमी अपने को सम्मोहित किये रहता है—भले विचारों से—'हर्ष को उपलब्ध होऊँगा, दान करूँगा।'

सुना है मैंने कि मुल्ला नसरुद्दीन जब मरा, तो उसने वसीयत लिखी। जब वह वसीयत लिखवा रहा था, उसने कहा कि 'इतना मेरी पत्नी को, इतना मेरे बेटे को, इतना मेरी बेटी को।' सम्पत्ति का विभाजन किया—कि आधा मेरी पत्नी को, फिर आधे का आधा मेरे बेटे को, फिर उसके आधे का आधा लड़की को—यह सब बाँट कर उसने कहा 'अब जो भी बचे, वह गरीबों को। तो वह जो वकील लिख रहा था, उसने कहा कि 'बचता तो अब इसमें कुछ भी नहीं है!' तो मुल्ला नसरुद्दीन ने कहा कि 'बचने का कोई सवाल ही नहीं है; वह तो मुझे पता है। है तो मेरे पास कुछ भी नहीं, इसलिए तो कह रहा हूँ, आधा मेरी पत्नी को; संख्या नहीं लिखवा रहा हूँ। है तो कुछ भी नहीं। मिलना तो पत्नी को भी कुछ नहीं है—बेटे को भी कुछ नहीं है। लेकिन मरते वक्त

अच्छे खयाल...। और फिर जो बच जाय वह गरीबों को। और कहा है, धर्म शास्त्रों में कि अच्छे खयालों से जो मरता है, वह अच्छे लोक को उपलब्ध होता है। यह तो अच्छे खयाल की बात है।'

बुरा आदमी निरन्तर अच्छे खयाल सोचता रहता है। और एक तन्द्रा निर्मित करता है अपने आसपास।

बार-बार पुनरुक्त करने से सुझाव भीतर बैठ जाते हैं। वह सोचता है: 'हर्ष को प्राप्त होऊँगा, दान दूँगा, यज्ञ करूँगा।' लेकिन यह सब भविष्य में करूँगा। करता नहीं। करता इनके विपरीत है। छीनता है।

अगर आप चोरी करने जा रहे हों, और चोरी करते वक्त आप सोचें कि हर्ज क्या है, अमीर से छीन रहा हूँ, गरीब को बाँट दूँगा, दान करूँगा। तो चोरी का पाप और जो दंश है, वह मिट जाता है। फिर आपको लगता है: आप एक काम—एक धार्मिक काम ही कर रहे हैं: अमीर से छीन रहे हैं, गरीब को देंगे। छीन आप अभी रहे हैं, देने की बात कल्पना में है। वह देना कभी होने वाला नहीं है। क्योंकि छीनने वाला चित्त देगा कैसे? वह मौका लगेगा तो, गरीब से भी छीन लेगा। सोचेगा: और भी गरीब हैं—इससे ज्यादा—उनको दूँगा। और आखिर में वह पायेगा: अपने से ज्यादा कोई भी गरीब नहीं है। इसलिए जितना छीन लिया, उसे अपने काम में ले आना चाहिए।

मुल्ला नसरुद्दीन एक दिन अपने पड़ोसी के घर में गया, और उसने कहा कि 'क्या आप कुछ विचार करेंगे। एक बूढ़ी विधवा है, जो दस साल से मकान में रह रही है और दस साल से किराया नहीं चुका पायी है। और किराया चुकाने का कोई उपाय भी नहीं है। आज उसे उसका मकान मालिक मकान के बाहर निकाल रहा है। कुछ सहायता करें।' तो जिससे उसने सहायता माँगी थी, सोचे के कि बूढ़ा आदमी है, बेचारा वृद्धा की सहायता के लिए आया है, उसने कहा, 'जो भी आप कहें, मैं सहायता करूँगा।' कुछ रुपये उसने दिये। उसने कहा, 'मित्रों को भी कहूँगा। लेकिन आप कौन हैं उस वृद्धा के? बड़े दयालु मालूम पड़ते हैं।'

नसरुद्दीन ने कहा, 'मैं?—मैं मकान मालिक हूँ। दस साल से वृद्धा बिना किराया दिये रह रही है।'

वह सोच रहा है कि वृद्धा की सहायता करने चला है।

यह जो हमारा चित्त है, यह बड़े प्रवंचक नुस्खे जानता है और उनके उपयोग करता है। और बहुत दिन उपयोग करने पर आपको उनका पता भी चलना बन्द हो जाता है।

'वे अनेक प्रकार से भ्रमित हुए चित्तवाले अज्ञानीजन, मोह रूप जाल में फँसे हुए एवं विषय भोगों में अत्यन्त आसक्त हुए अपवित्र नरक में गिरते हैं।'

नरक से कुछ अर्थ नहीं है कि कहीं कोई पाताल में छिपा हुआ कोई पीड़ागृह है, जहाँ उन्हें गिरा दिया जाता है। ये केवल प्रतीक हैं। ऐसी भावनाओं में जीने वाला व्यक्ति नरक में गिर ही गया। वह नरक में जीता ही है। उसके भीतर प्रतिपल आग जलती रहती है विषाद की, दुःख की, पीड़ा की। उसका संताप गहन है, क्योंकि जिसने कभी सुख न बाँटा हो, उसे सुख नहीं मिल सकता। और जिसने सदा दुःख ही बाँटा हो, उसे दुःख ही घनीभूत होकर मिलता है। वह दुःख उस पर बरसता रहता है। वह दुःख की वर्षा ही नरक है।

जो हम देते हैं, वह हमारे पास अनन्तगुना होकर लौट आता है। फिर हम सुख दें तो, हम दुःख दें तो। वह हम ही अर्जित कर लेते हैं—जो हम बाँटते हैं।

ऐसा व्यक्ति, जो दुःख देता है, और सुख देने की केवल कल्पना करता है, वह दुःख पाता है, और सुख की केवल आशा कर सकता है; उसे सुख मिल नहीं सकता।

हमारे वास्तविक कृत्य ही हमारे जीवन में परिणाम लाते हैं, वे ही हमारी निष्पत्तियाँ हैं। जो हम करते हैं, वही हमारी निष्पत्ति बनता है।

अगर आप दुःख पा रहे हैं, तो आप निरन्तर ऐसा ही सोचते हैं कि लोग बहुत बुरे हैं, इसलिए दुःख दे रहे हैं। आप दुःख इसलिए पा रहे हैं कि दुःख आपने बाँटा है—आज, पीछे कल और पीछे कल। आप वही पा रहे हैं, जो आपने बाँटा है।

बुद्ध को किसी पागल आदमी ने मारने की, हत्या करने की कोशिश की; एक पागल हाथी उनके ऊपर छोड़ा। एक पहाड़ के नीचे बैठ कर ध्यान करते थे, तो चट्टान ऊपर से सरकाई।

बुद्ध के शिष्यों ने बुद्ध को कहा कि 'यह आदमी महान दुष्ट है।' बुद्ध ने कहा: ऐसा मत कहो। मैंने उसे कभी कोई दुःख दिया होगा, वही दुःख मुझ पर वापस लौट रहा है। और मैं इस खाते को बन्द कर देना चाहता हूँ, इसलिए उसे चट्टान गिराने दो; उसे पागल हाथी छोड़ने दो; और मैं कोई प्रतिक्रिया न करूँ, मैं कुछ भी न कहूँ इस सम्बन्ध में अब; अब इस चीज को आगे बढ़ाना नहीं है। क्योंकि इतना भी मैं कहूँ कि वह दुष्ट है, तो फिर मैं उसे दुःख देने का उपाय कर रहा हूँ। यह बात भी उसको चोट पहुँचायेगी कि 'वह दुष्ट है'—ऐसा मैंने कहा। यह बात भी उसको काँटा बनेगी, फिर इसका प्रतिफल होगा। तो वह जो कर रहा है, वह मैंने कुछ किया होगा, उसका प्रतिफल है। और इस खाते को मैं यहीं समाप्त कर देना चाहता हूँ। यह किताब अब बन्द कर देनी है। उसे कर लेते दो। और मैं अब कुछ भी न करूँगा—कोई भी प्रतिक्रिया—ताकि आगे के लिए कोई भी लेन-देन निर्मित न हो।

जब भी हमें दुःख मिलता है, हम सोचते हैं: लोग हमें दुःख दे रहे हैं। वह हमारी भ्रान्ति है।

कोई आपको क्यों दुःख देने चला ? किसी को क्या प्रयोजन है ? किसको फुरसत है ? लोगों को अपना जीवन जीना है कि आपको दुःख देने का उपाय करना है ? नहीं, कहीं कोई आपने निर्मिति की है; कहीं कोई प्रतिध्वनि आपने फेंकी थी, वह आज वापस लौट रही है। उसे इस भाँति जो चुपचाप स्वीकार कर लेता है, उसके दुःखों के जो अतीत के बोझ हैं, वे बह जाते हैं और नये बोझ निर्मित नहीं होते।

और अगर कभी आपको कोई सुख मिलता है, तो भी आप जानना कि आपने कोई सुख बाँटा होगा—जाने या अनजाने—उसका प्रतिफल है।

अगर हम अपने सुखों और दुःखों को अपने ही कर्मों का प्रतिफल समझ लें, तो कर्म का सिद्धान्त हमारी समझ में आ गया।

कर्म का सिद्धान्त बस, सार में इतना ही है कि मुझे वही मिलता है, जो मैंने किया है। मैं वह फसल काटता हूँ, जो मैंने बोई है; अन्यथा कुछ भी हो नहीं सकता।

ऐसी चित्त की दशा बनती चली जाय, तो आप धीरे-धीरे आसुरी सम्पदा से मुक्त होकर दैवी सम्पदा में प्रवेश कर जाएँगे। इससे विपरीत अपनी आदत बनाते रहें, तो आसुरी सम्पदा में धीरे-धीरे थिर हो जाएँगे। ऐसे हो गये लोग—कृष्ण कहते हैं—महानरक में गिरते हैं।

आज इतना ही।

साधना का प्रयोजन • जीवेषणा मुक्ति से काम-मुक्ति व्यक्ति साध्य है • जीवन की दिशा

सातवाँ प्रवचन

श्री रजनीश आश्रम, रात्रि, दिनांक ५ अप्रैल, १९७४
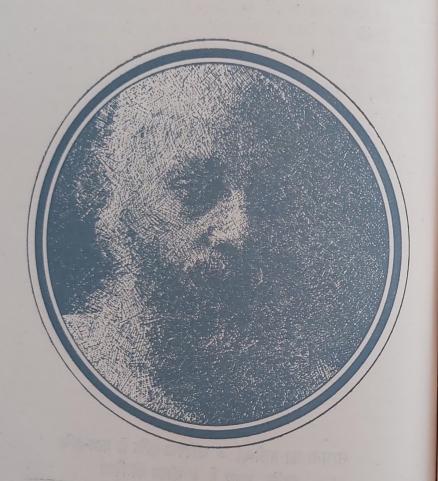
आत्मसंभाविताः स्तब्धा धनमानमदान्विताः ।
यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम् ॥ १७ ॥

अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः ।
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः ॥ १८ ॥

तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान् ।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु ॥ १९ ॥

आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि ।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम् ॥ २० ॥

वे अपने आपको ही श्रेष्ठ माननेवाले घमंडी पुरुष धन और मान के मद से युक्त हुए, शास्त्रविधि से रहित केवल नाममात्र के यज्ञों द्वारा पाखण्ड से यजन करते हैं।

तथा वे अहंकार, बल, घमंड, कामना और क्रोधादि के परायण हुए एवं दूसरों की निन्दा करनेवाले पुरुष अपने और दूसरों के शरीर में स्थित मुझ अन्तर्यामी से द्वेष करने वाले हैं।

ऐसे उन द्वेष करने वाले पापाचारी और क्रूरकर्मी नराधमों को मैं संसार में बारम्बार आसुरी योनियों में ही गिराता हूँ।

इसलिए हे अर्जुन, वे मूढ पुरुष जन्म-जन्म में आसुरी योनि को प्राप्त हुए मेरे को न प्राप्त हो कर उससे भी अति नीच गति को ही प्राप्त होते हैं।

पहला प्रश्न : कल कहा गया कि दुनिया में अच्छाई और बुराई का संतुलन है। ये दोनों सदा ही समपरिमाण हैं। एक बुरा मिटता है, तो अच्छा भी कम होता है, अगर इस संतुलन में कभी बदल होनेवाला नहीं है, तो साधना का प्रयोजन क्या है?

प्रश्न महत्त्वपूर्ण है। साधकों को गहराई से सोचने जैसा है।

साधना के संबंध में हमारे मन में भ्रांति होती है कि साधना भलाई को बढ़ाने के लिए है। साधना का कोई संबंध भलाई को बढ़ाने से नहीं है; न साधना का कोई संबंध बुराई को कम करने से है। साधना का संबंध तो दोनों का अतिक्रमण, दोनों के पार हो जाने से है। साधना न तो अँधेरे को मिटाना चाहती है, न प्रकाश को बढ़ाना चाहती है। साधना तो आपको दोनों का साक्षी बनाना चाहती है।

इस जगत् में तीन दशाएँ हैं : एक बुरे मन की दशा है, एक अच्छे मन की दशा है और एक दोनों के पार अ-मन की, नो-माइंड की दशा है। साधना का प्रयोजन है कि अच्छे बुरे दोनों से आप मुक्त हो जायँ। और जब तक दोनों से मुक्त न होंगे, तब तक मुक्ति की कोई गुंजाइश नहीं।

अगर आप अच्छे को पकड़ लेंगे, तो अच्छे से बँध जाएँगे। बुरे को छोड़ेंगे, बुरे से लड़ेंगे, तो बुरे के जो विपरीत है, उससे बँध जाएँगे। चुनाव है; कुएँ से बचेंगे तो खाई में गिर जाएँगे। लेकिन अगर दोनों को न चुनें, तो वही परम साधक की खोज है कि कैसे वह घड़ी आ जाय, जब मैं कुछ भी न चुनूँ; अकेला मैं ही बचूँ; मेरे ऊपर कुछ भी आरोपित न हो। न मैं बुरे बादलों को अपने ऊपर ओढ़ूँ, न भले बादलों को ओढ़ूँ। मेरी सब ओढ़नी समाप्त हो जाय। मैं वही बचूँ, जो मैं निपट अपने स्वभाव में हूँ।

यह जो स्वभाव की सहज दशा है, इसे न तो आप अच्छा कह सकते, और न बुरा। यह दोनों के पार है, यह दोनों से भिन्न है, यह दोनों के अतीत है।

लेकिन साधारणतः साधना से हम सोचते हैं : अच्छा होने की कोशिश। उसके कारण हैं, उस भ्रांति के पीछे लम्बा इतिहास है।

समाज की आकांक्षा आपको अच्छा बनाने की है, क्योंकि समाज बुरे से पीड़ित होता है, समाज बुरे से परेशान है। इसलिए अच्छा बनाने की कोशिश चलती है। समाज आपको साधना में ले जाना नहीं चाहता। समाज आपको बुरे बन्धन से हटा कर अच्छे बंधन में डालना चाहता है।

समाज चाहता भी नहीं कि आप परम स्वतंत्र हो जायँ, क्योंकि परम स्वतंत्र व्यक्ति तो समाज का शत्रु जैसा मालूम पड़ेगा। समाज चाहता है, रहें तो आप परतंत्र ही; पर समाज जैसा चाहता है, उस ढंग के परतंत्र हों।

समाज आपको अच्छा बनाना चाहता है, ताकि समाज को कोई उच्छृंखलता, कोई अनुशासनहीनता, आपके द्वारा कोई उपद्रव, बगावत, विद्रोह न झेलना पड़े।

समाज आपको धार्मिक नहीं बनाना चाहता, ज्यादा से ज्यादा नैतिक बनाना चाहता है। और नीति और धर्म बड़ी अलग बातें हैं। नास्तिक भी नैतिक हो सकता है; और अकसर जिन्हें हम आस्तिक कहते हैं, उनसे ज्यादा नैतिक होता है। ईश्वर के होने की कोई जरूरत नहीं है—आपके अच्छे होने के लिए; न मोक्ष की कोई जरूरत है। आपके अच्छे होने के लिए तो केवल एक विवेक की जरूरत है। तो नास्तिक भी अच्छा हो सकता है, नैतिक हो सकता है।

धर्म कुछ अलग ही बात है। धर्म को इतने से प्रयोजन नहीं है कि आप चोरी नहीं करते; नहीं करते—बड़ी अच्छी बात है। लेकिन चोरी न करने से कोई मोक्ष नहीं पहुँच जाता है। जब चोरी करने वाले को कुछ नहीं मिलता, तो चोरी से बचने वाले को क्या मिल जाएगा? जब धन इकठा करने वाले को कुछ नहीं मिलता, जब धन इकठा कर करके कुछ नहीं मिलता, तो धन छोड़ के क्या मिल जाएगा? अगर धन इकठा करने से कुछ मिलता होता, तो शायद धन छोड़ने से भी कुछ मिल जाता। जब काम-भोग में डूब-डूब कर कुछ नहीं मिलता, तो उनको छोड़ने से क्या मिल जाएगा? वह कचरा है, उसको छोड़ के मोक्ष नहीं मिल जाने वाला है। यह थोड़ा कठिन है समझना।

एक बात ध्यान रखें : जिस चीज से लाभ हो सकता है, उससे हानि हो सकती है। जिससे हानि हो सकती है, उससे लाभ हो सकता है। लेकिन जिस चीज से कोई लाभ ही न होता हो, उससे कोई हानि भी नहीं हो सकती। अगर धन के इकठा करने से कोई भी लाभ नहीं होता, तो धन को इकठा करने से कोई हानि भी नहीं हो सकती।

धार्मिक व्यक्ति धन के इकट्ठा करने को मूढ़ता मानता है—बुराई नहीं। वह बाल-बुद्धि है। धर्म काम-वासना में डूबे व्यक्ति को पापी नहीं कहता, सिर्फ अज्ञानी कहता है। उसे पता नहीं कि वह क्या कर रहा है। धर्म की कोई इच्छा नहीं है कि आप, जिन-जिन चीजों को समाज बुरा कहता है, उन्हें छोड़ देंगे, तो आप मुक्त हो जाएँगे।

सज्जन पुरुष हमारे बीच हैं, फिर भी मोक्ष उनसे उतना ही दूर है, जितना दुर्जन से; उस दूरी में कोई फर्क नहीं पड़ता। मोक्ष की दूरी में तो तभी कमी होनी शुरू होती है, जब आप न दुर्जन रह जाते, न सज्जन; न साधु न असाधु, क्योंकि इन दोनों का द्वंद्व है। और जब तक द्वंद्व नहीं टूटता, तब तक परमहंस अवस्था नहीं आती।

साधना का प्रयोजन है : परमहंस अवस्था आ जाय। इससे हमें डर भी लगता है, क्योंकि कोई व्यक्ति अगर बुराई-भलाई दोनों छोड़ दे—जैसे ही हम यह सोचते हैं, तो हमें डर लगता है कि वह आदमी बुरा हो जाएगा।

अगर आपसे कहा जाय कि बुराई-भलाई दोनों छोड़ दो, तो आपके मन में तत्क्षण बुरे करने के विचार आयेंगे। भलाई को छोड़ना बिलकुल आसान है। उसको तो कभी पकड़ा ही नहीं, इसलिए छोड़ने का कोई प्रश्न नहीं है। आपको अगर पता चले कि दोनों बेकार हैं, तो आप तत्क्षण बुराई करने में लग जाएँगे। उस खुद की मनोदशा के कारण धर्म की यह जो परम आत्यंतिक धारणा है—दोनों के पार हो जाना—उससे हमें भय लगता है। लेकिन अगर आप समझेंगे—साधना का अर्थ...। साधना का अर्थ है : धीरे-धीरे बाहर की तरफ से भीतर की तरफ जाना।

अच्छाई भी बाहर है, बुराई भी बाहर है। अगर आप चोरी करते हैं, तो भी आपके अतिरिक्त किसी और का होना जरूरी है। अकेले आप कैसे चोरी करियेगा? अगर इस पृथ्वी पर आप अकेले रह जायँ, सारा समाज नष्ट हो जाय; युद्ध हो जाय तीसरा, सब नष्ट हो जायँ, आप ही अकेले बचें; आप चोरी कर सकियेगा फिर? किसकी चोरी करियेगा? तब चोरी का अर्थ ही क्या होगा?

अगर आप अकेले हैं, तो चोरी नहीं कर सकते। अगर अकेले हैं, तो दान कर सकियेगा? दान के लिए भी दूसरे की जरूरत है।

तो चोरी हो या दान, नीति हो या अनीति, पुण्य हो या पाप—ये सब बाहर की घटनाएँ हैं। लेकिन सारी दुनिया नष्ट हो जाय, और आप अकेले बचें, तो भी ध्यान कर सकते हैं। ध्यान का दूसरे से कुछ संबंध नहीं है। ध्यान आंतरिक घटना है। इसलिए ध्यान भीतर ले जाता है।

पुण्य भी बाहर भटकाता है, पाप भी बाहर भटकाता है। अच्छाई भी बाहर, बुराई भी बाहर। अच्छाई भी समाज में, बुराई भी समाज में। उन दोनों को कोई अंतस्तल से संबंध नहीं है।

साधना का अर्थ है : ध्यान; साधना का अर्थ है : अंतर्मुखता; साधना का अर्थ है : उसे मैं जानूँ जो अपनी निजता में हूँ; इसका दूसरे से संबंधित होने का कोई संबंध नहीं है। साधना का संबंध रिलेशनशिप, संबंधों से जरा भी नहीं है। साधना का संबंध है स्वयं से; मैं उसे जान लूँ, जो मैं हूँ।

तो न तो चोरी करके कोई उसे जान पाता है, न चोरी छोड़ के कोई उसे जान पाता है। चोर भी भटकते हैं, जो चोरी नहीं करते, वे भी भटकते हैं। न तो बुरा करके उसे कोई कभी जाना है, न भला करके कभी कोई उसे जाना है। उसे जानने वाले को तो सभी 'करना' छोड़ देना पड़ता है,—बुरा भी, भला भी; उसे तो भीतर अक्रिया में डूब जाना पड़ता है। उसे तो बाहर से आँख ही बंद कर लेनी पड़ती है।

उसके लिए काम-वासना भी व्यर्थ है, उसके लिए ब्रह्मचर्य भी दो कौड़ी का है, क्योंकि ब्रह्मचर्य और काम-वासना दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। वे अलग-अलग बातें नहीं हैं। आपको ब्रह्मचर्य मूल्यवान दिखाई पड़ता है, क्योंकि काम-वासना में आपको रस है। जिस दिन काम-वासना में कोई रस न रह जाएगा, उस दिन ब्रह्मचर्य भी दो कौड़ी का है, उसका भी कोई मूल्य नहीं है।

द्वंद्व से कोई संबंध नहीं है। और जगत् एक संतुलन है। जगत् में बुराई और भलाई सदा संतुलित हैं। साधना तो जगत् के पार उठने की प्रक्रिया है। लेकिन यह खयाल में तभी आयेगा, जब थोड़ा-सा अनुभव करेंगे।

अभी तो हम कामों में चुनते हैं। यह काम बुरा है—छोड़ दें। यह काम भला है—कर लें। अभी एक्शन्स पर, कर्म पर ही हमारा जोर है। वह जो करने के पीछे छिपा हुआ हमारा स्वभाव है, उस पर हमारा कोई जोर नहीं है। उसे जान लें, जो बुरा भी करता है और भला भी करता है। उसे जान लें, जो दोनों के पीछे छिपा है। उसे जान लें, जो करके भी अकर्ता है। उसे जान लें, जो सबका द्रष्टा है। उससे कोई लेना-देना नहीं है—आपके कर्म का।

आप सुबह पूजा करते हैं, प्रार्थना करते हैं, स्नान करते हैं—कि नहीं करते हैं; मंदिर में जाते हैं, कि मसजिद में—इससे कोई संबंध नहीं है। मैं यह नहीं कह रहा हूँ कि आप मंदिर मत जायँ। और मैं यह भी नहीं कह रहा हूँ कि आप अच्छाई मत करें। मैं सिर्फ इतना ही कह रहा हूँ कि करने के पार जाना पड़ेगा, तभी धर्म से संबंध जुड़ेगा।

वह अर्जुन भी इसी द्वंद्व से ग्रस्त है। उसका भी सवाल क्या है? उसकी भी चिंता क्या है? उसकी उलझन क्या है? यही उलझन है। वह देख रहा है कि यह जो युद्ध है, यह बुराई है। इसमें सिर्फ लोग मरेंगे, सिर्फ हत्या होगी, खून बहेगा; न मालूम कितनी स्त्रियाँ विधवा हो जाएँगी, न मालूम कितने बच्चे अनाथ हो जाएँगे। घर घर में दुःख और हाहाकार छा जाएगा। यह बुरा है।

तो अर्जुन कृष्ण से यही कह रहा है कि इस बुराई को मैं छोड़ दूँ। यह बुराई करने जैसी नहीं लगती। इससे तो अच्छा है कि मैं जंगल चला जाऊँ, संन्यास ले लूँ, विरक्त हो जाऊँ—छोड़ दूँ सब। बुराई को छोड़ दूँ, अच्छाई को पकड़ लूँ। और कृष्ण उसे क्या समझा रहे हैं? इसलिए कृष्ण का संदेश सरल होते हुए भी अति कठिन है।

कृष्ण उसे यह समझा रहे हैं कि तू जब तक यह सोचता है कि यह बुरा है, इसे छोड़ूँ; यह भला है, इसे करूँ—तब तक तू उलझन में रहेगा। तू कर्म की धारणा छोड़ दे। तू यह भाव छोड़ दे कि मैं कर्ता हूँ। अगर तू युद्ध छोड़ के चला जाएगा, तो तू सोचेगा : मैंने संन्यास किया, मैंने त्याग किया, मैंने वैराग्य किया; पर 'करने' का भाव तुझे बना रहेगा।

युद्ध करेगा, तो तू समझेगा : मैंने युद्ध किया, मैंने लोगों को मारा, या मैंने लोगों को बचाया। दोनों ही धारणाएँ भ्रांत हैं। तू करनेवाला नहीं है। करने की बात तू विराट् पर छोड़ दे। तू सिर्फ निमित्त हो जा। तू सिर्फ विराट् को मौका दे कि तेरे भीतर से कुछ कर सके। तू सिर्फ देखनेवाला बन जा। तू इस युद्ध में एक द्रष्टा हो।

कृष्ण की पूरी चेष्टा यही है कि अर्जुन बुरे और भले के द्वंद्व से छूट जाय—निर्द्वन्द्व हो जाय; दो के बीच चुने नहीं, तीसरा हो जाय; दोनों से अलग हो जाय।

साधना का यही प्रयोजन है।

● दूसरा प्रश्न : कल के सूत्र में आपने कहा कि वैज्ञानिक कहते हैं कि किसी भी इंद्रिय का यदि तीन साल तक उपयोग न किया जाय, तो वह इंद्रिय क्रियाशील नहीं रह जाती। और हम कामेन्द्रिय का उपयोग बीस-पचीस वर्षों तक भी नहीं करते, फिर भी हम खुद को काम-वासना से मुक्त नहीं पाते। हम तो क्या, तथाकथित साधु-संन्यासी कई वर्षों का साधना के बाद काम-वासना से पीड़ित दिखाई पड़ते हैं। क्या यह सिद्धांत काम-इंद्रिय पर लागू नहीं होता?

इस संबंध में दो तीन बातें समझनी पड़ें।

पहली बात : काम इंद्रिय आपकी और इंद्रियों जैसी ही इंद्रिय नहीं है। सच तो यह है कि काम इंद्रिय आपकी सभी इंद्रियों का केन्द्र है, आधार-स्रोत है। तो और इन्द्रियाँ ऊपर-ऊपर हैं, परिधि पर हैं। कामेन्द्रिय गहन अंतर में है, गहरे में है, जड़ में है।

वृक्ष की शाखाओं को हम काटते हैं, तो वृक्ष नहीं मरता; नयी शाखाएँ निकल आती हैं। वृक्ष की जड़ों को हम काट दें, वृक्ष मर जाता है। पुरानी शाखाएँ भी जो हरी थीं, वे भी सूख कर समाप्त हो जाती हैं।

आँख ऊपर है, हाथ ऊपर है, कान ऊपर है, कामेन्द्रिय बहुत गहरे में है। इसलिए अगर आप आँख का उपयोग तीन वर्ष तक न करें, तो आँखें क्षीण हो

जाएँगी। कान का उपयोग न करें, तो आप बहरे हो जाएँगे। हाथ को न चलायें, तो हाथ पंगु हो जाएगा। पैर का उपयोग न करें, पैर पक्षाघात से भर जाएँगे। लेकिन कामेन्द्रिय भिन्न है। उसके कारण समझ लें।

आपके शरीर का प्रत्येक कण काम-वासना से निर्मित है। आँख तो छोटा-सा हिस्सा है, कान तो छोटी-सी हड्डियों का जोड़ है। लेकिन काम-इंद्रिय आपके पूरे शरीर को घेरे हुए है। वह जो माँ के गर्भ में पहला अणु निर्मित हुआ था, वह काम-वासना से निर्मित हुआ। फिर उसी अणु के विस्तार से आपका पूरा शरीर निर्मित हुआ है।

आपका प्रत्येक अणु काम-वासना से भरा है। इसलिए आँख फोड़ लें, कान तोड़ डालें, हाथ काट डालें—काम-वासना में अंतर नहीं पड़ेगा।

जननेन्द्रिय को जो कामेन्द्रिय समझ लेते हैं, उससे भूल हो जाती है। जननेन्द्रिय कामेन्द्रिय की शरीर के ऊपर सिर्फ अभिव्यक्ति है। जनेनन्द्रिय सिर्फ कामेन्द्रिय के उपयोग का द्वार है, लेकिन आपका पूरा शरीर काम-वासना है। इसलिए जननेन्द्रिय भी काट डालें, तो भी काम-वासना नहीं मिटेगी।

काम-वासना तो तभी मिटेगी, जब आप अपनी आत्मा को शरीर से बिलकुल पृथक् अनुभव कर लें। उसके पहले नहीं मिटेगी। अगर शरीर से रंचमात्र भी तादात्म्य है, अगर जरा-सा भी जोड़ है कि मैं शरीर हूँ, तो उतनी काम-वासना कायम रहेगी। आँख नष्ट हो जाएगी बड़ी आसानी से, काम-वासना इतनी आसानी से नष्ट नहीं होगी।

दूसरी बात : आप काम-वासना से पैदा हुए हैं। आपके पैदा होने में काम-वासना का प्रगाढ हाथ है, तो जब तक आप में जीवन की आकांक्षा रहेगी, तब तक काम-वासना से छुटकारा न होगा। जब तक आप चाहते हैं कि मैं बचूँ, जीऊँ, रहूँ, तब तक आप काम-वासना से मुक्त न होंगे। क्योंकि जीवन पैदा ही काम-वासना से हुआ है; और आप जीना चाहते हैं, तो काम-वासना को बल मिलता है। जिस दिन आपकी जीवेषणा छूटेगी, और आप कहेंगे कि मैं मिटूँ, खो जाऊँ, समाप्त हो जाऊँ, वही मेरा आनंद है; अब मैं बचना नहीं चाहता, अब मैं रहना नहीं चाहता, अब मैं इस देह को घर नहीं बनाऊँगा, अब मैं मुक्त हो जाना चाहता हूँ—सब सीमाओं से—जिस दिन जीवन की जगह मृत्यु आपका लक्ष्य हो जाएगी, उस दिन काम-वासना मिटेगी। उसके पहले काम-वासना नहीं मिटेगी।

इसलिए पच्चीस वर्ष, पच्चीस जन्म भी काम-वासना को दबाये रखने से उसका अंत नहीं होता। फिर जितना आप उसे दबाते हैं, उतनी ही वह बढ़ती है। क्योंकि भला आप कामेन्द्रिय का उपयोग न करें, जननेन्द्रिय का उपयोग न करें, लेकिन चित्त काम-वासना में लगा ही रहता है। तो आपका शरीर तो संलग्न है।

आप पच्चीस वर्ष तक अपने को सब तरह के काम-वासना से बचा लें, तो भी ऊपर-ऊपर ही बचाव हो रहा है। भीतर तो मन काम-वासना में ही चल रहा है। और वह जो भीतर काम-वासना बह रही है, चित्त में जो विचार चल रहे हैं, वह कामेन्द्रिय को सजग रखेंगे, जीवित रखेंगे।

हालत तो उलटी है। अगर आपको काम-वासना का अतिशय उपयोग करने दिया जाय, तो काम-वासना मर भी जाय; उपयोग न करने दिया जाय, तो नहीं मरेगी।

मैं एक फ्रेंच चिकित्सक मोरिस मेक्यू के संस्मरणों का एक संकलन पढ़ रहा हूँ—'ऑफ मेन एण्ड प्लान्ट्स'—उसने अपने संस्मरणों की एक किताब लिखी है। वह जड़ी-बूटियों के संबंध में बड़े से बड़ा ज्ञाता है। और जड़ी-बूटियों द्वारा उसने हजारों मरीजों को ठीक किया है। और दुनिया के बड़े-बड़े लोग उसे निमंत्रण देते रहे हैं। चर्चिल, बड़े अभिनेता, बड़े लेखक, बड़े कवि, राजा, महाराजा उससे इलाज करवाते रहे हैं। तो उसने सारे संस्मरण लिखे हैं। उसने प्रिन्स अली खां का भी संस्मरण लिखा है—आगा खां के लड़के का।

प्रिन्स अली खां ने उसे फोन किया और कहा कि 'कुछ निजी बीमारी है, कुछ गुप्त बीमारी है, उसके लिए तुम्हें आना पड़े।' प्रिन्स अली खां का निमंत्रण बड़ी बात है। चिकित्सक भागा हुआ उनके महल पर पहुँचा। सबको विदा करके प्रिन्स अली ने अपनी बीमारी बतानी शुरू की। चिकित्सक को भी लग तो रहा था कि बीमारी काम-वासना से संबंधित होगी, यौन की, इसलिए इतनी गुप्तता रखी जा रही है। प्रिन्स अली खां ने कहा कि 'मेरी काम-वासना बिलकुल खो गई है, क्षुधा मेरी मर गई है, मुझे इच्छा ही नहीं होती। कुछ करो।'

तो चिकित्सक ने पूछा कि 'आप महीने में कितनी बार संभोग करते हैं?' प्रिन्स अली खां खिलखिलाकर हँसने लगा, और उसने कहा महीने में! हर रोज, दिन में तीन बार करता हूँ। लेकिन इच्छा बिलकुल मर गई है। कोई वासना नहीं पैदा होती। बस, एक यांत्रिक कृत्य की तरह कर रहा हूँ।'

अब यह कोई बीमारी न हुई। अगर दिन में कोई तीन बार संभोग कर रहा है, तो इच्छा मर ही जाएगी। इच्छा क्या, वह खुद भी मर जाएगा जल्दी।

काम-वासना का अगर ज्यादा उपयोग किया जाय, तो मर जाती है। अगर बिलकुल उपयोग न किया जाय, दबा कर रखा जाय, तो सजीव रहती है, जीवित रहती है। लेकिन न तो बहुत उपयोग करने से उससे छुटकारा होता है।...

'क्षुधा मर गई है', लेकिन और भी गहरी वासना है कि न मरे। वासना क्षीण हो गई है, लेकिन भीतर से मन कह रहा है, इसे जिलाये रखो, कुछ उपाय करो।

अकसर ऐसा हो जाता है कि व्यभिचारियों की काम-वासना शिथिल हो जाती है।

और ब्रह्मचारियों की नहीं शिथिल हो पाती। क्योंकि व्यभिचारी तो अति कर देते हैं। थक जाते हैं।

गुरजिएफ ने अपने संस्मरणों में लिखा है कि काकेसस में पैदा होनेवाला एक खास फल उसे बचपन में बहुत प्रिय था। इतना ज्यादा प्रिय था कि उसकी वजह से वह अकसर बीमार पड़ जाता था। इतना ज्यादा खा लेता था। और वह नुकसानदायक भी था, बहुत भारी और वजनी था।

उसने लिखा है कि मेरे दादा ने मुझे कहा कि 'इससे छूटने का एक उपाय है। एक दिन तू जितना खा सके—आखिरी दम तक, मौत करीब मालूम होने लगे, तब तक इसको खाता जा।' गुरजिएफ ने कहा, 'इससे कैसे छुटकारा होगा?' बल्कि उसे रस भी आया। बात तो बड़ी गजब की हुई। घर में उसे सभी रोकते थे अब तक कि 'इसे मत खाओ। इसे मत खाओ, यह ठीक नहीं है, इससे नुकसान है?' लेकिन दादा ने जब कहा, तो फिर वह बड़ी मात्रा में फल जा के बाजार से ले आया।

दादा उसके सामने बैठे और कहा कि 'तू खा—जितना तुझे खाना है।' वह खाता गया। वह थक गया और एक कौर भी भीतर ले जाने का उपाय न रहा। लेकिन दादा ने कहा, 'अभी भी तू थोड़ा खा सकता है। तू और खा ले।' फिर उसे उल्टियाँ होनी शुरू हुईं, दस्त लगने शुरू हुए। वह कोई तीन महीने बीमार रहा। लेकिन वह कहता है, उसके बाद उस फल में मेरा कोई रस नहीं रह गया।

काम-वासना से मुक्त होने के लिए दमन तो कतई मार्ग नहीं है; लेकिन काम-वासना इस भाँति हो जाय कि आप उससे पीड़ित हो उठें, वह दुःख बन जाय, विषाद हो जाय, तो शायद जागरण आये।

लेकिन उतनेसे भी कुछ न होगा। क्योंकि रुचि का छूट जाना एक बात है, काम-वासना का छूटना बड़ी अलग बात है। फिर थोड़े दिन में वापस लौट आयेगी। दबायें तो बनी रहेगी, भोगें तो थोड़े दिन शिथिल हो जाएँगे, फिर वापस लौट आयेगी।

काम-वासना से मुक्त होता हो, तो दो बातें मैंने कहीं। एक तो मैं शरीर नहीं हूँ—यह दृष्टि थिर हो। दूसरा : जीवन की मेरी कामना नहीं।

मृत्यु काम-वासना का विरोध है। जन्म काम-वासना से होता है, मृत्यु काम-वासना का विरोध है।

जिन साधना प्रक्रियाओं ने—जैसे बुद्ध की साधना प्रक्रिया ने—काम-वासना पर अनूठे प्रयोग किये हैं, तो मृत्यु को उन्होंने साधना का आधार बनाया। बुद्ध जब किसी व्यक्ति को ब्रह्मचर्य में दीक्षा देते थे, तो उससे कहते थे, 'तीन महीने पहले मरघट पर तू मृत्यु का ध्यान कर।' एकदम से तो सुन के हमें हैरानी होगी कि ब्रह्मचर्य से और मरघट और मृत्यु का क्या लेना-देना? लेकिन बुद्ध कहते कि तीन महीने तू मरघट पर

सुबह से साँझ, रात—जब भी मुरदे जलते हों, बैठा रह। तेरा वही ध्यान स्थल है। लाशें आयेंगी—बच्चे आयेंगे, जवान, बूढ़े, सुन्दर कुरूप, स्वस्थ, अस्वस्थ—सब तरह के लोग आयेंगे। बस, तू उनको देखता रह। उनकी जलती चिताएँ, उनकी टूटती हड्डियाँ, गिरते सिर, उनका शरीर हो गया राख, सब खो गया धूएँ में, उसे तू देखता रह। तीन महीने जलती हुई चिताओं पर ध्यान कर।

और मुझे लगता है, यह बड़ा मनोवैज्ञानिक प्रयोग है, क्योंकि मृत्यु अगर बहुत साफ हो जाय, तो काम-वासना तत्क्षण खो जाएगी।

इसे आप ऐसा समझें : एक सुन्दरतम स्त्री खड़ी हो और आप वासना से भरे खड़े हों, उसी वक्त एक तार आये कि राज्य ने तय किया है कि आज साँझ आपको फाँसी लगा देंगे। सुन्दर स्त्री तत्क्षण आँखों से खो जाएगी। शरीर से वासना का प्रवाह बंद हो जाएगा। फिर कोई कितना भी समझाये, आपका रस अब वासना में नहीं रह जाएगा। साँझ मौत आ रही है...।

तो जिस साधक को काम-वासना से मुक्त होना हो, उसे समझना चाहिए कि यह क्षण आखिरी है; मौत दूसरे क्षण हो सकती है। और सच भी यही है : मौत दूसरे क्षण हो सकती है। जिस क्षण मैं जी रहा हूँ, यह आखिरी है, मौत आनेवाली है, इस शरीर से मैं छूट जानेवाला हूँ।

जितनी मौत की धारणा गहरी हो जाय, और जितना यह शरीर मैं नहीं हूँ—यह प्रतीति स्पष्ट हो जाय, उतने ही आप काम-वासना से मुक्त होंगे।

यह मुक्ति न तो दमन से फलित होती है, न भोग से। यह मुक्ति समझ से, 'अंडरस्टेंडिंग' से फलित होती है।

पर यह स्मरण रखें कि काम-वासना साधारण इंद्रिय नहीं है। यह कहना उचित होगा कि सभी इन्द्रियों का केन्द्र कामेन्द्रिय है। आँखें भी इसलिए देखती हैं कि काम-वासना आँखों के द्वारा रूप को खोज रही है। कान इसीलिए सुनते हैं कि काम-वासना कानों के द्वारा ध्वनि को खोज रही है। संगीत में इतना रस आता है, क्योंकि संगीत कानों के द्वारा काम-वासना की तृप्ति है। सौंदर्य को देख कर—सुन्दर चित्र, सुबह का उगता सूरज, पक्षियों का आकाश में उड़ना, वृक्षों पर खिले फूल, एक सुन्दर चेहरा, सुन्दर आँखें, सुन्दर रंग—आनंदित करते मालूम पड़ते हैं। क्योंकि आँखों के द्वारा यह जगत् के साथ संभोग है। और आँख रूप को खोज रही है। इसलिए कुरूप व्यक्ति दिख जाय, तो आपकी वासना सिकुड़ती है। कुरूप व्यक्ति सामने आ जाय, तो आप आँख फेर के चल पड़ते हैं। सुन्दर व्यक्ति सामने आ जाय, तो आप अपना होश खो देते हैं।

तो आप यह मत सोचना कि जननेन्द्रिय से ही काम-वासना प्रगट होती है; सभी इन्द्रियों से प्रगट होती है। हाथ से जब आप कुछ छूना चाहते हैं, तो हाथ के माध्यम से काम-वासना स्पर्श खोज रही है। यह पूरा शरीर कामेन्द्रिय है। इसका रोआँ-रोआँ काम-वासना से भरा है।

इसलिए जब तक शरीर से तादात्म्य न छूट जाय, तब तक काम-वासना से छुटकारा नहीं है। और कुछ भी आप करते रहें, उससे सिर्फ समय व्यय होगा, शक्ति व्यय होगी और चित्त आत्मग्लानि से भरेगा। क्योंकि आप बार-बार तय करेंगे छोड़ने का, और छूटेगा नहीं। और जब बार-बार आप असफल होंगे, छोड़ न पायेंगे वासना को, तो धीरे-धीरे आपको आत्मग्लानि आयेगी, आत्म-अविश्वास आयेगा, और ऐसा लगेगा कि मैं किसी भी योग्य नहीं हूँ। बिलकुल पात्र नहीं हूँ। मैं पापी हूँ, अपराधी हूँ। और किसी भी व्यक्ति को 'मैं पापी हूँ, अपराधी हूँ—' ऐसी धारणा गहरी हो जाय, तो उसके जीवन में साधना-पथ अति कठिन हो जाता है।

तो इस तरह के छोटे-मोटे प्रयोग करने में मत पड़ जाना।

काम-वासना से छूटा जा सकता है, लेकिन काम-वासना जीवन-वासना का पर्यायवाची है। जब आप जीवन की वासना से छूटेंगे...। इसलिए बुद्ध ने जगह-जगह कहा है 'जीवेषणा जब तक है, तब तक मुक्ति नहीं है।' जब तक तुम चाहते हो: मैं जिऊँ...।

बुद्ध के पास लोग पहुँचते हैं, वे कहते हैं कि 'मान लिया कि सब इच्छाएँ छोड़ देंगे, शरीर छूट जाएगा, तो फिर हम मोक्ष में बचेंगे या नहीं? मैं रहूँगा न? शरीर छूट जाएगा, आत्मा तो बचेगी न?' और बुद्ध कहते है कि 'यह फिर वही की वही बात है।'

तुम मिटना नहीं चाहते, तुम बचना ही चाहते हो। शरीर मिट जाय, तो भी तुम राजी हो, क्योंकि तुम देखते हो, शरीर तो मिटेगा, उसे बचाने का कोई उपाय नहीं है। तो फिर आत्मा ही बच जाय। इसलिए बुद्ध ने एक अनूठी बात कही कि 'कोई आत्मा नहीं है।' इसका यह अर्थ नहीं कि आत्मा नहीं है। यह बात सिर्फ इसलिए कही कि वे जो आत्मा के नाम से अपने को बचाना चाहते हैं, वे उसे बचाने की बात को भी छोड़ दें।

जीवेषणा वासना है, 'मैं जीऊँ'—यहीं हमारा पागलपन है। और मजा यह है कि जी के हम कुछ पाते भी नहीं, लेकिन फिर भी जीना चाहते हैं। जी के कुछ हाथ में भी नहीं आता, फिर भी कैसी ही कठिनाई हो, तो भी जीना चाहते हैं। जीवन को छोड़ने को हम राजी नहीं होते।

इस सूत्र को याद रख लें : जो जीवन को छोड़ने को स्वेच्छा से राजी है, महा-जीवन उसका हो जाता है। और जो जीवन को दरिद्र की तरह पकड़ता है—भिखारी

की तरह—उसके हाथ में कुछ भी आता नहीं। सिर्फ जंजीरें ही उसके हाथ में आती हैं।

● तीसरा प्रश्न : आपने कहा कि सृजनात्मकता दैवी स्वभाव है और विध्वंस व विनाश आसुरी है। लेकिन अस्तित्व में तो दोनों प्रतिक्रियाएँ साथ-साथ चलती हैं। और सिर्फ युद्ध में ही विध्वंस होता हो, ऐसा नहीं है। दैवी विपदाएँ कम विध्वंस नहीं करतीं।

दैवी संपदा सृजनात्मक है—इतका यह अर्थ नहीं है कि जो सृजन करता है, वह मिटाता नहीं। बनाना हो, तो मिटाना पड़ता है। अगर मूर्ति बनानी हो, तो पत्थर को मिटाना पड़ता है। अगर वृक्ष निर्मित करना हो, तो बीज को मिटाना पड़ता है। अगर परमात्मा को खोजना हो, तो अपने को मिटाना पड़ता है।

सृजनात्मकता भी बिना मिटाये तो नहीं होती। कुछ मिटता है, तो कुछ बनता है। मिटना बनने का ही प्रयोग है।

फिर फर्क क्या हुआ? क्योंकि दैवी संपदा भी मिटाती है, आसुरी संपदा भी मिटाती है। दोनों में फर्क क्या है? फर्क लक्ष्य का है। दैवी सम्पदा सदा ही बनाने के लिए मिटाती है। आसुरी सम्पदा सदा ही मिटाने के लिए मिटाती है। आसुरी सम्पदा बनाती भी है, तो सिर्फ मिटाने को।

फर्क यह है : आसुरी संपदा अगर बनाती भी दिखाई पड़ती हो, तो भी समझना कि वह मिटाने को ही बना रही है। वह बनाना वैसे ही है, जैसे आप घर में एक बकरा पाल लें और उसे खूब खिलायें, उसकी सेवा करें, क्योंकि उसको बलि के दिन काटना है। उसकी सेवा भी चले, धुलाई भी चले; ऐसे बकरे को कोई इतनी पूजा नहीं करता, जितनी आप करें। लेकिन बलि के दिन उसको काट के फिर भोजन कर लें। वह तैयारी चल रही है। आप बना रहे हैं—मिटाने के लिए।

लक्ष्य मिटाना होगा—आसुरी संपदा में। लेकिन जिसको मिटाना है, उसे भी बनाना पड़ता है। क्योंकि बिना बनाये मिटाइयेगा कैसे?

दैवी संपदा में लक्ष्य होगा—बनाना। अगर मिटाना भी पड़ता है, तो यही नजर होती है कि बनायेंगे। अगर नया मकान बनाना हो, तो पुराना मकान गिरा देना पड़ता है। पुराने मकान से जमीन साफ हो जाय, तो नया बन सके।

सभी सृजन में विध्वंस छिपा है; सभी विध्वंस में सृजन छिपा है। लक्ष्य का फर्क है। दैवी संपदा हमेशा सोचती है : निर्मित करने को। अगर मिटाना भी पड़ता है, तो सिर्फ इसीलिए, ताकि कुछ और श्रेष्ठतर बन सके।

आसुरी संपदा सदा सोचती है मिटाने को। अगर बनाना भी पड़ता है, तो सिर्फ इसीलिए कि बनायेंगे, ताकि मिटा सकें। उस लक्ष्य को खयाल में रखें, तो बात आसान हो जाएगी और ठीक से समझ में आ जाएगी।

रस कहाँ है आपका? तोड़ने में रस है, कि निर्माण करने में रस है? वही रस ध्यान में रहे, तो फिर आप कितना भी तोड़ें, हर्ज नहीं। लेकिन हर तोड़ना एक कदम हो—बनाने के लिए। तो आपके विध्वंस में भी सृजन आ गया; फिर आपके युद्ध में भी शांति आ गई; फिर आप कुछ भी करें, अगर यह लक्ष्य सदा ध्यान में बना रहे, तो आप जो भी करेंगे, वह शुभ होगा।

जगत् द्वंद्व है। वहाँ विध्वंस है, निर्माण भी है। उन दोनों में किसको आप ऊपर रखते हैं, उससे आपकी संपदा निर्णीत होगी।

● चौथा प्रश्न : आपने कहा कि प्रत्येक व्यक्ति अपने आप में साध्य है, परम मूल्य है। दैवी संपदा का यह सिद्धांत अपने प्रति तो आसानी से लागू किया जा सकता है, लेकिन दूसरों के प्रति उसे लागू करना बहुत कठिन है, ऐसा क्यों है?

साफ ही है। अपने प्रति लागू करना आसान है, क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति सोचता है : मैं साध्य हूँ और सभी मेरे साधन हैं। लक्ष्य मैं हूँ; यह पूरा जगत् मेरे लिए है। आकाश मेरे लिए, चाँद-तारे मेरे लिए, वृक्ष-पौधे—पशु-पक्षी मेरे लिए। मैं केन्द्र हूँ। यह तो कोई भी सोचता है। इसमें दैवी सम्पदा का सवाल ही नहीं है। यही तो आसुरी सम्पदा का केन्द्र है कि मैं जगत् का केन्द्र हूँ; सब कुछ मेरे लिए घूम रहा है। मेरे लिए सब भी मिट जाय, तो भी कुछ हर्ज नहीं हैं। मै बचूँ। सब कुछ मेरा साधन है—यही तो आसुरी सम्पदा का केंद्र है।

दैवी सम्पदा का केंद्र ही यह है कि दूसरा लक्ष्य है, उसका मैं साधन की तरह उपयोग न करूँ। वह परम मूल्य है, उसकी सेवा तो मैं कर सकता हूँ, लेकिन शोषण नहीं। अगर जरूरत पड़े मिटने की, तो उसके लिए मैं तो मिट सकता हूँ, लेकिन उसको नहीं मिटाऊँगा। कभी-कभी जीवन के कुछ क्षणों में ऐसा आपको लगता है—किसी व्यक्ति के संबंध में, उसको हम प्रेम कहते हैं। जब आपको ऐसा सारे जगत के संबंध में लगने लगे, तो उसको हम प्रार्थना कहेंगे।

कभी एक व्यक्ति के संबंध में ऐसा लगता है कि चाहे मैं मिट जाऊँ, लेकिन यह व्यक्ति बचे; तो वह साध्य हो गया। माँ मर सकती है बच्चे के लिए, या पत्नी मर सकती है पति के लिए, या पति अपने को खो सकता है पत्नी के लिए।

कभी एक व्यक्ति के साथ आपको क्षण भर को भी ऐसा लग जाता हो कि मैं ना-कुछ हूँ, वह सब-कुछ है; मैं परिधि हूँ, वह केंद्र है—तो प्रेम घटा। इसलिए प्रेम एक आध्यात्मिक घटना है; छोटी-सी घटना है, पर बड़ी मूल्यवान। चिनगारी है—सूरज नहीं; लेकिन अग्नि वही है, जो सूरज में होती है। और यह चिनगारी अगर फैलने लगे, तो किसी दिन सूर्य भी बन सकती है। जिस दिन ऐसा सारे जगत् के प्रति लगने लगे, उस दिन समझना कि प्रार्थना है।

महावीर जमीन पर पाँव फूँक कर रखते हैं। चींटी भी न मर जाय, क्योंकि उसका भी परम मूल्य है। चींटी भी न मर जाय, क्योंकि उसका भी परम मूल्य है। चींटी भी साध्य है, वह हमारा साधन नहीं है कि हम उससे इस तरह व्यवहार कर सकें।

ऋषि कणाद वृक्षों से फल तोड़ कर नहीं खाते। जो कण खेत में अपने आप गिर जाते हैं—सूख के, पक के—उनको बीन लेते हैं, इसीलिए उनका नाम कणाद है; कण-कण बीन कर जीते हैं। कच्चे फल को भी तोड़ते नहीं, क्योंकि वृक्ष हमारा साधन नहीं है। वृक्ष का अपना जीवन है। वृक्ष अपने आप में मूल्यवान है। हम उसका शोषण नहीं कर सकते। अहिंसा की धारणा इसी बात पर निर्मित है। जीवन में जो भी परम है, श्रेयस्कर है, सब इसी विचार से निकलता है।

लेकिन पहली बात तो बिलकुल आसान है। हम सभी को लगता है कि मैं ही केंद्र हूँ; मेरा हित, मेरा स्वार्थ, मेरा अहंकार—शेष सब बस हैं।

मैंने सुना है: यूनान में एक सम्राट् ने उन दिनों यूनान के एक महा मनीषी सोलन को अपने राजमहल बुलाया। सोलन एक सुकरात जैसा मनीषी था। सम्राट् ने बुलाया सिर्फ इसलिए कि सोलन की बड़ी ख्याति थी। उसके एक-एक शब्द का मूल्य अकूत था। तो कुछ उससे ज्ञान लेने नहीं बुलाया था। कुछ उससे सीखने नहीं बुलाया था। सिर्फ सोलन को बुलाया था, कि देख मेरे महल को, मेरे साम्राज्य को, मेरी धन-संपदा को। और सम्राट् चाहता था कि सोलन प्रशंसा करे कि आप जैसा सुखी और कोई भी नहीं, तो इस वचन का मूल्य होगा। सारा यूनान, यूनान के बाहर भी लोग समझेंगे कि सोलन ने कहा है।

सोलन आया, महल घुमा के दिखाया गया। अकूत संपदा भी सम्राट् के पास, न मालूम कितना उसने लूटा था। बहुमूल्य पत्थरों के ढेर थे, स्वर्ण के खजाने थे, महल थे। महल ऐसा सजा था, जैसे दुल्हन हो।

फिर सम्राट् उसे दिखा-दिखा के प्रतीक्षा करने लगा कि वह कुछ कहे। लेकिन सोलन चुप ही रहा। न केवल चुप रहा, बल्कि गंभीर होता गया। न केवल गंभीर हुआ, बल्कि ऐसे उदास हो गया, जैसे सम्राट् मरने को पड़ा हो और वह सम्राट् को देखने आया हो। आखिर सम्राट् ने कहा कि 'तुम्हारी समझ में आ रहा है कि नहीं?' मैंने तो सुना है कि तुम बड़े बुद्धिमान हो! मुझ जैसा सुखी तुमने कहीं कोई और मनुष्य देखा है? मैं परम सुख को उपलब्ध हुआ हूँ। सोलन, कुछ बोलो इस पर।' सोलन ने कहा कि 'मैं चुप ही रहूँ, वही अच्छा है, क्योंकि क्षणभंगुर को मैं सुख नहीं कह सकता। और जो शाश्वत नहीं है, उसमें सुख हो भी नहीं सकता। सम्राट्, यह सब दुःख है। बड़ा चमकदार है, लेकिन दुःख है। तुम इसे सुख समझते हो तो तुम मूढ हो।'

सम्राट् को धक्का लगा। जो होना था—वह हुआ। सोलन चुप ही रहता, तो

अच्छा था। सोलन को उसी वक्त गोली मार दी गई...। सामने महल के एक खंभे से लटका के, बँधवा के सम्राट् ने कहा, 'अभी भी माफी माँग लो। तुम गलती पर हो। अभी भी कह दो कि सम्राट् तुम सुखी हो।' सोलन ने कहा, 'झूठ मैं न कह सकूँगा। मृत्यु में कुछ हर्जा नहीं है, क्योंकि मरना मुझे होगा ही; किस निमित्त से मरता हूँ, यह गौण है। तुमने मारा, कि बीमारी ने मारा, कि अपने आप मरा—यह सब गौण है। मौत निश्चित है। झूठ मैं न कहूँगा। शाश्वत सुख ही सुख है। क्षणभंगुर सुख दिखाई पड़ता है, लेकिन दुःख है। सम्राट्! तुम भूल में हो।'

सोलन को गोली मार दी गई।

फिर दस वर्ष बाद, यह सम्राट् पराजित हुआ। विजेता ने इसे अपने महल के सामने एक खंभे पर बाँधा। जब वह खंभे पर लटका था और गोली मारे जाने को थी, तब उसे अचानक सोलन की याद आई। ठीक दस वर्ष पहले ऐसा ही सोलन खंभे पर लटका था! तब उसे उसके शब्द भी सुनाई पड़े कि 'जो शाश्वत नहीं, वह सुख नहीं। जो क्षणभंगुर है, उसका कोई मूल्य नहीं। यह चमकदार दुःख है सम्राट्।' उसी चमकदार दुःख को सुख मान कर यह सम्राट् इस खंभे पर लटक गया। सम्राट् की आँखें बंद हो गईं। वह अपने को भूल ही गया, सोलन को देखने लगा। और जब उसे गोली मारी जा रही थी, तब उसके होठों पर मुसकुराहट थी। और आखिरी शब्द जो उसके मुँह से निकले, वे यह थे, 'सोलन, सोलन, मुझे क्षमा कर दो। तुम ही सही थे।'

विजेता सम्राट् सुन कर चकित हुआ; कौन सोलन? किसके वचन सही थे! और इस मरते सम्राट् के ओठों पर मुसकुराहट कैसी? उसने सारी खोज-बीन करवाई, तब यह पूरी कथा पता चली।

वह जो हमें सुख जैसा मालूम होता है, वह सुख नहीं है। और वह जो हमें सुख सुख जैसा मालूम होता है, उसके लिए सब को हम दुःख देते हैं, सब का साधन की तरह उपयोग करते हैं; सब को चूसते हैं, शोषण करते हैं।

हमारा जीवन हमें इतना मूल्यवान होता है मालूम कि अगर सब की मृत्यु भी उसके लिए घट जाय, तो भी कोई हर्ज नहीं। अगर हमें दूसरों के सिरों पर पैर रख के, सीढ़ियाँ बना के राजमहल तक पहुँचने का उपाय हो, तो हम लोगों के सिरों का उपयोग सीढ़ियों की तरह करेंगे। सभी महत्वाकांक्षी करते हैं। लोग उनके लिए सीढ़ियों से ज्यादा नहीं हैं। धन की यात्रा करता हो कोई, पद की यात्रा करता हो—लोगों का उपयोग करता है, सीढ़ियों की तरह। सभी राजनीतिज्ञ जानते हैं।

राजनीतिज्ञों के सबसे बड़े दार्शनिक मेक्यावेली ने लिखा है कि तुम जिस आदमी का सीढ़ी की तरह उपयोग करो, उपयोग करने के बाद उसे जिंदा मत छोड़ना। उसको

काट-पीट डालना, क्योंकि तुम उसका सीढ़ी की तरह उपयोग कर सकते हो, दूसरे भी उसका सीढ़ी की तरह उपयोग कर सकते हैं। इसलिए सभी राजनीतिज्ञ यही करते हैं।

जिनके कंधे पर पैर रख कर राजनीतिज्ञ पहुँचता है—राष्ट्रपति या प्रधानमंत्री के पद पर—पहुँचते ही उस आदमी को गिराने में लगता है, क्योंकि वह आदमी खतरनाक है, उसके कंधे पर दूसरा भी कल कोई आ सकता है। इसके पहले कि दूसरा उसके कंधे पर सवार हो, उसका विनाश कर देना जरूरी है। या उसे उस जगह पहुँचा देना जरूरी है, जहाँ वह सीढ़ी का काम न दे सके। इसलिए सब राजनीतिज्ञ जिन सीढ़ियों से चढ़ते हैं, उनको जला देते हैं। जिन रास्तों से गुजरते हैं, उनको तोड़ देते हैं। जिन सेतुओं को पार करते हैं, उनको गिरा देते हैं, ताकि दूसरा पीछे से उन पर न आ सके। धन की यात्रा करनेवाला भी वही करेगा।

महत्वाकांक्षी अपने को साध्य मानता है, दूसरे को साधन। महत्वाकांक्षी कभी भी धार्मिक नहीं हो सकता। एम्बिशन, महत्वाकांक्षा इस जगत् में सबसे अधार्मिक घटना है।

धर्म का सूत्र तो कृष्ण कह रहे हैं; वह यह है कि दूसरा साधन नहीं है, साध्य है। दैवी संपदा का व्यक्ति दूसरे को साध्य मानता है। कभी जरूरत पड़े, तो वह सीढ़ी बन सकता है, लेकिन दूसरे को सीढ़ी नहीं बनायेगा। अपने सुख के लिए दूसरे के दुःख का सवाल नहीं है। अगर अपना सुख दूसरे के सुख से ही मिल सकता हो, तो दैवी संपदा का व्यक्ति उस सुख को स्वीकार करेगा।

और यह समझ लेने जैसा है कि अगर आपके सुख से दूसरा भी सुखी होता हो, तो वह सुख आनंद है। यह आनंद का फर्क है। जिस आपके सुख से दूसरा दुःखी होता हो, वह आनंद नहीं है और वह सिर्फ दिखाई पड़ता है : सुख है। वह सुख भी नहीं है। और एक दिन आप अनुभव करेंगे, तब आपके भीतर से भी आवाज आयेगी कि 'सोलन, सोलन, तू ठीक था। मुझे क्षमा करना। मैं गलती पर हूँ।'

मेरा सुख अगर आसपास सभी का सुख बनता हो, तो ही आनंद है। उसे फिर कोई भी छीन न सकेगा।

दैवी और आसुरी संपदा, दूसरों का हम कैसा उपयोग करते हैं, इससे विभाजित होती है।

दैवी संपदावाला व्यक्ति दूसरे का उपयोग ही नहीं करता, दूसरे के उपयोग आ सकता है। इसलिए जीसस या उन जैसे महा प्रज्ञावान पुरुषों ने सेवा को—दूसरे की सेवा को—धर्म की आधारशिला बनाया। उसमें मूल्य है। उस बात का इतना ही मूल्य है कि दूसरे के लिए जरूरत पड़े, तो तुम मिट जाना, लेकिन किसी को भी अपने लिए मत मिटाना।

पूछा है : यह कैसे संभव होगा कि हम दूसरे को साध्य समझ लें?

समझने का सवाल नहीं, यह तथ्य है।

यह वास्तविक स्थिति है कि आप केंद्र नहीं है इस जगत् के। आप एक छोटी-सी लहर हैं। इस विराट् अस्तित्व में आप एक छोटा-सा कण हैं। यह विराट् अस्तित्व आपके लिए नहीं है, आप इस विराट् अस्तित्व के लिए हैं। जैसे ही यह खयाल में आ जाएगा...। और इसे खयाल में आने के लिए कुछ सोचने की जरूरत नहीं है। सिर्फ आँख खोलने की जरूरत है, और यह दिखाई पड़ जाएगा।

आप कल नहीं थे, आज हैं, कल नहीं हो जाएँगे। यह अस्तित्व आपके पहले भी था, अब भी है, आपके बाद भी होगा। आप इस अस्तित्व में से उठते हैं, इसी अस्तित्व में डूब जाते हैं। यह अस्तित्व आपसे बड़ा है, विराट् है। आप तो एक छोटे-से अंग हैं। अंश, केंद्र नहीं हो सकता, अंशी ही केंद्र होगा।

अंश सब को मिटा कर अपने को बचाने की बात सोचे, तो पागलपन है। यह होनेवाला नहीं है। वह खुद ही मिटेगा। लेकिन यह अंश अगर अपने को मिटा कर, सारे को बचाने की सोचे, तो कभी-भी नहीं मिटेगा, क्योंकि समग्र उसे स्वीकार कर लेगा। समग्र के साथ आत्मसात और एक हो जाएगा।

जिनको हमने भगवत्ता को उपलब्ध व्यक्ति कहा है—कृष्ण को, बुद्ध को, महावीर को—उनको भगवत्ता को उपलब्ध व्यक्ति इसीलिए कहा है कि उन्होंने अपने अंश को अंशी में छोड़ दिया। अब वे लड़ नहीं रहे; अब उनका कोई विरोध इस जगत से नहीं है। अब अस्तित्व से उनका रत्तीमात्र फासला नहीं है। उन्होंने अपने को पूरा समर्पित कर दिया, लीन कर दिया।

जो व्यक्ति स्वयं को साध्य मानता है, वह लीन कैसे करे, समर्पण कैसे करे? जो अपने को निमित्त और साधन मान लेता है, वह तत्क्षण लीन हो जाता है।

कृष्ण की पूरी शिक्षा अर्जुन को यही है कि तू निमित्त बन जा। तू यह खयाल ही छोड़ दे कि तू है। तू यही समझ कि परमात्मा है, और तू केवल उसका एक मार्ग है, कि जैसे परमात्मा की बांसुरी है तू; परमात्मा बोल रहा है, उसकी वाणी है और तू सिर्फ बाँसुरी की पोली नली है। तू सिर्फ मार्ग दे, स्वरों को बहने दे, अवरोध मत कर।

इसे हम कैसे उपलब्ध करें? कैसे उपलब्ध करने का सवाल नहीं है। यह स्थिति है। थोड़ा-सा सजग और आँख खोल कर देखने की जरूरत है। ऐसा है, जैसे आपकी दो आँखें हैं, दो हाथ हैं। आप आँख बंद किये बैठे हैं और कहते हैं कि कैसे मानूँ कि मेरे दो हाथ हैं। आप आँख खोलें और देखें—दो हाथ हैं। इसको मानने की जरूरत नहीं है, सिर्फ आँख खोलने की जरूरत है।

जब भी आप थोड़ा-सा देखेंगे चारों तरफ, तो यह आपको समझने में कठिनाई नहीं होगी कि आप केंद्र नहीं हो सकते। विक्षिप्तता है—यह मानना, कि मैं केंद्र हूँ।

अब हम सूत्र को लें।

'वे अपने आपको ही श्रेष्ठ माननेवाले घमंडी पुरुष, धन और मान के मद से युक्त हुए, शास्त्र विधि से रहित, केवल नाममात्र यज्ञों द्वारा पाखंड से यजन करते हैं। तथा वे अहंकार, बल, घमंड, कामना और क्रोधादि के पारायण हुए एवं दूसरों की निंदा करनेवाले पुरुष अपने और दूसरों के शरीर में स्थित मुझ अंतर्यामी से द्वेष करनेवाले हैं। ऐसे उन द्वेष करनेवाले पापाचारी और क्रूरकर्मी नराधमों को मैं संसार में बारंबार आसुरी योनियों में ही गिराता हूँ। इसलिए हे अर्जुन, वे मूढ़ पुरुष जन्म-जन्म में आसुरी योनि को प्रात हुए, मेरे को न प्राप्त हो कर उससे भी अति नीच गति को ही प्राप्त होते हैं।'

आसुरी संपदा के जो व्यक्ति हैं, वे अपने आपको ही श्रेष्ठ माननेवाले हैं। उनके लिए श्रेष्ठता का एक ही अर्थ है कि जो भी मैं हूँ, वही श्रेष्ठता है। अपना होना उनकी श्रेष्ठता की परिभाषा है। श्रेष्ठता और अहंकार में उन्हें कोई भेद नहीं है।

नेपोलियन बोनापार्ट ने कुछ कानून बनाये, फिर उनको बदल दिया, फिर बदल दिया। तो उसके राजमंत्रियों ने कहा कि 'आप यह क्या कर रहे हैं! कानून स्थिर होना चाहिए। आर इस तरह तो अराजकता हो जाएगी।' तो नेपालियन बोनापार्ट ने कहा, 'आय एम द लॉ—और कोई कानून नहीं है, मैं कानून हूँ। जो मुझसे निकलता है, वह कानून है। कोई कानून मेरे ऊपर नहीं है; मैं ही कानून हूँ।' यही आसुरी संपदावाले का प्राथमिक लक्षण है: मैं श्रेष्ठ हूँ।

'और धन और मान के मद से युक्त हुए...।' ऐसे व्यक्ति अगर धर्म भी करते हैं, तो उनका धर्म भी धन और मद का ही छिपा रूप होता है। वे बड़ा मंदिर खड़ा कर सकते हैं, जो आकाश को छूये। वे यज्ञ करवा सकते हैं, करोड़ों रुपये उसमें खर्च कर सकते हैं। लेकिन यह भी उनके अहंकार की ही यात्रा है। उनके मंदिर का अर्थ है: उनसे बड़ा मंदिर और कोई खड़ा नहीं कर सकता। उनके यज्ञ का अर्थ है कि ऐसा यज्ञ पृथ्वी पर कभी हुआ नहीं। उनका धर्म भी उनकी श्रेष्ठता को ही सिद्ध करेगा, इतना ही उनके धर्म का प्रयोजन है।

'शास्त्र विधि से रहित केवल नाममात्र यज्ञों द्वारा पाखंड से यजन करते हैं।' वे अगर शुभ भी करेंगे, तो सिर्फ इसलिए, ताकि वे पूजे जायँ। वे अगर कुछ भला भी करेंगे, दान भी देंगे, तो सिफ इसलिए ताकि वे जाने जायँ। उनके प्रत्येक कृत्य का लक्ष्य वे स्वयं हैं।

'तथा वे अहंकार, बल, घमंड, कामना और क्रोधादि के पारायण हुए एवं दूसरों की निंदा करनेवाले पुरुष अपने और दूसरों के शरीरों में स्थित मुझ अंतर्यामी से द्वेष करनेवाले हैं।'

परमात्मा कहीं भी हो, उससे उन्हें द्वेष होगा। क्यों? क्योंकि परमात्मा की स्वीकृति, अपने अहंकार का खण्डन है।

नीत्से ने अपने एक वचन में लिखा है—जब वह पागल हो गया, तब उसने अपनी डायरी में लिखा है—कि मैं परमात्मा को स्वीकार नहीं कर सकता, क्योंकि अगर परमात्मा है, तो फिर मैं नम्बर दो हूँ, इसलिए मैं परमात्मा को स्वीकार नहीं कर सकता। नम्बर एक तो मैं ही हो सकता हूँ। और या यह हो सकता है कि नम्बर एक कोई भी नहीं है। लेकिन परमात्मा कहीं भी है, तो फिर मैं पीछे पड़ता हूँ। फिर मेरी स्थिति नीची हो जाती है।

इसलिए परमात्मा को स्वीकार करना आसुरी वृत्तिवाले व्यक्ति को अति कठिन है। इसलिए नहीं कि उसको पता है कि परमात्मा नहीं है। इसलिए भी नहीं कि तर्कों से सिद्ध होता है कि परमात्मा नहीं है। वह तर्क भी देगा, वह सिद्ध भी करेगा। लेकिन न तो तर्कों से सिद्ध होता है कि परमात्मा है और न सिद्ध होता है कि परमात्मा नहीं है। इसे थोड़ा समझ लें।

मनुष्य की बुद्धि न तो पक्ष में कुछ तय कर सकती है, न विपक्ष में। और फिर हजारों-हजारों तर्क दिये गये हैं। जितने पक्ष में हैं, उतने ही विपक्ष में। बराबर संतुलन है।

कोई आस्तिक किसी नास्तिक को राजी नहीं कर सकता है कि ईश्वर है; और कोई नास्तिक किसी आस्तिक को राजी नहीं कर सकता है कि ईश्वर नहीं है। दोनों बातें समतुल हैं।

तर्कों से कुछ सिद्ध नहीं हुआ है, लेकिन फिर भी कुछ लोग मानते हैं कि ईश्वर है। कुछ लोग मानते हैं: नहीं है। तो किस आधार पर मानते होंगे? क्योंकि तर्क से कुछ भी सिद्ध नहीं होता। तब आधार दूसरे हैं; तब आधार का कारण आसुरी संपदा और दैवी संपदा है।

वे जो समझते हैं कि मैं ही श्रेष्ठ हूँ, मुझसे ऊपर कोई भी नहीं, वे परमात्मा को नहीं मान सकते। फिर वे तर्क खोज लेते हैं, लेकिन वे तर्क पीछे आते हैं, वे तर्क रेशनॅलाइशन्श हैं। वह अपनी ही मानी हुई बात को सिद्ध करने का उपाय है।

और दूसरे वे लोग हैं, जो मानते हैं कि मैं कैसे केंद्र हो सकता हूँ। मैं केवल एक लहर हूँ। वे परमात्मा को स्वीकार कर लेते हैं। उनकी स्वीकृति तर्क से नहीं आती, उनकी दैवी संपदा से आती है।

और इन दोनों के बीच में अधिक लोग हैं, जिन्होंने कुछ तय ही नहीं किया। जिनको हम अधिकतर आस्तिक कहते हैं, वे बीच के लोग हैं; वे आस्तिक नहीं हैं। उन्होंने कभी ध्यान ही नहीं दिया कि परमात्मा है या नहीं। आप में से अधिक लोग उस तीसरे हिस्से में ही हैं।

अगर आप कहते हैं कि 'होगा', उसका मतलब यह नहीं कि आप मानते हैं कि ईश्वर है। आप मानते हैं कि सोचने योग्य भी नहीं है। लोग कहते हैं; होगा। और क्या हर्जा है, हो तो हो। और कभी वर्ष में एकाध बार मंदिर भी हो आये, तो क्या बनता-बिगड़ता है। और होशियार आदमी दोनों तरफ कदम रख के चलता है। अगर हो भी, तो मरने के बाद कोई झंझट नहीं होगी। न हो, तो हमने कुछ उसके लिए खोया नहीं। हमने संसार अच्छी तरह भोगा। और मानते रहे कि परमात्मा है। हम दोनों नाव पर सवार हैं।

बहुत थोड़े-से लोग हैं, जो मानते हैं कि परमात्मा है। वे वे ही लोग हैं, जो अपने अहंकार को तोड़ते हैं, घमंड को छोड़ते हैं, गर्व को गिराते हैं। बहुत लोग हैं; जो मानते हैं : परमात्मा नहीं है। उसका कुल कारण इतना है कि वे खुद अपने को साध्य समझे हैं। इसलिए अपने से परम को स्वीकार करना उनके लिए आसान नहीं है।

और अधिक लोक लोग हैं, जिनको कोई चिंता ही नहीं, जिनको कोई प्रयोजन नहीं, जो उपेक्षा से भरे है।

इसमें आप कहाँ हैं ? और आप जहाँ भी होंगे, मजे की बात यह है कि वहीं के लिए आप तर्क खोज लेंगे।

फ्रायड ने एक बहुत बड़ी खोज इस सदी में की और वह यह कि लोग तय पहले कर लेते हैं, तर्क बाद में खोजते हैं। आप एक स्त्री के प्रेम में पड़ जाते हैं। कोई आपसे पूछे कि 'आप प्रेम में क्यों पड़े हैं इसके!' तो आप कहते हैं कि वह इतनी सुंदर है। लेकिन फ्रायड कहता है, मामला बिलकुल उलटा है। वह स्त्री दूसरों को सुंदर नहीं दिखाई पड़ती। आप कहते हैं, सुंदर है, इसलिए प्रेम में पड़े हैं। फ्रायड कहता है, 'आप प्रेम में पड़े गये, इसलिए सुंदर दिखाई पड़ती है।' यह बात ज्यादा सही मालूम होती है, क्योंकि और किसी को सुंदर नहीं दिखाई पड़ती। और दूसरों को शायद कुरूप दिखाई पड़ती हो। शायद दूसरे चकित होते हों कि आपका दिमाग खराब हो गया है कि आप इस स्त्री के चक्कर में पड़े हैं! और आप अपने मन में सोचते हैं कि 'दुनिया भी कैसी मूढ़ है; अज्ञानी जन हैं। इनको इस स्त्री का असली रूप दिखाई ही नहीं पड़ रहा है।'

प्रेम में हम पहले पड़ते हैं, फिर तर्क हम बाद में इकट्ठा करते हैं।

किसी व्यक्ति को आप देखते ही घृणा करने लगते हैं, फिर आप तर्क खोजते हैं, फिर आप कारण खोजते हैं, क्योंकि बिना कारण हमें अड़चन होती है। अगर कोई हमसे पूछे कि क्यों घृणा करते हो, और हम कहें कि बिना कारण करते हैं, तो हम मूढ़ मालूम पड़ेंगे। तो हम कारण खोजते हैं कि यह आदमी मुसलमान है;

मुसलमान बुरे होते हैं। यह आदमी हिंदू है; हिंदू भले नहीं होते। कि यह आदमी मांसाहारी है; कि इस आदमी का चरित्र खराब है। आप फिर हजार कारण खोजते हैं। वे कारण आपने पीछे से खोजे हैं। भाव आपका पहले निर्मित हो गया। और भाव अचेतन है और कारण चेतन है।

फ्रायड की खोज बड़ी बहुमूल्य है कि प्रत्येक व्यक्ति अंधे की तरह जीता है और सिद्ध करने को कि मैं अंधा नहीं हूँ, कारणों की तजवीज करता है। फिर उनको वह बुद्धि-युक्त ठहरता है। उनको उसने—फ्रायड ने—रेशनॅलाइजेशन्श कहा है।

ईश्वर के साथ भी यही होता है, गुरु के साथ भी यही होता है।

मैंने सुना है : एक सूफी फकीर के पास दो युवक गये। वे साधना में उत्सुक थे और सत्य की खोज करना चाहते थे। उस फकीर ने कहा, 'सत्य और साधना थोड़े दिन बाद; अभी मुझे कुछ और दूसरा काम तुमसे लेना है। लकड़ी चुक गयी है आश्रम में, तो तुम दोनों जंगल में चले जाओ और लकड़ियाँ इकट्ठी कर लो। और अलग-अलग ढेर लगना, क्योंकि तुम्हारी लकड़ी का ढेर केवल लकड़ी का ढेर नहीं है, उससे मुझे कुछ और परीक्षा भी करनी है।'

तो दोनों युवक गये; उन्होंने लकड़ी के दो ढेर लगाये। फिर गुरु सात दिन बाद आया, तो उसने पहले युवक के लकड़ी के ढेर में आग लगाने की कोशिश की। साँझ तक परेशान हो गया। आँखों से आँसू बहने लगे। धुआँ ही धुआँ निकला, आग लगी। सब लकड़ियाँ गीली थीं। शिष्य ने कहा गुरु को कि 'मैं चला। जब तुमसे लकड़ी में आग लगाना नहीं आता, तो तुम मुझे क्या बदलोगे!'

दूसरे युवक की लकड़ियों को गुरु ने आग लगायी; लकड़ियाँ भभक कर जल गईं। सूखी लकड़ियाँ थीं। दूसरा युवक भी पहली घटना देख रहा था, और पहला युवक छोड़ के जा चुका था, और जा के उसने गाँव में प्रचार करना शुरू कर दिया था कि 'यह आदमी बिलकुल बेकार है। एक तो हमारे सात दिन खराब किये, लकड़ी इकट्ठी करवाई। हम गये थे सत्य को खोजने! इसमें कोई तुक नहीं है, संगति नहीं है। फिर हमने पसीना बहा-बहा कर, खून-पसीना करके लकड़ियाँ इकट्ठी कीं। और इस आदमी को आग लगाना नहीं आता। तो उसने लकड़ियाँ भी खराब कीं, धुआँ पैदा किया, हमारी तक आँखें खराब हुईं। और यह आदमी किसी योग्य नहीं है। भूल के कोई दुबारा इसकी तरफ न जाय।'

दूसरा युवक भी यह देख रहा था कि पहला युवक जा चुका है। दूसरे युवक की लकड़ियाँ जब भभक कर जलने लगीं, तो उसने कहा कि 'बस, ठहरो। यह मत समझ लेना कि बड़े अकलमंद हो तुम। लकड़ियाँ सूखी थीं, इसलिए जल गईं। इसमें तुम्हारी कोई कुशलता नहीं है। और मैं चला। अगर तुम इसको अपना ज्ञान समझ रहे हो

कि सूखी लकड़ियों को जला दिया तो कोई बहुत बड़ी बात कर ली, तो तुम से अब सीखने को क्या है!'

दोनों युवक चले गये। गुरु मुस्कुराता हुआ वापस लौट आया। आश्रम में लोगों ने उसे पूछा, 'क्या हुआ!' तो उसने कहा, 'जो होना था, ठीक उससे उलटा हुआ। पहला युवक अगर कहता कि लकड़ियाँ गीली हैं, मैं गीला हूँ, इसलिए तुम्हें जलाने में इतनी कठिनाई हो रही है—तो उसका रास्ता खुल जाता। दूसरा युवक अगर कहता कि तुम्हारी कृपा है कि मेरी लकड़ियों में आग लग गई, तो उसका रास्ता खुल जाता। लेकिन दोनों ने रास्ते बंद कर लिये। और अब दोनों जा कर प्रचार कर रहे हैं; दोनों ने धारणा बना ली, और दोनों उसके लिए तर्क जुटा रहे हैं। मुझसे उन्होंने पूछा नहीं। मेरी तरफ देखा नहीं। मैं क्या कर रहा था, मेरा क्या प्रयोजन था—इसकी उन्होंने कोई खोज न की। सतह से कुछ बातें ले कर वे जा चुके हैं।'

आपको भी, जहाँ भी आपको दूसरे को श्रेष्ठ मानना पड़ता है, वहाँ बड़ी अड़चन आती है। दूसरे को अपने से नीचा मानना बिलकुल सुगम है। हम हमेशा तैयार ही हैं। हम पहले से माने ही बैठे हैं कि दूसरा नीचा है। सिर्फ अवसर की जरूरत है और सिद्ध हो जाएगा। और अगर कोई दूसरा हमसे आगे भी निकल जाय कभी, तो हम जानते हैं कि चालाकी, शरारत, कोई धोखाधड़ी, कोई भाई-भतीजा वाद, कुछ न कुछ मामला होगा, तभी दूसरा आगे गया, नहीं तो हमसे आगे कोई जा कैसे सकता था!

अगर दूसरा हमसे पीछे रह जाय, तो हम समझते हैं : रहेगा ही पीछे; क्योंकि हमसे आगे जाने की कोई योग्यता भी तो होनी चाहिए।

हम जो भी होते हैं, जहाँ भी होते हैं, उसके अनुसार तर्क खोज लेते हैं।

ईश्वर है या नहीं है—यह बड़ा सवाल नहीं। जो व्यक्ति ईश्वर को मान सकता है कि है, उसने अपने को झुकाया, यह बड़ी भारी बात है। ईश्वर न भी हो, तो भी जिसने स्वीकार किया कि ईश्वर है, और अपने को झुकाया, इसके लिए ईश्वर हो जाएगा। और जो कहता है, ईश्वर नहीं है—चाहे ईश्वर हो ही—इसने अपने को अकड़ाया। ईश्वर हो—तो भी इसके लिए नहीं है—तो भी इसके लिए नहीं हो सकेगा। इसके द्वार बंद हैं।

वह जो आसुरी संपदा का व्यक्ति है : 'अहंकार, बल, घमंड, कामना और क्रोधादि के परायण हुआ, दूसरों की निंदा करनेवाला, दूसरों के शरीर में मुझ अंतर्यामी से द्वेष करनेवाला, पापाचारी और क्रूरकर्मी नराधमी—उसको मैं बार-बार आसुरी योनियों में ही गिराता हूँ।'

यह वचन थोड़ा कठिनाई पैदा करेगा, क्योंकि हमें लगेगा कि क्यों परमात्मा गिरायेगा! होना तो यह चाहिए कि कोई आसुरी वृत्ति में गिर रहा हो, तो परमात्मा

उसे रोके, बचाये, दया करे। क्योंकि हम निरंतर प्रार्थना करते हैं कि हे पतितपावन! हे करुणा के सागर, दया करो, बचाओ, मैं पापी हूँ। और ये कृष्ण कह रहे हैं कि ऐसे नराधम, क्रूरकर्मी को मैं संसार में बार-बार आसुरी योनियों में ही गिराता हूँ!

जब ईसाई या इसलाम धर्म को माननेवाले लोग इस तरह के वचन पढ़ते हैं, तो उनको बड़ी कठिनाई होती है, क्योंकि इसलाम में तो परमात्मा के सभी नाम रहीम, रहमान, करीम—सब नाम दया के हैं—कि, वह दयालु है। यह कैसी दया!

और जीसस ने कहा है कि 'तुम प्रार्थना करो, तो सब तरह की क्षमा संभव है। तुम पुकारो, तो क्षमा कर दिये जाओगे।' लेकिन कृष्ण का यह वचन! इसका तो अर्थ यह हुआ—और यही भारतीय प्रज्ञा की खोज है—कि परमात्मा कोई व्यक्ति नहीं है, कि तुम पुकारो और वह क्षमा कर दे। परमात्मा कोई व्यक्ति नहीं है कि तुम उसे फुसला लो, राजी कर लो—प्रशंसा से, खुशामद से, स्तुति से—और वह बदल दे। परमात्मा एक नियम है, व्यक्ति नहीं। इसे थोड़ा समझ लें।

परमात्मा एक व्यवस्था है, व्यक्ति नहीं। तो आग में कोई आदमी हाथ डाले, तो आग जलायेगी। आग जलाने को उत्सुक नहीं है। आग इस आदमी को जलाने के लिए पीछे नहीं दौड़ती। लेकिन यह आदमी आग में हाथ डालता है, तो आग जलाती है, क्योंकि आग का स्वभाव जलाना है, वह उसका नियम है। अगर हम आग से पूछें, तो वह कहेगी, जो मुझमें हाथ डालेगा, उसे मैं जलाऊँगी। आग चूँकि बोलती नहीं, इसलिए हमें यह खयाल में नहीं है।

कृष्ण परमात्मा की तरफ से बोल रहे हैं। वे कहते हैं, जो जागतिक नियम है, युनिवर्सल लॉ है, वह जीवन का आधार-स्तंभ है, उसकी तरफ से बोल रहे हैं। जो व्यक्ति ऐसा कर्म करेगा, इस तरह की दृष्टि और धारणा रखेगा, ऐसा पाप में डूबेगा, उसे मैं गिराता हूँ। गिराने का कुल मतलब इतना ही है कि ऐसा करने से वह अपने आप गिरता है; कोई परमात्मा उसे धक्का नहीं देता। धक्का देने की कोई जरूरत नहीं। वह ऐसा करता है, इसलिए गिरता है।

इसलिए भारत की जो गहरी खोज है, वह कर्म का सिद्धांत है। यह खोज इतनी गहरी है कि जैनों और बौद्धों ने परमात्मा को विदा ही कर दिया। उन्होंने कहा, यह सिद्धांत ही काफी है। परमात्मा को बीच में लाने की कोई जरूरत भी नहीं है। जैनों और बौद्धों ने परमात्मा को इनकार ही कर दिया कि कोई जरूरत ही नहीं परमात्मा को बीच में लाने की। कर्म से मामला साफ हो जाता है। और सच में ही साफ हो जाता है। लेकिन परमात्मा को इनकार करने की कोई भी जरूरत नहीं, क्योंकि परमात्मा का अर्थ ही वह महानियम है—जो इस जीवन को चला रहा है। उसे हम कर्म का नियम कहें, या परमात्मा कहें, एक ही बात है।

वह जो गिरता है अपने हाथ से, नियम उसे गिराता है। आप जमीन पर चलते हैं, सम्हल कर चलते हैं, तो ठीक। उल्टे-सीधे चलते हैं, तो गिर जाते हैं। हाथ-पैर टूट जाता है। कोई जमीन आपको गिराती नहीं है। लेकिन उल्टा-सीधा जो चलता है—नियम के विपरीत—उसके हाथ-पैर टूट जाते हैं।

जमीन स्वेच्छा से, आकांक्षा से आपका हाथ-पैर नहीं तोड़ती, लेकिन जमीन का नियम है : उसके विपरीत जो जाता है, वह टूट जाता है। उसके अनुकूल जो जाता है, वह सहजता से मंजिल पर पहुँच जाता है।

जगत् के नियम को समझकर उसके अनुकूल चलने का नाम धर्म है।

बुद्ध ने धर्म शब्द का अर्थ ही 'नियम' किया है—'दि लॉ'। जब बुद्ध कहते हैं, 'धम्मं शरणं गच्छामि—धर्म की शरण जाओ', तो उसका यही अर्थ है कि नियम की शरण जाओ।

और नियम के अनुकूल चलोगे, तो मुक्त हो जाओगे। नियम के प्रतिकूल चलोगे, तो अपने हाथ से बँधते चले जाओगे। नियम के विपरीत जो जाएगा, वह दुःख पायेगा। नियम के अनुकूल जो जाएगा, वह आनंद को उपलब्ध हो जाता है।

'इसलिए हे अर्जुन, वे मूढ़ पुरुष जन्म-जन्म में आसुरी योनि को प्राप्त हुए मेरे को न प्राप्त हो कर उससे भी अति नीची गति को ही प्राप्त होते हैं।'

जब कोई व्यक्ति गिरना शुरू हो जाता है, तो मोमेन्टम पकड़ता है, गिरने में भी गति आ जाती है। आप कभी सोचें, अगर आप एक झूठ बोलें, तो फिर दूसरा और तीसरा और चौथा...। और दूसरा पहले से बड़ा और तीसरा दूसरे से बड़ा, क्योंकि फिर और बड़ा झूठ बोलना जरूरी है—पिछले झूठ को सम्हालने के लिए। फिर एक गति आ जाती है। फिर उस गति का कोई अंत नहीं है। एक पाप करें, फिर दूसरा, फिर तीसरा—और बड़ा—और बड़ा; तब आप अपने ही हाथ से गिरते चले जाते हैं। और अगर आप गिरना चाहते हैं, तो नियम सहयोग देता है। अगर आप उठना चाहते हैं, तो नियम सीढ़ी बन जाता है।

गहरे में समझने पर आप जो करते हैं, उससे आपकी दिशा निर्मित होती है। सुबह आप उठे और आपने क्रोध किया। आपने दिन के लिए चुनाव कर लिया। अब दूसरा क्रोध पहले से ज्यादा आसान होगा; तीसरा दूसरे से ज्यादा आसान होगा। और साँझ तक आप अनेक बार क्रोध करेंगे और सोचेंगे : न मालूम किस दुष्ट का चेहरा देखा। आइने में अपना ही देखा होगा, क्योंकि किसी दूसरे के चेहरे से आपके जीवन की गति का कोई संबंध नहीं है; आपसे ही संबंध है।

इसलिए सारे धर्मों ने फिक्र की है कि सुबह उठ कर पहला काम परमात्मा की प्रार्थना करना है। उससे मोमेन्टम बदलेगा, उससे गति बदलेगी। प्रार्थना के बाद

एकदम से क्रोध करना मुश्किल होगा। और प्रार्थना के बाद—और प्रार्थनापूर्ण होना आसान हो जाएगा।

जो बात गलत के संबंध में सही है, वही सही के संबंध में भी सही है। जो आप करते हैं, उसी दिशा में करने की और गति आती है। जिस तरफ आप चलते हैं, उस तरफ आप दौड़ने लगते हैं।

दिशा चुनना बड़ा जरूरी है। सुबह उठते ही प्रेम और प्रार्थना और करुणा का भाव हृदय में भर जाय, तो आपकी दिन की यात्रा बिलकुल दूसरी होगी। लेकिन सुबह अगर आप चूक गये, तो बड़ी कठिनाई तो जाती है।

यही बात पूरे जीवन के संबंध में भी लागू है। अगर बचपन में दिशा प्रार्थना और परमात्मा की हो जाय, तो पूरे जीवन की यात्रा आसान हो जाएगी। इसलिए हम अपने बच्चों को इस मुल्क में पुराने दिनों में, पहले ही चरण में गुरुकुल भेज देते थे कि पच्चीस वर्ष तक वे प्रार्थनापूर्ण जीवन व्यतीत करें, क्योंकि उससे गति बनेगी; एक यात्रा का पथ निर्मित होगा। फिर बहुत आसानी से आगे सब हो जाएगा।

एक बार बचपन खो गया, गति बिगड़ गई, पैर डाँवाडोल हो गये, उलटी दिशा पकड़ गई, फिर उसी दिशा में दौड़ शुरू हो जाती है। जवानी दौड़ का नाम है। बचपन में जो दिशा पकड़ ली, जवानी उसी दिशा में दौड़ती चली जाएगी। फिर बुढ़ापा ढलान है। जिस दिशा में आप जवानी में दौड़े, उसी दिशा में आप बुढ़ापे में ढलेंगे। क्योंकि फिर शक्ति क्षीण होती चली जाती है।

अब तो मनोवैज्ञानिक भी स्वीकार करते हैं कि सात वर्ष की उम्र के बच्चे को हम जो दिशा दे देंगे, सौ में निन्यानबे मौके पर वह उसी दिशा में जीवन भर यात्रा करेगा। बहुत शक्ति की जरूरत है—फिर बाद में दिशा बदलने के लिए। शुरू में दिशा बदलना बिलकुल आसान है। कोमल पौधा है, झुक जाता है। फिर रास्ता पकड़ लेता है, फिर उस झुकाव को तोड़ना बहुत कठिन होता जाता है।

बचपन में जाने का तो अब कोई उपाय नहीं, लेकिन रोज सुबह आप फिर से थोड़ा-सा बचपन उपलब्ध करते हैं। कम से कम दिन को दिशा दें। दिन जुड़ते जायँ। अनेक दिन जुड़ के जीवन बन जाता है।

गलत कदम उठाने से अपने को रोकें। उठ जाय, तो बीच से वापस लौटा लें। सही कदम उठाने की पूरी ताकत लगायें; आधा भी जा सकें, तो न जाने से बेहतर है। थोड़े ही दिन में आपकी जीवन ऊर्जा दिशा बदल देगी।

आसुरी दिशा, हम जो कर रहे हैं—क्रोध, मान, अहंकार—उसमें हमें बढ़ाती जाती है। उससे रुकेंगे नहीं, बदलेंगे नहीं, हाथ हटायेंगे नहीं, कुछ छोड़ेंगे नहीं गलत, खाली न होंगे हाथ, तो दैवी संपदा की तरफ बढ़ना बहुत मुश्किल है।

और जिस तरफ आप जाते हैं, उस तरफ...। कृष्ण कहते हैं, 'और भी मैं अति नीची योनियों में गिराता हूँ।' वे गिराते नहीं, कोई गिरानेवाला नहीं है, कोई उठानेवाला नहीं है। आप ही गिरते हैं।

नियम न पक्षपात करता है, न चुनाव करता है। नियम निष्पक्ष है। इसलिए जो भी आप हैं—अपनी ऊर्जा, दिशा और नियम—तीन का जोड़ हैं।

नियम शाश्वत है, सनातन है; आपकी ऊर्जा शाश्वत है, सनातन है; ये दोनों समानांतर हैं। इन दोनों के बीच में एक और तत्त्व है : आपका चुनाव—इस ऊर्जा को नियम के अनुकूल बहाना या नियम के प्रतिकूल बहाना।

नदी बह रही है, नाव आपके पास है, वह आपका जीवन है; नदी नियम है। अब इस नदी के साथ नाव को बहाना है या नदी से विपरीत, नदी से लड़ने में नाव को लड़ाना है?

जो नदी के विपरीत बहेगा, वह आसुरी चित्त दशा को उपलब्ध होता जाएगा, जो नदी के साथ बह जाएगा, उस साथ बहने का नाम समर्पण है; वह दिव्यता को उपलब्ध हो जाता है।

आज इतना ही।

परम नियम की खोज • जीवेषणा-मुक्ति • नरक के द्वार : काम, क्रोध, लोभ

आठवाँ प्रवचन

श्री रजनीश आश्रम, रात्रि, दिनांक ६ अप्रैल, १९७४
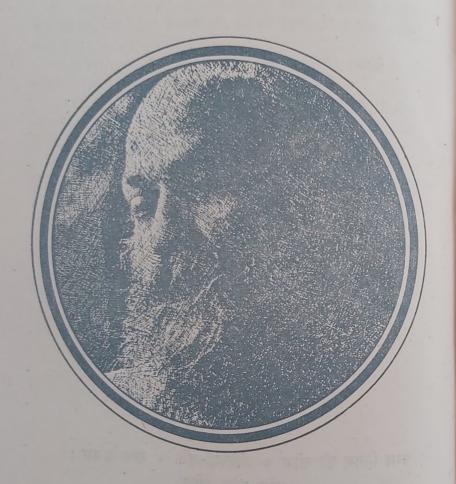
त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् ॥ २१ ॥

एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम् ॥ २२ ॥

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ॥ २३ ॥

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि ॥ २४ ॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे दैवासुरसंपद्विभागयोगो नाम षोडषोऽध्यायः ॥

और हे अर्जुन, काम, क्रोध तथा लोभ—ये तीन प्रकार के नरक के द्वार आत्मा का नाश करने वाले हैं अर्थात् अधोगति में ले जाने वाले हैं, इससे इन तीनों को त्याग देना चाहिए।

क्योंकि हे अर्जुन, इन तीनों नरक के द्वारों से मुक्त हुआ पुरुष अपने कल्याण का आचरण करता है, इससे वह परम गति को जाता है अर्थात् मेरे को प्राप्त होता है।

और जो पुरुष शास्त्र की विधि को त्याग कर अपनी इच्छा से बर्तता है, वह न तो सिद्धि को प्राप्त होता है—और न परम गति को—तथा न सुख को ही प्राप्त होता है।

इसलिए तेरे लिए इस कर्तव्य की व्यवस्था में शास्त्र ही प्रमाण है—ऐसा जान कर तू शास्त्रविधि से नियत किये हुए कर्म को ही करने के लिए योग्य है।

॥ 'दैव असुर संपद विभाग योग' नामक सोलहवाँ अध्याय समाप्त ॥

पहले कुछ प्रश्न।

● पहला प्रश्न : ईश्वर और धर्म यदि परम नियम के ही नाम हैं, उससे अन्यथा कुछ भी नहीं, तो प्रार्थना, भक्ति, आराधना—सब व्यर्थ हो जाते हैं। तब तो धर्म विज्ञान का पर्याय हो जाता है और उस परम नियम की खोज में निकलना मात्र-धर्म रह जाता है। इस पर कुछ और प्रकाश डाल।

ऐसा प्रश्न मन में उठेगा : यदि धर्म-मात्र नियम है, तो स्वभावतः धर्म विज्ञान ही हो गया, फिर प्रार्थना कैसी—किससे? आराधना कैसी—और किसकी? तब पूजा, भक्ति सब व्यर्थ हो जाते हैं, क्योंकि हमने अब तक ऐसा ही समझा है कि प्रार्थना तभी हो सकती है, जब व्यक्तिगत रूप से ईश्वर मौजूद हो। हमने अब तक ऐसा ही सुना और समझा है कि पूजा तभी हो सकती है, जब पूजा लेनेवाला मौजूद हो। आराधना और भक्ति तभी सार्थक है, जब भगवान् हो; कोई व्यक्ति की तरह मौजूद हो, जो स्वीकार करे, अस्वीकार करे; स्तुति से प्रसन्न हो, निंदा से नाराज हो। कोई प्रतिक्रिया करनेवाला मौजूद हो, तो ही हमारे प्रेम की पुकार का कोई अर्थ है; कोई जवाब दे...। हमने अब तक ऐसा ही समझा है, इसलिए प्रश्न उठता है। लेकिन हमारी समझ भ्रांत है; हमारी समझ में भूल है।

प्रार्थना की उपादेयता 'परमेश्वर है'—इससे जरा भी नहीं है। प्रार्थना करने का सारा विज्ञान प्रार्थना करनेवाले से संबंधित है। भगवान् हो या न हो, व्यक्ति की तरह कोई आकाश में बैठ कर जीवन को चलाता हो या न चलाता हो, भक्ति का उससे कुछ लेना-देना नहीं। भक्ति तो भक्त की अंतर्दशा है।

भक्त को कठिन होगा—बिना भगवान् के भक्तिपूर्ण होना, इसलिए सभी धर्मों ने भगवान् की धारणा को पोषित किया है। यह सिर्फ भक्त को सहारा देने के लिए है,

लेकिन अगर समझ हो, तो भक्ति अपने आप में पूरी है, भगवान् की कोई भी जरूरत नहीं। प्रार्थना अपने आप में पूरी है, कोई उसे सुनता हो कि न सुनता हो; सुननेवाला आवश्यक नहीं। आराधना पर्याप्त है, आराध्य जरा भी आवश्यक नहीं है। जब मैं यह कहता हूँ, तो क्या मेरा अर्थ होगा!—क्योंकि बात कठिन लगेगी।

आराधना हमारी तभी समझ में आती है, जब आराध्य हो; पूजा तभी समझ में आती है, जब कोई पूज्य हो। लेकिन मैं आपसे कहना चाहूँगा कि पूजा चित्त की एक दशा है।

बुद्ध किसी भगवान् को मानते नहीं, फिर भी उनकी आराधना में रत्ती भर कमी नहीं। किसी परमेश्वर की उनके मन में कोई धारणा नहीं, लेकिन बुद्ध से ज्यादा प्रार्थनापूर्ण हृदय आप खोज पाइएगा?

एच० जी० वेल्स ने लिखा है कि बुद्ध जैसा ईश्वर-रहित और ईश्वर-जैसा व्यक्ति खोजना कठिन है—'सो गॉडलेस एण्ड सो गॉड लाइक'। इसे हम थोड़ा-सा अंतःर्मुखी हों, तो खयाल में आ सकेगा।

क्या आप प्रेमपूर्ण हो सकते हैं—बिना प्रेमी के हुए? क्या प्रेमपूर्ण होना आपके जीवन का ढंग और शैली हो सकती है? क्या प्रेमपूर्ण होना आपकी भावदशा हो सकती है? तो फिर आप उठेंगे भी तो प्रेम से, बैठेंगे भी तो प्रेम से, भोजन करेंगे तो भी प्रेम से, सोने जाएँगे तो भी प्रेम से। कोई प्रेमी नहीं होगा, लेकिन आप प्रेमपूर्ण होंगे। फिर जो भी आपके मार्ग पर आ जाएगा, वही आपको प्रेमी जैसा मालूम पड़ेगा। एक पक्षी भी उड़ जाएगा आपके आनंद से और आप प्रेमपूर्ण होंगे, तो पक्षी प्रेमी हो जाएगा। कोई भी न होगा, सूना आकाश होगा आपके आंगन का और आपका हृदय प्रेमपूर्ण होगा, तो सूना आकाश भी व्यक्तित्व ले लेगा।

व्यक्ति की जरूरत नहीं है, हृदय प्रेमपूर्ण हो, तो प्रेमपूर्ण हृदय जिस तरफ भी प्रकाश डालता है; वहीं व्यक्तित्व निर्मित हो जाता है।

भगवान् नहीं है, भक्त है। और भक्त का हृदय जहाँ भी देखता है, वहीं भगवान प्रगट हो जाता है। इसे थोड़ा समझने की जरूरत है।

यह भक्त के हृदय की सृजनकला है कि वह जहाँ भी आँख डालता है, वहाँ भगवान पैदा हो जाता है। वह वृक्ष में देखेगा, तो वृक्ष में भगवान् प्रगट हो जाएगा। यह आपकी आँख पर निर्भर है कि आप क्या पैदा कर लेते हैं। भगवान् भक्त का सृजन है।

धर्म तो नियम है; धर्म कोई व्यक्ति नहीं है, धर्म तो शक्ति है। इसलिए 'भगवान्' शब्द ठीक नहीं है,—'भगवत्ता'; डीइटि नहीं—डिव्हिनिटि। कोई व्यक्ति की तरह बैठा हुआ पुरुष नहीं है ऊपर, जो चला रहा हो। लेकिन यह सारा जगत् चल रहा है। चलने की घटना घट रही है; कोई चलानेवाला नहीं है। यह जो चलने का

विराट् उपक्रम चल रहा है, यह जो चलने की महान ऊर्जा है, यह जो शक्ति है, यह शक्ति ही भगवान् हो जाती है, अगर हृदय में भक्ति हो। यह शक्ति ही प्रकृति मालूम पड़ती है, अगर हृदय में भक्ति न हो।

प्रकृति और परमात्मा दो तरह के हृदय की व्याख्याएँ हैं। जिसके हृदय में कोई भक्ति नहीं, उसे चारों तरफ प्रकृति दिखाई पड़ती है, पदार्थ दिखाई पड़ता है। जिसके हृदय में भक्ति है, उसे चारों तरफ परमात्मा दिखाई पड़ता है, परमेश्वर दिखाई पड़ता है।

परमेश्वर और प्रकृति एक ही विराट् घटना की व्याख्याएँ हैं। और आपके हृदय पर निर्भर है कि व्याख्या आप कैसी करेंगे। आप वही देख लेंगे, जो आपके हृदय में आविर्भूत हुआ है।

प्रार्थना, पूजा, आराधना भगवान् के कारण नहीं हैं, लेकिन प्रार्थना, पूजा, आराधना के कारण जगत् भगवान् जैसा दिखाई पड़ना शुरू हो जाता है।

भगवान् है, और इसलिए हम प्रार्थना करते हैं—ऐसा नहीं। हम प्रार्थना करते हैं, इसलिए भगवान् हो जाता है।

लोग कहते हैं, 'भगवान् ने आपको बनाया', और मैं आपको कहता हूँ कि आपकी भक्ति भगवान् को सृजित करती है। जहाँ आपकी भक्ति होगी, वहाँ भगवान प्रगट हो जाता है। जहाँ से आपकी भक्ति विदा हो जाएगी, वहीं भगवान् विदा हो जाएगा। भगवान् आपकी आँखों का देखने का ढंग है।

धर्म तो नियम है, लेकिन उस नियम में उतरना—आपको अपने को बदलना पड़े—तभी हो सकता है।

प्रार्थना आपको बदलने के लिए है। आमतौर से हम प्रार्थना करते हैं, परमात्मा को बदलने के लिए। आप बीमार हैं, तो आप प्रार्थना करते हैं कि 'मुझे ठीक करो'। परमात्मा का इरादा बदलने की चेष्टा है हमारी प्रार्थना। अगर आप बीमार हैं और सच में ही भक्त हैं, तो आपको स्वीकार करना चाहिए कि परमात्मा चाहता है कि मैं बीमार होऊँ, इसलिए मैं बीमार हूँ। परमात्मा का दृष्टिकोण बदलने की चेष्टा हम करते हैं कि मुझे स्वस्थ कर; कि मैं गरीब हूँ, मुझे अमीर कर; कि मैं दुःखी हूँ, मुझे सुखी कर; अपनी दृष्टि बदल। हम परमात्मा का ध्यान आकर्षित करते हैं कि बदलो; जो चल रहा है, वह ठीक नहीं; मैं उससे राजी नहीं।

और हम उसकी खुशामद करते हैं, क्योंकि हमने जीवन में सीखा है कि मनुष्य को हम खुशामद से प्रभावित कर सकते हैं, इसलिए हम सोचते हैं : जिस ढंग से आदमी प्रभावित होता है, उसी ढंग से परमात्मा भी प्रभावित होगा, तो हम स्तुति करते हैं; हम उसका गुणगान करते हैं : तुम बहुत महान हो। लेकिन हमारी इस सारी चेष्टा

में छिपा क्या है? मन की आकांक्षा क्या है? यही कि तुम जो कह रहे हो, वह ठीक नहीं।

और हमारी स्तुति में एक तरह की धमकी है—कि अगर तुम यह बंद नहीं करोगे, तो यह स्तुति बंद हो जाएगी, तो यह प्रार्थना समाप्त हो जाएगी; फिर तुम्हें कोई पूजनेवाला नहीं है। अगर पूजा जारी रखवानी है, तो हमारी मरजी के अनुसार थोड़ा कुछ करो।

हमारी सारी प्रार्थनाएँ माँगें हैं; हम कुछ माँगते हैं; और हमारी मौलिक माँग यह है कि हम ठीक हैं और तुम गलत हो।

एक बहुत बड़े विचारक अल्डस हक्सले ने लिखा है कि परमात्मा से हम जब भी प्रार्थना करते हैं, तो हम चाहते हैं कि दो और दो चार न हों। हमारी सारी प्रार्थनाओं का रूप यही है कि दो और दो चार न हों। हमने पाप किये हैं, उसके कारण हम दुःख भोगते हैं। वह दो और दो चार हो रहे हैं। हम चाहते हैं, दुःख हमें न मिलें। पाप हमने किये हैं, क्षमा तुम कर दो!

जो भी हम भोग रहे हैं, वह हमारे कृत्यों का जोड़ है। लेकिन उसमें तुम बदलाहट कर दो। दो और दो चार होते हैं, लेकिन हम चाहते हैं कि या तो तुम पाँच करो या तुम तीन करो; चार भर न हो पाये। हमारी सारी प्रार्थनाएँ गणित को डगमगाने के लिए हैं, नियम को तोड़ने के लिए हैं; अन्यथा प्रार्थना का हमारा क्या प्रयोजन है?

इस प्रार्थना की अगर आप धारणा रखते हैं, तब तो बिना परमात्मा के प्रार्थना व्यर्थ हो जाएगी, क्योंकि अगर वहाँ कोई है ही नहीं, सिंहासन खाली है, तो आप सिर पटकते रहो, बेकार है। आप तभी तक सिर पटक सकते हो, जब तक भरोसा रहे कि सिंहासन पर कोई है, तो शायद हमारे सिर पटकने से बदलेगा।

और हम अपने मन को समझा लेते हैं, अगर कभी बदलाहट हो जाती है। हमारी प्रार्थनाओं के कारण कोई बदलाहट नहीं होती, न कोई परमात्मा बदलाहट करनेवाला है। लेकिन जीवन के अनंत संयोगों में कभी-कभी हमारी प्रार्थना संयोगों से मेल खाती है, बदलाहट हो जाती है, तो हम उसे धन्यवाद देते हैं। अगर बदलाहट नहीं होती, तो हम नाराजगी जाहिर करते हैं।

मेरे पास लोग आते हैं, वे कहते हैं कि 'हम तो छोड़ने के करीब आ गये थे कि यह धर्म-वर्म सब व्यर्थ है। लेकिन प्रार्थना पूरी हो गई, तब से आस्था बढ़ गई।' मेरे पास लोग आते हैं, वे कहते हैं, 'हम थक गये प्रार्थना कर करके, कोई फल न आया; आस्था उठ गई।'

आस्था किसी की भी नहीं है। प्रार्थना पूरी हो जाय, तो आस्था जमती है; प्रार्थना न पूरी हो, तो आस्था उखड़ जाती है।

मैंने सुना है कि मुल्ला नसरुद्दीन रोज सुबह प्रार्थना करता था—काफी जोर से। परमात्मा सुनता था कि नहीं, पड़ोस के लोग सुन लेते थे कि 'सौ रुपये से कम न लूँगा; निन्यानबे भी देगा, नहीं लूँगा। जब भी दे, सौ पूरे देना।'

पड़ोसी सुनते-सुनते परेशान हो गये। एक पड़ोसी ने तय किया कि इसको एक दफा निन्यानबे रुपये दे के देखें भी तो सही। वह कहता है कि निन्यानबे कभी न लूँगा, सौ ही लूँगा। उसने एक दिन सुबह जैसे ही मुल्ला प्रार्थना कर रहा था, एक निन्यानबे की थैली उसके झोपड़े के आँगन में फेंक दी।

मुल्ला ने पहला काम रुपये गिनने का किया। वह आधी प्रार्थना आधी रह गई; वह पूरी नहीं कर पाया, नमाज पूरी नहीं हो सकी। उसने जल्दी से पहले गिनती की। निन्यानबे पा कर उसने कहा, 'वाह रे परमात्मा, एक रुपया थैली का तूने काट लिया!' उसने निन्यानबे स्वीकार कर लिये।

हमारी बनाई हुई प्रार्थना; हमारी प्रार्थना—और हम हिसाब लगा रहे हैं। वहाँ कोई है या नहीं—इससे बहुत प्रयोजन नहीं है। इसलिए अगर आपको पक्का हो जाय कि परमात्मा नहीं है, तो आपकी प्रार्थना टूट जाएगी, यह मैं जानता हूँ। इसलिए प्रश्न सार्थक है। लेकिन जो प्रार्थना परमात्मा के न होने से टूट जाती है, वह प्रार्थना थी ही नहीं।

प्रार्थना का कोई भी संबंध परमात्मा को बदलने से नहीं है; प्रार्थना आपको बदलने की कीमिया है। जब आप प्रार्थना करते हैं, तो वहाँ आकाश में बैठा हुआ परमात्मा नहीं रूपांतरित होता। जब आप प्रार्थना करते हैं, तो उस प्रार्थना करने में आप बदलते हैं।

तो प्रार्थना एक प्रयोग है, जिस प्रयोग से आप अपने अहंकार को तोड़ते हैं; अपने को झुकाते हैं। वहाँ कोई नहीं बैठा है, जिसके आगे आप अपने को झुकाते हैं। झुकने की घटना का परिणाम है। आप झुकते हैं। आपको कठिन है बिना परमात्मा के, इसलिए कोई हर्जा नहीं। आप मानते रहें कि परमात्मा है, लेकिन असली जो घटना घटती है, वह आपके झुकने से घटती है। आप झुकना सीखते हैं, किसी के सामने समर्पित होना सीखते हैं। कहीं आपका माथा झुकता है; जो सदा अकड़ा हुआ है, वह कहीं जा के झुकता है। कहीं आप घुटने के बल छोटे बच्चे की तरह हो जाते हैं; कहीं आप रोने लगते हैं, आँखों से आँसू बहने लगते हैं, आप हलके हो जाते हैं। और 'मैं कर सकता हूँ'—यह धारणा प्रार्थना से टूटती है। 'तू करेगा'—सवाल नहीं है; मैं कर सकता हूँ—यह धारणा टूटती है। 'मैं नहीं कर सकूँगा'—तभी हम प्रार्थना करते हैं।

मुझसे नहीं हो सकेगा—इसके गहरे अर्थ को समझें। इसका अर्थ है : जहाँ भी

आपको समझ में आ जाता है कि कर्ता मैं नहीं हूँ, वहीं प्रार्थना शुरू हो जाती है। यह कर्तृत्व को खोने की तरकीब है, वह जो कर्तृत्व है—कि मैं करता हूँ, वह जो अहंकार है, वह जो मेरी अस्मिता है—कि करनेवाला मैं हूँ, उसके टूटने का नाम प्रार्थना है।

जब आप घुटने टेक देते हैं, सिर झुका देते हैं और कहते हैं, 'मुझसे कुछ भी न होगा, अब तू ही कर, मेरे बस के बाहर है। तूही उठा; अब मुझसे चलना नहीं हो सकेगा; तू ही चला'; इसका परमात्मा से कोई संबंध नहीं है; वहाँ कोई है भी नहीं, जो इसको सुन रहा है। लेकिन यह कहनेवाला हृदय अपने अहंकार को विसर्जित कर रहा है। और जो आनंद इस प्रार्थना से घटित होगा, वह किसी का भी दिया हुआ नहीं है; आपके ही अहंकार छोड़ने से आपको मिलता है।

धर्म तो एक नियम है। जो झुकता है, उसकी समृद्धि बढ़ती चली जाती है; जो अकड़ता है, उसकी समृद्धि टूटती चली जाती है। जो जितना अकड़ जाता है उतना मुरदा हो जाता है। जो जितना झुक जाता है, जितना लोचपूर्ण हो जाता है, फ्लेक्सिबल हो जाता है, उतना ही जीवंत हो जाता है।

बच्चें और बूढ़े में वही फर्क है। बूढ़े की हड्डी-हड्डी अकड़ गयी है। अब वह झुक नहीं सकता। बच्चा लोचपूर्ण है। प्रार्थना आपको लोच देती है, फ्लेक्जिबिलिटी देती है, आपको झुकना सिखाती है।

जो प्रार्थना नहीं करता, वह अकड़ जाता है; असमय में बूढ़ा हो जाता है, असमय में मृत हो जाता है; जीते-जी मुरदा हो जाता है। और जो प्रार्थना करता है, उसे मृत्यु भी नहीं मिटा पाती। मृत्यु के क्षण में भी वह लोचपूर्ण होता है, मृत्यु के क्षण में भी वह बच्चे जैसा जीवंत होता है।

जो व्यक्ति प्रार्थना की कला सीख लेता है, उसे परमात्मा से कोई संबंध नहीं है। परमात्मा सिर्फ बहाना है, ताकि प्रार्थना हो सके। परमात्मा सिर्फ खूंटी है, जिस पर हम प्रार्थना की कोट को टाँग सकें।

असली बात प्रार्थना है।

इसलिए बुद्ध और महावीर जैसे महाज्ञानियों ने परमात्मा को बिलकुल इनकार ही कर दिया। लेकिन प्रार्थना को इनकार नहीं कर सके। प्रार्थना जारी रही। पूजा को इनकार न कर सके; पूजा जारी रही। समर्पण को इनकार नहीं कर सके; समर्पण जारी रहा। इसलिए जैन धर्म बहुत ज्यादा जनता तक नहीं पहुँच सका, क्योंकि यह बात ही समझ में नहीं आती : अगर भगवान् ही नहीं है, तो फिर कैसी आराधना! जब परमात्मा नहीं है, तो पूजा किसकी?

तो जैन विचार बहुत थोड़े लोगों की पकड़ में आया, ज्यादा लोग उसके साथ नहीं

चल सके। और जो थोड़े-से लोग भी प्रथम दिन चले थे, वे ही समझदार थे। पीछे तो उनकी संतान सिर्फ अंधेपन के कारण चलती है। उनके माँ-बाप जैन थे, इसलिए वे भी जैन हैं। लेकिन उनकी भी समझ में नहीं आता। और इसलिए उन्होंने फिर नये उपाय कर लिये। बिना परमात्मा के तो पूजा हो नहीं सकती, तो फिर महावीर को ही परमात्मा की जगह बिठा दिया; फिर पूजा जारी हो गई! अब कोई फर्क नहीं है—जैन और हिंदू में। हिन्दू प्रार्थना कर रहा है : राम से, कृष्ण से। जैन प्रार्थना कर रहा है : महावीर से, ऋषभ से, नेमीनाथ से। इससे कोई फर्क नहीं पड़ता।

लेकिन परमात्मा के बिना प्रार्थना करना बड़ा कठिन है; जो कर पाये, उसके जीवन में बड़े फूलों की वर्षा हो जाती है। लेकिन आप न कर पाते हों, तो परमात्मा से शुरू करें; कोई हर्जा नहीं। परमात्मा सिर्फ खिलौना है; असली चीज है कि प्रार्थना घट जाय। जिस दिन प्रार्थना घट जाएगी, उस दिन तो आप खुद समझ जाएँगे कि परमात्मा के होने न होने का सवाल नहीं है।

धर्म नियम है, इसलिए मैंने कहा। और जो भी घटता है जीवन में, वह एक आत्यंतिक नियम के कारण घटता है। आपकी प्रार्थनाओं के कारण कुछ भी नहीं घटता। आपकी पूजा के कारण कुछ भी नहीं घटता। हाँ, अगर पूजा आपको, प्रार्थना आपको बदल देती हो, तो आप जीवन के अनुकूल बहने लगते हैं। उस नियम के अनुकूल बहने से घटना घटती है।

हम जीवन में करीब-करीब उन्हीं-उन्हीं भूलों को बार-बार दोहराते हैं। पिछले जन्म में भी आपने वहीं भूलें कीं; उसके पिछले जन्म में भी वही भूलें कीं, आज भी वही कर रहे हैं! और डर यह है कि शायद कल और आनेवाले जन्म में भी वही भूलें करेंगे। हर पीढ़ी उन्हीं-उन्हीं भूलों को दोहराती है; हर आदमी उन्हीं भूलों को दोहराता है।

बड़ी से बड़ी भूल जो है, वह यह है कि हम अन्तरस्थ भावों को भी बिना आब्जेक्टिफाइ किये, बिना उनको वस्तु में रूपांतरित किये स्वीकार नहीं कर पाते। भाव तो भीतरी है, लेकिन उस भाव को भी सम्हालने के लिए हमें बाहर के सहारे की जरूरत पड़ती है। यह बुनियादी भूलों में से एक है।

अगर आप प्रसन्न हैं और कोई आपसे पूछे कि आप क्यों प्रसन्न हैं, तो आप यह नहीं कह सकते कि मैं बस, प्रसन्न हूँ। 'क्यों' का क्या सवाल है? आप कारण बतायेंगे कि मैं इसलिए प्रसन्न हूँ कि आज मित्र घर आया। इसलिए प्रसन्न हूँ, कि धन मिला। इसलिए प्रसन्न हूँ कि लॉटरी जीत गया। आप कोई कारण बतायेंगे। आप इतनी हिम्मत नहीं कर सकते कि कह सकें कि मैं प्रसन्न हूँ, क्योंकि प्रसन्न होने में प्रसन्नता है।

और मूढ हैं वे, जो कारण खोजते हैं। क्योंकि कारण खोजनेवाला बहुत ज्यादा प्रसन्न नहीं हो सकता। कितने कारण खोजियेगा? रोज कारण नहीं मिल सकते। और आज कारण मिल जाएगा, और घड़ी भर बाद कारण चुक जाएगा। लॉटरी मिल गई, एक धक्का लगा, खुशी आ गई। फिर? मित्र आज घर आ गया, कल कोई और घटना घट गई।

अगर जिंदगी में कारण से प्रसन्नता आती हो, तो बहुत थोड़ी प्रसन्नता आयेगी; इसलिए लोगों के जीवन में सुख बहुत कम है, दुःख बहुत ज्यादा है। क्योंकि कारण से जब सुख मिलेगा, तब सुख; अन्यथा दुःख ही दुःख है। दुःख अकारण हमने स्वीकार किया है; सुख के लिए हम कारण खोजते हैं।

और अगर आप प्रसन्न हैं—बिना कारण के, तो लोग समझेंगे, आप पागल हैं। क्यों, बिना कारण के प्रसन्न हैं! कोई कारण तो चाहिए। अगर आप प्रसन्न हो रहे हैं, मुसकरा रहे हैं, नाच रहे हैं—बिना किसी कारण के; न लाटरी मिली, न पत्नी मायके गई, कोई खुशी का कारण नहीं है, और आप प्रसन्न हो रहे हैं, तो लोग समझेंगे कि आप पागल हैं।

ये जो, जिनको हमने संत कहा है, उनके जीवन का रहस्य यही है कि उन्होंने बिना कारण प्रसन्न होने का रास्ता खोज लिया। संत और संसारी में यही भेद है।

संसारी कारण खोजता है पहले। पहले सब प्रमाण मिल जायँ, तब वह प्रसन्न होगा। संत प्रसन्न होता है, प्रमाण का कोई आधार नहीं खोजता। क्या फर्क हुआ?

संत अंतरस्थ भाव में जीता है। बाहर ऑब्जेक्टिफिकेशन नहीं खोजता, बाहर वस्तु रूप में प्रमाण नहीं चाहता। तो संत कहता है, प्रार्थना काफी है, परमात्मा हो या न हो। हो—तो ठीक; न हो—तो भी उतना ही ठीक। इससे संत की प्रार्थना में कोई फर्क नहीं पड़ता।

संत प्रेम करता है, प्रेमी की तलाश नहीं करता। प्रेम में ही इतना आनंद है कि अब प्रेमी का उपद्रव लेने की कोई जरूरत नहीं है।

संत ध्यान करता है। लेकिन ध्यान के लिए कोई विषय नहीं खोजता। विषय से मुक्ति हो, वस्तु से मुक्ति हो, पदार्थ से मुक्ति हो, और अंतर्भाव में रमण हो, तो जीवन की परम समाधि अपने आप सध जाती है।

लेकिन हमें सब जगह बाहर कुछ चाहिए। अगर बाहर हमें कुछ न मिले, तो हम बिलकुल खाली हो जाते हैं, क्योंकि भीतर हमने कभी फिक्र नहीं की। और हमने भीतर की जड़ें नहीं खोजीं, जिनसे सारे जीवन के फूल खिल सकते हैं। बाहर की कोई भी जरूरत नहीं है—जब तक ऐसा समझ में न आये, तब तक बाहर का सहारा लेकर चलें। लेकिन ध्यान रखें कि वह सहारा, सिर्फ सहारा है; वहाँ कोई है नहीं। इसका

क्या अर्थ हुआ? इसका क्या यह अर्थ हुआ कि मैं कह रहा हूँ, परमात्मा नहीं है। नहीं, मैं सिर्फ इतना ही कह रहा हूँ जिस परमात्मा को आप सोचते हैं, वह नहीं है। जो परमात्मा आपने निर्मित किया है, वह नहीं है। परमात्मा का तो एक ही अर्थ है: वह समग्र अस्तित्व, टोटेलिटि, यह जो पूर्णता है; ये जो वृक्ष हैं, पौधे हैं, पत्थर हैं, जमीन है, चाँद-तारे हैं, मनुष्य हैं, पशु-पक्षी हैं—यह जो सारा फैलाव है, यह जो ब्रह्म है, यह जो विस्तार है, यह सब कुछ परमात्मा है। और जिस दिन आपको अपने में झुकने की कला आ जाएगी, आपका मस्तिष्क झुक सकेगा, लोचपूर्ण होगा, हृदय आनंदित, प्रफुल्लित होगा, प्रार्थना के स्वर वहाँ गूँजते होंगे, पैरों में धुन होगी आराधना की, भक्ति का भाव होगा, तब आप पायेंगे कि यह सब परमात्मा है। उस दिन आप देखेंगे कि जीवन नियम से चल रहा है। और धर्म भी विज्ञान है। लेकिन वस्तुतः धर्म परम विज्ञान है, सुप्रीम साइंस है।

इस प्रश्न का दूसरा हिस्सा भी समझने जैसा है : 'तब तो धर्म विज्ञान का पर्याय हो जाता है और उस परम नियम की खोज में निकलना मात्र-धर्म रह जाता है।'

निश्चित ही उस परम नियम की खोज में निकलना ही धर्म है। लेकिन वह परम नियम अगर बाहर आप खोजते हैं, तो आप वैज्ञानिक हो जाते हैं। और उस परम नियम को आप भीतर खोजते हैं, तो धार्मिक हो जाते हैं।

वैज्ञानिक भी धर्म ही खोज रहा है, लेकिन पदार्थ में खोज रहा है, बाहर खोज रहा है। और अगर आप भी धर्म को मंदिर में खोजते हैं, मसजिद में खोजते हैं, तो आप भी बाहर खोज रहे हैं। आप में और वैज्ञानिक में बहुत फर्क नहीं है।

धार्मिक उसी नियम को भीतर खोजता है, क्योंकि धार्मिक व्यक्ति की यह प्रतीति है कि जिसे मैं भीतर न पा सकूँगा, उसे मैं बाहर कैसे पा सकूँगा। क्योंकि भीतर मेरा निकटतम है, जब भीतर ही मेरे हाथ नहीं पहुँच पाते, तो बाहर मेरे हाथ कहाँ पहुँच पायेंगे? हाथ बड़े छोटे हैं।

अपने ही भीतर नहीं छू पाता उसे, तो मैं आकाश में उसे कैसे छू पाऊँगा? और जो मेरे हृदय से भी पास है, और जो मेरे प्राणों से भी निकट है, जो मेरी धड़कन-धड़कन में समाया है, वहाँ नहीं सुन पाता उसे, तो बादलों की गड़गड़ाहट में कैसे सुन पाऊँगा? बहुत दूर है बादल। और जो ज्योति मेरी भीतर जल रही है, वहाँ उससे मेरा मिलन नहीं होता, तो सूरज, चाँद, तारों की ज्योति में मैं उसे नहीं पहचान पाऊँगा।

जब सत्य इतना निकट हो और हम उसे वहाँ चूक जाते हों, तो हमारी दूर की सब यात्रा व्यर्थ है। भीतर मुझे वह दिखाई पड़ जाय, तो सब जगह मैं उसे पहचान लूँगा। निकट पहचान हो जाय, तो दूर भी वह मुझे दिखाई पड़ने लगेगा, क्योंकि

जिसे हम दूरी कहते हैं, वह भी निकटता का ही फैलाव है। पर पहली घटना, पहली क्रांति भीतर घटेगी।

वैज्ञानिक दृष्टि का मतलब है : सदा बाहर; धार्मिक दृष्टि का अर्थ है : सदा भीतर।

वैज्ञानिक दूर से शुरू करता है और निकट आने की कोशिश करता है। यह कभी भी नहीं हो पायेगा, क्योंकि वह दूरी अनंत है; जीवन बहुत छोटा है। अनेक-अनेक जन्म खोते जाएँगे, तो भी वह दूरी बनी रहेगी।

धार्मिक व्यक्ति उसे भीतर से शुरू करता है और फिर बाहर की तरफ जाता है। और भीतर जिसने उसे छू लिया, वह तरंग पर सवार हो गया; उसने लहर पकड़ ली; उसके हाथ में नाव आ गई। अब कोई जल्दी भी नहीं है। वह दूसरा किनारा न भी मिले, तो भी कुछ खोता नहीं है। वह दूसरा किनारा कभी भी मिल जाएगा, अनंत में कभी-भी मिल जाएगा, तो भी कोई चिंता नहीं है। कोई डर भी नहीं है—उसके खोने का। मिले तो भी ठीक, न मिले तो भी ठीक। लेकिन आप ठीक नाव पर सवार हो गये।

जिसने अंतस् में पहचान लिया, उसकी यात्रा कभी भी मंजिल पर पहुँचे या न पहुँचे, मंजिल पर पहुँच गई। वह बीच नदी में डूब कर मर जाय, तो भी कोई चिंता की बात नहीं है। अब उसके मिटने का कोई उपाय नहीं है। अब नदी का मध्य भी उसके लिए किनारा है।

धार्मिक व्यक्ति भीतर से बाहर की तरफ फैलता है, और जीवन का सभी विस्तार भीतर से बाहर की तरफ है। आप एक पत्थर फेंकते हैं पानी में; छोटी-सी लहर उठती है, पत्थर के किनारे; फिर फैलना शुरू होती है। भीतर से उठी लहर पत्थर के पास, फिर दूर की तरफ जाती है। आपने कभी इससे उलटा देखा—कि लहर किनारों की तरफ पैदा होती हो और फिर सिकुड़ कर भीतर की तरफ बढ़ती हो!

एक बीज को आप बो देते हैं, फिर वह फैलना शुरू हो जाता है। फिर वह फैलता जाता है; फिर एक विराट् वृक्ष पैदा होता है। और उस विराट् वृक्ष में एक बीज की जगह करोड़ों बीज लगते हैं। फिर वे बीज भी गिरते हैं। फिर फूटते हैं, फिर फैलते हैं।

जीवन की गति बाहर से भीतर की तरफ नहीं है। जीवन की गति हमेशा भीतर से बाहर की तरफ है। यहाँ बूँद सागर बनती देखी जाती है; यहाँ बीज वृक्ष बनते देखा जाता है। धर्म इस सूत्र को पहचानता है। और आपके भीतर जहाँ लहर उठ रही है हृदय की, वहीं से पहचानने की जरूरत है; और वहीं से जो पहचानेगा, वही पहचान पायेगा।

लेकिन जैसा मैंने कहा, कि हम नियमित रूप से बँधी-बँधाई भूलें दोहराते हैं।

आदमी बड़ा अमौलिक है। हम भूल तक ओरिजिनल नहीं करते; वह भी हम पुरानी पिटी-पिटाई करते हैं।

मैंने सुना है कि मुल्ला नसरुद्दीन की पत्नी उस पर नाराज थी। बात ज्यादा बढ़ गई और पत्नी ने चाभियों का गुच्छा फेंका और कहा कि 'मैं जाती हूँ। अब बहुत हो गया; अब सहने के बाहर है। मैं अपने माँ के घर जाती हूँ और कभी लौट के न आऊँगी।'

नसरुद्दीन ने गौर से पत्नी को देखा और कहा कि 'अब जा ही रही हो, तो एक खुशखबरी सुनती जाओ। कल ही तुम्हारी माँ तुम्हारे पिता से लड़कर अपने माँ के घर चली गई है। और जहाँ तक मैं समझता हूँ, वहाँ वह अपनी माँ को शायद ही पाये।

एक वर्तुल है—भूलों का। वह एक-सा चलता जाता है। एक बंधी हुई लकीर है, जिसमें हम घूमते चले जाते हैं। हर पीढ़ी वही भूल करती है; हर आदमी वही भूल करता है—हर जन्म में वही भूल करता है। भूलें बड़ी सीमित हैं।

धर्म की खोज की दृष्टि से यह बुनियादी भूल है कि हम बाहर से भीतर की तरफ चलना शुरू करते हैं, क्योंकि यह जीवन के विपरीत प्रवाह है, इसमें सफलता कभी भी मिल नहीं सकती। सफलता उसी को मिल सकती है, जो जीवन के ठीक प्रवाह को समझता है, और भीतर से बाहर की तरफ जाता है।

● दूसरा प्रश्न : आप कहते हैं कि सभी द्वैत से ऊपर उठ कर परम मुक्ति को उपलब्ध होने के लिए समस्त जीवेषणा की निर्जरा अनिवार्य है। आज के समय के अनुकूल जीवेषणा मुक्ति की सम्यक् विधि बतायें।

जीवेषणा—लस्ट फॉर लाइफ—का अर्थ ठीक से समझ लें।

हम जीना चाहते हैं। लेकिन यह जीने की आकांक्षा बिलकुल अंधी है। कोई आपसे पूछे : क्यों जीना चाहते हैं, तो उत्तर नहीं है। और इस अंधी दौड़ में हम पौधे, पक्षियों, पशुओं से भिन्न नहीं हैं। पौधे भी जीना चाहते हैं, पौधे भी जीवन की तलाश करते हैं।

मेरे गाँव में मेरे मकान से कोई चार सौ कदम की दूरी पर एक वृक्ष है। चार सौ कदम काफी फासला है और मकान में जो नल का पाइप आता है, वह अचानक एक दिन फूट पड़ा, तो जमीन खोद के पाइप की खोजबीन करनी पड़ी कि क्या हुआ। चार सौ कदम दूर जो वृक्ष है, उसकी जड़ें, उस पाइप की तलाश करती हुई, पाइप के अंदर घुस गईं—पानी की खोज में।

वैज्ञानिक कहते हैं कि वृक्ष बड़े हिसाब से अपनी जड़ें पहुँचाते हैं। कहाँ पानी होगा? चार सौ कदम काफी फासला है और वह भी लोहे के अंदर पानी बह रहा

है, लेकिन वृक्ष को कुछ पकड़ है। उसने उतने दूर से अपनी जड़ें पहुँचाई और ठीक उन जड़ों ने आकर अपना काम पूरा कर लिया, कसते-कसते उन्होंने लोहे के पाइप को तोड़ दिया। वे अंदर प्रविष्ट कर गईं और वहाँ से पानी पी रही हैं; वर्षों से वे उपयोग कर रही होंगी।

वृक्ष को भी पता नहीं कि वह क्यों जीना चाहता है? अफ्रीका के जंगल में वृक्ष काफी ऊँचे जाते हैं। उन्हीं वृक्षों को आप यहाँ लगाएँ, उतने ऊँचे नहीं जाते। ऊँचे जाने की यहाँ कोई जरूरत नहीं है। अफ्रीका में जंगल इतने घने हैं कि वैज्ञानिक कहते हैं, जिस वृक्ष को बचना हो, उसको ऊँचाई बढ़ानी पड़ती है, क्योंकि वह ऊँचा हो जाय, तो ही सूरज की रोशन मिलेगी। अगर वह नीचा रह गया, तो वह मर जाएगा।

वही वृक्ष अफ्रीका में ऊँचाई लेगा तीन सौ फीट की। वही वृक्ष भारत में सौ फीट पर रुक जाएगा। जीवेषणा में—यहाँ संघर्ष उतना नहीं है।

वैज्ञानिक कहते हैं, जेब्रा है, ऊँट है, उनकी जो गरदनें इतनी लम्बी हो गई हैं, वह रेगिस्तानों के कारण हो गई हैं। जितनी ऊँची गति होगी, उतना ही जानवर जी सकता है, क्योंकि इतने ऊपर वृक्ष की पत्तियों को वह तोड़ सकता है। सुरक्षा चाहिए जीवन में, तो गरदन बड़ी होती चली गई है।

चारों तरफ जीवन का बचाव चल रहा है। छोटी-सी चींटी भी अपने को बचाने में, खुद को बचाने में लगी है। बड़े से बड़ा हाथी भी अपने को बचाने में लगा है। हम भी उसी दौड़ में हैं।

और सवाल यह है...। और यहीं मनुष्य और पशुओं का फर्क शुरू होता है, कि हमारे मन में सवाल उठता है कि हम जीना क्यों चाहते हैं, आखिर जीवन से मिल क्या रहा है, जिसके लिए आप जीना चाहते हैं? जैसे ही पूछेंगे कि मिल क्या रहा है, तो हाथ खाली मालूम पड़ते हैं। मिल कुछ भी नहीं रहा है। इसलिए कोई भी विचारशील व्यक्ति उदास हो जाता है कि मिल कुछ भी नहीं रहा है।

रोज सुबह उठ जाते हैं, रोज काम कर लेते हैं; खा लेते हैं; पी लेते हैं, सो जाते हैं। फिर सुबह हो जाती है। ऐसे पचास वर्ष बीते, और पचास वर्ष बीत जाएँगे। अगर सौ वर्ष का भी जीवन हो, तो बस, यही क्रम दौड़ता रहेगा। और अभी तक कुछ नहीं मिला, तो कल क्या मिल जाएगा?

और मिलने जैसा कुछ लगता भी नहीं है। मिलेगा भी कुछ—इसकी आशा भी बाँधनी मुश्किल है। धन मिल जाय, तो क्या मिलेगा? पद मिल जाय, तो क्या मिलेगा? जीवन रिक्त ही रहेगा।

जीवेषणा अंधी है—पहली बात तो यह समझ लेनी जरूरी है। और इसलिए जीवेषणा से उठने का जो पहला प्रयोग है, वह आँखों के खोलने का प्रयोग है कि मैं

अपने जीवन को देखूँ कि मिल क्या रहा है। और अगर कुछ भी नहीं मिल रहा है, यह प्रतीति साफ हो जाय, तो जीवेषणा क्षीण होने लगेगी।

मैं जीना इसलिए चाहता हूँ कि कुछ मिलने की आशा है। अगर यह स्पष्ट हो जाए कि कुछ मिलने वाला नहीं है, तो जीने की आकांक्षा से छुटकारा हो जाएगा, उसकी निर्जरा हो जाएगी।

पहली बात : आँख खोल कर देखना जरूरी है, सजग होना जरूरी है कि जीवन क्या दे रहा है।

फिर दूसरी बात : देखना जरूरी है कि मिल तो कुछ भी नहीं रहा और जीवन रोज मौत में उतरता जा रहा है। आज नहीं कल में मरूँगा, हालाँकि कोई इसको सुनने के लिए राजी नहीं होता।

हम सब यही सोचते हैं कि सदा दूसरे ही मरते हैं, मैं तो कभी मरता ही नहीं। जब भी कोई मरता है, और कोई मरता है; मैं तो कभी मरता नहीं। इसलिए भ्रांति बनी रहती है कि मैं नहीं मरूँगा।

चीन के एक बहुत बड़े कथाकार लूसम ने एक छोटी-सी कहानी लिखी है। उसमें लिखा है कि एक युवक एक ज्योतिषी के पास ज्योतिष सीखता था। उसने अपने गुरू से एक दिन पूछा कि 'अगर मैं लोगों को सत्य सत्य कह देता हूँ—उनकी हाथ की रेखाओं को पढ़ कर—तो पिठाई की नौबत आ जाती है। झूठ मैं कहना नहीं चाहता। झूठ कहता हूँ, तो लोग बड़े प्रसन्न होते हैं।

'एक घर में बच्चे का जन्म हुआ। लोगों ने मुझे बुलाया। तो मैंने देख कर उनको बताया, झूठ बोला कि महायशस्वी होगा।' सभी माँ-बाप को भरोसा होता है; सभी बच्चे प्रतिभाशाली की तरह पैदा होते हैं! सभी माँ-बाप को भरोसा आता है, कि इसका तो कोई मुकाबला नहीं।

'मैंने कहा : यह महायशस्वी होगा—बड़ा प्रतिभाशाली। धन्य भाग हैं तुम्हारे। बड़े वे लोग खुश हुए, उन्होंने काफी भेंट दी, शाल ओढ़ाई, भोजन कराया, सेवा की। मगर मैं झूठ बोला था, उससे मेरे मन में चोट पड़ती रही। दूसरे घर में बच्चा पैदा हुआ, तो मैंने सत्य ही कह दिया कि बाकी तो और कुछ पक्का नहीं है, लेकिन यह एक दिन मरेगा—इतना भर पक्का है। तो मेरी वहाँ पिटाई हुई। लोगों ने मु मारा और कहा कि ज्योतिष तो दूर; तुम्हें शिष्टाचार का भी पता नहीं।'

तो उसने अपने गुरू से पूछा कि आप मुझे कुछ रास्ता बतायें। झूठ भी मुझे न बोलना पड़े और पिटाई की नौबत भी न आये, क्योंकि धंधा मैंने स्वीकार कर लिया है ज्योतिष का। तो उसके गुरू ने कहा, 'अगर ऐसा अवसर आ जाय, तो मैं तुम्हें अपना सार बता देता हूँ, जीवन भर का—जो मैं करता हूँ। अगर झूठ भी न बोलना हो और

पिटना भी न हो, तो तुम कहना : वाह, वाह, क्या बच्चा है; ही-ही-ही। तुम कुछ वक्तव्य मत देना, तो तुम झूठ बोलने से भी बचोगे और पिटाई भी नहीं होगी।'

सभी होशियार ज्योतिषी आपको देख कर यही कहते हैं।

जीवेषणा की तरफ अगर थोड़ी-सी भी ध्यान की प्रक्रिया लौटे, थोड़ा-सा आपका होश बढ़े, तो दूसरा सवाल साफ ही हो जाएगा कि जीवन कहीं नहीं ले जा रहा है—सिवाय मौत के। यह कहीं नहीं जा रहा है—सिवाय मौत के। जैसे सभी नदियाँ सागर में जा रही हैं, सभी जीवन मौत में जा रहे हैं।

तब दूसरा बोध स्पष्ट होना चाहिए कि जो जीवन मौत में ले जाता है, जो अनिवार्य-रूपेण मौत में ले जाता है, अपरिहार्य जिसमें मृत्यु है, मृत्यु से बचने का जिसमें कोई उपाय नहीं—वह आकांक्षा के योग्य नहीं है, वह ऐषणा के योग्य नहीं है, वह कामना के योग्य नहीं है।

ये दो बातें अगर गहन होने लगें आपके भीतर, इनकी सघनता बढ़ने लगे, तो जीवेषणा की निर्जरा हो जाती है और जिस दिन व्यक्ति जीने की आकांक्षा से मुक्त होता है, उसी दिन जीवन का द्वार खुलता है, क्योंकि जब तक हम जीवन की इच्छा से भरे रहते हैं, तब तक हम बुरी तरह उलझे रहते हैं जीवन में, कि जीवन का द्वार हमारे लिए बंद ही रह जाता है; खुल नहीं सकता।

हम इतने व्यस्त होते हैं जीवित होने में—जीवित बने रहने में—कि जीवन क्या है, उससे परिचित होने का हमें न समय होता है, न सुविधा होती है। उस मंदिर के द्वार अटके ही रह जाते हैं, बंद ही रह जाते हैं।

जिन्होंने जीवेषणा छोड़ दी, उन्होंने जीवन का राज जाना। वे ही परम बुद्धत्व को प्राप्त हुए। और जिन्होंने जीवेषणा छोड़ दी, उन्होंने अमृत को पा लिया। जिन्होंने जीवेषणा पकड़ी, वे मौत पर पहुँचे।

इतना तो तय है कि जो जीवेषणा से चलता है, वह मृत्यु पर पहुँचता है। इससे उलटा भी सच है, लेकिन वह कभी आपका अनुभव बने तभी—कि जो जीवेषणा छोड़ता है, वह अमृत पर पहुँचता है। इसको हम निरपवाद नियम कह सकते हैं। अब तक इस जगत् में जितने लोगों ने जीवेषणा की तरफ से दौड़ की, वे मृत्यु पर पहुँचते हैं। कुछ थोड़े-से लोग जीवेषणा को छोड़ कर चले, वे अमृत पर पहुँचे। उपनिषद, गीता, कुरान, बाइबिल, धम्मपद—वे उन्हीं व्यक्तियों की घोषणाएँ हैं जिन्होंने जीवेषणा छोड़ कर अमृत को उपलब्ध किया है।

मृत्यु के पार जाना हो, तो जीवन की इच्छा को छोड़ देना जरूरी है। यह बड़ा उलटा लगेगा। जीवन बड़ा जटिल है। जीवन निश्चित ही काफी जटिल है और विरोधाभासी है, पैरॅडॉक्सिकल है।

इसका मतलब यह हुआ कि जो जीवन को पकड़ता है, वह मृत्यु को पाता है। इसका यह अर्थ हुआ कि जो जीवन को छोड़ता है, वह महाजीवन को पाता है। यह बिलकुल विरोधाभासी लगता है, लेकिन ऐसा है। यह विरोधाभास ही जीवन का गहनतम स्वरूप है।

आप करके देखें। धन को पकड़ें—और आप दरिद्र रह जाएँगे; कितना ही धन हो, दरिद्र रह जाएँगे। धन को छोड़ कर देखें—और आप भिखमंगे भी हो जायँ, तो भी सम्राट् आपके सामने फीके होंगे। आप शरीर को जोर से पकड़ें—और शरीर से सिर्फ दुःख के आप कुछ भी न पायेंगे। और शरीर से आप तादात्म्य तोड़ दें, शरीर को पकड़ना छोड़ दें और आप अचानक पायेंगे कि शरीर को पकड़ने की वजह से आप सीमा में बँधे थे। अब असीम हो गये।

यहाँ जो छीनने चलता है, उसका छिन जाता है। यहाँ जो देने चल पड़ता है, उससे छीनने का कोई उपाय नहीं। यह जो विरोधाभास है, यह जो जीवन का पैरॅडॉक्स है, यह पहेली है, इसको हल करने की व्यवस्था ही साधना है।

दो काम करें : जीवन ने क्या दिया है—इसकी परख रखें। क्या मिला है जीवन से, क्या मिल सकता है—इसका हिसाब रखें। पायेंगे कि सब हाथ खाली हैं। आशा भी टूट जाएगी कि कल भी कुछ मिल सकता है, क्योंकि जो अतीत में नहीं हुआ, वह भविष्य में भी नहीं होगा। जो कभी नहीं हुआ, वह आगे भी कभी नहीं होगा। और फिर देखें कि सब जीवन मृत्यु के सागर में डंडलते चले जाते हैं। कोई आज, कोई कल...। हम सब क्यू में खड़े हैं। आज नहीं कल, बारी आ जाती है और मृत्यु में उतर जाते हैं।

यदि यह सारा जीवन मृत्यु में पूरा होता है, तो निश्चित ही यह मृत्यु का ही छिपा हुआ रूप है, क्योंकि अंत में वही प्रगट होता है, जो प्रथम से ही छिपा रहा हो।

तो जिसे हम जीवन कहते हैं, वह मौत है। और जीवेषणा को छोड़ेंगे तो ही यह मौत छूटेगी। तब हमें उस जीवन का अनुभव होना शुरू होगा, जिसका मिटना कभी भी नहीं होता है। उस जीवन को ही परमात्मा कहें, उस जीवन को मोक्ष कहें, उस जीवन को आत्मा कहें, उस जीवन को जो भी नाम देना हो, वह हम दे सकते हैं।

अब हम सूत्र को लें।

'और हे अर्जुन, काम, क्रोध तथा लोभ ये तीन प्रकार के नरक के द्वार आत्मा का नाश करनेवाले हैं अर्थात् अधोगति में ले जानेवाले हैं, इससे इन तीनों को त्याग देना चाहिए, क्योंकि हे अर्जुन, इन तीनों नरक के द्वारों से मुक्त हुआ पुरुष अपने कल्याण का आचरण करता है, इससे वह परम गति को जाता है अर्थात् मेरे को प्राप्त होता है। और जो पुरुष शास्त्र की विधि को त्याग कर, अपनी इच्छा से बर्तता है, वह न तो सिद्धि को प्राप्त होता है और न परम गति को तथा न सुख को ही प्राप्त होता है। इससे तेरे लिए इस कर्तव्य और अकर्तव्य की व्यवस्था में शास्त्र ही प्रमाण है, ऐसा जानकर तू शास्त्र विधि से नियत किये हुए कर्म को ही करने के लिए योग्य है।'

एक-एक शब्द को समझने की कोशिश करें। तीन शब्दों को कृष्ण नरक का द्वार कह रहे हैं : काम, क्रोध और लोभ। जिसको हमने जीवेषणा कहा, वह इन तीन हिस्सों में टूट जाती है।

जीवेषणा का मूल भाव काम है, यौन है, काम-वासना है! वैज्ञानिक, जीवशास्त्री कहते हैं कि आदमी में दो वासनाएँ प्रबलतम हैं : एक भूख और दूसरा यौन। भूख इसलिए प्रबलतम है कि अगर भूख का होश आपको न हो तो आप मर जाएँगे, जी न सकेंगे। एक बच्चा पैदा हो और उसे भूख का पता न चलता तो, तो वह जी नहीं सकेगा। भूख उसके शरीर को बचाने के लिए एकदम जरूरी है। भूख इस बात की खबर है कि शरीर आपसे कहता है : अब मैं बच न सकूँगा, शीघ्र मुझे कुछ दो, मेरी शक्ति खोती है।

तो भूख बचाती है, स्वयं शरीर को। लेकिन अगर भूख ही अकेली हो, तो भी आप कभी के खो गये होते, आप पैदा ही न होते, क्योंकि भूख आपको बचा लेगी, लेकिन आपके बच्चों को न बचा सकेगी। और बच्चों को पैदा करने का कोई भाव नहीं पैदा होगा। भूख में वह कोई शक्ति नहीं है। इसलिए एक दूसरी भूख है, वह है : यौन।

पेट की भूख से आप बचते हैं, यौन की भूख से समाज बचता है। ये दो भूखें हैं। और जैसे ही व्यक्ति का पेट भर जाता है, दूसरा जो खयाल जाता है, वह सेक्स का है, काम-वासना का है। भूखे आदमी को खयाल चाहे न आये, क्योंकि भूखा आदमी पहले अपने को बचाये, तब समाज को बचाने का सवाल उठता है, तब संतति को बचाने का सवाल उठता है। खुद ही न बचे, तो संतति कैसे बचेगी?

इसलिए धार्मिक लोगों ने सोचा कि उपवास करने से काम-वासना से मुक्ति हो जाएगी। वह तरकीब सीधी है, बायोलॉजिकल है, क्योंकि जब आदमी भूखा हो, तो वह खुद को बचाने की सोचेगा।

भूखे आदमी को काम-वासना पैदा नहीं होती, इसलिए अगर आप लम्बा उपवास करें, तो काम-वासना मर जाती है। मरती नहीं, सिर्फ छिप जाती है। जब फिर पेट भरेगा, तब फिर काम-वासना वापस आ जाती है। इसलिए वह तरकीब धोखे की है, उससे कुछ हल नहीं होता।

जैसे ही समाज समृद्ध होता है, वैसे ही काम-वासना तीव्र हो जाती है। लोग सोचते हैं : अमेरिका में बहुत सेक्सुअॅलिटि है। ऐसा कुछ भी नहीं है। अमेरिका का पेट भरा है, आपका पेट खाली है। जहाँ भी पेट भर जाएगा, वहाँ

भूख का सवाल खत्म हो गया। इसलिए पूरे जीवन की ऊर्जा सिर्फ सेक्स में दौड़ने लगती है। आपकी दो में दौड़ती है : भूख में और सेक्स में। फिर अगर पेट बिलकुल ही भूखा हो, तो सेक्स में दौड़ना बंद हो जाता है, फिर भूख में ही दौड़ती है, क्योंकि भूख पहली जरूरत है। आप बचें, तो फिर आपके बच्चे बच सकते हैं। जैसे ही पेट भरा कि दूसरा जो खयाल उठता है, वह काम-वासना का है।

जीवेषणा दो पहलुओं से चलती है; व्यक्ति बचे और संतति बचे। इसलिए काम-वासना बहुत गहरे में पड़ी है और उससे छुटकारा इतना आसान नहीं, जितना साधु-संत समझते हैं। उससे छुटकारा बड़ी आंतरिक वैज्ञानिक प्रक्रिया के द्वारा होता है; बच्चों का खेल नहीं है। नियम और व्रत लेने से कुछ हल नहीं होता, कसमें खाने से कोई फर्क नहीं पड़ता, जब तक कि जीवन रोआँ-रोआँ रूपांतरित न हो जाय, जब तक बोध इतना प्रगाढ न हो, कि आप शरीर से अपने को बिलकुल अलग देखने में समर्थ हो जायँ, तब तक काम-वासना पकड़ती ही रहती है।

यह जो काम-वासना है, अगर आप इसके साथ चलें, इसके पीछे दौड़ें, तो जो एक नयी वृत्ति पैदा होती है, उसका नाम लोभ है। लोभ काम-वासना के फैलाव का नाम है। एक स्त्री से हल नहीं होता; हजार स्त्रियाँ चाहिए; तो भी हल नहीं होगा।

सार्त्र ने अपने एक उपन्यास में उसके एक पात्र से कहलवाया है कि जब तक इस जमीन की सारी स्त्रियाँ मुझे न मिल जायँ, तब तक मेरी कोई तृप्ति नहीं। आप भोग न सकेंगे सारी स्त्रियों को; यह सवाल नहीं है; लेकिन मन की कामना इतनी विक्षिप्त है।

जब तक सारे जगत् का धन न मिल जाय, तब तक तृप्ति नहीं है। धन की भी खोज आदमी इसीलिए करता है, क्योंकि धन से काम-वासना खरीदी जा सकती है; धन से सुविधाएँ खरीदी जा सकती हैं। सुविधाएँ काम-वासना में सहयोगी हो जाती हैं।

लोभ काम-वासना का फैलाव है, इसलिए लोभी व्यक्ति काम-वासना से कभी मुक्त नहीं होता। यह भी हो सकता है कि वह लोभ में इतना पड़ गया हो कि काम-वासना तक त्याग कर दे। एक आदमी धन के पीछे पड़ा हो, तो हो सकता है कि वर्षों तक स्त्रियों की उसे याद भी न आये। लेकिन गहरे में वह धन इसीलिए खोज रहा है कि जब धन उसके पास होगा, तब स्त्रियों को तो आवाज दे के बुलाया जा सकता है। तब उसमें कुछ अड़चन नहीं।

यह भी हो सकता है कि जीवन भर उसको खयाल ही न आये, वह धन की दौड़ में लगा रहे। लेकिन धन की दौड़ में गहरे में काम-वासना है।

सब लोभ काम का विस्तार है। इस काम के विस्तार में, इस लोभ में जो भी बाधा देता है, उस पर क्रोध आता है। काम-वासना है : फैलती लोभ, और जब उसमें कोई रुकावट डालता है, तो क्रोध आता है।

काम, लोभ, क्रोध एक ही नदी की धाराएँ हैं। जब भी आप जो चाहते हैं, उसमें कोई रुकावट डाल देता है, तभी आप में आग जल उठती है, आप क्रोधित हो जाते हैं। जो भी सहयोग देता है, उस पर आपको बड़ा स्नेह आता है, बड़ा प्रेम आता है। जो भी बाधा डालता है, उस पर क्रोध आता है। मित्र आप उनको कहते हैं, जो आपकी वासनाओं में सहयोगी हैं। शत्रु आप उनको कहते हैं, जो आपकी वासनाओं में बाधा हैं।

लोभ और क्रोध से तभी छुटकारा होगा, जब काम से छुटकारा हो। और जो व्यक्ति सोचता हो कि हम लोभ और क्रोध छोड़ दें—काम को बिना छोड़े, वह जीवन के गणित से अपरिचित है। यह कभी भी होनेवाला नहीं है।

इसलिए समस्त धर्मों की खोज का एक जो मौलिक बिंदु है, वह यह है कि कैसे अकाम पैदा हो। उस अकाम को हमने ब्रह्मचर्य कहा है। ब्रह्मचर्य का अर्थ है : कैसे मेरे जीवन के भीतर वह जो दौड़ है एक विक्षिप्त—और जीवन को पैदा करने की, उससे कैसे छुटकारा हो।

कृष्ण कहते हैं, ये तीन नरक के द्वार हैं।

हमें तो ये तीन ही जीवन मालूम पड़ते हैं। तो जिसे हम जीवन कहते हैं, कृष्ण उसे नरक का द्वार कह रहे हैं।

आप इन तीन को हटा दें, आपको लगेगा : फिर जीवन में कुछ बचता ही नहीं। काम हटा दें, तो जड़ कट गई। लोभ हटा दें, फिर क्या करने को बचा! महत्त्वाकांक्षा कट गई। क्रोध हटा दें, फिर कुछ खटपट करने का उपाय भी नहीं बचा। तो जीवन का सब उपक्रम शून्य हुआ, सब व्यौहार बंद हुए।

अगर लोभ नहीं हो, तो मित्र नहीं बनायेंगे आप। अगर क्रोध नहीं है, तो शत्रु नहीं बनायेंगे। तो न अपने बचे, न पराये बचे; आप अकेले रह गये। आप अचानक पायेंगे, ऐसा जीवन तो बहुत घबड़ानेवाला हो जाएगा। वह तो नारकीय होगा। और कृष्ण कहते हैं कि ये तीन नरक के द्वार हैं! और हम इन तीनों को जीवन समझे हुए हैं।

हमें खयाल भी नहीं आता कि हम चौबीस घंटे काम से भरे हुए हैं—उठते-बैठते, सोते-चलते, सब तरफ हमारी नजर का जो फैलाव है, वह काम-वासना का है। अगर यदि एक हवाई जहाज गिर पड़े, तो आप उसके टूटे अस्थिपंजर के पास जायँ, उसमें जो यात्री मरे हुए पड़े होंगे, उन मरे हुए यात्रियों में भी आपको सबसे पहले जो चीज दिखाई पड़ेगी, वह कि कौन स्त्री है, कौन पुरुष।

आप सब चीजें भूल जाते हैं। दस साल पहले कोई आपको मिला था। नाम भूल गया, शकल भूल गई, कुछ भी याद नहीं रहा। लेकिन यह आप कभी नहीं भूलते कि वह स्त्री थी कि पुरुष था—यह कभी नहीं भूलते।

आपको याद है कि आपको कभी ऐसा शक पैदा हुआ हो कि बीस साल पहले एक आदमी, एक व्यक्ति मिला था, वह स्त्री था, या पुरुष? यह शक आपको हो ही नहीं सकता। इसका मतलब क्या है? इसका मतलब यह है कि आपके ऊपर गहरे से गहरा जो संस्कार पड़ता है, वह स्त्री और पुरुष होने का पड़ता है। उसका चेहरा कैसा था; भूल गया। उसका नाम क्या था; भूल गया। उसकी जाति क्या थी; भूल गई। वह लम्बा था कि ठिगना था, सब भूल गया। लेकिन उसका सेक्स—वह आपको याद है। इसका मतलब यह है कि गहरी आपकी स्मृति इस बात को पकड़ती है। सबसे ज्यादा चेतना इसके आसपास घूमती है।

यह जो हमारा काम है, यह कोई क्षण दो क्षण की बात नहीं कि कभी-कभी आपको पकड़ता है। यह चौबीस घंटे आपको घेरे हुए है, ऐसा कहना भी ठीक नहीं है। शायद चौबीस घंटे आप काम है। फिर इसमें जहाँ-जहाँ सहयोग मिलता है, वहाँ-वहाँ लोभ पैदा होता है। वह इस काम की धारा में ही लोभ का वर्तुल है।

जैसे नदी बहती है, और उसमें छोटे-छोटे भँवर पैदा हो जाते हैं: तो आपकी काम की जो नदी बहती है, जिस जिस से सहारा मिलता है, वह आपके लोभ का भँवर हो जाता है। और जिस जिस से बाधा मिलती है, वह आपका क्रोध का भँवर हो जाता है। फिर उन दोनों की परतें हमारे ऊपर बैठ जाती हैं।

उठते-बैठते, चलते-फिरते, व्यवहार करते—आप खयाल लेते हों, न लेते हों—आपका लोभ और क्रोध काम करता है। आप रास्ते पर चलते आदमी से नमस्कार भी तभी करते हैं, जब कुछ लोभ उससे जुड़ा हो; कोई लाभ अतीत में, आज या भविष्य में—कहीं न कहीं उससे कुछ लाभ मिल सकता होगा, तो ही आप नमस्कार करते हैं। नहीं तो आप नमस्कार करनेवाले भी नहीं। हाथ जोड़ने तक का श्रम आप उठायेंगे नहीं।

और आपकी नजर जहाँ भी जाती है, वहाँ तक्षण मित्र और शत्रु को पहचानती है। जिससे भी थोड़ी-सी भी विरोध की संभावना है, या थोड़ी-सी भी बाधा पड़ सकती, थोड़ी प्रतियोगिता हो सकती है, उसके प्रति आपका क्रोध जलता ही रहता है। भभक सकता है, किसी भी क्षण मौका मिल जाय तो।

यह जो हमारा क्रोध, लोभ और मोह है—इन्हें आप सिद्धांतों की तरह तो समझ ले सकते हैं, लेकिन जीवन व्यवहार में इनके स्वरूप को पहचानना असली सवाल है। और हम उसमें इतने लिप्त होते हैं कि उसे अपने जीवन में पहचानना अकसर कठिन होता है।

मैंने सुना है कि एक कंजूस आदमी ने अपने बेटे को चश्मा दिलवाया। दूसरे दिन सुबही बेटा बाहर बैठा है अपनी किताबें वगैरह लिये। उसके बाप ने भीतर के कमरे

से पूछा कि 'बेटे, क्या कुछ पढ़ रहे हो? उस लड़के ने कहा कि 'नहीं।' तो बाप ने पूछा, 'तो क्या कुछ लिख हे रहो?' तो लड़के ने कहा, 'नहीं।' तो बाप ने कहा, 'तो फिर चश्मा उतार कर क्यों नहीं रख देते! लगता है, तुम्हें फिजूल-खर्ची की आदत पड़ गई है। वह जो चश्मा आँख पर रखा है—जब लिख भी नहीं रहे, पढ़ भी नहीं रहे, उसका फिजूल-खर्च हो रहा है—चश्मे का!'

यह हमें हँसने-योग्य लग सकता है। लेकिन लोभी आदमी की यह दृष्टि है। वह सब जगह बचा रहा है और कई दफे ऐसा हो जाता है कि हम लोभ के नाम पर जो बचाते हैं, उसको भी हम अच्छे सिद्धांत बता देते हैं।

फ्रायड ने एक बहुत अनूठी बात कही है, उसने कहा है कि आमतौर से जो लोग ब्रह्मचर्य में उत्सुक होते हैं, वे लोभी होते हैं, ग्रीडी होते हैं। वीर्य खो न जाय, इसकी कंजूसी उनको ब्रह्मचारी बना देती है। यह बड़ी सोचने जैसी बात है।

और इधर जैसा मैंने अनेक लोगों को अनुभव किया है, अकसर यह बात सच है; सौ प्रतिशत सच नहीं है, क्योंकि ब्रह्मचर्य की दिशा में जानेवाला एक प्रतिशत वह आदमी भी होता है, जो कामवासना से मुक्त होकर ब्रह्मचर्य की तरफ जा रहा है। सौ में निन्यानबे तो वे लोग होते हैं, जो सिर्फ लोभ के कारण ब्रह्मचर्य की तरफ जाते हैं—कि कहीं शक्ति खर्च न हो जाय।

आपने शायद इस दिशा से कभी सोचा न हो। और अकसर आपके साधु-संन्यासी जो आपको समझाते हैं, वे समझाते हैं कि बचाओ अपनी शक्ति को। वीर्य का एक बिन्दु खोने का मतलब है कि न मालूम कितने सेर खून खो गया! वीर्य का एक बिन्दु खो गया, तो न मालूम कितना नुकसान हो गया। वे जो समझा रहे हैं आपको, आपको वे डरवा रहे हैं; वे आपके लोभ को जगा रहे हैं, वे यह कह रहे हैं कि शक्ति खो न जाय। इसलिए अकसर जो मुल्क कंजूस होते हैं, वे ब्रह्मचर्य की बहुत चर्चा करते हैं। और जो जातियाँ निपट कंजूस होती हैं, वे ब्रह्मचर्य को बड़े जोर से पकड़ लेती हैं।

ये जो ब्रह्मचर्य की इस तरह की बात करनेवाले निन्यानबे प्रतिशत लोग हैं, इनमें से अधिक लोग कब्जियत के शिकार होंगे, क्योंकि जैसा वे वीर्य को बचाना चाहते हैं, ऐसा वे सब चीजों को बचाना चाहते हैं। वे मल तक को इकठ्ठा करना सीख जाते हैं।

अभी आधुनिक विज्ञान बड़ी महत्वपूर्ण बातें कहता है। वह कहता है, जो व्यक्ति भी कब्जियत का शिकार है, वह यह बता रहा है कि वह मल को भी छोड़ने को राजी नहीं है। उसकी चित की दशा सब चीजों को पकड़ लेने की है।

मनोवैज्ञानिक कई अनूठे नतीजों पर पहुँचे हैं, जो धर्म को और धर्म की खोज में जानेवाले लोगों को ठीक से समझ लेना चाहिए। मनोवैज्ञानिक कहते हैं, कि सब चीजें प्रतीकात्मक हैं। और एक बड़ी अनूठी बात है, जो एकदम से समझ में नहीं आती,

लेकिन सही हो सकती है...। वे कहते हैं : मल का जो रंग है—पीला—वही सोने का रंग है। और सोने को जो लोग पकड़ते हैं, वे लोग कब्जियत के शिकार हो जाते हैं। वे मल को भी नहीं छोड़ सकते। और धन हाथ का मल ही है, वह मैल ही है, उससे ज्यादा है भी नहीं। लेकिन हर चीज को पकड़ लेना, रोक लेना; कुछ भी छोड़ते नहीं बनता उनसे। जीवन उनका महारोग हो जाता है।

काम विक्षिप्तता लाता है, लोभ उस विक्षिप्तता को बढ़ाने के लिए दूसरों का सहारा माँगता है, फैलाव माँगता है। क्रोध—उस विक्षिप्तता में कोई भी बाधा डाले, उसको नष्ट करने को तैयार हो जाता है।

ये तीनों नरक के द्वार हैं। और हम जीवन में जितने दुःख खड़े करते हैं, वह इनके द्वारा ही खड़े करते हैं।

नरक कहीं कोई स्थान नहीं है, जहाँ द्वारों पर लिखा है कि 'काम, क्रोध, लोभ—कि यहाँ से भीतर मत जाइये।' जहाँ-जहाँ ये तीन हैं, वहाँ-वहाँ नरक है, वहाँ-वहाँ जीव दुःख और संताप से भर जाता है; वहाँ-वहाँ जीवन की प्रसन्नता कुम्हला जाती है; जीवन के फूल वहाँ नहीं लगते।

आपने कभी कंजूस आदमी को प्रसन्न देखा है? कंजूस प्रसन्न हो ही नहीं सकता। प्रसन्नता में भी उसे लगेगा, कुछ खर्च हो रहा है— कुछ नुकसान हुआ जा रहा है। वह प्रसन्नता तक को रोके रखता है। वह हृदयपूर्वक हँस नहीं सकता; वह कठिन है, मुश्किल है; वह उसके व्यक्तित्व का ढंग नहीं है। वह किसी चीज में शेयर नहीं कर सकता, भागीदार नहीं बना सकता। इसलिए कंजूस कभी प्रेम नहीं कर सकता—किसी को प्रेम नहीं कर सकता, क्योंकि प्रेम में उसे डर लगता है कि जिससे प्रेम किया, उसको कुछ बाँटना पड़ेगा, कुछ साझेदारी करनी पड़ेगी।

कंजूस किसी चीज में बँटाव नहीं कर सकता। कंजूस अकेला जीता है—आइसोलेटेड; अपने में बंद हो जाता है, उसके चारों तरफ कारागृह खड़ा हो जाता है। और अपने चारों तरफ कारागृह खड़ा हो जाय; हम किसी चीज में साझेदारी न कर सकें, मुसकरा भी न सकें, बाँट भी न सकें...। जीवन के सब आनंद बँटने से जुड़े हुए हैं। जो आदमी जितना बाँट सकता है, जो जितना अपने को फैला सकता है, जो जितना अपने को दूसरों को दे सकता है, उतना ही प्रफुल्लित होता है, उतना ही आनंदित होता है।

अगर परमात्मा परम आनंद है तो उसका इतना ही अर्थ है कि परमात्मा ने अपने को पूरा का पूरा इस जगत् को दे दिया है, इस पूरे अस्तित्व को अपने को दे दिया है। वह सब तरफ फैल गया है। उसे आप कहीं भी खोज नहीं सकते। आप अंगुली करके इशारा नहीं कर सकते कि 'यह रहा परमात्मा', क्योंकि वह एक जगह होता

तो कंजूस होता, कृपण होता, बँधा होता। वह सब जगह है। इसलिए आप जहाँ भी जायँ, वहाँ वह है। और जहाँ भी आप इशारा करें, वहीं आप पायेंगे कि मुश्किल है, वह सब जगह है। उसने अपने को सब तरह फैला दिया है। वह इतना पूरा बँट गया है कि अब उसके पास कुछ भी नहीं बचा है, अपने जैसा कुछ भी नहीं बचा है, इसलिए परम आनंद है, सच्चिदानंद है।

मैंने सुना है कि नानक एक गाँव में ठहरे। गाँव बड़े भले लोगों का था, बड़े साधुओं का था, बड़े संत-सज्जन पुरुष थे। नानक के शब्द को उन्होंने सुना, चरणों का पानी धो के पीया। नानक को परमात्मा की तरह पूजा। और जब नानक उस गाँव से विदा होने लगे, तो वे सब मीलों तक रोते हुए उनके पीछे आये और उन्होंने कहा, 'हमें कुछ आशीर्वाद दें।' नानक ने कहा, 'एक ही मेरा आशीर्वाद है कि तुम उजड़ जाओ।'

सदमा लगा। नानक के शिष्य तो बहुत हैरान हुए कि यह क्या बात कही! इतना भला गाँव।- लेकिन अब बात हो गई और एकदम पूछना भी ठीक न लगा। सोचेंगे, विचार करेंगे, फिर पूछ लेंगे।

फिर दूसरे गाँव में पड़ाव हुआ, वह दुष्टों का गाँव था। सब उपद्रवी जमीन के, वहाँ इकट्ठे थे। उन्होंने न केवल अपमान किया, तिरस्कार किया, पत्थर फेंके, गालियाँ दीं, मारपीट की नौबत खड़ी हो गई; रात रुकने भी न दिया।

जब गाँव से नानक चलने लगे, वे तो आशीर्वाद माँगने वाले थे ही नहीं। शोरगुल मचाते, गालियाँ बकते नानक के पीछे गाँव के बाहर तक आये थे। गाँव के बाहर आ कर नानक ने अपनी तरफ से आशीर्वाद दिया कि 'सदा यहीं आबाद रहो।'

तब शिष्यों को मुश्किल हो गया। उन्होंने कहा कि 'अब तो पूछना ही पड़ेगा। यह तो हद हो गई! कुछ भूल हो गई आपसे। पिछले गाँव में भले लोग थे, उनसे कहा—बरबाद हो जाओ, उजड़ जाओ। और इन गुंडे, बदमाशों को कहा कि सदा आबाद रहो, खुश रहो, सदा बसे रहो!'

नानक ने कहा, कि भला आदमी उजड़ जाय, तो बँट जाता है। वह जहाँ भी जाएगा भलेपन को ले जाएगा। वह फैल जाय, सारी दुनिया पर। ये बुरे आदमी, ये इसी गाँव में रहें, कहीं न जायँ, क्योंकि ये जहाँ जाएँगे, बुराई ले जाएँगे। लेकिन बँटना बुरे आदमी का स्वभाव ही नहीं होता—अच्छा है यह। वह सिकुड़ता है, यह बड़ी कृपा है। भला आदमी बँटता है। बाँटना उसका स्वभाव है। दान उसके जीवन की व्यवस्था है। यह सवाल नहीं कि वह कुछ देता है कि नहीं देता है; यह उसके रहने-होने का ढंग है कि वह साझेदारी करता है, वह शेयर करता है।

ये जो तीन हैं : काम, क्रोध, लोभ—ये सिकोड़ देते हैं। और सिकुड़ा हुआ आदमी नरक बन जाता है।

'ये अधोगति में ले जानेवाले हैं, इन तीनों को त्याग देना चाहिए। क्योंकि हे अर्जुन, इन तीनों नरक के द्वारों से मुक्त हुआ पुरुष अपने कल्याण का आचरण करता है, इससे वह परम गति को जाता है अर्थात् मुझको प्राप्त होता है।'

इन तीन से जो मुक्त हुआ पुरुष है, वही केवल कल्याण का आचरण करता है। कल्याण का अर्थ है, जिससे हित हो, मंगल हो; जिससे आनंद बढ़े—फैले। लेकिन जो आदमी काम-वासना से भरा है, लोभ और क्रोध से भरा है, उसका आचरण कल्याण का नहीं हो सकता। उसका आचरण अहंकार केन्द्रित होगा। वह अपने लिए सबको मिटाने की कोशिश करेगा। वह चारों तरफ विध्वंस फैलायेगा। उसकी आकांक्षा यही है कि सब मिट जायँ, मैं अकेला रहूँ। क्योंकि जब तक दूसरा है, तब तक मैं चाहे बाटूं या न बाँटूं, वह इस जगत् की संपत्ति में से बँटाव तो कर ही रहा है। जब तक दूसरा है, कम से कम श्वास तो ले ही रहा है। तो इतनी आक्सीजन जिस पर मैं कब्जा कर सकता था, वह कब्जा कर रहा है। तब तक सूरज की रोशनी तो पी ही रहा है; सूरज पूरा का पूरा मेरा हो सकता था, उसमें वह बँटाव कर रहा है। तब तक आकाश में पूर्णिमा का चाँद निकलता है, तो वह भी प्रसन्न होता है। उतनी मेरी प्रसन्नता खो रही है।

वह जो आदमी काम, क्रोध, लोभ से भरा हुआ है, उसका मौलिक आधार जीवन का यह है कि मैं अकेला रहूँ और सब मिट जायँ। वह नहीं मिटा पाता, यह दूसरी बात है। कोशिश पूरी करता है। हजारों दफे उसने प्रयोग किये हैं कि वह सबको पोंछ के समाप्त करे और अकेला रहे। कल्याण तो उससे हो ही नहीं सकता।

कल्याण तो उसी व्यक्ति से हो सकता है जो सोचे कि सब रहें, चाहे मैं मिट जाऊँ। मैं चाहे खो जाऊँ; चाहे मेरी कोई जगह न रह जाय, लेकिन शेष सब रहे। फूल और जोर से खिले, चाँद और जोर से निकले; लोग और आनंदित हों, जीवन की बाँसुरी बजती रहे; मेरे होने न होने से कोई फर्क नहीं पड़ता है। अगर मैं बाधा बनता हूँ तो हट जाऊँ। अगर सहयोग बन सकता हूँ, तो ही रहूँ।

लेकिन ये तीन द्वार जब बंद हो जायँ, तभी कल्याण का जीवन शुरू होता है।

यह तो शब्द कल्याण है, मंगल है, यह बड़ा समझने जैसा है। इसका अर्थ दूसरे का सुख है। और दूसरे के सुख को अगर आप सोचना भी शुरू कर दें...। हम तो कन्सिडर भी नहीं करते। दूसरा है, यह भी विचार नहीं करते। दूसरे के जीवन में भी सुख की कोई संभावना हो सकती है, दूसरों को भी सुख मिलना चाहिए, यह तो हमारे मन में कभी कौंधता ही नहीं।

महावीर ने कहा है कि जैसे तुम जीना चाहते हो, वैसे ही सभी जीना चाहते हैं। जैसे तुम सुख पाना चाहते हो, वैसे सभी सुख पाना चाहते हैं। तो जो तुम अपने लिए चाहते हो, वह सबके लिए चाहो।

जीसस ने कहा है, कि 'जो तू न चाहता हो कि लोग तेरे प्रति करें, वह तू भूल के भी दूसरे के प्रति मत करना।' यह कल्याण का सूत्र हुआ। 'और जो तू चाहता हो कि लोग तेरे प्रति करें, वही तू उनके प्रति करना, क्योंकि जो तेरे भीतर जीवन की छिपी चाह है, वही दूसरों के भीतर भी जीवन की छिपी चाह है। और तेरे भीतर जो जीवन है, और दूसरे के भीतर जो जीवन है, वह एक ही का विस्तार है।

कल्याण का अर्थ है कि मेरे भीतर जो है, वह एक ही चेतना का फैलाव है। और अगर मैं आपका सुख चाहता हूँ, तो वस्तुतः मैं अपने सुख का आधार रख रहा हूँ। और अगर मैं आपका दुःख चाहता हूँ, तो मैं अपने ही हाथ-पैर तोड़ रहा हूँ, क्योंकि आप मेरे ही फैले हुए रूप हैं।

अगर आपको मैं दुःखी करता हूँ, तो मैं अपने ही दुःख का इंतजाम कर रहा हूँ। देर-अबेर यह दुःख मुझे पकड़ लेगा। आपको सुख दे रहा हूँ, तो देर-अबेर यह सुख मेरे पास आ जाएगा।

एक बार जिस आदमी को यह समझ में आ गया कि इस जगत् में अलग-अलग, कटे-बँटे लोग नहीं हैं; हम अलग-अलग आयलेंड नहीं हैं, द्वीप नहीं हैं, हम एक महाद्वीप हैं। और अगर हमारे बीच में फासला दिख रहा है, तो वह फासला भी बीच में आ गये पानी की दीवाल का है। नीचे हम जुड़े हैं, नीचे जमीन एक है। और उस पानी की दीवाल का कोई बहुत मूल्य नहीं है। पानी की भी कोई दीवाल होती है? यह जो मेरे और आपके बीच में दीवाल है, यह पानी की भी नहीं, हवा की ही दीवाल है। इस दीवाल के दोनों तरफ जिस हवा से आप श्वास ले रहे हैं, उसी हवा से मैं श्वास ले रहा हूँ, हम दोनों जुड़े हैं। हम सब जुड़े हैं। इस संयुक्तता का बोध आ जाय, तो जीवन में कल्याण का भाव आता है।

और जो काम, क्रोध, लोभ से भरा है, उसमें यह संयुक्तता का भाव नहीं आ सकता। उसके लिए सब दुश्मन हैं, सब प्रतियोगी हैं। जो चीजें वह छीनना चाह रहा है, वही दूसरे छीनना चाह रहे हैं। इसलिए दूसरों का सुख वह कैसे चाह सकता है! दूसरों के लिए आशीर्वाद उससे नहीं बह सकता। अभिशाप ही दूसरों के लिए उसके पास है।

'और जो पुरुष शास्त्र की विधि को त्याग कर अपनी इच्छा से बर्तता है, वह न तो सिद्धि को प्राप्त होता है और न परम गति को और न सुख को ही प्राप्त होता है।'

इस बात को समझना बड़ा जरूरी है और गहरा है।

'जो व्यक्ति शास्त्र की विधि को त्याग कर...।' शास्त्र की विधि क्या है? शास्त्र क्या है? इसे समझें।

शास्त्र का अर्थ है : सदियों सदियों में, सनातन से जिन्होंने जाना है, उनका सार

निचोड़; जिन्होंने जीवन के आनंद को अनुभव किया है, जीवन के वरदान की वर्षा जिन पर हुई है, उन्होंने जो कहा है, उसका जोड़।

आज कठिन हो गई है बात। ऐसी कठिन उस दिन बात न थी, जब कृष्ण ने यह कहा। उस दिन हर कोई शास्त्र नहीं लिखता था। कोई सोच ही नहीं सकता था कि बिना जाने में लिखूँ। वह सोचने के बाहर था। क्योंकि बिना जाने लिखने में कोई अर्थ भी नहीं था।

शास्त्रों पर किसी के नाम भी नहीं थे। वह किसी एक व्यक्ति की संपदा भी नहीं थी। अनंत अनंत काल में, अनंत अनंत लोगों ने जो जाना है, उस जानने को लोग निखारते गये थे। शास्त्र संपदा थी—सबके अनुभव की।

वेद हैं—वे किसी एक व्यक्ति के वचन नहीं हैं। अनंत-अनंत ऋषियों ने जो जाना है, वह सब संगृहीत है। उपनिषद हैं—वे किसी एक व्यक्ति के लिखे हुए विचार नहीं हैं; जो अनंत अनंत लोगों ने जाना है, उनका सारभूत है। कुछ पक्का पता लगाना भी मुश्किल है कि किसने जाना है। व्यक्ति खो गये, सिर्फ सत्य रह गये हैं।

कृष्ण ने जब यह बात कही, तब शास्त्र का अर्थ था : जाने हुए लोगों के वचन। 'इन वचनों को त्याग कर जो अपनी इच्छा से बर्तता है, वह सिद्धि को प्राप्त नहीं होता,' क्योंकि एक व्यक्ति का अनुभव ही कितना है। एक व्यक्ति की छोटी-सी बुद्धि कितनी है? वह ऐसे ही है, जैसे सूरज निकला हो, और हम अपना टिमटिमाता दीया ले कर रास्ता खोज रहे हैं।

एक व्यक्ति का अनुभव बहुत छोटा है। एक व्यक्ति का होश बहुत छोटा है। अपने ही अनुभव से जो चलने की कोशिश करेगा, वह अनंत काल लगा देगा, भटकने में। लेकिन जाने हुए पुरुषों का, जागे हुए पुरुषों का जो वचन है, उसका सहारा ले कर जो चलेगा, वह व्यर्थ के भटकाव से बच जाएगा।

रास्ता छोटा हो सकता है, अगर थोड़ा-सा नक्शा भी हमारे पास हो। शास्त्रों का अर्थ है : नक्शे। शास्त्रों को सिर पर रख के बैठ जाने से कोई मंजिल पर नहीं पहुँचता। लेकिन वे नक्शे हैं, उन नक्शों का अगर ठीक से उपयोग करना समझ में आ जाय, तो आप बहुत-सी भटकन से बच सकते हैं।

जहाँ जो भूल-चूक जिन लोगों ने पहले की, उसको आपको करने की जरूरत नहीं है। शास्त्र कोई बँधे-बँधाये उत्तर नहीं हैं; शास्त्र तो केवल मार्ग खोजने के इशारे हैं। और उन इशारों को जो ठीक से समझ लेता है, 'और उनके अनुसार चलता है, वह सिद्धि को प्राप्त होता है। और जो उनको त्याग देता है, वह न तो सिद्धि को प्राप्त होता है, न परम गति को, और न सुख को भी प्राप्त होता है।' वह भटकता है।

यह आज के युग में बात और कठिन हो गई, क्योंकि आज शास्त्र बहुत हैं। कोई

पाँच हजार शास्त्र प्रति सप्ताह लिखे जाते हैं। पुस्तकें बढ़ती चली जाती ह और कुछ पक्का पता लगाना मुश्किल है : कौन लिख रहा है, कौन नहीं लिख रहा है। पागल भी लिख रहे हैं। उनको राहत मिलती है, केथार्सिस हो जाती है। उनका पागलपन निकल जाता है। किताब में रेचन हो जाता है, फिर उन पागलों की लिखी किताबों को दूसरे पागल पढ़ रहे हैं। उनका तो रेचन हो जाता है, इनकी खोपड़ भारी हो जाती है। अब तय करना मुश्किल है। क्योंकि बहुत से सूत्र खो गये।

पहला सूत्र तो यह खो गया कि बिना जागे कोई व्यक्ति न लिखे; बिना जागे कोई व्यक्ति न बोले; बिना जाग्रत हुए कोई किसी दूसरे को सलाह न दे। यह पुराने समय में सोचना ही असंभव था कि कोई बिना जागे हुए किसी को सलाह दे देगा। लेकिन आज कठिन है।

आज तो सोये आप कितने ही हों, इससे फर्क नहीं पड़ता, आप सलाह दे सकते हैं। सोया हुआ आदमी और भी उत्सुकता से सलाह देता है। वह चाहे अपने सपने में बड़बड़ा रहा हो, लेकिन उसको अनुयायी मिल जाते हैं। लोग उसके पीछे चलने लगते हैं। जितने जोर से कोई चिल्ला सकता है, उतना ज्यादा पीछे अनुसरण करनेवाले मिल जाते हैं।

आज कठिन है। लेकिन आज भी व्यक्ति अपने ही खोजबीन से चले, तो बहुत समय व्यय होगा, बहुत जन्म खो जाएँगे। आज भी व्यक्ति को शास्त्र की खोज करनी चाहिए। लेकिन आज की कठिनाई को ध्यान रख के मैं कहूँगा कि आज शास्त्र से ज्यादा सद्गुरु...।

कृष्ण ने जब कहा, तब शास्त्र सद्गुरु का काम करता था, क्योंकि सिर्फ सद्गुरुओं के वचन ही लिपिबद्ध थे। आज मुश्किल है। छापखाने ने पागलखाने के द्वार खोल दिये हैं। कोई भी लिख सकता है, कोई भी किताबों का प्रचार कर सकता है, कुछ अड़चन नहीं है अब। तो आज शास्त्र उतना सहयोगी नहीं हो सकता। आज शास्त्र को भी पहचानना हो, तो भी सद्गुरु के ही माध्यम से पहचाना जा सकता है।

एक बहुत पुरानी कहावत है : सतयुग में शास्त्र—कलयुग में गुरु। उसमें बड़ा अर्थ है। क्योंकि कलयुग में इतने शास्त्र हो जाएँगे कि यही तय करना मुश्किल हो जाएगा : कौन-सा शास्त्र है और कौन-सा शास्त्र नहीं है। और कौन आपको कहे? तो अब तो कोई निजी आत्मीय संबंध बन जाय आपका, किसी जाग्रत पुरुष से, तो ही रास्त बन सकता है, क्योंकि उसके माध्यम से शास्त्र भी मिल सकेगा। और जीवित पुरुष मिल जाय, तो शास्त्र की जरूरत भी नहीं रह जाती।

लेकिन शास्त्र का मतलब ही इतना है : जागे हुए पुरुषों के वचन; चाहे वे जिंदा हों, चाहे जिंदा न हों।

अगर आपको जीवन की बहुत-सी अड़चन, भटकन, व्यर्थ खोजबीन से बचना हो, भूल-चूक में बहुत समय खराब न करना हो, तो जरूरी है कि जिसने जाना हो उसकी बात समझें; जिसने पहचाना हो उसकी बात समझें।

और आप कैसे पहचानेंगे किसी व्यक्ति को, कि उसने जान लिया, पहचान लिया ? बस एक ही कसौटी है, कि जिस व्यक्ति को आप देखें कि उसकी कोई खोज नहीं है अब, उसका कोई प्रश्न नहीं है अब, उसको पाने का कुछ आपको दिखाई न पड़ता हो; कोई व्यक्ति लगता हो कि ऐसे जी रहा है कि जैसे उसने सब पा लिया; जो सब तरफ से तृप्त हो, जिसकी तृप्ति का वर्तुल बंद हो गया हो, जो कहीं से खुलता न हो—तो ऐसे व्यक्ति की संगति खोजना जरूरी है। आपके लिए वही शास्त्र होगा। उसके माध्यम से आपको वेद, उपनिषद, कुरान और बाइबिल के द्वार भी खुल जाएँगे।

'इससे तेरे लिए उस कर्तव्य और अकर्तव्य की व्यवस्था में शास्त्र ही प्रमाण हैं, ऐसा जानकर तू शास्त्र विधि से नियत किये हुए कर्म को ही करने के लिए योग्य है।'

अर्जुन क्षत्रिय है, योद्धा है। कृष्ण शास्त्र की बात कह रहे हैं, क्योंकि शास्त्र उस दिन तय किया जाता था, समाज चार हिस्सों में विभाजित था। बड़ी कुशलता से विभाजित किया था। कुशलता अनूठी है। हिन्दुओं की खोज बड़ी गहरी है।

आज पाँच हजार साल हो गये, पाँच हजार साल में दुनिया में बहुत तरह के लोगों ने मनुष्यों को बाँटने की कोशिश की है, कि कितने प्रकार के मनुष्य हैं ? अभी अत्याधुनिक कार्ल गुस्ताव जुंग की कोशिश है, पश्चिम के बड़े मनोवैज्ञानिक की, वह भी मनुष्यों को चार हिस्सों में ही में बाँट पाता है।

इन पाँच हजार सालों में दुनिया के कोने-कोने में अलग-अलग जातियों ने अलग-अलग विचारकों ने खोज की है कि आदमी कितने प्रकार के हैं। वह हमेशा चार के आँकड़े पर आ जाता है।

हिन्दुओं ने बड़ी पुरानी खोज की थी कि व्यक्ति चार तरह के हैं। और उन चार तरह के व्यक्तियों को चार वर्णों में बाँट दिया था। और न केवल ऊपर से बाँट दिया था, बल्कि ऐसे समाज की संरचना की थी कि आप मर भी जायँ आज, तो कल आपकी आत्मा अपने ही टाइप की जाति को खोज ले। वह बड़ी गहरे व्यूह की रचना थी।

ब्राह्मण मर कर ब्राह्मण घर में जन्म ले सके और अनंत जन्मों में ब्राह्मण घरों में तैर सके, तो उसका ब्राह्मणत्व सिद्ध होता चला जाएगा। और किसी भी जन्म में, शास्त्र ने ब्राह्मण के लिए जो कहा है, वह उसका मार्ग होगा।

तो अर्जुन क्षत्रिय है। आज के क्षत्रिय को तय करना मुश्किल है। आज कौन क्षत्रिय है—तय करना मुश्किल है, क्योंकि शास्त्र की वह व्यवस्था टूट गई। और

समाज का वह जो ढंग था—चार विभाजन स्पष्ट कर दिये थे, जिनमें कोई लेन-देन नहीं था एक तरह का, जिनमें आत्मायें एक दूसरे में प्रवेश नहीं कर पाती थी, वह आज संभव नहीं है।

आज सब अस्तव्यस्त हो गया है। और समाज-सुधार के नाम पर, नासमझ लोगों ने बड़ी उपद्रव की बातें खड़ी कर दी हैं। उन्हें कुछ पता भी नहीं कि वे क्या कर रहे हैं, लेकिन उस दिन जिस दिन अर्जुन से कृष्ण ने यह बात कही, सब स्थिति साफ थी।

अर्जुन क्या कह रहा है ? अर्जुन ब्राह्मण बनने की माँग कर रहा है। वह इस ढंग का व्यवहार कर रहा है, जो ब्राह्मण को करना चाहिए। वह जो प्रश्न उठा रहा है, वह ब्राह्मण के हैं : यह हिंसा होगी, लोग मर जाएँगे; इस राज्य को पा कर क्या करूँगा; किसके लिए पाऊँ; इससे तो बेहतर है, मैं सब छोड़ दूँ और संन्यस्थ हो जाऊँ। वह प्रश्न उठा रहा है, जो ब्राह्मण चरित्र के व्यक्ति के लिए उचित है। और अर्जुन अगर ब्राह्मण होता, तो कृष्ण ने यह गीता उससे नहीं कही होती।

कृष्ण यह गीता कहने को मजबूर हुए, क्योंकि अर्जुन का जो टाइप था, उसके जो व्यक्तित्व का ढाँचा था, वह क्षत्रिय था। और वह कोई एक जन्म की बात न थी। अर्जुन अनंत जन्मों से क्षत्रिय था। बहुत-बहुत बार क्षत्रिय रह चुका था। क्षत्रिय होना उसका गहरा संस्कार था। वह उसके रोएँ-रोएँ में समाया हुआ था। उसकी आत्मा क्षत्रिय की थी। इसलिए यह अगर ब्राह्मण भी बन जाय, तो इसका ब्राह्मण होना ऊपर-ऊपर होगा, धोखा होगा, पाखंड होगा। यह जनेऊ वगैरह पहन ले और चंदन-तिलक लगा ले और बैठ जाय, तो भी यह जँचेगा नहीं। इसके भीतर जो ढंग है, वह योद्धा का है। यह ब्राह्मण होने के योग्य नहीं है। यह ब्राह्मण हो भी नहीं सकता, क्योंकि ब्राह्मण होना कोई एक क्षण की बात नहीं है। इसके अनंत जन्मों के संस्कार साफ करने होंगे, तब यह ब्राह्मण हो सकता है। यह कोई एक क्षण का निर्णय नहीं है कि हमने तय किया और हम हो गये।

जैसे आज आप तय कर लें कि स्त्री होना है, इससे कुछ फर्क नहीं पड़ेगा—आपके तय करने से। आप स्त्री के कपड़े पहन सकते हैं, चाल-ढाल थोड़ी सीख सकते हैं, लेकिन स्त्रियाँ भी आप पर हँसेंगी। रहेंगे आप पुरुष ही। वह स्त्री होना ऊपर का पाखंड हो जाएगा और सिर्फ हँसी योग्य हो जाएँगे।

कृष्ण अर्जुन को समझा रहे हैं कि तू शास्त्र की तरफ देख कि क्षत्रिय के लिए शास्त्र ने क्या कहा है। तू उससे यहाँ-वहाँ मत हट, क्योंकि वही तेरी सिद्धि है। क्षत्रिय हो कर ही, और क्षत्रिय के धर्म का ठीक-ठीक अनुसरण करके ही तेरा मोक्ष तुझे मिलेगा।

तो क्षत्रिय की क्या सिद्धि होगी ? और क्या उसका मार्ग होगा ?

कृष्ण कह रहे हैं कि क्षत्रिय सोचता ही नहीं कि कोई मरता है; क्षत्रिय सोचता ही नहीं कि भविष्य में क्या होगा। क्षत्रिय सोचता ही नहीं। क्षत्रिय लड़ना जानता है। लड़ना उसका ध्यान है। वह युद्ध में ध्यानस्थ हो जाता है। वह न यह जानता है कि मैं मर रहा हूँ, कि दूसरा मर रहा है; वह युद्ध में निर्भय हो जाता है। युद्ध के क्षण में उसके चित्त की दशा न तो मारने के, न तो मरने के विचार से डोलती। वह निश्चिंत खड़ा हो जाता है। कौन मरता है, यह गौण है; युद्ध उसके लिए एक खेल है, वह अभिनय है, वह उसके लिए कोई बहुत गंभीरता का प्रश्न नहीं है। वह दोपहर लड़ेगा, साँझ तक लड़ेगा, साँझ बात भी नहीं करेगा कि युद्ध में क्या हुआ। रात विश्राम करेगा। रात उसकी नींद में खलल भी नहीं पड़ेगी कि दिनभर इतना युद्ध हुआ, इतने लोग कटे। वह रात मजे से सोयेगा। सुबह उठकर फिर युद्ध की तरफ चल पड़ेगा। युद्ध उसके लिए एक खेल और अभिनय है।

कृष्ण कह रहे हैं कि तू इस पूरे युद्ध को एक नाटक से ज्यादा मत जान और तेरी जो शिक्षा है, तेरी जो दीक्षा है, तेरा जो संस्कार है तथा शास्त्र जो कहता है, तू उसके हिसाब से चुपचाप चल। तू अपना कर्तव्य पूरा कर। तू चिंता में मत पड़। यह चिंता तुझे शोभा नहीं देती। अगर इस चिंता में—यह करूँ या वह करूँ; हाँ या ना; अच्छा या बुरा—तू उलझ गया, तो तू अपने धर्म से च्युत हो जाएगा। और तब तुझे अनंत जन्म लग जाएँगे। और यहाँ इस युद्ध के क्षण में इसी क्षण तू मुक्त हो सकत है। इतना ही तुझे करना है कि तू अपने कर्ता का भाव छोड़ दे।

क्षत्रिय वही है, जो कर्ता नहीं है।

जापान में क्षत्रियों का एक समूह है : समुराई। वह अब भी क्षत्रिय है। और अनेक पीढ़ियों से समुराई तैयार किये गये हैं, क्योंकि हर कोई समुराई नहीं हो सकता; बाप समुराई रहा हो, तो ही बेटा समुराई हो सकता है। हम, जैसा कि फलों की फसल तैयार करते हैं, तो अच्छे फलों का बीज चुनते हैं; और उनमें से अच्छे फल, फिर उनमें से और अच्छे फल; फिर फल बड़ा होता जाता है; फल सुस्वादु होता चला जाता है।

तो अनेक पीढ़ियों में समुराई चुने गये हैं। वह क्षत्रियों की जाति है।

समुराई का एक ही लक्ष्य है कि जब मैं युद्ध में लड़ूँ, तो युद्ध तो हो, मैं न रहूँ। मेरी तलवार तो चले, लेकिन चलानेवाला न हो। तलवार जैसे परमात्मा के हाथ में आ जाय, वही चलाये; मैं सिर्फ निमित्त हो जाऊँ। इसलिए कहते हैं कि अगर दो समुराई युद्ध में उतर जायँ, तो बड़ा मुश्किल हो जाता है कि कौन जीते, कौन हारे, क्योंकि दोनों ही अपने को मिटा कर लड़ते हैं। दोनों की तलवारें चलती हैं; लेकिन दोनों की तलवारें परमात्मा के हाथ में होती हैं। कौन हारे, कौन जीत?

समुराई-सूत्र है कि वही आदमी हार जाता है, जो थक जाता है जल्दी और वापस अपने अहंकार को लौट जाता है। जिसको भाव आ जाता है मैं का, वह हार जाता है। जो आदमी धैर्यपूर्वक परमात्मा पर छोड़ कर चलता जाता है, उसके हारने का कोई भी उपाय नहीं है।

कृष्ण कह रहे हैं, 'तेरे लिए इस कर्तव्य और अकर्तव्य की व्यवस्था में शास्त्र ही प्रमाण हैं—ऐसा जान कर तू शास्त्र विधि से नियत किये हुए कर्म करने के लिए योग्य है।'

यह कर्तव्य और अकर्तव्य की व्याख्या कृष्ण ने की। क्या करने योग्य है, क्या करने योग्य नहीं है? क्या त्याग देना है, और क्या जीवन में बचा लेना है? कौन-से नरक के द्वार हैं, वे बंद हो जायँ, तो कैसे मोक्ष का द्वार खुल जाता है?

ये सारी बातें आपने सुनीं। ये बातें अर्जुन को कही गई हैं। इन पर आप सोचना। अगर आपकी चित्त दशा अर्जुन जैसी हो, तो ये बातें आपके लिए बिलकुल सीधा मार्ग बन जाएँगी। अगर आपकी चित्त दशा अर्जुन जैसी न हो, और आप कोई संबंध ही न जोड़ पाते हों—अपने और अर्जुन में, तो आप इन बातों को अपने पर ओढ़ने की कोशिश मत करना, क्योंकि वह भूल हो जाएगी—वही जो अर्जुन कर रहा था।

इन बातों को समझना, सोचना, इनके साथ-साथ अपने स्वभाव को समझना और सोचना। दोनों को समानांतर रखना। अगर उनमें कोई मेल उठता हो, अगर दोनों में एक-सी धुन बजती हो, अगर दोनों में संयोग बनता हो, तो ये सूत्र आपके काम आ सकते हैं।

लेकिन गीता में करीब-करीब कृष्ण ने वे सारे सूत्र कह दिये हैं, जितने प्रकार के मनुष्य हैं। इसलिए गीता इतनी लम्बी चली। अर्जुन के बहाने कृष्ण ने पूरी मनुष्य जाति को उद्‌बोधित किया है।

तो चाहे इस अध्याय में, चाहे किसी और अध्याय में, आपके लिए भी कहे गये वचन हैं। इतनी थोड़ी-सी मेहनत आपको करनी पड़ेगी कि अपने को थोड़ा समझें और अपने योग्य, अपने अनुकूल वचनों को थोड़ा पहचानें। और उचित ही है कि इतनी मेहनत आप करें, क्योंकि बिलकुल चबाया हुआ भोजन मिल जाय, तो वह आत्मघाती है। थोड़ा आप चबायें और पचायें। और यहाँ उत्तर बँधे हुए नहीं हैं, उत्तर खोजने पड़ेंगे।

मैंने सुना है : एक अदालत में मुकदमा चला, एक आदमी पर, उसने हत्या की थी और एक गवाह को मौजूद किया गया—गाँव के एक किसान को। और उस गवाह से वकील ने पूछा कि 'जब रामू ने पंडित जी पर कुल्हाड़ी से हमला किया, तो तुम कितनी दूर खड़े थे?' 'छह फीट, साढ़े छः इंच', उस किसान ने कहा।

वकील भी चौंका, अदालत भी होश में आ गई। मजिस्ट्रेट भी चौंका। और वकील ने कहा, 'तुमने तो इस तरह बताया है कि जैसे तुमने पहले से ही सब नाप-जोख कर रखा हो! छः फीट साढ़े छः इंच!'

उस किसान ने कहा कि 'मुझे पता था, कोई न कोई मूर्ख आदमी यह सवाल मुझसे यहाँ जरूर पूछेगा; तो यहाँ आने के पहले पहला काम मैंने यह किया। बिलकुल माप कर आया हूँ।'

इस तरह बँधे हुए सवाल और उत्तर आपको गीता में नहीं मिल सकते।

सब जवाब वहाँ मौजूद हैं—सब सवालों के जवाब मौजूद हैं, लेकिन पहले एक तो आपको अपना सवाल पहचानना पड़ेगा, फिर अपने सवाल को ले कर गीता में खोजना पड़ेगा। जवाब आपको मिल जाएगा और वह जवाब जब तक न मिले, तब तक गीता को ऊपर से ओढ़ने की कोशिश मत करना, क्योंकि वह खतरनाक हो सकती है।

गीता एक आदमी के लिए कही गई है, लेकिन एक आदमी के बहाने सब आदमियों से कही गई है। इसलिए उसमें बहुउत्तर हैं; आपका उत्तर भी वहाँ है। पर आप अपने को पहचानते हों, तो उस उत्तर को खोज ले सकते हैं। फिर वही उत्तर आपके जीवन की साधना बन सकता है।

પ્રયોગ · ૧. ૨. ૩.